भा० दि० जैनसंघ-ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला का उद्देश्य-

प्राकृत, संस्कृत आदि में निबद्ध दि० जैनागम, दर्शन, साहित्य, पुराण आदि का यथासम्भव हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन करना

सञ्चालक—

भा० दि० जैन संघ

ग्रंथाङ्क २

प्राप्तिस्थान—

मैनेजर
भा० दि० जैन संघ
चौरासी, मथुरा

मुद्रक—पं० पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट काशी।

स्थापनाब्द] प्रति १००० [वी० नि० सं० २४६८

भा० दि० जैन संघ के साहित्य विभाग के सहायक सदस्यों की नामावली

१००१) लाला श्यामलाल जी रईस फर्रुखाबाद

२००१) सेठ नानकचन्द जी हीराचन्द जी गांधी उस्मानाबाद

१००१) सेठ घनश्यामदास जी सरावगी लालगढ़

[धर्मपत्नी रा० ब० सेठ चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व० निहालचन्द जी की स्मृति में]

१०००) बाबू कैलाशचन्द जी पी० डब्ल्यु० डी० सेन्ट्रल बम्बई

१००१) राय साहब लाला उल्फत राय जी देहली

१००१) लाला महावीर प्रसाद जी (फर्म महावीर प्रसाद एण्ड सन्स) देहली

१००१) लाला जुगल किशोर जी (फर्म धूमीमल धर्मदास) देहली

१००१) लाला रघुवीर सिंह जी (जैना वाछ कम्पनी) देहली

ग्रन्थ सूची

दातार परिचय

(१)

उसमानाबाद (हैदराबाद दक्षिण) के निवासी सेठ हीराचन्दजी गांधीकी समाज सेवा और धर्म प्रेमसे दक्षिण भारत चिर परिचित है। आप कुन्थल गिरि आश्रमके मंत्री हैं। आपका हैदराबाद राज्य में खास स्थान है। इस ही से आपने कुन्थल गिरि तक सड़क वगैरहकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे करायी है। इसके अतिरिक्त आपने गांधी हीराचन्दके नामसे ५० हजारका एक ट्रस्ट भी कायम किया है। इससे उस्मानाबादमें एक औषधालय चलता है। आप लेखक और प्रकाशक भी हैं। जैन कुसुम वाङ्मय मालाके द्वारा आपने अनेक ग्रन्थोंका प्रकाशन किया है।

सेठ नानचन्दजी और सौ० जीवूबाई गांधी आपके ही पुत्र और पुत्रवधू हैं। आप दोनोंमें भी सेठ हीराचन्दजी गांधीके अनुरूप ही धार्मिक भावना है। सौ० जीवूबाईजीका धर्म प्रचार प्रेम प्रशंसाके योग्य है। पिछले दिनों आपने होशंगाबादमें विमानोत्सव कराया था। उस अवसर पर संघके प्रधान मंत्री पं० राजेन्द्रकुमारजी होशंगाबाद गये थे। आपने उनको मोक्षमार्ग प्रकाशके आधुनिक संस्करणके व्ययके लिये तीन हजार रुपयेकी स्वीकारता दी थी।

(२)

श्रीमती ज्ञानमती देवी जसवन्त नगरके लाला कन्हैया लालजी रपरियाके सुपुत्र स्व० श्री बाबूरामजी की धर्मपत्नी हैं। आप अत्यन्त धार्मिक और व्रत उपवास आदि में सदा तत्पर रहती हैं। आपके श्वसुर श्री कन्हैयालालजी का भी दो वर्ष हुए स्वर्गवास हो गया है। मोक्षमार्गप्रकाश के लिए आपने ५००) रु० की प्रारंभिक सहायता दी थी।

प्रकाशककी ओरसे

जयधवलाके प्रथम भागके बाद स्वाध्याय प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें हम जैन सिद्धान्तका यह दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अर्पित करते हैं। प्राचीन सैद्धान्तिक साहित्यमें आचार्य वीरसेन और उनकी धवला तथा जयधवला टीकाका जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, आधुनिक धार्मिक साहित्यमें प्रकाण्ड पण्डित टोडरमल और उनके मोक्षमार्ग प्रकाशका भी स्थान लगभग उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि अब तक इस ग्रन्थके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु जयपुरकी ढुंढारी भाषामें लिखा होनेके कारण बहुतसे नये स्वाध्याय प्रेमियोंको उसके समझनेमें कठिनाई पड़ती थी। ग्रन्थकी उपयोगिता और पाठकोंकी कठिनाईका ध्यान करके आधुनिक हिन्दीमें उसका रूपान्तर करानेका विचार हुआ। उसी विचारके फलस्वरूप यह नया संस्करण प्रकाशित किया गया है।

इस संस्करणके पीछे पं० लालबहादुर शास्त्रीने बड़ा श्रम किया है। उन्होंने इसका केवल हिन्दी रूपान्तर ही नहीं किया, किन्तु टिप्पणी, परिशिष्ट और विस्तृत भूमिकासे भी इसे अलंकृत किया है। ग्रन्थके जो विषय अस्पष्ट थे उन्हें परिशिष्ट में भले प्रकार स्पष्ट किया है। और इस तरह इस ग्रंथको अत्युपयोगी बनानेमें अपने जानते कुछ उठा नहीं रक्खा है। आशा है स्वाध्याय प्रेमी पाठकोंको यह संस्करण अधिक पसन्द आयेगा।

इस ग्रंथके प्रकाशनमें उस्मानाबाद निवासी सेठ तानचन्द हीराचन्द गांधी और उनकी धर्मपत्नी सौ० लीलूबाई गांधी ने तीन हजार रुपयेकी सहायता देने की उदारता की है। तथा सेठ कन्हैया लालजी जसवन्त नगरकी विधवा पुत्रवधू श्रीमती ज्ञानमती देवीने व्रतोद्यापनके उपलक्ष्य में पांच सौ रुपया प्रदान किया है। इसके लिए हम आपके आभारी हैं।

पं० चैनसुखदास जी जयपुरके प्रयत्नसे हमें पं० टोडरमल जी लिखित मोक्षमार्ग प्रकाशकी प्रतिके पत्रका चित्र प्राप्त हो सका, जो इस ग्रन्थ में मुद्रित है। अतः हम पंडित जीके भी आभारी हैं।

काशीके गंगा तटपर स्थित स्व० बा० छेदीलालजीके जिनमन्दिरके नीचेके भाग में जयधवला कार्यालय स्थित है। और यह सब स्व० बाबू सा. के सुपुत्र धर्म प्रेमी बाबू गणेश दास जीके सौजन्य और धर्मप्रेम का परिचायक है। अतः हम बाबू सा. के हृदयसे आभारी हैं।

भार्गव भूषण प्रेस के मालिक पं० पृथ्वीनाथ जी भार्गव के सौजन्य को भी हम नहीं भूल सकते। उन्हींकी प्रयत्नशीलतासे यह ग्रन्थ एक वर्षसे कुछ अधिक समयमें ही मुद्रित हो सका है।

इच्छा थी कि इस ग्रन्थ को सुलभ मूल्य में वितरित किया जाये। किन्तु अत्यधिक महंगाई और कागज तथा प्रेसों की दुर्लभता के कारण व्ययभार इतना बढ़ गया कि जिसके कारण मूल्य घटा सकना संभव नहीं हो सका।

काशी
महावीर जयन्ती।
वी. नि. सं. २४७४

कैलाशचन्द्र शास्त्री
मंत्री

संपादकीय वक्तव्य

आजसे लगभग आठ वर्ष पहले किसी धार्मिक समारोहमें सम्मिलित होनेके लिए संघ की तरफसे मुझे हिसार (पंजाब) जाना पड़ा था। वहाँकी समाजके प्रमुख कार्यकर्ता बाबू महावीर प्रसादजी वकीलसे संघकी चालू प्रवृत्तियोंको लेकर अनेक बातचीत हुई। बातचीतमें साहित्य प्रकाशनकी भी चर्चा आई। बाबू महावीर प्रसादजी 'मोक्षमार्ग प्रकाश' पर विशेष रूपसे मुग्ध थे। उनका सुझाव था कि यदि यह ग्रन्थ आधुनिक भाषामें परिवर्तित होकर प्रकाशित हो जाय तो इससे सर्व साधारणका अत्यधिक लाभ हो। मुझे उनका यह विचार पसन्द आया। मैंने मथुरा आकर पं० राजेन्द्र कुमारजीसे इसकी चर्चा की। राजेन्द्र कुमारजी इसके लिए राजी होगए और इसके संपादनके लिए उन्होंने मुझे ही उत्साहित किया।

अपनी दीर्घसूत्रता और प्रमादके कारण करीब दो वर्ष तक मैं यह कार्य प्रारंभ नहीं कर सका। आखिर सन् ४२ में मैंने इस कार्यका श्री गणेश किया। प्रारंभ करनेके पहले इसे आधुनिक भाषामें करनेके लिए मेरे सामने दो विचार थे। एक तो यह कि ग्रन्थका भाव लेकर उसे अपनी भाषामें लिख दिया जाय, दूसरा यह कि ग्रन्थकी मौजूदा भाषाको ही आधुनिक हिन्दीमें परिवर्तित कर दिया जाये। अनेक सोच विचारके पश्चात् दूसरा विचार ही स्थिर रहा। आखिर मैंने एक अध्याय हिन्दी रूपान्तर तय्यार कर संघके प्रकाशन मन्त्री श्रीमान पं० कैलाश चन्द्रजीको दिखाया। उन्होंने उसे देखकर कई सुझाव दिए, साथ ही वह कॉपी श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईको भेज दी। अतः उनसे भी अनेक सुझाव प्राप्त हुए। इस तरह इन दोनों विद्वानोंसे प्रारंभिक दृष्टि प्राप्तकर मैंने कार्यको आगे बढ़ाया और सन् ४४ तक हिन्दी रूपान्तरका काम समाप्त कर लिया। इसके बाद मैं बनारस जयधवला कार्यालयमें आगया और संपादनका शेष कार्य पूरा किया।

प्रस्तुत संस्करणकी विशेषता—मोक्षमार्ग प्रकाशके पिछले संस्करणोंसे वर्तमान संस्करणमें अनेक विशेषताएं हैं। सबसे बड़ी विशेषता इसका हिन्दी रूपान्तर तो है ही साथ ही प्रकरणके प्रारंभमें प्रत्येक स्थलपर विषयानुसार पृथक् २ शीर्षक दे दिए गए हैं। आवश्यकतानुसार सब जगह टिप्पणियाँ जोड़ दी गई हैं; परिशिष्टमें आवश्यक विषयोंका स्पष्टीकरण कर दिया गया है और अन्तमें पारिभाषिक शब्दकोष दे दिया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक विशेषताएं हैं जो पिछले संस्करणोंको सामने रखकर ही जानी जा सकती हैं।

हिन्दी रूपान्तर—ग्रन्थका हिन्दी रूपान्तर जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालयकी मुद्रित प्रति परसे किया गया है। मुद्रित प्रतिके परिशिष्टमें दिए गये छूटे हुए स्थलोंको प्रस्तुत संस्करणमें यथास्थान जोड़ दिया है। मेरी इच्छा थी कि ग्रन्थकारकी हस्त लिखित प्रतिसे मिलान करनेके बाद ही इस ग्रन्थका रूपान्तर किया जाता, परन्तु अनेक कारणोंसे ऐसा नहीं हो सका। अतः उपलब्ध प्रति ही इसके हिन्दी रूपान्तरका सीधा आधार रही है।

हिन्दी रूपान्तर करते समय ग्रन्थकारके भाव, शब्द और शैलीको यथा संभव सुरक्षित रखनेका पूरा २ प्रयत्न किया गया है। अतः जहां केवल क्रियाओंको बदलनेसे ही भाषा सुधारका काम चल सकता था वहाँ उतना भर ही किया गया है। कहीं २ शब्दोंको आगे पीछे करके या दो वाक्योंका एक वाक्य बनाकर भी भाषाको चालू किया गया है। अतः भाषामें मैं जितना सौष्ठव और प्रवाह लाना चाहता था उतना नहीं ला सका। यह काम तो तब हो सकता था जब ग्रन्थकारके भावोंको मैं अपने शब्दोंमें ही लिखता। लेकिन ऐसा करना मुझे इष्ट न था अतः मौजूदा परिवर्तनसे ही मैंने संतोष किया है। फिर भी ग्रन्थकी भाषा सर्व साधारणके समझने लायक बनादी गई है।

टिप्पण—आजके संपादन युगमें टिप्पणोंका समावेश भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है। अध्ययन और खोज करनेवाले विद्वान मूल ग्रन्थकी तरह ही इसका उपयोग करते हैं। अतः टिप्पणों का संग्रह यों ही आवश्यक होता है फिर मोक्षमार्ग प्रकाशके लिए उनके संग्रहकी और भी आवश्यकता थी। कारण, कि ग्रन्थकारने मतान्तरोंके खण्डनमें जगह २ उनकी मान्यताओंका उल्लेख किया है। उस उल्लेखका कहीं तो संकेत भर कर दिया है, कहीं कुछ वाक्य लिखकर ही छोड़ दिए हैं। अतः जिज्ञासु पाठकको उन्हें देखनेकी स्वतः इच्छा होती है और जिनका खण्डन किया गया है वे उनको अपने ग्रन्थोंमें दिखानेकी स्वभावतः माँग करते हैं। अतः दोनों ओरकी संतुष्टिके लिए मैंने उन सभी स्थलोंको खोजकर मय प्रकरण और अध्यायोंके टिप्पणमें दे दिया है।

परिशिष्ट—परिशिष्टको मैंने दो भागोंमें रक्खा है। एक भागमें तो ग्रंथके विशेष स्थलोंका स्पष्टीकरण किया है और दूसरे भाग में वे कथाएँ हैं जिनका ग्रन्थकारने दृष्टान्त रूपमें उपयोग किया है। जिन स्थलोंका स्पष्टीकरण किया है संकेतके लिए उन्हें ब्राकेट में दे दिया गया है साथ ही परिशिष्टमें पृष्ठ और पङ्क्ति नं० देकर उस प्रकरणके आदि अन्तके वाक्योंको बीचमें शून्य देकर सूचित कर दिया है। कथा भागमें उन कथाओंके शीर्षक दे दिए हैं। इस तरह यथा साध्य ग्रंथको सर्वोपयोगी बनानेका प्रयत्न किया गया है

आभार प्रदर्शन

ग्रन्थका सम्पादन कार्य बड़ा दुरूह और परिश्रम साध्य है अतः उसमें अन्य विद्वानों का साहाय्य अपेक्षित रहना स्वाभाविक है। तदनुसार प्रस्तुत ग्रंथके संपादनमें भी मुझे अनेक विद्वानोंका साहाय्य मिला है। पं० नाथूराम जी प्रेमी बम्बई ने ग्रन्थके कुछ प्रारंभिक पृष्ठ देख

कर भाषा संबंधी अनेक सुभाव दिए हैं। स्याद्वाद विद्यालय और भारतीय ज्ञानपीठ के व्यवस्थापकों की कृपासे उनके पुस्तकालयसे सम्पादन कार्यमें अनेक ग्रन्थोंकी सहायता मिली है। पं० परमानन्द जी सरसावा वालोंने कई आवश्यक बातोंका उत्तर देकर मुझे उपयुक्त सहायता पहुंचाई है। पं. चैनसुखदास जी न्या. ती. ने वीरवाणीके अङ्क भेजकर प्रस्तावना लिखनेमें बहु मूल्य सहयोग दिया है। पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री बनारस का तो ग्रन्थके संपादनमें न केवल सहयोग रहा है बल्कि अथ से इति तक पूरा हाथ रहा है। एक तरहसे यह कार्य उन्हींके तत्त्वावधान में पूरा हुआ है। अतः मैं उपर्युक्त सभी सज्जनोंका हृदय से आभारी हूं। संपादनका प्रथम अवसर होने से उसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना संभव है, उन सबकी क्षमा याचना करता हुआ विद्वानों के सहयोगकी कामना करता हूँ

काशी
चैत्र शुक्ला १
सं. २००५

लालबहादुर शास्त्री

प्रस्तावना

आज जिस ग्रन्थको हम पाठकोंके हाथोंमें देरहे हैं वह अपने समयके प्रखर विद्वान आचार्यकल्प श्री टोडरमलजीकी स्वतन्त्र अनुपम रचना है। ग्रन्थका महत्व और उसकी उपयोगिता के वारेमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि आज तक इसके पांच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी स्वाध्यायप्रेमी जनतामें उसकी मांग वरावर वढ़ रही है। समाजमें शायद ही कोई ऐसा मन्दिर या चैत्यालय होगा जहाँ शास्त्रों की एक अलमारी तो हो किन्तु मोक्षमार्ग प्रकाश ग्रन्थ उसमें न हो। साधारण जनता ही नहीं वल्कि समाजके वे विद्वान भी जो आचार्यप्रणीत उच्चतम संस्कृत ग्रन्थों के अभ्यासी हैं इसकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते। आजसे लगभग दो सौ वर्ष पहलेका वना हुआ यह ग्रन्थ ऐसा मालूम पड़ता है जैसे आजके लिए ही लिखा गया हो इसकी सजीव वर्णन शैली और समझानेका ढङ्ग पाठकके सामने उस विषयका हूवहू चित्र उपस्थित कर देता है और वह वर्णिति प्रत्येक प्रमेयको इस प्रकार समझता चला जाता हैं मानों शरवतके घूंट पी रहा हो। विषयकी रूक्षता खटकती नहीं है और स्वाध्यायसे उठते २ भी जी चाहता है कि २-१ पङ्क्ति और पढली जाय।

जैनोंका हिंदी साहित्य जितना है वह या तो टीका साहित्य है या फुटकर प्रकरणोंको लेकर थोड़ासा पद्य साहित्य है। हिन्दी स्वतन्त्र ग्रन्थतो देखने तकको नहीं है पर हमें यह कहते हुए हर्ष होता है। कि मोक्षमार्ग प्रकाश गद्य साहित्यका सर्व प्रथम हिन्दी स्वतन्त्र ग्रन्थ है और वह आज भी उसी प्रकार वेजोड़ है जिस प्रकार उस समय था। यद्यपि उन दिनों विद्वानोंका अभाव नहीं था और न उसके वाद ही रहा पर उन सवकी प्रवृत्ति एक प्रकारसे टीका ग्रन्थोंके लिखने तक ही सीमिति थी। स्वतन्त्र रचना न होनेके हम दो ही कारण समझते हैं एक तो यह कि उस समय प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्मित संस्कृत प्राकृत अपभ्रंशका इतना विशाल साहित्य संग्रहीत था कि उसकी रक्षा करना उस समयके विद्वानोंको आवश्यक हो गया था। वह रक्षा तभी हो सकती थी जव वे ग्रन्थ पठन पाठनमें आते रहें। किन्तु मुसलमानोंके आक्रमण और उसके वाद होने वाले उनके अत्याचारोंसे देशका सांस्कृतिक जीवन इतना छिन्न भिन्न हो गया था कि अपनी इज्जत आवरू और ईमानकी रक्षामें ही सारा समय देना पड़ता था। जो लोग सताए जाते थे उन्हें अपना घर द्वार वसानेके लिए अन्यत्र जाना पड़ता था और अपना व्यापार जमानेके लिए फिर उसी तरह रात दिन जुटजाना पड़ता था। परिणामयह होता था कि निश्चित तरीकेसे पठन पाठन और स्वाध्यायको उन्हें समय ही न मिलता था। धीरे २ लोगोंमें धार्मिक शिक्षाकी कमी होती गई, उधर राज्यके

हिंदी जैन साहित्यमें मोक्षमार्ग का स्थान

कायदे कानून और अदालती कार्य वाहियों पर विदेशी भाषाका प्रभाव पड़ने लगा। अतः लोगोंकी प्रवृत्ति स्वभावतः उन भाषाओंके सीखनेकी तरफ होने लगी। धार्मिक शिक्षा और संस्कृत भाषा दोनों ही लोगोंकी जवानसे हट गये और अङ्गरेजोंके यहाँ जमने तक तो जयपुर आदि प्रदेशोंमें क्वचित् ही संस्कृतके जानकर २—४ विद्वान रह गए। ऐसी हालतमें उन दो चार विद्वानोंको यह आवश्यक हो गया था कि उन प्राचीन ग्रन्थोंकी रक्षाके लिए उनकी देशभाषा वनाकर उन्हें सर्व साधारणके लिए स्वाध्यायोपयोगी सुलभ वना दिया जाय। यह काम स्वतन्त्र ग्रन्थ रचनासे नही हो सकता था। उससे लोगोंका धार्मिक ज्ञान तो टिका रहता पर ग्रन्थोंकी रक्षा न हो पाती। न टीका ग्रन्थोंके साथ स्वतन्त्र रचनाही की जासकती थी। क्योंकि टीकाका कामही इतना अधिक था कि उन थोड़ेसे विद्वानों को स्वतंत्र ग्रन्थोंकी रचनाके लिए अवकाश ही नहीं था। अतः उस समय स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना नहीं हो सकी।

दूसरे यह कि उस समयके विद्वान स्वतन्त्र ग्रन्थ रचनाके लिए अपने आपको अधिकारी विद्वान न पाते थे। उस संबंधमें हम अपनी तरफसे कुछ न लिखकर टोडरमलजीसे लगभग ५० वर्ष वाद लिखी गयीं पं.जय चन्द्रजीके ही एक पत्रकी कुछ पङ्क्तियां उद्धृतकर देना ठीक समझते हैं। यह पत्र कवि वृन्दावनदासजी काशीको लिखा गया था। और वृन्दावनविलासके अंतमें ज्योंका त्यों छपा है। पत्रकी पङ्क्तियाँ ये हैं—'और लिख्या कि तोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाश ग्रन्थ पूरण भया नहीं ताकों पूरण करना योग्य है। सो कोई एक मूलग्रन्थकी भाषा होइ तौ पूरण करैं। उनकी बुद्धि वड़ी थी याते विना मूलग्रन्थके आश्रय उनने किया। हमारी एती बुद्धि नाहीं कैसे पूरण करें'।

इन पंङ्क्तियोंसे स्पष्ट है कि उस समयके विद्वान स्वतन्त्र रचनाके लिए अपने आपको अधिकारी न पाते थे। पद्मपुराण हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थोंके सफल टीकाकार श्री पं० दौलत-रामजो टोडरमल जीके समकालीन विद्वान थे किन्तु टोडरमलजी के स्वर्गारोहणके पश्चात् उनके अधूरे ग्रन्थोंमें वे पुरुपार्थसिद्ध्युपायकी टीका ही पूरी कर सके। मोक्षमार्ग प्रकाशको उन्होंने भी पूरा नहीं किया।

आगे चलकर विक्रम सवत् १८३८ में श्री पं० टेकचन्द्रजी ने 'सुदृष्टि तरिंगिणी' नामका स्वतन्त्र हिन्दी ग्रन्थ निर्माण किया। सुदृष्टितरिङ्गणी सर्वसाधारणके लिए उपयोगी ग्रन्थ है परन्तु उसमें न मोक्षमार्ग प्रकाश जैसी विपयकी गहनता है न बिचारोंकी प्राञ्जलता। परिचयात्मक ग्रन्थ जिस प्रकारके लिखे जाते हैं सुदृष्टि तरिङ्गिणी उनमेंसे एक है। किन्तु मोक्षमार्गप्रकाश एक विचारात्मक ग्रंथ है। उसमें जिस विपयको उठाया है उसपर खूब ऊहापोह करके ही आगे वढ़ा गया है। स्वतन्त्र ग्रन्थमें विचारोंकी दृढ़ता और मौलिकताको जो अवकाश होना चाहिए मोक्षमार्ग प्रकाश में वह हमें जगह २ देखनेको मिलता है।

सुदृष्टितरिङ्गिणीकी रचनाके करीव ७५ वर्ष वाद हमें एक और स्वतन्त्र ग्रन्थ देखनेको मिलता है जिसका नाम है विद्वज्जनवोधक। यह पं० पन्नालालजी संघीकी रचना है और सं० १९०७ के बाद लिखा गया है। इसमें पंथोंके नामसे उस समय उठने वाले अनेक विवादोंका निर्णय

किया गया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह उनके जीवनको अनेक धार्मिक चर्चाओंका संग्रह है जिसे उन्होंने चर्चाओंका रूप न देकर विषय वर्णनका रूप देदिया है। अतः वह स्वतंत्र ग्रन्थ जैसा तो मालूम पड़ता है पर उसमें स्वतन्त्र ग्रन्थकी सी आस्था नहीं होती। प्रमेयका परिमाण मोक्षमार्गप्रकाशसे अधिक होने पर भी प्रमेयकी सूक्ष्मता मोक्षमार्गप्रकाश जैसी बिल्कुल नहीं है। जिज्ञासुके लिए विद्वज्जनबोधक ग्रंथ उपयोगी हो सकता है पर मुमुक्षूके लिए मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थकी ही आवश्यकता है। विद्वज्जनबोधक वह इक्षुरस है जिसे एकबार पीकर मन हट जाता है किन्तु मोक्षमार्गप्रकाश वह अमृत है जिसे पीते जाने पर भी तृप्ति नहीं होती।

विद्वज्जनबोधककी रचनाके करीब ५०-६० वर्ष बाद पूज्य गुरू गोपालदासजी द्वारा हिन्दी गद्यका स्वतन्त्र ग्रन्थ 'जैन सिद्धान्त दर्पण' प्रकाशमें आया। यह लगभग ढाइसो पृष्ठका ग्रन्थ है। इसमें छः द्रव्योंका शास्त्रीय भाषामें बड़ा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ अपने आपमें प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण है। पं० टोडरमलजीने जहां शास्त्रीय विषयोंको अपने भावोंमें ढालने का प्रयत्न किया है वहीं गुरूजीने शास्त्रीय विषयोंको अपने शब्दोंमें ढालनेका प्रयत्न किया है। मोक्षमार्ग प्रकाश हमारी उन सभी विचार धाराओं और आचार परम्पराओंको निरख परख करता है जिनसे हमारे सुख दुखका घनिष्ट संबंध है। किन्तु जैन सिद्धान्त दर्पण हमें उन चीजोंका आभास भर कराता है जिनके अस्तित्वसे हमारा अस्तित्व बँधा हुआ है और जिन्हें जानकर ही हम आगे अपने निर्माणमें प्रवृत हो सकते हैं। इस तरह दोनोंही ग्रन्थ अपने रूपमें परिपूर्ण होने परभी आज मोक्षमार्ग प्रकाशका स्वाध्यायी संसारमें जितना प्रचार और उपयोग है उतना जैनसिद्धान्त-दर्पणका नहीं है: इस तरह मोक्षमार्ग प्रकाशको हम न केवल जैन साहित्यमें हिन्दी गद्यका सर्व प्रथम स्वतंत्र ग्रन्थ ही पाते हैं बल्कि वह अपनी उपयोगिता प्रचार और शैलीमें उन सभी ग्रन्थोंसे आगे है जो स्वतन्त्र हिन्दी गद्य ग्रन्थोंके रूपमें बादके बने हुए हैं।

हिन्दी छन्दोबद्ध ग्रन्थोंमेंभी आज ऐसा कोई स्वतंत्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है जिसे हम मोक्षमार्ग प्रकाशकी तुलनामें अपने सामने रख सकें। चर्चाशतक, द्यानतविलास जैनशतक आदि फुटकर रचनाएं अवश्य प्रकाशमें आई। परन्तु वे न ग्रन्थ कहे जाने ही लायक हैं न बच्चों और विद्यार्थियोंके अतिरिक्त उनका कभी जन साधारणमें उपयोग हुआ। हां एक छः ढाला ऐसी पुस्तक अवश्य है जो इन सबमें अपना अलग और महत्व पूर्ण स्थान रखती है। मोक्षमार्ग प्रकाशके लगभग सौ वर्ष बाद१९ १९ में आगरेके पं० दौलतरामजी द्वारा इसकी रचना हुई है। इसका विद्यार्थी और वयस्कोंमें समान रूपसे प्रचार रहा है। थोड़ेमें ही अधिक प्रमेयका वर्णन कर देना इस रचनाकी विशेषता है और इसीसे यह सबके आकर्षणकी चीज रही है। परन्तु हम इसे मोक्षमार्ग प्रकाशकी तुलनामें इस लिए नहीं रख सकते कि न तो वह उस परिमाणमें लिखी गई है और न विषयकी उसमें उतनी गहनता ही है। छःढालाको हम गागरमें सागर तो कह सकते हैं परन्तु सागरकी गंभीरता उस गागरमें नहीं देख सकते। जबकि मोक्षमार्ग प्रकाश स्वयं एक सागर है और अपने रूपमें उतनाही विशाल तथा गंभीर है।

ग्रन्थको बने हुए यद्यपि बहुत दिन नहीं हुए फिरभी उसके नामको लेकर इधर लोगोंमें

कुछ मत भेद होगया है। कुछका कहना है कि ग्रन्थका नाम मोक्षमार्गप्रकाशक है और कुछ उसका नाम मोक्षमार्गप्रकाश बतलाते हैं। हमारे सामने इस समय दो विद्वानोंके प्रकाशित संस्करण हैं। एक श्री पं. नाथूरामजी प्रेमी बम्बईका और दूसरा पं० रामप्रशादजी शास्त्री बम्बईका। दोनोंही विद्वानोंने कहीं मोक्षमार्गप्रकाश और कहीं मोक्षमार्गप्रकाशक नाम ग्रंथमें दे रक्खा है। प्रेमीजी द्वारा प्रकाशित संस्करणमें मुख-पृष्ठ पर मोक्षमार्गप्रकाश नाम है किन्तु सन्धियोंके अन्तमें सब जगह मोक्षमार्गप्रकाशक नाम दिया हुआ है। इसी प्रकार पं. रामप्रसादजी द्वार प्रकाशित संस्करणमें कवर पृष्ठ पर 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नाम लिखा है और अन्दर मुखपृष्ठ पर 'मोक्षमार्गप्रकाश' लिखा हुआ है। इससे जहाँ ग्रन्थके असली नामका पता नहीं चलता वहाँ यह भी आभास होता है कि दोनों संस्करणोंमें मुद्रित नाम विद्वान प्रकाशकोंके सन्देहकी चीज रहे हैं। परन्तु वस्तुतः छानबीन करने पर इस ग्रन्थ का नाम मोक्षमार्गप्रकाश ही सिद्ध होता है। स्वयं पं. टोडरमलजीने मंगलाचरणके बाद ग्रन्थकी उत्था-निकामें इसका मोक्षमार्गप्रकाश नाम स्वीकार किया है। जैसाकि उनकी इस पंक्तिसे स्पष्ट है 'अब मोक्षमार्ग प्रकाश नाम शास्त्रका उदय हो है'। इसके अतिरिक्त संवत् १८८०में जयपुर निवासी पं. जयचन्द्रजीने पं. वृन्दावन दासजी काशीको उनके पत्रमें एक प्रश्नका उत्तर देते हुए इस ग्रन्थका नाम 'मोक्षमार्गप्रकाश' लिखा है। इससेभी स्पष्ट है कि इस ग्रन्थका नाम 'मोक्षमार्ग प्रकाश' प्रचलित रहा है। इस नाम वाले अन्य ग्रन्थोंमें भी 'प्रकाश' शब्द देखा गया है प्रकाशक नहीं। योगीन्द्र देव कृत परमात्म प्रकाश*इसका उदाहरण है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रकृत ग्रन्थका नाम मोक्षमार्ग प्रकाश ही है मोक्षमार्गप्रकाशक नहीं।

ग्रन्थ का नाम

मोक्षमार्ग प्रकाशमें कुल ९ अध्याय हैं। नौवां अध्याय अधूरा है। पहले अध्याय में ग्रन्थकी भूमिका है जिसमें पंच परमेष्ठीका स्वरूप अंगश्रुत की परंपरा, ग्रन्थकी प्रामाणिकता तथा उसके नामकी सार्थकता आदिका वर्णन है।

विषय परिचय

दूसरे अध्यायमें संसार अवस्थाका निरूपण है। इसमें दुःखका मूल कारण, कर्म फल की प्रक्रिया और उसका प्रभाव, आठों कर्मोंका पृथक २ कार्य आदि बातोंका वर्णन है। तीसरे अध्यायमें संसार और मोक्ष सुखका निरूपण करते हुए दोनोंकी तुलनाकी गई है साथही दुःख निवृत्तिका सामान्य उपाय बताया गया है। चौथे अध्यायमें दुःखके मूल कारण अगृहीत मिथ्यात्वको लेकर मिथ्या दर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका सविस्तर वर्णन किया गया है—पांचवे अध्यायमें गृहीत मिथ्यात्वको बतलाते हुए विविध मतोंकी परीक्षाकी गई है जिसमें शैव, सांख्य नैयायिक, वैशेषिक बौद्ध, चार्वाक, वेदान्त, इस्लाम आदि मतमतान्तरोंका विस्तारसे खण्डन किया गया है। छठे अध्यायमें मिथ्यादर्शनके कारणभूत कुदेव कुगुरु और कुधर्मका निषेध किया गया है। सातवें अध्यायमें मिथ्यादृष्टि जैनोंका वर्णन है। इसमें एकान्त निश्चयावलंबी और एकान्त व्यवहारावलंबी को जैनाभास बताकर सच्चे जैनत्वके लिए निश्चय और व्यवहार इन दोनोंके समन्वयपर जोर दिया

*हो सकता है अपने ग्रन्थके नाम करणमें परमात्मप्रकाश भी ग्रन्थकार के सामने रहा हो।

गया है। आठवें अध्यायमें उपदेशका स्वरुप वतलाते हुए प्रत्येक अनुयोगका स्वरूप और उसकी व्याख्यान पद्धति पर विचार किया गया है। नौवें अध्यायमें मोक्षमार्ग पर विचार करते हुए पहले मोक्षका लक्षण वादमें मोक्षमार्गके स्वरूपका विस्तारसे विवेचन किया है।

इस तरह यह ग्रन्थ साढ़े आठ अध्याओं में अधूरा लिखा गया है। ग्रन्थ को जिस ढंगसे उठाया गया है और जिस प्रकार अध्यायोंमें विषयका विभाजन किया है उससे ऐसा मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ बहुत बड़ा लिखा जाना चाहिए था। हम देखते हैं कि ग्रन्थका नाम मोक्ष-मार्ग प्रकाश है, और मोक्षमार्गका स्वरुप ग्रन्थकारने नौवें अध्यायसे प्रारंभ किया है। अतएव यह स्पष्ट समझमें आए विना नहीं रहता कि ग्रन्थका असली भाग नौवें अध्यायसे प्रारंभ होता है। उसके पहले उन्होंने जो कुछ लिखा है वह केवल मुख्य विषय के प्रतिपादन की भूमिका स्वरूप है। जिस प्रकार पहलेके आठ अध्यायोंमें संसार और उसके मूलकारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र और इनके निमित्तभूत कुदेव कुगुरु और कुधर्म आदिका निरूपण किया है उसी प्रकार वादके अध्यायों में मोक्ष और मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्र तथा उनके निमित्तभूत देव,गुरु,शास्त्र आदिका विवेचन भी अवश्य करते। नौवें अध्यायमें जहां ग्रन्थकारने मोक्षमार्गके स्वरूपका वर्णन किया है वहां वे केवल सम्यक्त्वका ही साधारण वर्णन कर सके हैं, इसके वाद अध्याय समाप्त होजाता है। अतएव यह निश्चित है कि यदि ग्रन्थका लिखना जारी रहता तो शायद नौवां अध्याय तो सम्यक्त्वके विवेचनमें ही समाप्त होता इसके वाद सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भी स्वतंत्र अध्याय होते क्योंकि इनका विषय वर्णन भी कम नहीं है, और फिर टोडरमल जी जैसे विद्वान वक्ता जो विषयके प्रत्येक पहलू पर अन्ततक विचार किए विना आगे नहीं बढ़ते अवश्य ही इन अध्यायोंको विस्तारसे लिखते और इस प्रसङ्गमें हमें बहुतसे नए सुलझे हुए और युक्तियुत विचारों को देखने का मौका मिलता। अतएव इस ग्रन्थका बहुत बड़े परिमाणमें बढ़ जाना निश्चित था। किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। आज जितना ग्रन्थ उपलब्ध है उसे सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रारंभिक भाग कहना ही उपयुक्त है, अस्तु। इसमें सन्देह नहीं कि वह जितना कुछ लिखा गया है वह अपूर्व प्रतिभा और महान विद्वत्ताके साथ लिखा गया है।

ग्रन्थके महत्वपूर्ण प्रमेय

कुछ प्रकरणों की सूझबूझ तो निराली ही है जिस पर प्रायः विद्वानोंका ध्यान नहीं गया। उदाहरणके लिये पृष्ट २३ पर अघातिया कर्मोंके प्रभावका वर्णन करते हुए वेदनीय कर्मके वारे में लिखा गया है कि जिससे शरीर में या शरीरके वाहर नाना प्रकारके सुख दुःखोंके कारण परद्रव्यों का संयोग जुड़ता है वह वेदनीय कर्म है। वास्तव में वेदनीय का कार्य अब तक सुख दुख देना ही माना जाता रहा है और परद्रव्योंके संयोग जुड़ने की जो वात कही है वह लाभान्तरायके क्षयोपशमका कार्य समझा जाता रहा है। लेकिन यह वात नहीं है। अंतराय चूंकि घातिया कर्म है अतः उसका उदय या क्षयोपशम आत्माके लाभ लेनेकी शक्तिके घात या विकास तक ही सीमित रह सकता है

परद्रव्योंके संयोग जुड़ने से उसका कोई संबंध नहीं है। इसी प्रकार यदि वेदनीय कर्म सुख दुःख देता है तो अरहंतोंके भी (इन्द्रिय जन्य) सुख दुःख होना चाहिए। लेकिन रति अरति नामके मोहनीय कर्म न रहने से उन्हें वेदनीयजन्य सुख दुख नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि न तो वेदनीय सुख दुःख देता है और न लाभान्तरायके क्षयोपशमसे परद्रव्योंका संयोग जुड़ता है। परन्तु लाभान्तरायके क्षयोपशमसे लाभ लेनेकी शक्तिका विकास आत्मामें होता है और जो लाभ होता है वह वेदनीय के उदयसे होता है तथा लब्ध पदार्थमें जो सुख दुःख महसूस होते हैं वह मोहनीय का काम है। अतः विद्वान ग्रन्थकार की वेदनीय की व्याख्या ही सिद्धान्तसे मेल खाती है अन्य नहीं।

इसी प्रकार पृष्ठ २४ पर जड़ कर्म किस प्रकार बाह्य द्रव्यका संयोग जुड़ाता है इस शंका का बड़ा अच्छा समाधान किया है। आम तौरसे यह प्रश्न सभीको उठता है कि कर्मका उदयतो आत्मामें होता है वह बाह्य द्रव्यको हम तक कैसे खींच लाता है। दृष्टांतके लिए हम अपने घरके आंगनमें बैठे हुए हैं और एक बन्दर अचानक कहीं से बहुमूल्य हीरे की अंगूठी लाकर हमारे आंगनमें डाल जाता है। हमें उसे पाकर बड़े आनन्द और सुखका अनुभव होता है। यहाँ आनन्द और सुख तो हमें मोहनीय का कार्य समझमें आता है क्योंकि वे आत्मामें ही हो रहे हैं. लेकिन साता वेदनीयका उदय तो आत्मामें है और वह खींच कर ला रहा है हीरेको यह कैसे हो सकता है? क्या कर्मका प्रभाव आत्मा की तरह हीरेपर भी है? यदि नहीं तो वह वहाँ तक कैसे पहुँचा और बन्दर को यह ज्ञान कैसे हुआ कि अमुक आदमीके साता कर्मका उदय हो रहा है इसलिए हीरे को वहीं डालना चाहिए। इसी प्रकार एक आदमी अपने स्थान पर बैठा है और दूसरा आदमी कोसों दूरसे चलकर उस आदमी को मारता पीटता है, यहाँ पिटने वाले आदमीके असाता का उदय है यह तो मान लिया लेकिन उसका असाता का उदय मारने वाले को यहाँ तक कैसे लाया? क्या एक आत्मा का कर्म दूसरी आत्मा पर भी अपना प्रभाव डाल सकता है? इन सब शंकाओंका उत्तर ग्रन्थ कारने यह दिया है कि कर्म स्वयं किसी सामग्री को लाकर नहीं जुटाता. बल्कि कर्म और मिलने वाली सामग्रीमें निमित्त नैमित्तिक संबंध है। निमित्त नैमित्तिक संबंधका अर्थ यह है कि जब कर्मका उदय होता है तब उसके निमित्तसे वह सामग्री स्वाभाविक रूपसे जिसके उदय है उसके पास आजाती है। इसके लिए उन्होंने एक सुन्दर उदाहरण दिया है वे कहते हैं कि सूर्यके उदय होने पर चकवा और चकवी मिल जाते हैं तथा सूर्यके छिप जानेपर दोनों बिछुड़ जाते हैं। उन्हें न प्रेरणा कर कोई मिलाता है न प्रेरणा कर कोई अलग करता है। किन्तु सूर्यके उदय अस्तका निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते बिछुड़ते हैं अतः जिस प्रकार इनमें निमित्त नैमित्तिक संबंध है उसी प्रकार कर्म और उसके बाह्य फलमें निमित्त नैमित्तिक संबंध है।

पृष्ठ आठ पर मङ्गलाचरणकी आवश्यकता बतलाते हुए शंका उठाई गई है कि जो अन्य मतावलम्बी इस प्रकार (जैनोंकी तरह) मंगलाचरण नहीं करते उनके भी ग्रन्थ समाप्ति देखी जाती है उसका उत्तर ग्रन्थकारने बड़ा ही सुन्दर दिया है। वे कहते हैं कि उनके ग्रन्थकी समाप्तितो

विना उस प्रकारके मंगलाचरण के ही हो सकती है। यदि वे ग्रन्थके प्रारंभमें जैन मङ्गलाचरण करने लगें तो मोह मन्द होजानेसे उनके द्वारा वैसा मिथ्यात्वका कार्य ही नहीं हो सकता है। पाठक देखेंगे कि कितना युक्तियुत उत्तर है। शंकाकारको इसके आगे कुछ कहनेके लिए रह ही नहीं जाता।

पृष्ठ ६३ पर शंका उठाई गई है कि सिद्धोंमें जब दान लाभ, भोग, उपभोगरूप कार्य ही नहीं है तब वहां इनकी शक्ति प्रकट हुई कैसे कहलाई? इसका उत्तर दिया है कि दान, लाभ आदि कार्य रोगके उपचार थे जब रोग नहीं तब उपचार भी क्या किया जाय? अतः इन दानादि कार्योंका सद्भाव होते हुए भी चूंकि इनके रोकनेवाले कर्मोंका अभाव होगया है इसलिए इनकी शक्ति प्रकट हुई कही जाती है। वास्तवमें बात भी यही है; सिद्धोंमें प्रकट रूपमें दान लाभ आदि कार्य दिखाई नहीं देते। अतः यह शंका होना स्वाभाविक है कि उनके आवारक कर्म भी न माने जांय किन्तु ग्रन्थकारका उपर्युक्त उत्तर इस शंकाको बिल्कुल साफ कर देता है। उनका यह तर्क कितना संगत है कि दानादि कार्य प्रकट न होनेका अर्थ उनकी उस प्रकारकी शक्तिका अभाव नहीं है बल्कि यह है कि उस प्रकारका वहां कोई प्रसङ्ग नहीं है। जब प्रसङ्ग था तब कर्मोंने उस शक्तिको आवृत कर रक्खा था जब कर्मका आवरण हट गया तब वह प्रसङ्ग नहीं रहा अतः शक्ति तो प्रकट होगई लेकिन उसका कार्य प्रकट न हो सका। इस तरह न तो दान आदिके आवारक कर्मोंके अभावकी ही आपत्ति आती है और न उन कार्योंके सद्भाव माननेका प्रसङ्ग ही उपस्थित होता है।

आजकल सब जगह सर्वधर्मसमभावकी चर्चा सुननेमें आती है, यहाँ तक कि सभाएँ भी इस ढंगके प्रस्ताव करती हुई देखी जाती हैं। इस संबंधमें प्रस्तुत ग्रन्थमें जो चर्चाकी गई है उसे भी देखिए—

प्रश्न—आपके रागद्वेष है इसलिए आप अन्यमतका निषेध और अपने मतका समर्थन करते हैं।

उत्तर—यथार्थ वस्तुके प्रतिपादनमें रागद्वेष कुछ भी नहीं है।

प्रश्न—राग द्वेष नहीं है तो अन्यमत बुरे हैं और जैनमत अच्छा है ऐसा कैसे कहते हैं? साम्यभावमें तो सबको समान समझना चाहिए आप मतका पक्ष क्यों करते हैं?

उत्तर—बुरेको बुरा और अच्छेको अच्छा कहनेमें राग द्वेष क्या है। बुरेको भलेके समान समझना तो अज्ञान भाव है साम्यभाव नहीं है। (पृ० १२८)

पाठक देखेंगे कि कितना खरा और स्पष्ट उत्तर है। सबका भला बनने के लिए उदारता का झूंठा आवरण ओढ़ कर सर्वधर्मसमभाव का राग अलापने वाले यह भूल जाते हैं कि जब सब धर्म समान नहीं हैं तब उनमें समभाव भी कैसे हो सकता है। एक मांस मदिरा मैथुन (शाक्त) आदिको धर्म कहता है दूसरा उसको पाप कहता है जब इन दोनों में इतनी विषमता है तब उनमें समभाव धारण करने के लिए कहना या तो आत्म वंचना है या कहने वालेकी अज्ञानता है और कुछ नहीं है।

पृष्ठ १८३ पर एकान्त निश्चयावलम्बी जैनाभासों का वर्णन करते हुए उन लोगोंको मिथ्यादृष्टि बतलाया है जो अपने को सिद्ध समान अनुभव करते हैं अथवा अपने केवलज्ञानका सद्भाव मानते हैं। ग्रन्थकारका कहना है कि जो प्रत्यक्ष संसारी है वह सिद्ध समान कैसे हो सकता है? अशुद्ध पर्याय जब शुद्ध पर्यायके समान नही कही जासकती तब संसार पर्यायको सिद्ध पर्यायके समान कैसे कहा जासकता है। बात भी ठीक है निश्चय की कथनी को लेकर भले ही हम अपने को शुद्ध बुद्ध समझें जैसा कि बीनतीमें पढ़ा करते हैं 'मैं शुद्ध बुद्ध चेतन स्वरूप परमात्म परम पावन अनूप' लेकिन वस्तुतः जब कर्मोंसे बद्ध हैं तब शुद्ध कहाँ हैं। शुध्द बुद्ध कहना तो द्रव्यदृष्टिसे है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम पर्याय दृष्टि को भुलादें। शुद्ध बुद्ध कहते समय हमें निश्चिंत हो जाने की जरूरत नहीं है बल्कि अपनी अशुद्ध पर्याय का ध्यान रखते हुए उससे मुक्त होनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी तरह जो संसारी अवस्थामें केवलज्ञानका सद्भाव मानते हैं ग्रन्थकार उनसे तर्क करते हैं कि जब उनके केवलज्ञान मौजूद है तब वह चराचर जगत्को जानता क्यों नहीं है? यदि आवरण होनेसे नहीं जानता तो यह भी भ्रम है क्योंकि केवलज्ञान तो वज्र पटलादिके आड़े होते हुए भी चराचर जगत्को जानता है कर्मोंके आवरणकी तो बात ही क्या है। दूसरे अगर केवलज्ञानका सदा सद्भाव रहता है तो उसे पारणामिक भावोंमें गिनाना चाहिये था,परन्तु उसे क्षायिक भावोंमें गिनाया है इससे सिद्ध है कि संसारी आत्मामें केवलज्ञानका सदा सद्भाव नहीं रहता। सूर्यके दृष्टांतका ग्रन्थकारने इतना ही अर्थ बताया है जैसे मेघ पटलके होते हुए सूर्यका प्रकाश प्रकट नहीं होता वैसे ही कर्मोंका उदय होते हुए केवलज्ञान नहीं होता न कि जैसे सूर्यमें प्रकाश रहता है वैसे ही आत्मामें केवलज्ञान रहता है।

अभी तक प्रायः अनेक विद्वानोंकी यही धारणा है कि केवलज्ञान आत्मामें इस तरह तिरोहित है जिस प्रकार मेघ पटलमें सूर्य छिपा हुआ रहता है परन्तु ग्रन्थकारके इस सुन्दर तर्कसे कि केवलज्ञान होता तो वह वज्र पटलादिके आड़े होते हुएभी पदार्थोंको जानता उपर्युक्त धारणा निर्मूल हो जाती है।

पृष्ठ १८८ पर ग्रन्थकारने उन निश्चयावलम्बियोंकी अच्छी खबर ली है। जो अपने आप को शुद्धरूप चिंतन करते हैं और कहते हैं कि 'मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि सहित हूँ, द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रहित हूँ, परमानन्दमय हूँ, जन्म मरणादि दुःख मेरे नहीं हैं इत्यादि? ऐसे लोगोंसे वे पूंछते हैं कि उनका यह चिंतन द्रव्यदृष्टि पूर्वक है या पर्यायदृष्टि पूर्वक! यदि द्रव्य दृष्टि पूर्वक है तो द्रव्यतो सभी शुद्ध अशुद्ध पर्यायोंका संग्रह है वे शुद्धही क्यों अनुभव करते हैं, यदि पर्यायदृष्टि पूर्वक है तो उनकी वर्तमान पर्यायतो अशुद्ध है वे उसे शुद्ध कैसे मानते हैं और यदि शक्तिकी अपेक्षा शुद्ध मानते हैं तो 'मैं ऐसा होने योग्य हूँ' ऐसा मानना चाहिए। हम समझते हैं कि इसका उत्तर शुद्धभिमानियोंके पास कुछ भी नहीं है।

पृष्ठ २०० पर रूढ़िवादियोंका बड़े जोरोंसे विरोध किया है और उन्हें जैनाभास (झूठा-जैनी) बतलाया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जो कुलक्रमसे ही जैनी हैं और जैन धर्मका स्वरूप

जानते नहीं हैं वे उसी प्रकार हैं जैसे अन्य मती केवल कुल क्रमसे ही अपने धर्ममें प्रवृत्ति करते हैं परन्तु कुल क्रमसे ही यदि धर्महो तो मुसलमान भी धमात्मा कहलाएँगे।

आगे उन्होंने जैसा कि आजकल लोग प्रायः कहा करते हैं इसी विषयमें प्रश्न उठाया है कि कुल परंपरा छोड़कर नवीन मार्गमें प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है। इसका उत्तर वे देते हैं—अगर अपनी बुद्धिसे नवीन मार्गमें प्रवृत्ति की जाय तो ठीक नहीं है। किन्तु जो अनादि निधन जैन धर्मका स्वरूप शास्त्रोंमें लिखा है उसको न मानकर पापी पुरुषों द्वारा चलाई हुई अन्यथा प्रवृत्तिको परंपरा मार्ग कैसे कहा जायगा। अथवा जैन शास्त्रोंमें जो पहलेसे धर्मकी प्रवृत्ति चली आरही है उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जायगा! **धर्म सत्यभी हो किन्तु कुलाचार जानकर जो उसमें प्रवृत्ति करता है वह धर्मात्मा नहीं है।** पाठक देखेंगे कि रूढ़ि पोषकोंको इससे अधिक और कोई करारा उत्तर नहीं हो सकता।

इसी तरह आगे चलकर उन्होंने अन्ध श्रद्धालुओंकी भी खबरली है। वे कहते हैं कि जो केवल शास्त्रोंकी आज्ञा मानकर ही चलते हैं और उनकी परीक्षा नहीं करते वे धर्मात्मा नहीं कहला सकते। आज्ञाविचय धर्मध्यान और आज्ञासम्यक्त्वकी आड़में अन्ध श्रद्धाको प्रोत्साहन देनेवालों को उन्होंने कहा है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमानके विषय नहीं है वहीं आज्ञा माननेका प्रश्न आता है। किन्तु जिनका प्रत्यक्ष या अनुमान हो सकता है उन्हें तो परीक्षा करके ही मानना चाहिए।

पृ० २०६ से आगे देव गुरू शास्त्रकी भक्तिरूप अन्यथा प्रवृत्तिका बड़ाही सुन्दर वर्णन किया है। और लिखा है कि इस प्रकारकी भक्तिसे धर्मका कोई संबंध नहीं है। धन, वैभव, कुटुंब आदि सांसारिक इच्छाओंसे अरहंतादिकी भक्ति करने वालोंके पापका ही अभिप्राय बताया है। वास्तवमें कर्तव्यवश या मुमुक्षु भावसे तीर्थयात्रा या पूजा भक्ति करनेवालोंकी सदा कमी रही है। सांसारिक प्रलोभनोंको लेकरही मनुष्य इनमें प्रवृत्त होते हैं। आज भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है और पहलेभी नहीं थी। परन्तु आजके अधिकांश विद्वान इसी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देते हैं। जो इसे बुरा समझते हैं वे समाजके भयसे अपने विचार व्यक्त नहीं कर सकते। परन्तु पं० टोडरमल जीने ऐसे लोगोंका विरोध ही नहीं किया किन्तु उन्हें जैनी मिथ्यादृष्टि तक लिख डाला है यह उनके साहस और स्पष्ट वक्तृत्वका ही फल है।

आगे चलकर जहाँ आपने एकान्त निश्चयावलंबी और एकान्त व्यवहारावलंबी जैनोंको मिथ्यादृष्टि बतलाया है वहाँ एक तीसरे जैन मिथ्या दृष्टि निश्चयव्यवहारालम्बियों का भी वर्णन किया है। अबतक शास्त्र स्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओंमें एकान्त निश्चयी और एकान्त व्यवहारीको ही मिथ्या दृष्टि कहते सुनते आए हैं। परन्तु दोनों नयोंका अवलम्बन करनेवालेभी मिथ्या दृष्टिहो सकते हैं यह आपकी नई और विशेष चर्चा है। ऐसे मिथ्या दृष्टियोंके सूक्ष्म भावों का विश्लेषण करते हुए आपने कई अपूर्व बातें लिखी हैं। उदाहरणके लिए आपने इस बातका खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय व्यवहार रूप दो प्रकारका है। वे लिखते हैं कि यह मान्यता

निश्चय व्यवहारावलम्बी मिथ्या दृष्टियोंकी हैं, वास्तवमें तो मोक्षमार्ग दो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चय सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय रत्नत्रय व्यवहार रत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि दो भेदोंकी रातदिन चर्चा करते रहते हैं उनके मंतव्यसे पं० जीका मंतव्य कितना भिन्न है। इसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि निश्चय व्यवहार दोनोंको उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि दोनों नयोंका स्वरूप परस्पर विरुद्ध है इसलिए दोनों नयोंका उपादेयपन नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार किन्तु दोंनो ही उपादेय है किंतु पंडितजीने इसे मिथ्या दृष्टियोंकी प्रवृत्ति बतलाई है और दोनोंके उपादेयका क्या मतलब है इसे आगे स्पष्ट किया हैं। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध समान शुद्ध आत्माके अनुभव को निश्चय और व्रत,शील, संयमादि रूप प्रवृत्ति को व्यवहार मानते हैं वे भी पं० जीके अभिप्रायसे मिथ्यात्वका ही पोषण करते हैं। उनका कहना है कि एक ही द्रव्यके भावमें उसी रूपसे निश्चयका निरूपण करना चाहिए। और उपचारसे उस द्रव्यके भाव को अन्य द्रव्यके भावमें व्यवहारका निरूपण करना चाहिए। जैसे मिट्टीके घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना निश्चय है और घी रहनेके कारण घी का घड़ा कहना व्यवहार है। किन्तु उपर्युक्त मान्यतामें यह बात नहीं है अतः वह मिथ्यात्व है। इस तरह ग्रन्थमें निश्चय और व्यवहारके कथन को बड़ी ही विद्वत्तापूर्वक सुलझाया गया है। समयसारके अभ्यासियोंको यह प्रकरण अवश्य देखना चाहिए।

आठवें अध्यायमें चारों अनुयोगोंका प्रयोजन और उनकी व्याख्यान पद्धतिका बड़ा ही सुन्दर ढंगसे निरूपण किया है। प्रथमानुयोग की कथाओंके बारेमें लिखा है कि उनका घटनांश सभी ज्योंका त्यों है। हां उनके कथनोपकथनमें अन्तर हो सकता है। वह भी केवल शब्दोंका भावोंका नहीं। साथ ही यह भी लिखा है कि प्रथमानुयोगमें यदि किसी एक चीजका पोषण मुख्यतासे किया गया है तो उसको उसी प्रकार न मान लेना चाहिए। जैसे विष्णुकुमार मुनिने उपसर्ग दूर करनेके लिए वामनका रूप धारण किया तो हर मुनिको उसी प्रकार न करना चाहिए, बल्कि उस कथन को वात्सल्य धर्मकी मुख्यतासे निरूपित समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि वज्र-करणने किसीको नमस्कार न करनेके लिए अपनी अंगूठीमें प्रतिमाका आकार बना रक्खा था तो यह सबको उचित नहीं है। बल्कि वज्रकरणके धर्मानुराग की प्रशंसा भर उसे समझना चाहिए।

करणानुयोगमें लिखा है कि उसमें छद्मस्थ की प्रवृत्तिके अनुसार वर्णन नहीं है बल्कि केवलज्ञानगम्य पदार्थोंका निरूपण है। जैसे छद्मस्थ की प्रवृत्तिके अनुसार व्यंतरोंके नगर नाशादि रूप कषायोंका अत्यधिक व्यवहार पाया जाता है परन्तु वस्तुतः कषाय शक्ति थोड़ी होनेसे उनके पीत लेश्या ही बतलाई है। इसी प्रकार एकेन्द्रियादिके कषायजन्य कार्य कुछ नहीं है फिर भी उनके कृष्ण लेश्या बतलाई है। चरणानुयोगमें व्यवहारनय की प्रधानतासे जीवोंके उनकी बुद्धिके गोचर धर्मका उपदेश दिया गया है। तथा द्रव्यानुयोगसे जिस प्रकार जीवादि

तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान हो उस प्रकार उपदेश दिया है अतः विशेष प्रकारसे युक्ति, हेतु दृष्टांतादिका निरूपण किया है। इस तरह चारों अनुयोगोंकी व्याख्यान पद्धतिका निरूपण कर प्रत्येक अनुयोगकी शैलीका भी निरूपण किया गया है।

इसी अध्यायमें आगे चलकर जैनशास्त्रोंमें परस्पर विरुद्ध कथनों की चर्चा करते हुए लिखा है कि यद्यपि काल दोपसे ही इस प्रकारके कथन हुए हैं फिर भी जो आचार्य अधिक प्रामाणिक हों उनके वचनों पर श्रद्धान करना चाहिए। अथवा अन्य जैन शास्त्रोंसे उन परस्पर विरोधी कथनों की आम्नाय मिलानी चाहिए। जिसकी आम्नाय मिले वही प्रमाण करना चाहिए। इतने पर भी सत्यासत्यका निर्णय न हो तो 'जैसा केवली ने देखा है वैसा ही प्रमाण है' इस प्रकार मान लेना चाहिए। साथ ही लिखा है कि इस प्रकार मान लेनेसे मोक्षमार्गमें कुछ रुकावट नहीं आती। क्योंकि मोक्षमार्गमें स्थिर रहनेके लिए देवशास्त्र गुरु या सप्ततत्वोंका श्रद्धान होना जरूरी है लेकिन नेमिनाथका जन्म सौरीपुरीमें हुआ है या द्वारावतीमें इससे देवादिक या तत्वोंके श्रद्धानका कोई संबंध नहीं है। अतः उससे मोक्षमार्गके विघ्नका खयाल नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी समाधान किया है कि कथन भले ही परस्पर विरुद्ध हों परन्तु वे प्रमाणविरुद्ध नहीं होना चाहिए। जैसे नेमिनाथका जन्म सौरीपुरीमें हुआ हो या द्वारावतीमें लेकिन हुआ वह नगर में ही है जैसा कि आजकल हम देखते हैं अतः उस विरोधी कथनसे कोई हानि नहीं है।

नौवें अध्यायमें मोक्षमार्गका निरूपण करते समय सम्यग्दर्शन सामान्यका शंका समाधानपूर्वक बड़ा ही विशद और युक्तियुत विवेचन किया है। कुछ शंकाएँ और उनके समाधान तो बिल्कुल नए हैं जैसे ऊँची दशामें जहां सात तत्वोंके विकल्पका निषेध किया है वहां सम्यक्त्व कैसे रहता है? केवलीके सबका जानना समान रूपसे होता है वहां सात तत्वों की प्रतीतिसे कोई मतलब ही नहीं है फिर सम्यक्त्व कैसे? आप सात तत्वोंके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है लेकिन समयसार कलशमें सात तत्वों को छोड़ एक आत्माके निश्चय को ही सम्यग्दर्शन कहा है इसका समन्वय कैसे होगा? इत्यादि इन सब शंकाओं को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है।

नौवें अध्यायके अन्तमें सम्यक्त्वके आठ अङ्गों को गिनाते हुए शंका उठाई है कि बहुतसे मिथ्यादृष्टियोंके शंका, कांक्षा, ग्लानि आदि नहीं पाए जाते और सम्यग्दृष्टियोंके पाए जाते हैं अतः उन्हें सम्यक्त्वका अङ्ग क्यों बतलाया है? इसका उत्तर ग्रन्थकर्ताने बड़ा ही सुन्दर दिया है। वे लिखते हैं जैसे मनुष्य शरीरके हस्त पादादि आठ अङ्ग गिनाए हैं, परन्तु हस्त पादादि अङ्ग तो बन्दरके भी होते हैं लेकिन जिस प्रकार मनुष्यके होते हैं उस प्रकार बन्दरके नहीं होते। उसी प्रकार निःशंकितादि गुण मिथ्यादृष्टियोंके भी होते हैं लेकिन निश्चय की अपेक्षा लेकर जिस प्रकार सम्यक्त्वीके होते हैं उस प्रकार मिथ्यादृष्टिके नहीं होते। अथवा जैसे किसी मनुष्यके हस्त पादादि अङ्ग न हों तब भी उसका शरीर मनुष्यशरीर कहलाता है। भले ही वह सुशोभित नहीं होता। उसी प्रकार किसी सम्यक्त्वीके निःशंकितादि अंग न हों तब भी वह सम्यक्त्वी कहलाता है भले ही उसका सम्यक्त्व सुशोभित न होता हो। पाठक देखेंगे कि इस उत्तरके आगे पुनः शंका को कोई गुंजायश नहीं है।

इस तरह यह समूचा ग्रन्थ बड़ा ही गंभीर सुसंवद्ध और अनेक महत्वपूर्ण चर्चाओंसे भरा पड़ा है। हमने जिन थोड़े विपयोंका उल्लेख किया है वह अपने दृष्टिकोणसे किया है स्वाध्याय करनेसे पाठकोंको एसे अनेक विपय मिलेंगे जिन्हें पढ़ सुनकर उन्हें विशेष और नया बोध होगा और वे इस ग्रन्थकी महानताको समझे विना नहीं रहेंगे।

प्रायः देखा गया है कि संस्कृत ग्रन्थों को सुनकर जिस प्रकार उनकी ओर श्रद्धा और जिज्ञासा एक वार ही सजग हो उठती है उस प्रकार हिन्दी ग्रन्थोंके लिए नही होती। परंतु मोक्षमार्गप्रकाश उन सवका अपवाद है। अपने इन दो सौ वर्षोंमें स्वाधायी और तत्वचार्चाल्रु संसारमें उसने ऐसा स्थान बना लिया है कि उसका नाम सामने आते ही उसके लिए श्रद्धा उमड़ पड़ती है और संवंधित विवादस्थ विषयोंको देखनेके लिये आगम की तरह उसके पन्ने उलटने पड़ते है। इस दिशामें हम उसे आगमसे कम नहीं समझते और यह कहनेको तय्यार हैं कि वह हिन्दीका सर्व प्रथम स्वतन्त्र आगम ग्रन्थ है।

ग्रन्थ की रचना शैली

ग्रन्थके प्रत्येक अध्यायका प्रारंभ एक दोहेसे किया गया है। कुल नौ अध्याओंमें आठ दोहे हैं। आठवें अध्यायके प्रारंभमें दोहा नहीं है। न जाने वह लेखकोंके प्रमादसे छूट गया है या स्वयं ग्रंथकर्त्ताने नहीं लिखा। अथवा सातवें अध्यायके आधे अंशको ही आठवां अध्याय मान लिया गया है। इस सम्बंधमें स्वयं टोडरमलजी की हस्तलिपिवाला ग्रंथ देखकर ही कुछ कहा जा सकता है। परंतु प्रतीत यही होता है कि वह लेखकोंके प्रमादसे ही छूट गया है। जव पहलेके और वादके अध्याओंके प्रारंभमें दोहे हैं तव वीचके ही एक अध्यायके प्रारंभमें ग्रंथकारने दोहा न लिखा हो यह समझमें नहीं आता। न जी यही माननेको चाहता है कि आठवां अध्याय सातवें अध्यायका ही अंश है क्योंकि दोनोंका विषय वर्णन विल्कुल भिन्न २ है। सातवें अध्यायमें जहां मिथ्यादृष्टियोंका वर्णन है वहीं आठवें अध्यायमें उपदेशका स्वरूप है जिसमें चारों अनुयोगोंका विषय व्याख्यान पद्धति, रचनाशैली आदिका वर्णन है। अतः उसे सातवां अध्यायका अंश नहीं माना जा सकता। अस्तु, ये आठों दोहे अपने २ अध्यायके निचोड़ हैं। जिस अध्यायमें जो विपय ग्रन्थकारको वर्णन करना है उसके पहले एक दोहे में उस अध्यायका आभास दे दिया गया है। पढ़नेसे ऐसा मालूम पड़ता है मानों ये दोहे गाथा सूत्रोंकी तरह किसी ग्रंथके संक्षिप्त दोहासूत्र है। और प्रस्तुत ग्रन्थ उन दोहोंका भाष्य है। पहले अध्यायके प्रारंभमें मङ्गल दोहा लिखा है '**मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान,नमों ताहि जाते भए अरहंतादि महान**' नीचे इसी अध्यायमें अरहंतादिका स्वरूप उनकी पूज्यताका कारण,वीतराग विज्ञानता, मङ्गल शब्दकी व्याख्या और उसका प्रयोजन आदि वातोंका वर्णन किया है। दूसरे अध्यायमें संसार अवस्थाका निरूपण करते हुए उसका कारण मिथ्याभावोंको वतलाया है। अतः प्रारंभका दोहा लिखा है '**मिथ्याभाव अभावतें जो प्रगटे निजभाव,सो जयवंत रहे सदा यह ही मोक्ष उपाव**' इसी प्रकार पांचवें अध्यायमें शैव, वैष्णव इस्लाम आदि अनेक

मिथ्यामतोंका खण्डन किया है। अतः इसी आशयका इसके प्रारंभ में श्लोक रक्खा है 'बहुविधि मिथ्या गहनकर मलिन भए निजभाव, ताको हेतु अभाव है सहजरूप दरसाव'। इसी तरह सभी अध्यायोंके श्लोक उस अध्यायके विषय वर्णनके अनुरूप ही रक्खे हैं। और खूबी यह है कि समूचे अध्यायमें आदिसे अन्त तक दोहेमें वर्णित प्रमेयके अनुसार कहीं भी विषयका स्खलन नहीं हुआ। साथ ही इन दोहोंसे मङ्गलाचरणका भी काम लिया गया है। हम देखते हैं कि पहले अध्यायमें ग्रन्थकारने किसी आत्माविशेषको नमस्कार न कर वीतराग विज्ञान को नमस्कार किया है जिसका अर्थ है शुद्ध स्वभाव आत्माको नमस्कार है आगेके दोहोंमें भी उन्होंने यही क्रम रक्खा है और शुद्ध आत्माके स्मरणके लिए निजभाव, मोक्ष उपाव, सहजरूप आदि शब्दोंका प्रयोगकिया हैं। इस तरह प्रत्येक अध्यायके दोहेसे दो काम लिए है एक तो उस अध्यायका उसमें सार रख दिया है दूसरे प्रत्येक अध्यायका प्रारंभिक मंगलाचरण भी किया गया है।

यह हम पहले कह आए हैं कि यह ग्रन्थ ९ अध्यायोंमें विभक्त हैं। किन्तु नवों अध्यायोंके उन प्रारंभिक दोहोंको देखते हुए यह निश्चय हुए विना नहीं रहता कि ग्रन्थकर्ता इस ग्रन्थ को अध्यायों की तरह कई भागोंमें वांटना चाहते थे। जहां तक हम समझ पाए है मौजूदा ग्रंथ दो भागोंमें वटा हुआ है पहले भागमें आठ अध्याय हैं और दूसरे भागमें नौवां अध्याय है। यदि ग्रन्थ अधूरा न होता तो दूसरे भागमें ओर भी कई अध्याय होते। नौवें अध्यायसे दूसरा भाग माननेका कारण यह हैं कि जिस प्रकार ग्रन्थके प्रारंभमें मंङ्गलाचरण करते हुए उन्होंने नमस्कार शब्दका प्रयोग किया है। उसी प्रकार नौवें अध्यायके प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए नमस्कार शब्द का प्रयोग किया है। वीचके किसी भी अध्याय में नमस्कार शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह तभी हो सकता है जब कि नए ढंगसे कोई भाग या पुस्तक लिखी जाय। दूसरा हेतु यह है कि पहले आठ अध्यायोंमें जो प्रकरण चला है नौवें अध्यायमें वह विल्कुल वदल गया है। पहले आठ अध्यायोंमें संसारके कारण मिथ्यादर्शनादिक का वर्णन है और नौवें अध्यायमें मोक्षके कारण सम्यग्दर्शनादिकका वर्णन प्रारंभ हुआ है। यह हम पहले लिख आए है कि आठ अध्याय तो केवल भूमिकाके रूपमें लिखे गए हैं। ग्रन्थ का असली भाग तो नौवें अध्यायसे ही प्रारम्भ होता है। अतः इस निर्णयमें कोई वाधा नहीं आती कि नोवां अध्याय ग्रन्थ का दूसरा भाग है और पहले आठ अध्याय ग्रन्थ का पहला भाग है।

विषय वर्णन शैली

ग्रन्थमें विषय की वर्णन शैली वड़ी ही सरल, रोचक और वोधगम्य है। दुरूह चर्चाओं को भी वड़ा सरल वनाने का प्रयत्न किया गया है। जिस विषय को उठाया गया है उस पर खूब ऊहा पोह किया गया है, और जवतक उसके हर एक पहलू पर विचार नहीं कर लिया गया तब तक आगे नहीं वढ़ा गया। जहां वढ़ा गया है वहाँ यह कहकर वढ़ा गया है कि इसपर आगे चल कर विचार करेंगे। विषय को सरल करनेमें वही शैली अपनाई गई है जो धवलादि प्राचीन ग्रन्थोंमें अपनाई गई है। अर्थात् प्रत्येक विषय पर यथा संभव प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान किया है। इतना ही नहीं वल्कि विषय

को समझानेमें जो दृष्टांत दिये हैं उनका इतना सुन्दर प्रयोग हुआ है कि प्रतिपाद्य विषय को गले उतरनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। कभी २ तो उन फवते हुए दृष्टांतों को देखकर ग्रन्थकार की योग्यता और बहुमुखी प्रतिभा पर आश्चर्य हुए विना नहीं रहता। उदाहरणके लिए जैसा कि पहले लिखा जा चुका है किसीने शंकाकी है कि निःशङ्कितादि गुण मिथ्यादृष्टियोंके भी होते हैं आप उन्हें सम्यक्त्व के अङ्ग कैसे कहते हैं। उत्तर दिया है कि हस्त पादादि अङ्ग वन्दरके भी होते हैं पर मनुष्यके जैसे होते हैं वैसे नहीं होते। यहाँ यह ध्यान देनेकी वात है कि वन्दर की जगह किसी अन्य पशुका भी दृष्टांत दिया जा सकता था परन्तु सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमें जो साम्य है उसका मेल मनुष्यका वन्दरके साथही हो सकता था अन्य पशुके साथ नहीं अतः वन्दरके दृष्टांतका यहाँ बड़ा ही सुन्दर और ठीक प्रयोग हुआ।

पृ० २६ पर इस प्रश्नका कि पुद्गल परमाणु जड़ हैं वे यथायोग्य प्रकृतिरूप कैसे परिणमन कर जाते हैं। उत्तर दिया है कि जिस प्रकार भूख लगने पर मुखद्वारा ग्रहण किया गया भोजनरूप जड़ पुद्गलपिंड, मांस, शुक्र, शोणित आदि धातु रूप परिणमन कर जाता है और उस भोजनके परमाणुओंसे यथा योग्य किसी धातु रूप कम और किसी धातु रूप अधिक परमाणु हो जाते हैं। उसी प्रकार कषायोंके सद्भावमें योगों द्वारा ग्रहण किया गया कार्माण वर्गणारूप जड़ पुद्गलपिंड यथा योग्य ज्ञानावरणादि प्रकृति रूप परिणमन कर जाता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दृष्टांत कितना उपयुक्त और जी को लगने वाला है।

पृ० ८ पर शङ्काकी है कि मङ्गल न करने वालेभी सुखी और करने वालेभी दुखी देखे जाते हैं तब आप मङ्गल को सुखका कारण कैसे कहते हैं। इसका उत्तर दिया है—जिस प्रकार किसीको पहलेसे ही वहुतसा धन इकट्ठा है, वर्तमानमें वह नहीं भी कमा रहा है तो भी उसके धन देखा जाता है कर्जा नहीं देखा जाता तथा जिसके ऊपर पहलेसे ही बहुत कर्जा है वह कमाते हुए भी कर्जदार और निर्धन देखा जाता है। लेकिन वस्तुतः देखा जाय तो कमाना धन होने का ही कारण है कर्ज का नहीं। उसी प्रकार जिनके पहले वंधा हुआ पुण्य अधिक है उनके ऐसा मङ्गल किए विना ही सुख देखा जाता है। और जिनके पहले वंधा हुआ पाप अधिक है उनके वैसा मङ्गल करते हुए भी दुःख देखा जाता है। लेकिन वस्तुतः देखा जाय तो मङ्गल करना सुख का ही कारण है दुःख का नहीं। पाठक देखगें कि दृष्टांतमें ही शंका का कितना विशद और मार्मिक उत्तर है। इस तरह सारा ग्रन्थ ही दृष्टांतोंसे भरा पड़ा है अतः मोटी बुद्धि भी विषय को तुरत पकड़ लेती है। कहीं २ तो दृष्टांत का दार्ष्टांतके साथ ऐसा रूपक बाधा है कि वह पढ़ते ही वनता है। वानगी के लिए हम यहाँ एक उदाहरण देते हैं—

मोक्षमार्गप्रकाश नाम की सार्थकता वतलाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं, संसार रूपी वनमें मिथ्यात्व रूपी अन्धकार व्याप्त है अतः जीव को वहांसे निकलने (मुक्ति) का मार्ग नहीं सूझता। ऐसे जीवों की भलाईके लिए तीर्थंकर केवली रूप सूर्य का उदय हुआ। उसकी दिव्यध्वनि रूपी किरणोंसे वहांसे निकलने (मुक्त होने) का मार्ग प्रकाशित हुआ। सूर्य जैसे विना इच्छाके स्वभा-

चतः मार्ग प्रकाशन करता है वैसे ही तीर्थंकर केवली विना इच्छाके मोक्षमार्ग का प्रकाशन करते हैं। जब तीर्थंकर केवली रूप सूर्य अस्त हुआ तो अंधकारमें जीवोंके भटकनेके डरसे गणाधरोंने द्वादशाङ्ग रूपी दीपकों का प्रकाश किया। इसके बाद दीपकोंसे दीपक जोड़कर जैसे दीपकों की परंपरा चलती है वैसे ही आचार्यों द्वारा उन ग्रन्थोंसे अन्य ग्रन्थ बनाए गए। उनसे किसीने अन्य ग्रन्थ बनाए। तथा जिस प्रकार सूर्य और दीपक एक ही रूपसे मार्ग का प्रकाशन करते हैं वैसे ही दिव्यध्वनि और सर्व ग्रन्थ एक ही रूपसे मोक्षमार्ग का प्रकाशन करते हैं। तथा जिस प्रकार बड़े दीपकोंके प्रकाशके लिए बहुत तेल वगैरहकी आवश्यकता होती है, किन्तु जिनकी अधिक तेल वगैरह देनेकी शक्ति नहीं है उन्हें यदि छोटा सा दीपक दे दिया जाय तो वे उसके अनुरूप थोड़ेसे साधनोंको रखकर उसके प्रकाशमें अपना कार्य करते हैं उसी प्रकार बड़े ग्रन्थोंका प्रकाश अधिक ज्ञानादिक साधनोंकी अपेक्षा रखता है। उतनी ज्ञानादिक शक्ति जिनके पास नहीं है उन्हें यदि छोटा सा ग्रन्थ बनाकर दे दिया जाय तो वे थोड़े साधनोंसे ही अपना कार्य कर लेते हैं इसीलिए यह छोटा और सरल ग्रन्थ बनाया गया है। इस प्रकार जहां भी विषयको सरल करनेकी आवश्यकता समझी गयी है वहीं प्रायः इस प्रकारके रूपकोंसे काम लिया गया है।

ग्रन्थकी भाषा

प्रस्तुत ग्रन्थ यद्यपि आजकी खड़ी बोलीमें है पर मूलतः वह ढूंढारी भाषामें है। ढूढारी भाषा ढूंढार प्रदेशकी भाषा कही जाती है जो जयपुर और उसके आसपासके प्रदेशोंमें बोली जाती है। भाषा साहित्यके इतिहासमें ढूंढारी भाषाका कोई अलग स्थान नहीं है जैसा कि व्रजभाषाका अलग और महत्वपूर्ण स्थान है पर पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिंदी जैन साहित्यका बहुत सा भाग ढूंढारी भाषामें ही लिखा गया है। व्रजभाषामें भी यद्यपि वह अपेक्षाकृत कम नहीं है पर व्रजभाषा उस समय जैसी लोक प्रचलित भाषा थी और जैसा वह साहित्यका स्थान ले चुकी थी उसको देखते हुए उतने साहित्यको परिमाणकी अपेक्षा महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ढूंढारी भाषामें हिंदी जैन साहित्यके लिखे जानेका कारण यह है कि जैन दर्शनके मर्मज्ञ विद्वान उस समय जयपुर और उसके आसपास ही हुए हैं। स्वयं जयपुरमें जैनोंकी आबादी ही इतनी अधिक थी कि उस समय लोग उसे जैनपुरी कहते थे। वहांके जैन मंदिरोंकी संख्या तो अब भी वहांके अतीत जैन वैभवको बतला रही है। राज कर्मचारी सब जैन थे,दस, बारह लेखक सदा शास्त्र लिखा करते थे। सैकड़ों स्त्री पुरुष व्याकरणादिका अध्ययन करते थे शास्त्र चर्चाए करते थे[1]। इस तरह जयपुरका

१—और इहां दश बारा लेखक सदैव सासते जिनवाणी लिखें हैं वा सोधयें है। आर एक ब्राह्मण महैनदार चाकर राख्या है सो बीस तीस लड़के बालकन कूं न्याय, व्याकरण, गणित शास्त्र पढ़ावें हैं। और सौ पचास भाई व बायां चर्चा व्याकरणका अध्ययन करे है। नित्य सौ पचास जायगा जिन पूजन होइ है—इत्यादि इहां जिन धर्मकी विशेष महिमां जाननी। और ई नग्र विषैं सात विसनका अभाव है। भावार्थ—ई नग्र विखैं कलाल, कसाई, वेश्या न पाइए। अर जीव हिंसाकी भी मनाई है। राजाका नाम माधवसिंह है। ताके राजमें वर्तमान एते कुवसिन न पाइए हैं। और जैनी लोगका समूह बसे है। दरबारके मुतसद्दी सब जैनी है और साहूकार लोग सब जैनी हैं। यद्यपि और भी हैं पर गौणता रूप है, मुख्यता रूप

बढ़ा चढ़ा वैभव देख सुनकर जैनोंका वहां अधिक संख्यामें बस जाना उचित ही था। अतः अधिक जैन विद्वान भी वहीं हुए। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा पढ़ा वहींकी भाषामें लिखा पढ़ा। यद्यपि आजकी जयपुरी भाषामें और मूल ग्रन्थकी भाषामें बड़ा अन्तर है पर हमारी समझमें आजकी तरह वह तब भी रहा होगा। कारण बोल चालकी भाषासे लिखनेकी भाषा प्रायः जुदी ही रहती हैं। लिखनेमें भाषाको सर्व साधारण तक पहुँचानेमें जितना ध्यान रहता है उतना बातचीत करनेमें नहीं। बातचीत केवल दो आदमियोंकी तात्कालिक चीज है जबकि लिखनेका संबंध अनेकोंसे और बहुत काल तक है। इसलिए लेखक किसी भी देशका हो यदि उसकी बोल चालकी भाषा लोकप्रचलित साहित्यिक भाषासे बिल्कुल भिन्न नहीं है तो अपनी कृतिको सार्वजनिक बनानेके लिए वह उसी (लोक प्रचलित साहि० भाषा) में लिखनेकी चेष्टा करता है। यही कारण है कि न तो उसकी भाषा बोलचालकी भाषा ही रहती है और न वह तात्कालिक भाषासे ही बिल्कुल मेल खाती है। प्रस्तुत ग्रन्थकी भाषाके संबंधमें भी यही बात है। १८ वीं शताब्दी और १९ वी शताब्दिके प्रारंभ तक व्रजभाषा ही एक मात्र साहित्यक भाषा रही। पठन पाठनमें यत्र तत्र उसका साहित्य ही काम आता था। अतः उस समयके विद्वान लेखकोंका इस भाषाकी ओर झुकाव होना स्वभाविक ही था। जयपुरके विद्वान भी इसके अपवाद न थे। उनके जीवनमें हिन्दीके जो ग्रन्थ पठन पाठनमें आए होंगे वे व्रज भाषाके ही होंगे। जैन हिन्दी साहित्यमें कविवर बनारसीदास जी नाटक समयसार आदि बहुत सा साहित्य छोड़ ही गए थे तथा जगत राम जी[1], पांडे हेमराज जी[2], भैया भगवती दास जी उस समय अपनी रचनाएँ करके ही चुके थे और कविवर द्यानतरायजी उस समय रचनाएँ करनेमें लगे थे उनका रचा हुआ बहुत सा साहित्य तो उस समय पठन पाठनमें आने लगा था। ऐसी हालतमें जयपुरके विद्वानोंने हिन्दी ग्रन्थ लिखनेमें जिस साहित्यका अनुकरण किया होगा वह उक्त विद्वानोंका लिखा हुआ यही व्रज भाषाका साहित्य होगा। यही कारण है कि उन विद्वानोंकी भाषामें और व्रजभाषामें विशेष अन्तर नहीं है। जहां अन्तर है वह इसी कारणसे है कि उनकी बोल चालकी भाषा ठेठ ढूंढारी थी। अतः इच्छा न होनेपर भी वे जाने अनजाने उसका प्रयोग रोक नहीं सकते थे। इस तरह ग्रन्थकी भाषा ठेठ ढूंढारी न होने पर भी उसका इसपर काफी असर है इसलिए इसे ढूंढारी (जयपुरी) ही कहना अधिक उचित है। हम पहले कह आए हैं कि उक्त भाषा व्रजभाषाके अनुकरणसे लिखी गई है। यही कारण है कि वह इतनी सरल लिखी गई

नाहीं। छह सात वा आठ दस हजार जैनी महाजनांका घर पाइए हैं। ऐसा जैनी लोगोंका समूह और नग्र विपै नाही। और इहांका देश विपैं सर्वत्र मुख्य पणे श्रावगी लोग वसे हैं। तातें यह नग्र व देश बहुत निर्मल व पवित्र है। तातें धर्मात्मा पुरुष वसनेका स्थान है। अवार तो ए साक्षात् धर्मपुरी है। सं० १८२१ साधर्मी भाई रायमल्लका एक पत्र।

१-पद्मनंदिपचीसी भाषा (१७२२) सम्यक्त्व कौमुदी भाषाके कर्त्ता। २-प्रवचनसार भाषा (१७०९) पंचास्तिकाय वचनिका और नयचक्र भाषा (१७२४) आदिके रचयिता।

हैं कि कोई भी व्यक्ति जो ढूंढारी भाषाको बिल्कुल भी न समझता हो इसे अपेक्षाकृत आसानीसे समझ लेगा। भाषामें प्रवाह है और स्वाभाविकता है। तथा पढ़ते २ ऐसा मालूम पड़ता है कि ग्रन्थकार को कहना बहुत है पर उन्हें अपना कथन संक्षिप्त करना पड़ रहा है। किसी भी भाषाकी सरलता और सुबोधता का मतलब यह है कि वह इस ढंगसे लिखी गई हो जैसे कोई किसी को स्वाभाविक बात चीत करते हुए समझा रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ की मूल भाषा इस कसौटी पर ठीक उतरती है। समर्थनमें यहाँ दो एक उदाहरण देना ही काफी होगा। 'शैव सांख्य नैयायिकादिक सर्व ही वेद को मानें हैं तुम भी मानो हो, तुम्हारे और उन सबनिकैं तत्वादि निरूपण विषै परस्पर विरुद्धता पाइए है सो कहा है। तू कहेगा एक अवस्था न रहे है, तो यह हम भी माने हैं। बहुरि तिस वस्तु ही का नाश माने तो यह होता न दीसे। जो तू कहेगा संस्कारतें है तो संस्कार कौनके हैं जाके है सो नित्य है कि क्षणिक है......'इन उदाहरणोंमें 'तू' और 'हम' के प्रयोगोंसे ऐसा मालूम पड़ता है जैसे ग्रन्थकार किसी को सामने बैठाकर शंका समाधान कर रहे हैं। अतः भाषा विसयक हमारे उक्त कथन की सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रहता।

'वक्तुः प्रामाण्याद् वचनस्य प्रामाण्यं' के अनुसार यों तो ग्रन्थकारके वचन ही ग्रन्थ की प्रामाणिकताके लिए काफी है, क्यों कि टोडरमल जी की विद्वत्ता विचारकता और सदाचारता जैसा कि हम आगे उल्लेख करेंगे न केवल सर्वोपरि थी परन्तु अन्य विद्वान भी उसका लोहा मानते थे फिर भी अपने कथनके समर्थनमें

ग्रन्थान्तरों की साक्षि

उन्होंने आवश्यकतानुसार प्रायः सर्वत्र ही ग्रन्थान्तरोंके प्रमाण दिए हैं। शायद ही कोई प्रकरण हो जो विना साक्षिके छूट गया हो। इस तरह ग्रन्थमें १-२ नहीं बल्कि लगभग पचासों जैनेतर ग्रन्थोंके प्रमाण दिए हैं, और वे उन ग्रन्थोंमें जहाँके तहाँ मोजूद हैं। स्मृति और वेदादिकके कुछ प्रमाण ऐसे भी हैं जो आज उन ग्रन्थोंमें नहीं पाए जाते परन्तु उनके न पाए जानेके कारणों का हमने वहीं टिप्पणीमें उल्लेख कर दिया है। ग्रन्थ पूरा होता तो हम समझते हैं उसमें और भी पचासों ग्रन्थोंके प्रमाण होते। इस तरह एक ग्रन्थमें अनेकों अवतरणों का संग्रह ग्रन्थकी महानता और गंभीरता को बहुत ऊँचा उठा देते हैं। ग्रन्थके किसी भी प्रमेय को पढ़ने के बाद उसके समर्थनमें फिर अन्य ग्रन्थोंके टटोलने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि ग्रन्थकार स्वयं ही अन्य ग्रन्थोंके इतने प्रमाण दे देते हैं कि जिज्ञासु मन उन्हें देखकर ही शांत हो जाता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं किसी भी विषयका समर्थन अनेकों युक्ति व प्रमाणोंसे किया गया है फिर भी दो एक स्थल ऐसे हैं जिन पर विद्वानों को विचार करना आवश्यक है। 'पृ० २३ पर घातिया कर्मोंका प्रभाव बतलाते हुए लिखा है कि अंतरायके उदयसे जीवमें दीक्षा लेने की जो शक्ति है वह प्रकट नहीं होती। वस्तुतः दीक्षाका संबंध चारित्र ग्रहण से है। दीक्षा लेना कहिए या चारित्र

ग्रन्थके कुछ नए विचारणीय विषय

ग्रहण करना कहिए एक ही बात है अतः दीक्षा न ले सकने का कारण चारित्र मोह का उदय तो समझमें आता है परन्तु अन्तरायका उदय समझमें नहीं आता। यहां यह कहा जा सकता है कि

ग्रन्थकार ने दीक्षा न लेनेका कारण अंतराय का उदय नहीं बतलाया बल्कि दीक्षा लेनेकी शक्तिके प्रकट न होनेके कारण को अन्तराय का उदय बतलाया है। लेकिन सोचना तो यह है कि आखिर वह शक्ति है क्या चीज ? हमारी समझमें दीक्षा लेनेके जो उदासीन परिणाम हैं उसके अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। वे परिणाम चारित्र मोहके क्षयोपशमसे होते हैं। यदि परिणामोंके अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति भी कारण होती तो जहां देश चारित्र[1] और सकल चारित्र[2] के लक्षण लिखे हैं वहां मतिज्ञान श्रुतज्ञान[3] के लक्षणों की तरह वीर्यांतरायके क्षयोपशम की भी अवश्य चर्चा करते। परन्तु ऐसा नहीं किया इसलिए मालूम पड़ता है कि चारित्र ग्रहण करने में उदासीन परिणामोंके अतिरिक्त और कोई शक्ति कारण नहीं है जिससे दीक्षा न लेनेमें चारित्र मोहके उदय को कारण न मानकर या उसके साथ २ वीर्यांतरायके उदयको भी कारण माना जाय। यहां इस शंका को गुंजायश नहीं है कि एक आदमी उदासीन परिणामोंसे उपवास करना चाहता है लेकिन उपवास करनेसे उसे वमन होने लगता है या मूर्छित हो जाता है अतः उपवास निर्विघ्न समाप्त नहीं होता इसे वीर्यांतरायका ही उदय मानना चाहिए'। वमन होना या मूर्छित होना इसका कारण शारीरिक अशक्ति है यह वीर्यान्तरायके उदयसे नहीं वल्कि निर्वल संहननके उदयसे होती है। कारण वीर्यान्तराय कर्म घातिया कर्म है अतः उसका असर सीधा आत्मा पर होना चाहिए न कि शरीर पर। अतः वीर्यान्तराय का कार्य दीक्षा लेनेकी, शक्ति प्रकट न होने देना एक अनोखी-सी वात जान पड़ती है। फिर भी विद्वानों और स्वाध्यायप्रेमियोंको इसपर खूब विचार करना चाहिए। हमने स्वयं भी इसपर परिशिष्टमें थोड़ा विचार किया है, जिज्ञासुओंको वहाँसे देखना चाहिए।

पृष्ठ ३२ पर एक समयमें एक ही उपयोग की चर्चा करते हुए लिखा है 'जव स्पर्श को जानता है तव रसादिक को नहीं जानता, तथा एक विषयमें भी उसके किसी एक अंशको जानता है। जैसे जव उष्ण स्पर्शको जानता है तव रूक्षादिक को नहीं जानता' इस विपयके समर्थनमें ग्रन्थकारने कोई युक्ति नहीं दी है, केवल इतना ही लिखा है कि उपयोगके जल्दी जल्दी होने से हम एक साथ अनेक पदार्थोंका जानना देखना मान लेते है जैसे कौए की दोनों आँखमें पुतली एक रहती है लेकिन चूंकि वह दोनों आँखोंमें जल्दी आती जाती रहती है इस लिए हमें दो पुतली मालूम पड़ती है। लेकिन इतने भरसे विपय स्पष्ट नहीं होता। अनुभव

१—अनंतानुवंध्यप्रत्याख्यानकपायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकपायोदये सज्वलनकपायस्य देशघातिस्पर्द्धकोदये नोकपायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरतपरिणामः' क्षायोपशमिकः संयमासंयमः [रा० वा० पृ० ७५] २—अनंतानुवंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादश कषायोदयक्षयात् सदुपशमाच्च संज्वलनचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्धकोदये सति नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रं। [रा० वा० पृ ७५] ३—वीर्यांतराय मतिश्रुतज्ञानावरणानां सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये सति मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च भवति [रा० वा० पृ० ७५]

स्पष्ट कहता है कि जब हम वर्फका शरवत पीते हैं तब उसका मिठास और ठंडापन दोनों एक साथ मालूम पड़ते हैं। उसमें यह कहना कि दोनों क्रमसे मालूम होते हैं किन्तु दोनोंके आभास में शीघ्रता होनेके कारण वे साथ साथ मालूम पड़ते हैं दिमाग में नहीं वैठता। यह बात दूसरी है कि हम उनका सामान्य प्रतिभास ही कर सकें परन्तु इससे दोनोंके युगपत् प्रतिभासमें कोई अन्तर नहीं आता। ग्रन्थकारने अपने विषयके समर्थनमें एक अनुभवगम्य वात यह भी लिखी है कि जब हमारा सुननेमें उपयोग होता है तब हमारी आँखोंके सामनेका समीपवर्ती पदार्थ भी नहीं दीखता। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा होता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम प्रयत्न पूर्वक भी अगर उस समीपवर्ती पदार्थको देखना चाहे तो नहीं देख सकते या देखेंगे तो सुननेका उपयोग जाता रहेगा। और फिर भी अगर इसे किसी तरह मान लिया जाय तवभी यह दो भिन्न इन्द्रियोंके विषयका उदाहरण है लेकिन जहाँ एकही इन्द्रियके विषयभूत दो भेदोंका सवाल है वहां और जहां एक भेदके दो अंशोका सवाल है वहां उपर्युक्त उदाहरण काम नहीं देता अतः इस विषय परभी विशेष विचारकी आवश्यकता है।

क्या ग्रन्थ अधूरा लिखा गया था

ग्रन्थ संवंधी अनेक चर्चाओंके करनेके वाद एक चीज पर विचार करना और आवश्यक रह जाता है वह है प्रस्तुत ग्रन्थके अधूरेपन की वात। इसमें सन्देह नहीं कि उपलब्ध ग्रन्थ अधूरा है। नामके अनुसार मोक्षमार्गका उसमें कतई वर्णन नहीं है। नौवें अध्यायमें उसका वर्णन प्रारंभ करके ही छोड़ दिया गया है। भला यह कैसे हो सकता है कि एक विद्वान अपनी रचनामें जिस चीजका वर्णन करना चाहता है उसका वर्णन तो न करे वल्कि उसकी प्रारंभिक वातोंमें अपना सारा ग्रन्थ समाप्त करदे। खास कर टोडरमलजी जैसे विशिष्टज्ञानी विद्वानोंसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती। दूसरे ग्रन्थके अन्तमें कोई समाप्ति सूचक सवैया, दोहा या अन्य किसी प्रकारके वाक्य जैसा कि उनके अन्य ग्रन्थोंमें है विल्कुल नहीं हैं इससे भी मालूम पड़ता है कि ग्रंथ अधूरा ही है। और नहीं तो कमसे कम जैसे अन्य अध्यायोंमें अन्तमें जाकर वर्णित विषयका उपसंहार किया है वैसे यहांभी विषयका उपसंहार किया होता, लेकिन वैसा नही है। तीसरे काशीके कविवर वावू वृन्दावन दासजीने पं० जयचन्द्रजीको जो पत्र लिखा था उसमें अधूरे मोक्षमार्गको पूरा करनेकी चर्चाकी है। अतः मौजूदा उपलब्ध ग्रन्थके अधूरेपनमें तो कोई संदेह नहीं रहता। लेकिन संदेह यह है कि उन्होंने इसके आगे भी ग्रन्थ लिखा था या नहीं। यह सन्देह हम इस लिए व्यक्त कर रहे हैं कि सहधर्मी भाइ रायमल्लने जिनकी प्रेरणासे पं० टोडरमलजीने गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंकी टीका लिखी थी संवत् १८२१ में जयपुरमें होनेवाले इन्द्रध्वज पूजा विधानका जो निमन्त्रणपत्र सब जगह भेजा है उसमें गोम्मटसारकी टीका आदि ग्रन्थोंका परिचय देते हुए मोक्षमार्ग प्रकाश ग्रन्थकी २०००० वीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी है। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ ज्यादासे ज्यादा १०००० दस हजार श्लोकोंमें है। इससे अधिक नहीं है। वीस हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थका अर्थ था अवसे दूना परिमाण। अतः संदेह होता है कि शायद उन्होंने इसके आगे भी ग्रन्थ लिखा था परन्तु वह अव तकभी देखनेमें नहीं आया। और न यही माननेको जी चाहता है कि वह नष्ट होगया। कारण

पं० जीको दिवगंत हुए अभी बहुत समय नहीं बीता। केवल १८० वर्षमें एक ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ का जिसका जनतामें पठन पाठन हो रहा हो लुप्त हो जाना संभव नही मालूम देता। हो सकता है कि जिस समय यह पत्र लिखा गया है उस समय पं० जी उक्त ग्रन्थ लिखनेमें लगे हों और उन्हींके कथनानुसार इस ग्रन्थकी बीस हजार श्लोकोंमें लिखे जानेकी संभावना देखकर रायमल्लजीने पत्र में ऐसा प्रचारित कर दिया हो। परन्तु इन संभावनाओंसे तथ्यका पता नहीं चलता। अतः इस संबंधमें अधिक छानबीनकी आवश्यकता है।

आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी

इस ग्रन्थके रचयिता अपने समयके विचारक विद्वान महान प्रतिभाशाली श्री पं० टोडरमलजी है। स्वाध्यायी संसारमें शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो आपके नामसे परिचित न हो। यद्यपि आप इस भौतिक संसारमें अधिक दिन तक नहीं रहे, फिर भी अपने जीवन के थोड़ेसे समयमें आपने जैन समाज का जो महान उपकार किया है वह किसीसे भुलाया नहीं जा सकता। आज आपकी प्रत्येक रचना ज्ञान पिपासुओं की तृप्तिका कारण बनी हुई है और आपके वचन प्राचीन आचार्यों की तरह ही प्रमाण माने जाते हैं। विद्वान गृहस्थ होकर भी 'आचार्य कल्प' कहलाने का सौभाग्य आपको ही प्राप्त है। आपका एक हो ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाश प्राथमिक जिज्ञासुओं को स्वाध्यायमें प्रवेश कराता है और स्वाध्यायप्रविष्ट व्यक्तियोंमें विशेप स्वाध्यायके लिये उत्सुकता तथा लगन पैदा करता है। आजकी जैन जनतामें गोम्मटसार जैसे महान ग्रन्थोंके पठन पाठन का श्रेय भी उन्हीं को है। जैन साहित्य को देशभापामें जनताके सामने लाने वाले यद्यपि अनेक विद्वान हुए हैं। पर अपने समयके अनुसार जिनकी रचनाएँ सर्वाधिक लोकप्रिय रहीं उनमें या तो पं० बनारसीदास जी का नाम उल्लेखनीय है। या पं० टोडरमलजी का नाम उल्लेखनीय है। एकने अपने ज्ञानके प्रकाश का साधन पद्य रचना को अपनाया तो दूसरेने गद्यरचनामें ही अपने ज्ञान का प्रकाश किया। यद्यपि टोडरमलजीके समयमें पं० दौलतरामजी की रचनाओं का भी जनतामें कम प्रचार नहीं था—बल्कि साधारण जनता आपके ही अनूदित पुराण ग्रन्थों का स्वाध्याय करती थी। परन्तु जो अपेक्षा और प्रतीक्षा टोडरमलजी की ग्रन्थ रचनाओंके पढ़ने व सुननेमें होती थी वह इन रचनाओंके लिये नहीं होती थी। पूजा विधानादि उत्सवोमें लोगों को इकट्ठा करनेके लिए पं० जीका नाम लिख देना पर्याप्त होता था जिसे सुनकर अनायास ही जिज्ञासु जनता की अपार भीड़ हो जाती थी। आपकी सत्संगतिका लाभ उठानेके लिए अनेकों लोग उस समय जयपुरमें आकर बस गए थे। स्वयं साधर्मी भाई रायमल्ल और पं० देवीदासजी ने टोडर मलजीके मिमित्तसे ही अपना जयपुरमें जाना लिखा हैं। आपकी ख्याति और रचनाओंका प्रचार देखकर ही अनेक ग्रन्थोंके टीकाकार श्री पं० जयचन्द्रजी छावड़ा संभवत अपनी बीस इक्कीस वर्पकी आयुमें जयपुरमें आकर बस गए थे। इस तरह जयपुरके जैनपुरी होनेमें आपका भी बहुत कुछ हाथ रहा है।

जयपुरका वैभव

जिन दिनों पं० जी अपने ज्ञान सूर्यसे जैन जगत् को आलोकित कर रहे थे उन दिनों जयपुरका धार्मिक वैभव अपनी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। साधर्मी भाई रायमल्लके पत्रसे स्पष्ट है कि वहां करीब दस हजार घर जैनियोंके थे। यदि प्रत्येक घरमें औसतन पांच आदमी माने जांय तो पचास हजार जैनियों की संख्या उस समय जयपुरमें थी। राज दरबारमें और राज्यके अन्य विभागोंमें जैनोंका ही बोलबाला था। दीवान रतनचंदजी जो तत्कालीन राज्यके प्रधान मन्त्री थे खंडेल वाल जैन थे और पं० टोडर मलजी की शास्त्र सभाओं तथा धार्मिक चर्चाओंमें खूब भाग लिया करते थे। स्वयं जयपुरके शासक महाराज माधवसिंहजी जैनोंसे अत्यधिक प्रभावित थे। संवत् १८२१ में जयपुरके जैनों द्वारा इन्द्रध्वज पूजाका जो विशाल और ऐतहासिक सामारोह हुआ था उसमें राजदरबार की तरफसे घोषणा थी कि जैनोंको दरबारसे जिस चीज की आवश्यकता हो वह दी जाय। कहते हैं यह महोत्सव स्वयं महाराज की प्रेरणासे ही हुआ था। और उनके दीवान रतनचन्द्रजी इस काममें अग्रेसर रहे थे। उन दिनों और उसके बाद तक भी जयपुर ही ऐसा केन्द्र रहा जहाँ सैकड़ो शास्त्रों को नक्ल करा कर मांगके अनुसार देशके विभिन्न मंदिरोंमें पहूंचाया जाता था। दस बारह लेखक इसके लिए वहां सतत नियुक्त रहते थे। कुछ विशेषज्ञ विद्वान शास्त्रोंका संशोधन करते रहते थे।

संस्कृत न्याय व्याकरण तथा गणित आदिके अध्यापनके लिए एक ब्राह्मण विद्वानकी नियुक्ति कर रक्खी थी जो जैन बालक बालिकाओं को संस्कृतका ज्ञान कराता था। उस समय एक दो नहीं बल्कि सैंकड़ों स्त्री पुरुषों को संस्कृतका अच्छा ज्ञान था। सिद्धान्त, न्याय आदि की परस्पर खूब चर्चा होती थी। बाहरका बड़ेसे बड़ा विद्वान भी जयपुरमें आकर एक साधारण तत्व-जिज्ञासु की भांति ही वहां की तत्व चर्चा सुनाता था।

शास्त्र सभामें सैंकड़ों स्त्री पुरुष भाग लिया करते थे। विभिन्न मंदिरोंमें सौ पचास जगह भगवान का बड़े उत्साहसे प्रति दिन पूजापाठ होता था जिसमे हजारों भाई भाग लेते थे। समूचे नगरमें शराब बेचने वाले, कसाई तथा वेश्याएँ बिल्कुल नहीं थी। इस तरह सप्तव्यसनोंका नगरमें एक प्रकारसे अभाव ही था।

जयपुरकी इस बढ़ती हुई धार्मिक प्रभावनामें एक कारण यह भी हुआ। संवत् १८१७ में श्यामराम नामका एक ब्राह्मण तत्कालीन महाराजा माधवसिंहका गुरू था। राजकार्योंमें जैनोंका प्रभुत्व उनकी बढ़ती हुई संख्या और धार्मिक संगठन देखकर उसकी सांप्रदायिकता भड़क उठी। उसने महाराज को ऐसी उल्टी पट्टी पढ़ाई कि महाराज जैनोंके विरुद्ध हो गए। रोषमें आकर उन्होने न केवल जयपुर नगरके किन्तु समूचे ढूंढार प्रान्तके जैन मन्दिरों को अपने राज्यमें उपद्रवका शिकार बनाया। अनेक मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट भी करवा दिया। जैनों को वैष्णव बनानेके प्रयत्न किए गए। इस तरह राज्य की तरफसे मनमाने अत्याचार किए गए फल स्वरूप अनेक जैन इस विपत्तिके शिकार हुए। करीब डेढ़ वर्ष तक यह दमन की चक्की चलती रही। बादमें जैसे रात्रिका उत्तर परिणाम प्रभात होता है वैसे ही इस उपद्रवका परिणाम भी धर्म प्रभावनामें बदल

गया। राजा को सुबुद्धि आई। अत्यचार बंद होगए और जैनों को स्वतन्त्रता पूर्वक धर्म सेवन की आज्ञा देदी गई। इस आज्ञासे जयपुरके जैनोंमें धर्म प्रभावनाके लिए दूना जोश उमड़ आया। साधर्मी भाई रायमल्लके शब्दोंमें दूना क्या तिगुना चौगुना पहले की अपेक्षा जैनोंका धार्मिक प्रभाव बढ़ने लगा। नष्ट मंदिरों का पुनः शानके साथ निर्माण कराया गया। साथ ही बीस तीस मंदिर नए बनवाए गए ऐसे सुन्दर कि जयपुर की जनताने जिन्हें पहले कभी नहीं देखा था। तेरह पंथियोंके विशाल मंदिर भी उसी समय बने। इनमें हजारों स्त्री पुरुष पूजापाठ का आनंद तो उठाते ही थे परन्तु नित्य की जो शास्त्र सभा होती थी उसमें पांच सात सौ पुरुष और तीन चार सौ स्त्रियां सम्मिलित होती थी। लिखा है कि बीस तीस स्त्रियां तो बड़ी ही सुन्दर और गंभीर शास्त्र चर्चाएँ करती थी। २—३ नहीं बल्कि दस बीस विद्वान जयपुर की शास्त्र सभामें ऐसे रहते थे जो संस्कृत शास्त्रोंका प्रवचन करते थे। भाषा शास्त्रज्ञोंकी को कोई कमी ही न थी। दुरूह चर्चाओंमें भाग लेने वाले भी सेंकड़ों ही थे। विभिन्न देशोंके प्रश्न समाधानके लिए जयपुरमें ही आते थे। इस तरह उस समय समाज धर्म और विद्वत्ताका केन्द्र एकमात्र जयपुर ही था। हमारी समझमें उक्त उपद्रवके बाद जैनोंमें जो तिगुना चौगुना धार्मिक जोश पैदा हुआ था उसीके फलस्वरूप ही १८२१ का विशाल इन्द्रध्वज पूजा समारोह हो सका था। क्यों कि संवत् १८१७ के बीचमें यदि यह उपद्रव हुआ होगा तो डेढ़ वर्ष तक रहनेके कारण यह १८१९ के प्रारंभ तक अवश्य रहा होगा। और सन् १९ तथा २० में नष्ट मन्दिरोंके उद्धार करने नए मन्दिर बनवाने तथा अपनी डेढ़ वर्षकी छिन्न भिन्न स्थितिको सुधारनेमें लगे होंगे। बादमें सब तरफसे निराकुल-होकर १८२१ में उपद्रव शान्तिके उपलक्षमें यह विशाल पूजा समारोह किया गया होगा। यद्यपि उस समय सर्वत्र जैनोंमें इन्द्रध्वज पूजा समारोह करनेका रिवाज था। जयपुरके पहले आगरा तथा बादमें सागर आदि स्थानोंमें उसके होनेके उल्लेख पाए जाते हैं पर हमारा अनुमान है कि वह जयपुरमें जिस विशाल पैमाने पर हुआ होगा वह अन्यत्र न हुआ होगा। रायमल्लजीने जो विभिन्न स्थानोंको निमंत्रण पत्र भेजा है उसमें लिखा है कि 'ए उछव फेरि ई पर्याय में देखणां दुर्लभ है' अर्थात् यह उत्सव फिर इस पर्यायमें देखना दुर्लभ है। इससे स्पष्ट है कि जयपुरका उत्सव 'न भूतो न भविष्यति' के आधार पर हुआ था। पाठकोंकी जानकारीके लिए हम यहाँ उत्सव संबंधी कुछ तथ्योंके आँकड़े देते हैं जिससे उत्सवको विशालता का अनुमान हो सकता है। यह उत्सव माघ शु० १० से फाल्गुन कृ० ४ तक दस दिनका हुआ था और पौने दो महीने इसकी तय्यारीमें लगे थे इस तरह करीब सवा दो महीनोंमें सारा उत्सव सम्पन्न हुआ। तेरह द्वीपकी रचनाके लिए जो चबूतरा बनाया गया था वह ६४ गज लंबा और ६४ गज ही चौड़ा था। उसमें द्वीप समुद्र पर्वत आदिकी रचना चित्रकी तरह नहीं बल्कि खिलोनोंकी तरह हूबहू थी। चौंसठ गज लम्बे चौड़े चबूतरे पर जो मण्डप बनाया गया था उसके लिए उतना बड़ा एकही डेरा ताना गया था। इस मण्डपको छत चबूतरेसे ६० फुट ऊँची थी और इसके खड़े करनेमें २०० आदमियोंको

एकसाथ लगना पड़ा था। इसके चारों ओर १६ दरवाजे तोरन चित्राम आदिसे विभूषित बनाए गए थे। इसके ऊपर ठीक बीचमें सोनेके कलश लगाए गए थे। डेरेके चारों ओर एक सुन्दर विशाल परकोट बनाया गया था। कोटके बाहर कुछ दूरपर राज्यके मन्त्रियोंके डेरे लगाए गए थे। इस उत्सवमें करीब डेढ़सौ मजदूरोंने सवादो महीनेतक प्रतिदिन काम किया था। जिनपर पचास रुपया प्रतिदिन मजदूरी खर्च होती थी। यह मजदूरी उस समयकी है जब एक रुपयेका मनों अन्न आया करता था। यह पचास रुपया पौने दो महीने तक खर्च हुआ, इसके बाद दस दिन तक सौ रुपया प्रतिदिनके हिसाबसे खर्च हुआ। इस तरह सवा दो महीनेमें चार हजार रुपया तो केवल स्थानीय मजदूरीमें खर्च हुआ था, जो इस समय साठ सत्तर हजार और युद्धकी पहलेकी स्थिति के अनुसार पन्द्रह सोलह हजार रु० बैठता है। केवल ध्वजा चंदोवा और बिछायतके लिए ही चार हजार थान विभिन्न कपड़ोंके मँगाए गए थे। अनेक प्रकारकी रचनामें करीब तीस मन रद्दी कागजकी लग गई थी। मण्डपमें चारों ओर चांदी, सोना, जरी आदिके चित्राम बनाए गए थे, चमचमाहटके लिए भोडलका उपयोग किया था। सोने या चांदीके दीपक और पुष्प लाखोंकी संख्यामें बनवाए गए थे। मशीनसे चलनेवाला एक सुन्दर नए रथका निर्माण कराया गया था। इस तरह यह उत्सव अपने ढंगका अपूर्व और महान समारोह था। इतना बड़ा समारोह धार्मिक लगन, रुचि, निराकुलता और पारस्परिक संगठनके बिना नहीं हो सकता। इसीसे जाना जा सकता है कि उस समय जयपुरका धार्मिक वैभव कितना बढ़ा चढ़ा था। यह जयपुर ही था जिसने धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंको उत्तर भारतमें लानेका सर्वप्रथम उपक्रम किया था और वहाँसे पांच साथ ग्रन्थ ताड़पत्रों पर कर्णाटक लिपिमें लिखे हुए जयपुर लाए भी गए थे जिनका व्याख्यान पं० टोडरमलजी करते थे। थोड़ेसे शब्दोंमें जयपुर की झाँकी करनेके लिए हम यहाँ रायमल्लजीके पत्रके कुछ शब्द उधृदृत करते हैं—'दरबारके मुतसद्दी सब जैनी हैं और साहूकार लोग सर्व जैनी हैं। यद्यपि और भी हैं पर गौणतारूप हैं मुख्यतारूप नहीं। ऐसा जैनी लोगोंका समूह और नग्र विपैं नाहीं। और इहांके देश विपैं सर्वत्र मुख्य बड़े श्रवगी लोग वसे हैं तातें एह नग्र व देश वहोत निर्मल पवित्र है, तातें धर्मात्मा पुरुष वसनेका स्थान है अबारतो ए साक्षात् धर्मपुरी है' इस तरह विक्रम की १९ वीं शताब्दिमें जयपुरका धार्मिक वैभव अपनी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। विद्वान कहीं थे तो जयपुरमें, शास्त्रोंका अपूर्व संग्रह यदि कहीं था तो जयपुरमें, जैनोंकी सबसे अधिक संख्या यदि कहीं थी जयपुरमें तो राजनैतिक क्षेत्रमें यदि कहीं जैनोंका प्रभाव था तो जयपुरमें इस तरह सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और बौद्धिक क्षेत्रमें जयपुर अपने समयका अद्वितीय नगर था जिसे टोडरमलजी जैसे महा विद्वानको अपने यहां स्थान देने। का गर्व था।

टोडरमलजीने अपने अनूदित या रचित किसी भी ग्रन्थमें अपना इति वृत्त नहीं दिया अतः उनकी जीवन घटनाएँ, प्रायः अज्ञात ही हैं। उस समयके अन्य भाइयोंने श्रद्धावश जो उनकी यत्र तत्र चर्चा की है उसीसे उनकी घटनाएँ तो नहीं किन्तु विद्वत्ता, वाग्मिता, ग्रन्थ रचना

और थोड़ा सा कौटुम्बिक परिचय मिलता है। उसीके अनुसार हम यहां थोड़ा उनका परिचय लिखते हैं—

आप जयपुरके रहनेवाले थे और साहूकारके पुत्र थे। संभवतः आपके पिताका नाम जोगीदास और माताका नाम रमा या लक्ष्मी था। संभवतः शब्दका प्रयोग हमने इसलिए किया है कि अभी तक इस संबंधी जानकारीके लिए कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिले हैं। केवल सद्दृष्टि अधिकारकी प्रशस्तिमें आपका लिखा हुआ एक दोहा मिलता है।

[1]रमापति स्तुतगुन जनक, जाको जोगीदास।
सोई मेरो प्राण है, धारे प्रकट प्रकाश॥

इसी परसे हमने आपके माता पिताके उक्त नामोंका अनुमान लगाया है। पं० रामप्रसाद जी बम्बई इस दोहे परसे उनके पितामहका नाम जोगीदास बतलाते हैं परन्तु जोगीदासजी को उनका पितामह (बाबा) माननेके लिए दोहेमें हमें एक भी शब्द ढूँढ़े नहीं मिलता। दोहेका बिल्कुल सीधा अन्वय यह है जाको जनक स्तुतगुन रमापति जोगीदास (है) 'अर्थात् जिसका पिता गुणवान लक्ष्मीका पति जोगीदास है। यहां जनक जोगी दास कहकर ग्रन्थकारने उन्हें रमापति कहकर लक्ष्मी या रमाको अपनी माता सूचित किया है। इस तरह माता पिताका समन्वय तो ठीक बैठ जाता है लेकिन जोगीदासको पितामह माननेका समन्वय नहीं बैठता। यदि जोगीदासको हम पितामहभी मान लें तब रमापति शब्दका क्या अर्थ होगा? और जनकका किसके साथ मेल बैठेगा यह सब बातें विचारणीय हैं। पं० परमानंदजी सरसावालोंने भी आपके माता पिताका नाम उमा और जोगीदास सूचित किया है जो हमारे अनुमानसे मेल खाता है। यह पता नहीं कि आपने ये नाम इसी दोहे परसे लिखे हैं या कहीं अन्यत्रसे लेकर लिखे हैं। आपका लिखा हुआ माताका नाम उमा खासतौरसे विचारणीय है जो इस दोहेके अनुसार नहीं है। आपकी शिक्षा दीक्षा कहां हुई इसका कुछ पता नहीं है न यही पता चलता है कि आपका विवाह संबंध किसके यहां कब हुआ। आपके दो पुत्र थे ज्येष्ठ पुत्रका नाम हरीचन्द्र और छोटेका नाम गुमानीराम था। गुमानीराम विशेष बुद्धिमान थे। साथ ही गद्दीपर बैठकर शास्त्र प्रवचन भी बड़े प्रभावपूर्ण ढंगसे करते थे। पं० देवीदासजी गोधाने पण्डित हो जानेके बाद भी गुमानीराम जीके पास कुछ दिन रहकर जिनागमका रहस्य समझा था। तेरह पंथके बाद जयपुरमें जो गुमानपंथकी स्थापना हुई वह आपके ही प्रभाव और प्रयत्नका फल था। आपके 'गुमानीराम' नामसे ही उसका गुमान पंथ नाम पड़ा था अतः एक पंथका प्रस्थापक कितना प्रभावक और कर्मठ होना चाहिए इसीसे उनकी योग्यताका पता चलता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि जयपुर उन दिनों विद्वत्ताका केन्द्र था। परन्तु उपस्थित विद्वानोंमें एक टोडरमलजी ही ऐसे थे जिनकी विद्वत्ता, योग्यता और प्रभाव सर्वोपरि था। आपका क्षयोपशम विलक्षण था,

---

१—मालूम हुआ है कि रमापतिकी जगह 'रंभापति' शुद्ध पाठ है।

जनसाधारणकी दृष्टिसे उसे जो लोकोत्तर भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। गूढ़से गूढ़ शंकाओंका जहां कहीं भी उत्तर नहीं मिलता था वहां वे टोडरमलजीके पास ही हल होती थीं। जयपुरकी समाजको आपको अपने बीचमें पानेका अत्यधिक गौरव था। सैंकड़ों वर्षोंसे जिस गोम्मटसारका पठन पाठन बंद था उसको आपने अपनी विलक्षण बुद्धिसे सहज ही हृदयङ्गम कर लिया था[1]। आपने विना किसीसे पढ़े कर्णाटक लिपिका अच्छा अभ्यास कर लिया था और जयपुरके जो भाई मूड़विद्री यात्रासे जिन कर्णाटक ताड़पत्रीय ४—६ ग्रन्थोंको जयपुर ले आए थे उनका वे शास्त्र सभामें अच्छी तरह प्रवचन भी करते थे। आपके विषयमें तत्कालीन साधर्मी भाई रायमल्लने इन्द्रध्वज पूजाके निमन्त्रणपत्रमें जो उद्गार प्रकट किए हैं उन्हें यहां हम ज्योंका त्यों देते हैं—'यहां घणां भायां और घणीं बायांके व्याकरण व गोम्मटसारजीकी चर्चाका ज्ञान पाइए हैं। सारा ही विषें भाईजी टोडरमलजीके ज्ञानका क्षयोपशम अलौकीक है जो गोम्मटसारादि ग्रंथोंकी सम्पूर्ण लाख श्लोक टीका वणाई और पांच सात ग्रन्था की टीका बणायवे का उपाय है। न्याय, व्याकरण, गणित, छंद, अलंकार का याके ज्ञान पाइए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ईकाल विषें होना दुर्लभ है तातें यासू मिलें सर्व संदेह दूरि होय है। घणी लिखवा करि कहा आपणां हेतका वांछीक पुरुष शीघ्र आय या सूं मिलाप करो। पाठक देखेंगे कि रायमल्लजी के इन शब्दोंमें उस समयकी समाजका टोडरमलजीके प्रति कितना आदर और श्रद्धाका भाव दिया हुआ है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रायमल्ल स्वयं एक विद्वान पुरुष थे अतः एक निरपेक्ष विद्वान द्वारा अपने समकालीन विद्वानकी प्रशंसा करना अवश्य ही उसकी योग्यताकी यथार्थताका परिचायक है, खास करके उनके ये शब्द कि 'ऐसे महान बुद्धिके धारक पुरुष इस कालमें होना दुर्लभ हैं, आज भी अपनी वास्तविकताको प्रकट कर रहे हैं।

आपके स्वतंत्र और टीका ग्रन्थ सभी वि० सं० १८१३ से १८२२ तक केवल १० वर्षमें रचे गए हैं। गोम्मटसारकी टीका आपकी सर्व प्रथम रचना है और विवेकी रायमल्लकी प्रेरणासे वह लिखी गई है। आपकी विद्वत्ताकी प्रशंसा सुनकर जब रायमल्ल जी आपसे मिलने गए तब आप को जयपुरमें नहीं पाया। माळूम हुआ कि आप देहलीके किसी साहूकारके कामके लिये शेखावटी के सिंघाणा नगर गए हैं। रायमल्लजी अपनी ज्ञानकी पिपासा बुझाने वहीं पहुँचे, और टोडरमलजीसे अनेक प्रकारकी शंकाएँ की उनमेंसे संबंधित अधिकांश प्रश्नोंका समाधान पं० जीने गोम्मटसार ग्रन्थकी साक्षीसे दिया। गोम्मटसारका नाम रायमल्लजीने पहले सुन रक्खा था लेकिन उन शंकाओंके सिल-सिलेमें जब उन्हें गोम्मटसार -ग्रन्थ देखनेको मिला तो उसके प्रमेय की गहनता देखकर वे दंग रह गए। साथ ही टोडरमलजीके सातिशय ज्ञानने उन्हें और भी चमत्कृत कर दिया। भावी संतानकी कल्याणकामनासे उन्होंने पं० जीसे इसकी टीका करनेके

१—अबारका अनिष्टकाल विषें टोडरमलजी कै ज्ञानका क्षयोपशम विशेष भया। ए गोमटसार ग्रन्थका बचना पांचसै बरस पहली था। ता पीछे बुद्धिकी मंदता कर भाव सहित वांचना रह गया। अबै फेरि याका उद्योत भया। देखो रायमल्ल लिखित स्वपरिचय,

लिये प्रार्थना की। पं० जीके टीका करनेकी इच्छा तो पहलेसे ही थी लेकिन इनकी प्रेरणासे वह इच्छा कार्यरूपमें परिणत हो गई। शुभ दिन और मुहूर्त देखकर उन्होंने गोम्मटसारकी टीका करना प्रारम्भ किया। रायमल्लजी पढ़ते जाते थे और पं० जी टीका बनाते जाते थे। इस तरह तीन वर्ष तक टीकाका क्रम चालू रहा। इन तीन वर्षोंमें गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार इन चार ग्रन्थोंकी ६५००० श्लोक प्रमाण टीका बनाई गई। और जयपुरमें आकर संशोधनके पश्चात् वह जहां तहां मन्दिरोंमें विराजमान कर दी गई। और जयपुरके बाहर भी जहां २ लोगोंकी माग हुई प्रतियां कराकर भेज दी गईं।

लब्धिसारकी प्रशस्तिके अंतमें पं० जीने ग्रन्थके पूरा होनेका समय संवत् १८१८ दिया है अतः उक्त ग्रन्थोंका लिखा जाना १८१५ के बाद होना चाहिए लेकिन कहा जाता है कि गोम्मटसारकी भाषा टीका १८१५ में पूर्ण हो चुकी थी तब इससे दो अनुमान होते हैं एक तो यह कि उन्होंने १२-१५ तक इन सभी ग्रन्थोंकी टीका पूरी कर ली थी। इसके बाद जब संशोधनका क्रम चला होगा तब १८१८ में उन्होंने लब्धिसारका संशोधन पूर्ण किया होगा और वह संशोधन समाप्तिका ही संवत् लब्धिसारकी टीका समाप्ति संवत् मान करके लिख दिया गया है। दूसरे यह कि तीन वर्षोंमें उन्हें कमसे कम एक वर्ष गोम्मटसार दोनों भागोंकी टीका करनेमें लग गया होगा, अतः संवत् १२ से १५ तक गोम्मटसारकी टीका पूर्ण की होगी इसके बाद संवत् १८ तक त्रिलोकसार, लब्धिसार क्षपणासार की टीका और उनका संशोधन समाप्त किया होगा। इस तरह उनकी ग्रन्थरचनाका काल वि० सं० १८१२ के पहले सिद्ध नहीं होता।

उक्त चारों ग्रन्थोंकी रचना करनेके बाद उन्होंने मोक्षमार्गप्रकाश आत्मानुशासन टीका और पुरुषार्थ सिद्ध्युपायकी टीका की है। यह क्रम हमने इस लिए रक्खा है कि संवत् १८२१ में जयपुरमें होनेवाली इन्द्रध्वजपूजाका जो निमन्त्रण पत्र लिखा गया है उसमें उक्त चारों ग्रन्थोंके साथ मोक्षमार्गप्रकाशके भी लिखे जानेका उल्लेख है किन्तु आत्मानुशासन टीकाका उल्लेख नहीं है, इससे सिद्ध होता है १८२१ तक उक्त पांच ही ग्रन्थ उनके द्वारा लिखे गए थे आत्मानुशासन टीका बादमें लिखी गई है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आत्मानुशासन टीकामें भी आत्मानुशान टीकाका पहले लिखा जाना हम इस लिए मानते हैं कि पुरुषार्थ सिद्ध्युपायकी टीकाके समाप्त करनेके पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया था। स्वर्गवासके बाद किसी चीज का लिखा जाना हो ही कैसे सकता है? और यदि पुरुषार्थ सिद्ध्युपायकी टीकाके साथ आत्मानु० टीका लिखी जाती तो वह भी उसकी तरह अधूरी होती अतः आत्मानु० टीका का पहले लिखा जाना ही ठीक मानना चाहिए। यहां यह कहा जा सकता है कि मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थ भी तो अधूरा है अतः पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की टीका अधूरी होनेसे ही उसे लेखक की अन्तिम रचना मान लेना ठीक नहीं। इस संबंधमें हम

---

१ जैनी ज्ञानचन्द्रजी लाहौर ने आत्मानुशासन की रचना सं० १८१८ में हुई बतलाई है। पता नहीं किस आधारसे उन्होंने ऐसा लिखा है। जब कि आत्मानुशासनके अन्तमें टोडरमलजीने अपनी कोई ऐसी प्रशस्ति नहीं दी है।

यही कह सकते हैं पं० जी मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थको अधूरा ही छोड़कर किसीको पढ़ाने या अन्य किसी निमित्तसे आत्मानुशासनकी रचनामें और उसके बाद पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की रचना करनेमें लग गए होंगे। क्योंकि मोक्षमार्ग प्रकाश अधिक परिमाणमें लिखना था अतः उसमें अधिक समय लगने की संभावना थी। किन्तु उक्त दोनों ग्रन्थ छोटे थे और उनकी टीका करना आवश्यक था। अतः थोड़े दिनोंमें पहले इनकी टीकाओंसे निपट लेना ही उचित समझा होगा। और सोचा होगा कि बादमें निश्चिन्त होकर मोक्षमार्गप्रकाश को लिखेंगे। किन्तु पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी रचना करते हुए ही उनकी मृत्युका दुःखद प्रसङ्ग आ गया। अतः न तो पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय पूरी हो सकी और अधूरा छोड़ा हुआ मोक्षमार्गप्रकाश भी योंहीं रह गया। किन्तु यह निश्चित है कि मोक्षमार्गप्रकाश इन दोनों ग्रन्थोंसे पहले बना है।

गंभीर अध्ययन

पं० जीकी सभी रचनाएँ सिद्धान्त विषयक हैं परन्तु वे सिद्धान्तके ही पंडित थे यह बात नहीं है। जहां वे सिद्धान्तके धुरंधर विद्वान थे वहां न्याय गणित आदि शास्त्रोंके भी पूर्ण विद्वान थे। ऐसा मालूम पड़ता है उन्होंने अपने जीवनमें सैकड़ों ग्रन्थोंका पारायण किया था उनके आलोढ़नसे उनके जो विचार परिपक्व और केन्द्रीभूत हो गए थे मोक्षमार्गप्रकाश उन्हींका प्रतिम्बिव है[1]। सिद्धान्त ग्रन्थोंमें प्रमुख जैनाचार्योंमेंसे शायद ही किसीका रचा हुआ ऐसा ग्रन्थ होगा जिसका उन्होंने एकसे अधिक बार स्वाध्यायाय न किया हो। मोक्षमार्गप्रकाशमें स्वयं उन्होंने ऐसे कुछ ग्रन्थोंके नाम गिनाए हैं जिनका उन्होंने पहले अभ्यास किया था। उनकी अध्ययनकी रुचि कितनी जबर्दस्त थी इसका पता इसीसे चलता है कि वे सदा नए ग्रन्थोंकी खोजमें रहा करते थे। धवला जयधवलादिकके स्वाध्यायके लिए उनकी अत्यधिक उत्सुकता बनी रही पर उनके उन्हें दर्शन भी नहीं हो सके। फिरभी उन्होंने कनड़ी लिपिके स्वाध्यायके लिए कुछ अन्य ग्रन्थ मँगा रक्खे थे। यहां तक कि उनके स्वाध्यायके लिए उन्होंने कनड़ी लिपि भी सीख ली थी उसके सहारे वे स्वयं वांचते थे और शास्त्र गद्दीपर बैठ कर श्रोताओंको भी सुनाते थे। उनके सिद्धान्तविषयक तलस्पर्शी ज्ञानके लिए गोम्मटसार त्रिलोकसार आदिकी टीकाएँ तो हैं ही परन्तु इन ग्रन्थोंके अंतरंग परिचयके लिए उन्होंने जो प्रारंभिक भूमिकाएँ लिखी हैं वे भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं। भूमिका न कहकर उन्हें उन ग्रन्थोंके खोलनेकी कुंजी ही कहना चाहिए। ग्रन्थके पारभाषिक और सिद्धान्तरूढ़ शब्दोंको उन्होंने बड़े ही सरल शब्दोंमें सहज तरीकेसे दृष्टान्तों द्वारा समझाया है जो मूल ग्रन्थ और संस्कृत टीकाओंमें कहीं नहीं दिए गए हैं। उनके सहारे कोईभी व्यक्ति थोड़ेसे ही अभ्यासके बाद इन ग्रन्थोंमें भलीभांति प्रवेश पा सकता है।

१—तातैं व्याकरण, न्याय, गणित आदि उपयोगी ग्रन्थनका किंचित् अभ्यास करि टीका सहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्वार्थसूत्र इत्यादि-शास्त्र अर क्षपणसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अष्ट पाहुड आत्मानुशासन आदिशास्त्र। अराश्रावक मुनिका आचारके प्ररूपक अनेक शास्त्र सुष्ठु कथा सहित पुराणदिशास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं। तिनविषैं हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तै है।

उनके पढ़े विना यह निश्चित है कि एक बुद्धिमान जिज्ञासु भी ग्रन्थगत प्रमेयको समझनेके पहले उन शब्दोंमें ही उलझा रह सकता है, क्यों कि ग्रन्थका खूब मथन किए बिना वे शब्द भलीभांति समझमें नहीं आ सकते।

पं० जीके न्याय विषयक पांडित्यके परिचयके लिए यद्यपि उनकी कोई न्याय संबंधी रचना उपलब्ध नहीं है फिर भी० मो० प्र० में एक जगह जैसा कि हमने पिछले फुट-नोटमें दिया है गणित व्याकरणके साथ वे अपने न्याय ग्रन्थोंके अभ्यासको भी सूचित करते हैं। दूसरे गृहीत मिथ्यात्वका वर्णन करते समय जहां उन्होंने अन्यमतोंका खण्डन किया है वहां उस खण्डनमें प्रायः न्याय शैलीको अपनाया है[1]। तीसरे उनके विशेष खण्डनके लिए लिखा है कि जैन ग्रन्थोंसे यह विषय खूब स्पष्ट होता है[2]। चौथे उन्होंने अपने विषयकी पुष्टिके लिए कहीं २ अनुमानके पंचावयवों का प्रयोग किया है[3]। उदाहरणके लिये वे आत्मासे कर्मोंको पृथक सिद्ध करनेके लिए कहते हैं– 'अनादितें तो मिले थे परंतु पीछे जुदे भए तब जान्या जुदे थे तो जुदे भए तातैं पहले ही भिन्न थे ऐसे अनुमान करि व केवल ज्ञान करि प्रत्यक्ष भिन्न भासे हैं' एक जगह उन्होंने परीक्षा प्रधानताके प्रकरणमें अष्टसहस्रीका भी उल्लेख किया है। जैमिनीय मतका खण्डन करते हुए एक प्रकरणमें उन्होंने लिखा है 'शैव सांख्य नैयायिकादि सब ही वेदको मानते हैं, और तुम भी मानते हो तुम्हारे और उन सबोंके तत्वादि निरूपणमें वेद विरुद्धता पाई जाती है यह क्यों है! पाठक देखेंगे कि उनका यह भाव अष्टसहस्रीके ठीक इस श्लोकके भावसे मिलता जुलता है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हितौ भट्टप्रभाकरौ॥

इससे यह निश्चित है कि उन्होंने न्याय ग्रन्थोंका खास, अभ्यास किया था। लक्षणके अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषोंको समझा कर सम्यग्दर्शनके लक्षणमें सम्भवित तद् तद्दोषों का न्यायकी शैलीसे खूब परिहार किया है अतः सिद्धान्तकी तरह वे न्यायके भी मर्मज्ञ विद्वान थे इसमें सन्देह नहीं रहता।

उनके गणित संबंधी ज्ञानके परिचयके लिए गोम्मटसार लब्धिसार त्रिलोकसार आदि ग्रन्थकी टीकाएँ ही काफी हैं। गोम्मटसार त्रिलोकसारकी भूमिकाएँ अधिकांश गणितकी प्रक्रियासे

१–जो प्रथम पक्ष मानेगे तो परमेश्वर का एक स्वभाव न रहा········और द्वितीय पक्ष मानोगे तो सृष्टि·······

२–प्रमाणादिकका स्वरूप अन्यथा मानते हैं यह जैन ग्रन्थोंसे परीक्षा करने पर खूब स्पष्ट हो जाता है, मो० प्र० पृ०। इसलिए इनके सत्यासत्यका निर्णय जैनन्याय ग्रन्थोंसे जानना चाहिए।

३–अनुमानका स्पष्ट प्रयोग इस प्रकार है–अनादिबद्ध कर्म आत्मासे पहले भिन्न हो जाते हैं जो बादमें भिन्न हो जाते हैं वह पहले भी भिन्न थे चूँकि कर्म आत्मासे बादमें भिन्न हो जाते हैं अतः पहले भी भिन्न थे।

ही भरी हैं। उनमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारका गणित समझाया गया है। गणित का प्रारंभिक विद्यार्थी भी इन्हें पढ़कर गणितबहुल करणानुयोगके ग्रन्थोंमें अच्छी तरह प्रवेश पा सकता है। संस्कृत टीकाओंमें यत्र तत्र बिखरे हुए करणसूत्रोंको आपने हिन्दी टीकामें प्रसङ्गानुसार एकत्र संकलित कर उनका खूब स्पष्टीकरण किया है। आपने करण सूत्रोंके कुछ अपने उद्धरण[1] भी दिए हैं जो संस्कृत टीकाके न होकर अन्य ही किसी स्वतन्त्र गणित विषयक ग्रन्थके हैं। गणितकी कोई २ प्रक्रिया आपकी बड़ी सरल है जो आज गणितसंबंधी नई २ खोजोंके युगमें भी आविष्कृत नहीं हो सकी है, यहाँ हम केवल एक उदाहरण देते हैं—भिन्नमें ऊपरकी संख्या अंश और नीचेकी हार कहलाती है। आज कलकी प्रक्रियाके अनुसार जब दो या अधिक भिन्नकी संख्याओंका जोड़ करना होता है तब पहले हारोंका लघुत्तम निकाल लेना पड़ता है बादमें लघुत्तमकी संख्याको प्रत्येक हारसे भाग देकर और लब्ध भजनफलको उसीके अंशसे गुणाकर जो संख्याएँ आती हैं उन सबके जोड़को ऊपर रखकर और लघुत्तमकी संख्याको नीचे रखकर उत्तर ठीक किया जाता है। परन्तु पं० जीने भिन्नोंके जोड़में लघुत्तमका काम ही नहीं रक्खा उनकी प्रक्रिया है कि प्रत्येक अंशका अपने हरको छोड़कर अन्य हरोंके साथ गुणा करना चाहिए उन सबके जोड़को ऊपर और हारोंके परस्पर गुणा करनेसे जो गुणनफल हो उसको नीचे रखकर उत्तर ठीक आ जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि गणितका आपका न केवल विशिष्ट अभ्यास था बल्कि उसपर असाधारण अधिकार था।

इन सबके पांडित्यके साथ आध्यात्मिक शास्त्रोंका भी आपने खूब आलोड़न किया था। सातवें अध्यायमें जहाँ जैन मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया है वहाँ साक्षिस्वरूप समय-प्राभृतकी गाथाओं और समयसार कलशके श्लोकोंका खूब ही उपयोग किया है। केवल निश्चयावलंबी, केवल व्यवहारावलंबी और उभयावलंबी मिथ्यादृष्टियोंके वर्णनमें आपने अपने समयसारके अध्ययनका सारा निचोड़ ही रख दिया है। आपका कहना है कि जिस प्रकार निश्चयके बिना व्यवहार और व्यवहारके बिना निश्चयको लेकर चलना मिथ्यात्व है उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनोंको उपादेय मानना भी मिथ्यात्व है। इसके लिए हेतु दिया है कि व्यवहार और निश्चय दोनों परस्पर विरोधी हैं क्यों कि समयसारमें 'व्यवहारोऽभूदत्थो, भूदत्थो देसिऊण सुद्धणओ,' भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो' [गा० ११] कहकर व्यवहारको अभूतार्थ (असत्य) और निश्चयको भूतार्थ (सत्य) कहा है। साथ ही भूतार्थका आश्रय लेनेवालेको सम्यग्दृष्टि बतलाया है। अतः निश्चयको उपादेय मानकर व्यवहारकी अनुपादेयता अपने आप सिद्ध हो जाती है, आपने इसका भी खंडन किया है कि 'सिद्ध समान शुद्ध आत्माका अनुभवन निश्चय है और व्रतशील संयमादि रूप प्रवृत्ति व्यवहार हैं। वे कहते हैं कि द्रव्यके किसी भाव

१—"कल्प्यो. हारो रूपमाहारराशेः" जिस संख्या का हार न हो उसका एक हार कल्पना कर लेना चाहिए। गो० सा० पी०पृ० ६७ ॥'भागो नास्ति लब्धं शून्यं' भाग न जाय तो भजनफल को और बिन्दी रख देना चाहिए। गो० पी० पृ० ६३।

का नाम निश्चय और किसी भावका नाम व्यवहार नहीं है बल्कि द्रव्यके एक ही भावको उस रूप निरूपण करना निश्चय और उपचारसे अन्य द्रव्यके भाव रूप वर्णन करना व्यवहारनय है। जैसे मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका कहना निश्चय और घीके संयोगसे घीका कहना व्यवहार है। दूसरे समयसारमें जहां शुद्ध आत्माके अनुभवनको निश्चय कहा है उसका मतलब यह है कि स्वभावसे अभिन्न और परभावसे भिन्न आत्माका अनुभव करना शुद्धानुभव है। न कि संसारीको सिद्ध मानना। इसके अतिरिक्त जो ऐसा मानते हैं कि 'निश्चयका श्रद्धान करना चाहिए और प्रवृत्ति व्यवहारकी रखना चाहिए' उन्हें भी वे मिथ्यादृष्टि ही बतलाते हैं। उसके लिए हेतु देते हैं कि एकका श्रद्धान रखनेसे तो एकान्त मिथ्यात्व हो जायगा। अतः श्रद्धान तो दोनोंका ही रखना चाहिए किन्तु निश्चयका निश्चयरूपसे और व्यवहारका व्यवहार रूपसे श्रद्धान करना चाहिए। रही व्यवहार नयकी प्रवृत्तिकी बात सो नयका प्रवृत्तिसे कुछ मतलब ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति है। द्रव्यकी परिणति उस रूप निरूपित करना निश्चय नय है। और उसी परिणतिको अन्य किसी द्रव्य रूप निरूपित करना व्यवहारनय है। इस तरह विवक्षावश निरूपण करनेसे एक ही प्रवृत्तिमें दोनों नय बन जाते हैं। न कि प्रवृत्ति ही नयस्वरूप है। अतः निश्चय, व्यवहार दोनोंको उपादेय मानना मिथ्यात्व है। इस तरह उन्होंने निश्चय और व्यवहारकी गुत्थीको खूब ही सुलझाया है। हमारी समझमें समयसारके स्वाध्यायिओंको और उसके स्वाध्यायके इच्छुकोंको यह प्रकरण अवश्य बांच जाना चाहिए।

इसी ग्रन्थके आठवें अध्यायमें द्रव्यानुयोग ग्रन्थोंके उपदेशका स्वरूप बताते हुए आपने समयसारादिको लक्ष्य लेकर उनके उपदेशका स्वरूप लिखा है कि 'उनमें मुख्यतया ज्ञान वैराग्यका कारण आत्मानुभवनादिकी महिमा गाई गई है। द्रव्यानुयोगमें निश्चय अध्यात्म उपदेशकी प्रधानता होती है, वहां व्यवहार धर्मका भी निषेध कर दिया जाता है। जो जीव आत्मानुभवनका उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्डमें ही मग्न रहते हैं उनको वहांसे उदास कर आत्मानुभवनादिमें लगानेको व्रत शील संयमादिका हीनपना भी प्रकट किया जाता है। लेकिन उसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि उन्हें छोड़कर पापमें लग जाना उचित है क्योंकि उस उपदेशका मतलब अशुभमें लगाना नहीं है बल्कि शुद्धोपयोगमें लगानेके लिए शुभोपयोगका निषेध किया जाता है'[1]। इसके लिए उन्होंने एक उदाहण दिया है कि जो जिनप्रतिमा पूजनमें ही मग्न रहते हैं उनके लिए कहा जाता है कि 'देह विषें देव है देहुरा विषे नाहीं' लेकिन उसका यह अर्थ नहीं है कि भक्ति छोड़कर भोजन पानमें ही मस्त रहना चाहिए। इस तरह प्रकारणानुसार आध्यात्मिक शास्त्रोंके रहस्यको उन्होंने खूब ही खोला है। साथ ही इस शंकाका कि अध्यात्मग्रन्थों के अध्ययनसे[2] पूजन पाठ आदि छोड़कर जीव स्वच्छन्द हो जाते हैं समाधान करते हुए बड़ा ही मार्मिक दृष्टान्त दिया है। उन्होंने लिखा है कि गधा यदि मिश्री खाकर मर जाता है तो मनुष्यको

१--पृ० २३५। २—जहां सम्यादृष्टिके भोगभी निर्जराके कारण बताये गए हैं।

मिश्री खाना नहीं छोड़ना चाहिए। उसी प्रकार अध्यात्म ग्रन्थोंके सुननेमें कोई मूढ़ स्वच्छंद हो जाता है तो विवेकी को स्वच्छंद नहीं होना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पं. जी आध्यात्मिक ग्रंथके अच्छे मर्मज्ञ थे और उन्होंने समयसार ग्रंथका खूब बारीकीके साथ अध्ययन किया था। 'आगे उन्होंने अनुयोग ग्रंथोंकी व्याख्यान पद्धति बताते हुए समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथोंके स्वाध्यायका तरीका बड़ा ही सुन्दरताके साथ विवेचन किया है।

पं.जीकी कवित्वशक्ति

स्वाध्यायी संसार पं. जी को अब तक गद्य लेखकके रूपमें ही देखता आरहा है और वह ठीक भी है कारण पं. जी ने जो कुछ भी टीका या स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं वे गद्यमें ही लिखे हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि पं जी में कवित्वनिर्माणकी शक्ति नहीं थी। उन्होंने ग्रन्थकी प्रशस्तियों तथा मङ्गलाचरणोंमें जो पद्य लिखे हैं, वे बड़े ही महत्वके हैं और उनसे उनकी काव्योचित प्रतिभाका अच्छा परिचय मिलता है। यहां हम उनकी कविताके कुछ उदाहरण देते हैं :—

श्रीवर धर्म जलधिके नन्दन रत्नाकर वर्धक सुखकार
लोक प्रकाशक अतुल विमल प्रभु सन्तनि कर से वित गुणधार
माधव वर बलभद्रनमितपदपद्म युगल धारें विस्तार
नेमिचन्द्र जिन नेमिचन्द्र गुरु चन्द्र समान नमहुं सो सार ॥ १ ॥

[मंङ्गलाचरण क्षपणा सा०]

इस छंदमें नेमिनाथ तीर्थंकर तथा नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीको नमस्कार किया है और उनकी उपमा चन्द्रमासे दी है अतः तीनोंको लेकर इस छंदके तीन अर्थ होते हैं जो इस प्रकार हैं

१–जो अंतरंग (केवलज्ञानादि) और बहिरङ्ग (समवशरणादि) श्रेष्ठ लक्ष्मीसे संयुक्त हैं, धर्म (षोडश कारण भावना) समुद्रसे उत्पन्न हैं सम्यग्दर्शनादि रत्नमय कोषके वर्धक हैं। सुखकारी तथा लोकके प्रकाशक हैं, अद्वितीय, वीतराग और प्रभु हैं, धर्मात्मा जिनकी सेवा करते हैं, कृष्ण और बलराम जिनके चरणोंको नमस्कार करते हैं, जो नेमि चन्द्राचार्यके गुरु (उपास्य) है उन नेमिनाथ भगवानको नमस्कार करता हूँ।

२—शोभासे संयुक्त, धर्म रूपी समुद्रके पुत्र, रत्नत्रयादि कोषके (आंशिक रूपसे) वर्धक, सुखकारी, त्रिलोकसारके रचयिता, महान, निःकषाय, प्रभु, विद्वानों द्वारा सेवित, माधव चन्द्र त्रैवद्यदेव आचार्य और बाहुबली नामके मंत्री (राजा भोज) से नमस्कृत, नेमिनाथ भगवानके उपासक, चन्द्रमाके समान गुरु, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती को मैं नमस्कार करता हूँ

३—चन्द्रमा भी लक्ष्मीसे युक्त समुद्रसे पैदा हुआ है, समुद्रको आल्हादित करता है, संसारको प्रकाशित करता है. एक, निर्मल और प्रभु है संसार जिसकी चांदनीसे लाभ उठाता है, सप्त सेनामें बसन्त राज जिसका प्रधान सेनापति है।

इस तरह एक ही छंदमें तीन अर्थोंका समन्वय करना कवित्वशक्तिके विना नहीं हो सकता। जन साधारणको मामूली छंद बनानेमें ही कठिनाई होती है। छंद बनाकर उसमें चमत्कार लाना तो बहुत दूरकी बात है। यहां यह करनेकी आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्तछंद चमकृत काव्य है और श्लेपका उसमें बड़ा ही सुन्दर निर्वाह किया है एक चित्रालंकारका उदाहरण देखिए—

मैं नमों नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धनलीन।

मैंनमानविन दानघन, एन हीन तन छीन॥ [मंङ्गला० गो० सा० ५]

अर्थ—ज्ञान और ध्यानरूपी धनके अर्जनमें लवलीन, काम और अहंकार आदि से रहित, मेघकी तरह धर्मोपदेशकी वर्षा करनेवाले, पाप रहित, शरीरसे कृप नग्न जैन साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

यह गोमूत्रिका बन्ध दोहा है। इसका चित्र इस प्रकार है—

इसमें ऊपरसे नीचेकी ओर क्रमशः एक २ अक्षर छोड़नेसे ऊपरकी लाइन बन जाती है। इसी प्रकार नोचेसे ऊपरकी ओर एक २ अक्षर छोड़नेसे नीचेकी लाइन बन जाती है। चित्रबंध कविताएँ दुरूह होती हैं इसमें कविको समय और शक्ति अधिक लगानी पड़ती है। कवि उचित प्रतिभासंपन्न व्यक्ति ही इस प्रकारकी कविता कर सकता है। हम देखते हैं कि टोडर-मलजीमें यह शक्ति खूब विकसित थी और उसका यदि वे उपयोग करते तो एक महान और युगप्रवर्त्तक कवि सिद्ध हो सकते थे फिर भी उन्होंने कविताके जो दो चार छंद लिखे हैं वे कम महत्वके नहीं हैं। ऊपरके दोहेमें जहां चित्रालंकार है वहीं उसमें यमकालंकार भी है। प्रथम और तृतीय चरणमें 'मैंन' 'मैंन' इन सार्थक भिन्न वर्णोंको दुहरा कर यमकका अच्छा निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार 'न' वर्ण की पुनः २ आवृत्ति होनेके कारण उसमें वृत्यनुप्रास अलंकार भी है। 'ज्ञानध्यानधन' पदमें 'रूपक अलंकार भी है। कारण वहां ज्ञान ध्यानमें धनका आरोप किया गया है। इस तरह चित्र यमक अनुप्रास और रूपक चारों स्वतन्त्र रूपसे एक ही जगह होनेके कारण वहां संकर अलंकार भी है। यों एक छोटेसे छंदमें पांच २ अलंकारोंका समावेश कर देना कविका काव्य कौशल नहीं तो क्या है।

वृत्यनुप्रास और यमकका एक दूसरा उदाहरण देखिए—

सिद्ध सुद्ध साधित सहज स्वरससुधारसधार

समयसार शिव सर्वगत नमत होहु सुखकार॥ ३॥

जैनीवानी विविधविध वरनत विश्व प्रमान
स्यात्पदमुद्रित अहितहर करहु सकल कल्यान ॥४॥ [गो० सा० मङ्ग०]

उक्त दोहोंमेंसे पहलेमें 'स' 'स' की पुनरावृत्ति होनेसे वृत्यनुप्रास और 'धार' 'धार' पदोंकी आवृत्ति होनेसे यमक है। इसी प्रकार दूसरेमें 'व' 'व' की आवृत्ति होनेसे वृत्यनुप्रास और 'विध विध' पदोंको आवृत्ति होनेसे यमक है।

यह हमने पं० जी की हिन्दी कविताओंके थोड़ेसे उदाहरण किए हैं। हिन्दीके साथ २ वे संस्कृतकी कविताएँ भी कितनी सुन्दर और सरस करते थे इसके हम यहां २—१ उदाहरण देते हैं:—

संदृष्टेर्लब्धिसारस्य क्षपणासारमीयुषः
प्रकाशिनः पदं स्तौमि नेमीन्दोर्माधवप्रभोः ॥ १ ॥ [लब्धि० अर्थ सं० अ०]

इस श्लोकके दो अर्थ हैं एकमें लब्धिसार क्षपणासारके कर्ता नेमिचन्द्र आचार्यको नमस्कार किया है दूसरेमें नेमिनाथ तीर्थंकरको नमस्कार किया है। आचार्य पक्षमें अर्थ होता है—'क्षपणासार सहित लब्धिसारको संदृष्टिका प्रकाश करने वाले, माधवचंद्र आचार्यके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके चरणों की मैं स्तुति करता हूं। और तीर्थंकर पक्षमें अर्थ होता है—करण लब्धिके परिणाम स्वरूप कर्मोंके क्षपणको प्राप्त, समीचीन दृष्टिका प्रकाश करने वाले, नारायणके गुरु नेमिनाथ भगवानके चरणोंकी मैं स्तुति करता हूं। पाठक देखेंगे कि दोनों अर्थोंका कितना सुंदर और संगत समन्वय हुआ है।

इसी प्रकार आपका एक तीन अर्थोंवाला श्लोक देखिए—

शुद्धात्मानमनेकान्तं साधुमुत्तममङ्गलम्
वंदे संदृष्टिसिद्ध्यर्थं संदृष्ट्यर्थ प्रकाशकम् ॥२॥ [गो० अ० सं० अ०]

पहला अर्थ है—अनंतज्ञान, दर्शन आदि अनेक धर्म (गुण) स्वरूप, निर्मल, मंगलोत्तम, सम्यग्दर्शनके विषयभूत आत्मतत्वके प्रकाशक शुद्ध आत्मा अरहंत देवको संदृष्टि रचना की निर्विघ्न पूर्तिके लिए नमस्कार करता हूँ।

दूसरा अर्थ है—विशुद्ध, श्रेष्ठ, मंगलोत्तम, समीचीन तत्वकी प्रकाशक अनेकान्त वाणी को संदृष्टि रचना की निर्विघ्न पूर्तिके लिए नमस्कार करता हूँ!

तीसरा अर्थ है—निर्मल चित्तके धारी उत्तम क्षमादि अनेक धर्म धारण करनेवाले, मङ्गलोत्तम, सन्मार्गके दर्शक साधुओं (गुरुओं) को संदृष्टि रचना की निर्विघ्न पूर्तिके लिए नमस्कार करता हूँ॥

इस तरह इसमें शुद्धात्मा अनेकान्त और साधु पद देकर देव शास्त्र गुरुको नमस्कार किया है अतः तीनोंके पक्षमें उक्त श्लोकका अर्थ बैठ जाता है।

अब एक पांच अर्थवाला श्लोक देखिए–

पंचसंग्रहसद्वृत्तं त्रिलोकीसारदीपकं
माधवादिस्तुतं स्तौमि, नेमिचन्द्रं गुणोज्वलं ॥ २ ॥ [गो० सं० अ०]

इस श्लोकका अर्थ पंचसंग्रह (गोम्मटसार), त्रिलोकसार, नेमिचन्द्राचार्य, नेमिनाथ भगवान और चन्द्रप्रभके पक्षमें लगता है। इस प्रकार इन दो चार उदाहरणोंमें ही हमें पं० जीकी काव्योचित मौलिक प्रतिभाके दर्शन हो जाते हैं। सच तो यह है कि आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। जिस विषयको लेकर आपने थोड़ा बहुत लिखा है उसपर आपकी अपनी निजी छाप है। प० जी जैसे बहुश्रुत विद्वानसे साधारण रचनाकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती है। अतः उनकी प्रत्येक रचनाकी श्रेष्ठताके लिए उनका नाम ही पर्याप्त है।

पं० जीका व्यक्तित्व

पं० जी जैसे विद्वान थे वैसे ही स्वभावके बड़े नम्र थे। अहंकार उन्हें छू तक नहीं गया था। उन्हें एक दार्शनिकका मस्तिष्क, दयालुका हृदय, साधुका जीवन, सैनिककी दृढ़ता और शहीदकी मृत्यु वरदानमें मिले थे। जिज्ञासु जनताकी उनके पास भीड़ लगी रहती थी और वे अपने सातिशय ज्ञानसे उन्हें तृप्त करते थे। उनका तत्वज्ञान इतना मँजा हुआ था और वाणीमें इतना आकर्षण था कि शास्त्रके नित्य प्रवचनमें हजारोंकी भीड़ हो जाना एक साधारण बात थी। कुछ लोग तो जयपुर इसलिए आया करते थे कि देखें यह ज्ञानका धनी, अलौकिक प्रतिभाका पुञ्ज कैसा है। रहन सहनमें कोई आडम्बर न था। वात्सल्यके प्रतीक थे। किसी विषयका विवेचन करते समय उसकी तह तक पहुँचनेके बादही आप आगे बढ़ते थे। ग्रन्थान्तरोंके समर्थन और उपयुक्त उदाहरणोंकी आपके पास कमी न थी। गृहस्थ होकर भी गृहस्थी में कभी अनुरक्त नहीं हुए। अपनी साधारणसी आजीविका करनेके बाद एक विरक्त पुरुषकी तरह स्वाध्याय आदिमें लगे रहना ही आपका एक मात्र काम था। आपको अपने जीवनकालमें ही अपने असाधारण व्यक्तित्वके लिए तत्कालीन जनतासे जो सम्मान मिला था वह सहधर्मी भाई रायमल्लके दो एक उद्धरणोंसे जिन्हें हम पीछे लिख आए हैं पता लग जाता है यहां हम कुछ उद्धरण और देते हैं। रायमल्लजीने अपना परिचय देते हुए लिखा है 'अर टोडरमलजी सूं मिले' नाना प्रकार के प्रश्न किए। **टोडरमलजीके ज्ञानकी महिमा अद्भुत देखी।** ......अबारके अनिष्ट काल विषैं **टोडरमलजीके ज्ञानका क्षयोपशम विशेष भया। टोडरमल जयपुरके साहूकारका पुत्र ताके विशेष ज्ञान जान** वासूं मिलनेके अर्थि जैपुर आए। पं० देवीदासजीने लिखा है 'टोडर मलजी महाबुद्धिमानके पास शास्त्र सुननेका निमित्त मिला'

इस तरह आप अपने जीवनकालमें ही अद्वितीय विद्वान समझे जाते थे। आप इतने अधिक तत्वदर्शी और दार्शनिक थे कि भगवानकी भक्ति और जी हजूरीको साधारण अल्पज्ञानीकी चीजसे अधिक महत्व नहीं दे देते थे। पूजक और पूज्यको वे विवेक और गुणोंके साथ ही देखना चाहते थे। यही कारण था कि वे व्यक्तिवादी न होकर गुणवादी थे। मोक्षमार्ग-प्रकाशके अध्यायोंके

प्रारंभमें प्रत्येक जगह आपने जो मङ्गलाचरण किया है उसमें व्यक्तिकी कहीं भी पूजा नहीं है। आपके अनूदित ग्रन्थ गोम्मटसार[1] लब्धिसार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आत्मानुशासन, त्रिलोकसार आदिमें भी व्यक्तिकी पूजा न होकर सर्वत्र गुणवादकी पूजा है[2]। जहाँ कहीं व्यक्तिको नमस्कार किया है वह केवल संस्कृत श्लोकोंका अनुवाद या छाया है।

असाधारण विद्वान होकर भी आप लघुता और विनयकी साक्षात् मूर्ति थे। इस संबंधमें आपने अपने ग्रंथोंमें जो उद्‌गार प्रकट किए हैं उसमें उनकी आन्तरिक सरलता फूट पड़ती है। गोम्मटसारके अर्थ-संदृष्टि अधिकारके प्रारंभमें आपने लिखा है—तहां किछू चूक होइ सो मेरी मंदबुद्धिकी भूलि जानि बुद्धिवंत कृपा करि शुद्ध करियो........। अर मेरी मति हीन है तातैं चूक होइगी ताके शुद्ध करनेके अर्थि विशेष विनती करौं हौं। लब्धिसारके प्रारंभमें आपने लिखा है 'कोई कठिन अर्थ मेरी समझमें नीके न आवनेतैं इहां न लिखिए हैं सो संस्कृत टीका व क्षपणासार तैं जानियो। लब्धिसारके संदृष्टि अधिकारमें आपने लिखा है।' ....तातैं जानौं हौं तिनके स्वरूप लिखनेमें चूक परेगी.......सो जहां चूक होइ तहां विशेषबुद्धि

---

(१) गोम्मटसारके प्रारंभमें जो नेमिचन्द्रको नमस्कार किया है वह केवल रूपकको फलित करने के लिए मूलग्रन्थके 'सिद्धं सुद्धं पणमिय' आदि गाथाका अनुकरण मात्र है। उसके बाद तो केवल देवशास्त्र गुरुको ही नमस्कार किया है यही बात अन्य ग्रन्थोंके हिन्दी छंदोंमें भी है।

२—दोष दहन गुन गहनघन, अरिकरि हरि अरहंत। स्वानुभूति रमनी रमन जगनायक जयवंत ॥ १ ॥

सिद्ध सुद्ध साधित सहज स्वरस सुधारस धार। समयसार शिव सर्वगत नमत होहु सुखकार ॥२॥ जैनीवानी विविधि विध वरनत विश्व प्रमान। स्यात्पद-मुद्रित अहित हर करहु सकल कल्यान ॥३॥ मैं नमो नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन। मैनमान बिन दान घन एन हीन तन छीन ॥४॥ गो० सा०

सम्यग्दर्शन चरन गुन, पाय कुकर्म खिपाय। केवलज्ञान उपाय प्रभु, भए भजौं शिवराय ॥१॥ जिनवानीके ज्ञानमें होत तत्त्वश्रद्धान। चरण धारि केवल लहै पावै पद निर्वान ॥२॥ लब्धिसारको पायकैं, करिकैं क्षपणासार, हो है प्रवचन सार सो, समयसार अविकार ॥३॥ ल० सा०

शुद्धात्मानमनेकान्तं साधुमुत्तममंगलं। वंदे संदृष्टि सिद्ध्यर्थं संदृष्ट्यर्थ प्रकाशकं ॥ गो० अ० सं०। त्रिभुवनसार अपार गुन ज्ञायक नायक संत। त्रिभुवन हितकारी नमो श्री अरहंत महंत ॥१॥ तीन भुवनके मुकुट मनि, गुन अनंतमय शुद्ध, नमो सिद्ध परमातमा वीतराग अविरुद्ध ॥२॥ तीन भुवन विधि जानके, आप आपमय होय। परतैं भए विरक्त अति नमौं महामुनि सोय ॥३॥ तीन भुवन मंदिर विषैं अर्थ प्रकाशन हार जैन वचन दीपक नमौं ज्ञान करन गुन धार ॥४॥ तीन भुवन महिं जे लसैं चैत्य चैत्य ग्रह सार। ते सब वंदो भाव जुत सुभकारन सुखकार ॥५॥ त्रि०सा०। श्री जिन शासन गुरु नमूं, नानाविध सुखकार। आतम हित उपदेश दे करूँ मङ्गलाचार ॥१॥

संवार शुद्धि करियो। मोकों बालक मानि क्षमा करियो। बहुरि इहां संदृष्टि व तिनका स्वरूप विखें जिनका मोकों स्पष्ट ज्ञान न भया ते यहां नाही लिखीं है मूल ग्रन्थ ते जानियो। त्रिलोकसार टीकाके प्रारंभमें लिखा है—संस्कृत टीकाका अनुसार ले इस भाषा टीका विर्षे अर्थ लिखोंगा। कहीं कोई अर्थ न भासैगा ताको न लिखोंगा। कहीं समझनेके अर्थ वधाय करि लिखोंगा। ऐसे यहु टीका बनेगी ता विर्षे जहां चूक जानो तहां बुधजन संवारि शुद्धि करियो। इस तरह प्रायः हर एक ग्रन्थमें आपने अपनी लघुता प्रकट की है। हालांकि और भी ग्रन्थकार अपने ग्रन्थोंमें इस तरह लघुता प्रकट करते आए हैं, परन्तु उनमें प्रायः परंपराका पालन होता देखा गया है। हृदयके वहां दर्शन नहीं होते। परन्तु टोडरमलजीके शब्दोंमें जो हृदय, स्वाभाविकता और स्पष्टता है वह पाठकके हृदय पर सदाके लिए अपनी अमिट छाप छोड़ देती है। लगभग दो सौ वर्षोंके बाद भी उनके इन शब्दोंको पढ़कर उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा उमड़ पड़ती है और उनकी सरलताके लिए सहज ही मुखसे प्रशंसाके शब्द निकल पड़ते हैं। अपने टीका ग्रन्थोंके अन्तमें आपने जो अपना परिचय दिया है वह भी आपकी स्वाभाविक सरलताका द्योतक है। परिचय तो वह कहने भरको है वास्तवमें वह आपके अन्तरङ्गका मूर्तिमान रूप है। और भौतिक मनोवृत्तिके विरुद्ध संसारको आध्यात्मिकताकी जबर्दस्त चुनौती है। लब्धिसारकी टीकाके अन्तमें आपका परिचय निम्न प्रकार है—

'मैं हौं जीव द्रव्य नित्य चेतना स्वरूप मेरी लग्यो है अनादि तें कलंक कर्ममलको।
ताहीको निमित्त पाय रागादिक भाव भए भयो है शरीरको मिलाप जैसे खलको॥
रागादिक भावनिको पायकें निमित्त पुनि होत कर्मबंध ऐसो है बनाव कलको।
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग बने तो बने यहाँ उपाय निज थलको॥३६॥

रमापति स्तुतगुन जनक जाको जोगीदास।
सोई मेरो प्राण है धारे प्रकट प्रकास॥ ३७॥
मैं आतम अरु पुद्गल खंध, मिलिकैं भयो परस्पर बंध।
सो असमान जाति पर्याय, उपज्यो मानुष नाम कहाय॥ ३८॥
मात गर्भमें सो पर्याय, करिकैं पूरण अंग सुभाय।
बाहिर निकसि प्रकट जब भयो, तब कुटुम्बको भेलो भयो॥ ३९॥
नाम धर्‌यो तिन हर्षित होय, टोडरमल्ल कहैं सब कोय।
ऐसो यहु मानुष पर्याय, बधत भयो निज काल गमाय॥ ४०॥
तिस पर्याय विर्षे जो कोय, देखन जानन हारो सोय
मैं हौं जीव द्रव्य गुन भूप, एक अनादि अनंत अरूप॥ ४१॥

कर्म उदयको कारण पाय रागादिक हो हैं दुखदाय
ते मेरे औपाधिक भाव इनकों विनशें मैं शिवराव ॥ ४२ ॥
वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इंद्रिय हिया
ये सब हैं पुद्गलके खेल इनमें नाहि हमारो मेल ॥ ४३ ॥

अन्य ग्रन्थोंके अन्तमें भी जहां कहीं आपने अपने परिचयके नाम पर कुछ लिखा है वहाँ यही लिखकर छोड़ दिया है कि अर्थ और शब्दमें स्वयं ही वाच्य वाचक संबंध है अतः इनका कोई कर्ता नहीं है[1]। हां जो इन शब्दोंको कहता है या इन्हें जोड़ २ कर रखता है वह व्यवहार मात्र कर्ता है इन व्यवहार मात्र कर्ताओंमें या तो भगवान महावीर हैं या फिर गणधर और उनके अनुसार शब्दोंको जोड़नेवाले अन्य कर्ता हैं[2]। इस तरह अन्य ग्रन्थोंमें भी वे अपने आपको छिपा गए हैं। जिसने अपने समयमें असाधरण योग्यता और प्रतिभा प्राप्तकी तथा जीवन भर जो लोगोंका बौद्धिक और नैतिक स्तर ऊँचा करनेके लिए अथक परिश्रम करता रहा। साथ ही जिसे श्रद्धा और सम्मानकी कमी नहीं थी उसका इस प्रकार अपने यश और नामके लिए उपेक्षित रहना उसके व्यक्तित्वकी महानताका द्योतक है।

पं० जीके विषयमें कहा जाता है कि वे लगन और निष्ठा के बड़े पक्के थे। उनकी तन्मयताके बारेमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने छः महीने तक अलूना भोजन किया किन्तु इन्हें पता ही नहीं चला कि मैं अलूना भोजन कर रहा हूँ। इस तरह हम देखते हैं कि पं० जीका जीवन एक साधकका जीवन भी रहा है।

पं० जीका जीवन काल

पं० जीकी अन्य बातोंकी तरह अभी तक उनका जीवन काल भी अनिश्चित है। इस संबंधमें अधिकांश लोगों का ख्याल है कि वे २८ वर्षसे अधिक जीवित नहीं रहे। उनकी यह २८ वर्षकी अवधि वि० सं १७९७ से १८२४ तक मानी जाती है। जहाँ तक पं० जीकी मृत्यु सवाल है यह निश्चित है वे १८२४ से अधिक जीवत नहीं रहे। पर उनके जन्मका संवत् १७९७ मानने को जी नहीं चाहता। १७९७ में जन्म होने का

१–वाचक शब्द वाच्य है अर्थ इनकै बहु संबंध समर्थ
इनका कर्ता नाहीं कोय जाने इनका ज्ञाता होय ॥ त्रि० सा०।

२–पृथ्वी शब्द पृथ्वी अर्थ इनके संबंध ऐसो पृथ्वी शब्द जानने ते पृथ्वी अर्थ जानिए। ऐसे सांचे शब्द अरु सांचे अर्थ जगमाहि तिनकै संबंध सो स्वभाव ही तैं मानिए। तातैं इस ग्रन्थमांहि जेते शब्द जेते अर्थ तिनको नवीन कर्ता कोऊ नाहिं मानिए। तिनकों जो जाने अरु भाषै जोरि शब्दनि की व्यवहार मात्र सो तो कर्ता पहचानिए। ऐसी परिपाटी माहि इहां वर्धमान जिन भए तिनहूँ तैं तिनका स्वरूप जान्यों है। इच्छा बिन दिव्यध्वनि तिनके प्रगट भई ताकरि स्वरूप कछु तैसो ही बखान्यों है। गौतम गणेश मुनि ऐसो उपकार कीनों ताको अनुसार सब ग्रन्थनिमें आन्यो है। तिन करि ज्ञानवंत होइ छोटे ग्रन्थ जोरि किन्हू ने नाना भाँति अरथ प्रमान्यो है। त्रि० सा०।

मतलब यह है कि वे १२, १३ वर्ष की उम्रमें ही गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंके पारगामी और समस्त जिनागम रहस्यके वेत्ता हो गए थे। यहां तक कि उनकी विद्वत्ताकी ख्याति देश देशान्तरोंमें फैल गई थी। १२–१३ वर्ष हम इसलिए कह रहे हैं कि सं० १८१२ में अर्थात् १५–१६ वर्ष की उम्र। उन्होंने गोम्मटसार आदिकी टीका करना प्रारंभ कर दिया था। किन्तु टीका करनेके पहले ही वे अपनी असाधारण विद्वत्ताके लिए इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि तत्कालीन साधर्मी भाई रायमल्ल उनकी धार्मिक संङ्गतिका लाभ उठाने उनसे जयपुर मिलने गए थे लेकिन यह मालूमकर पं० जी इन दिनों सिंघाणा नगरमें हैं वे आगरे आदि चले गए। बादमें पुनः टोडर मलजी ने आकर मिले और गोम्मटसारकी टीका करनेकी प्रेरणाकी। इस तरह रायमल्लजीका टोडर मलजी की कीर्ति सुनना उनसे जयपुर मिलने जाना उन्हें वहाँ न पाकर आगरे आदि घूमना और पुनः टोडरमलजी से मिलना इसमें दो तीन वर्ष सहज बीत गए होंगे अतः टीका करते समय यदि उनकी उम्र १५ सालकी थी तो १२–१३ वर्षकी उम्रमें वे अवश्य जैन सिद्धान्तके पारगामी हो गए होंगे। इतनी छोटी उम्रमें इस प्रकार अगाध पाण्डित्य प्राप्त कर लेना और वह भी जातिस्मरणसे नहीं बल्कि अभ्यासके बलपर समझमें नहीं आता। यदि किसी प्रकार उनकी इस बचपनकी अगाध विद्वत्ताको सच भी मान ली जाय तब भी उसे एक महान आश्चर्यपूर्ण घटना समझना चाहिए। इतनी बड़ी असाधारण बात की और नहीं तो भाई रायमल्ल अवश्य चर्चा करते। लेकिन उन्होंने उनकी योग्यता विद्वत्ता और क्षयोपशमका जिक्र करते हुए भी इतनी कम आयुमें इतना अधिक ज्ञान प्राप्त करनेकी चर्चा कहीं नहीं की। जिसकी चर्चा न करनेका कोई कारण भी समझमें नहीं आता। अतः १८९७ में उनके जन्मको विश्वस्त नहीं माना जा सकता।

दूसरी बात यह है कि भाई रायमल्लके दिए हुए परिचय[1]के अनुसार वे २९ वर्षकी अवस्थामें उदयपुर पं० दौलतरामजी से मिलने पहुंचते हैं और वहां की शैलीका अवलोकन कर साहपुरा नगर लौट आते हैं। वहां कुछ दिन रहकर पं० टोडरमलजीकी कीर्ति सुनकर उनसे मिलने चल देते हैं। हम समझते हैं इसमें उन्हें वर्ष डेढ़ वर्षसे ज्यादा नहीं लगा होगा। कारण वे उदयपुर में वहांकी सैलीका अवलोकन करके ही साहपुरा लौट आना लिखते हैं और साहपुरामें भी कुछ दिन ही रहना लिखते हैं। अतः उनके २९ वर्षमें ये डेढ़ वर्ष और जोड़ देनेसे उनका साढ़े तीस वर्षकी आयुमें टोडरमल्लजीसे मिलने जाना निश्चित होता है। अब यदि हम रायमल्लका समय १७७०से १८२५ तक ठीक मान लेते हैं तो इसका अर्थ यह है कि वे (१७७०+३०½) सं० १८०१ में टोडरमल्लजीसे मिलने जयपुर गए होंगे। लेकिन उस समय टोडरमलजी की आयु कुल ४॥ वर्षकी ही होती है। अतः यह कैसे माना जा सकता है साढ़े चार वर्षकी आयुमें ही वे

(टोडर- मलजी) इतने बड़े भारी विद्वान हो गए थे कि उनके ज्ञान की कीर्ति देशमें सब ओर फैल गई थी।

कहा जाता है कि पं० देवीदासजी गोधाने अपने चर्चाग्रन्थमें आपका जन्म सं-त् १७९७ दिया है। यद्यपि उक्त ग्रन्थ हमारे सामने नहीं है फिर भी इस संबंधमें जबतक उस ग्रन्थ की और प्रतियां न देख ली जांय तब तक कुछ निश्चयात्मक बात कहना कठिन है। श्री प. चंन-सुखदासजीने वीरवाणीके टोडरमल अङ्कमें अपने सम्पादकीय लेखके अन्तर्गत एक फुटनाट दिया है उसमें गोम्मटसारकी पूजाको टोडरमलजी की कृति सावित करते हुए यह आश्चर्य प्रकट किया है कि 'उसके जयसिंह महाराजके राज्य कालमें बनाए जानेका क्यों उल्लेख है?' हमारी समझमें उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है आश्चर्य तो तभी हो सकता है जब हम पं० जीका जन्म १७९७ मेंही मानकर चलते हैं। लेकिन १७९७ में जन्म माननेसे जब बाधाएँ उपस्थित होती हैं तब उनका जन्म उससे पहले मानना चाहिए और वह महाराजा सवाइ जयसिंहके समयमें ही हो सकता है। हमारा अनुमान है कि महाराजा सवाई जयसिंहके समयमें उनका जन्म ही नहीं हुआ बल्कि वे विद्याभ्यास भी पूर्ण कर चुके थे अतः अवश्य उन्होंने उनके ही राज्य कालमें गोम्मटसारकी पूजा बनाई होगी। यद्यपि यह ठीक है कि पं० देवीदासजी गोधा जिन्होंने पं० जी का जन्म १७९७ में लिखा है पं० जीके समकालीन थे अतः उनकी बात प्रमाण मानना चाहिए परंतु पं. टेकचंद्रजी भी जिनके पत्रसे गोम्मटसार पूजाका महाराजा जयसिंहके राज्यकाल में रचा जाना सिद्ध होता है पंजीके समकालीन ही थे अतः उनकी बात प्रमाण न मानी जाय इसमें कोई हेतु प्रतीत नहीं होता। अब सवाल यह रह जाता है कि यदि पं. जीका जन्म १७९७ में नहीं हुआ तो कब हुआ। इस संबन्धमें अभी तक हमें कोई किसी प्रकारका उल्लेख नहीं मिला और न इस समय हमारे पास समय और साधन ही है जिससे उसका पता लगाया जा सके फिर भी जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं खोज करने पर उनका जन्म समय १७ ७ से पहले ही सिद्ध होगा। जिज्ञासु पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि वे इस संबन्धमें अधिक छान बीन करें।

पं. जीकी मृत्यु यह निश्चित है कि १८२४में हुई थी। वह उनकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं थी बल्कि उन्हें आततायियोंका शिकार होना पड़ा था। अपने समयके सुधारकों और महा-पुरुषोंको जो पुरस्कार मिलता आया है प. जीको भी वही पुरस्कार मिला। आपकी विद्वत्ता, तार्किकता और वक्तृत्व शक्तिकी बड़ी धूम थी। जैनोंके अतिरिक्त अजैन भी उनके प्रभावसे अछूते न थे। सत्य खोजीके नाते मतमतान्तरोंके कठोर समालोचक थे। ये सब बातें भला जयपुरके तत्कालीन ब्राह्मणोंको कब सह्य थीं। उनमें विद्वान थे पर टोडरमलजी जैसे महा वि ानके सामने उनकी विद्वत्ता लंगड़ी थी। वे परकटे पक्षीकी तरह फड़फड़ाते थे और बदला लेनेके लिए कायरतापूर्ण आक्रमणकी घातमें रहते थे। सवत् १८१८ में श्यामनारायण तिवारी द्वारा हम जन मंदिरोंके विघ्नकी बात ऊपर लिख आए हैं। वह तिवारी अपनी इस करतूतके कारण आखिर राज्यसे निकाल दिया गया था। अतः उस समयके ब्राह्मणोंको यह भी एक बड़ा घाव था। इन सब

कारणोंसे वे तत्कालीन राजा माधवसिंह को जैनोंके विरुद्ध भड़काते थे और कहते थे कि यह सब करतूत उनके गुरु पं० टोडरमलकी है। कहते हैं उन्होंने राजा को यहां तक भड़काया कि ये जैनी लोग शिवमूर्तियोंकी बड़ी अविनय करते हैं और मजाक उड़ाते है। परन्तु महाराज उनकी मौखिक शिकायत न सुनकर इन सब बातोंका प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते थे। निदान उन लोगोंने मिलकर एक शिवपिण्डी उखाड़ डाली और अफवाह उड़ा दी कि यह सब जैनोंकी करतूत है। इस पर दरबारकी आज्ञासे सभी जैनी कैदकर लिए गए और पं० जीको उसका निर्देशक कहकर उन्हें तत्काल मरवा डाला गया। हत्यारोंने उन्हें मारकर ही दम नहीं लिया बल्कि उनके पार्थिव शरीरको किसी गंदी जगह गढ़वा दिया। इस तरह उस महान् आत्माका वध किया गया। बखत रामसाहने अपने बुद्धिविलास ग्रन्थमें इस घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है—

तब ब्राह्मणनु मतो यह कियो शिव उठान को टोना दियो।
तामें सबे श्रावगी कैद करिके दंड किए नृप फंद॥
गुर तेरह पंथिनु को भ्रमी, टोडरमल्ल नाम साहिमी।
ताहि भूप मारचो पल माँहि गाढ्यो मद्धि गंदिगी ताहि॥

कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि उन्हें धोकेसे छिपकर मारागया इसीलिए उन्हें दुबका चोरी कूड़ेके ढेरमें मारकर गाड़ दिया गया। परन्तु जब राजाकी आज्ञासे ही उनका बध हुआ तब उनके छिपकर मारे जानेकी बात ही क्या थी। गंदगीमें गाड़ देना भी इस बातका सबूत नहीं है कि उन्हें छिपकर मारा गया। बल्कि उससे यह सिद्ध होता है कि राजाने अत्यंत क्रोधमें आकर उनके शवकी दुर्गति करनेके लिए ही ऐसा किया होगा। बखतराम शाहने जो यह लिखा है कि 'ताहि भूप मारयो पलमाहि' इसका अर्थ यही लेना चाहिए कि राजाने उन्हें मरवाने में बहुत शीघ्रता की। न तो उनको अपनी सफाईका अवसर दिया और न अन्य किसीको ही उनकी तरफसे कुछ कहने दिया। स्वयंभी शांतिसे नहीं सोचा कि उनको प्राण दण्डकी आज्ञा देकर मैंने ठीक किया या नहीं। इस तरह राजाने उन्हें शीघ्र ही मरवा दिया। यही छंदमें 'पल-माहि' शब्दका अर्थ है।

हाथोके पैरके नीचे उन्हें दबाकर मारे जानेकी बात भी किसी प्रमाणिक आधारसे सिद्ध नहीं होती। अगर ऐसी बात होती तो बखतराम साह इसका भी लिखना नहीं भूलते। परन्तु जनश्रुति ऐसी ही रही है कि उन्हें हाथीके पैरके नीचे दबाकर मारा गया। अतः प्रामाणिक आधार न होते हुए भी यदि उनकी मृत्यु इसी प्रकार हुई हो तो आश्चर्यकी बात नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि उनकी मृत्य निर्दयतासे की गई।

हमारा अन्दाज है कि मोक्षमार्ग-प्रकाशका पांचवां अध्याय भी उनकी मृत्युमें बहुत कुछ कारण रहा होगा। क्योंकि पं० जी के विरुद्ध राजाको भड़कानेके लिए ये लिखित प्रमाण राजाके सामने अवश्य पेश किए जाते होगें और अन्य मौखिक बातें कही जाती होंगी सो अलग।

इन सब बातोंको देख सुनकर राजाको क्रोध अवश्य आता होगा परन्तु पं०जीकी भद्रता सौजन्य सदाचार और जैनियोंकी राजभक्ति देखकर उस क्रोधमें उबाल आते २ रह जाता होगा। लेकिन जब आततायियोंने शिवपिण्डीको उखाड़ राजाके सामने लाकर रख दिया और उसे जैनोंकी करतूत बताया तब उनके क्रोधका ठिकाना न रहा होगा। और उसी क्रोधमें उन्होंने पं० जीके लिए यह निर्दय आज्ञा दी होगी। खैर, पं० जीका पार्थिव शरीर भस्म हो गया परन्तु मोक्षमार्गके नामसे जनताको जो वह प्रकाश दे गए वह कभी नहीं बुझेगा। अज्ञानान्धमें पड़ी हुई जनता हमेशह उस प्रकाशसे अपना मार्ग देखेगी। सूर्यके प्रकाश की चकाचौंध और गर्मीका अनुभव कर भले ही कोई उसपर अनास्था प्रकट करे पर उस प्रकाशकी आवश्यकता और अनिवार्यतासे कौन इन्कार कर सकता है। मोक्षमार्ग प्रकाशके विषयमें भी यही बात है। वह जब तक रहेगा तबतक पं जी अमर रहेंगे। महात्मा सुकरात, महात्मा ईसा, और महात्मा गांधीकी तरह पू० पं० जीका बलिदान भी संसारको कल्याण पथपर अग्रसर होनेके लिए मूक प्रेरणा देता रहेगा।

पं० जीकी रचनाएँ

पं० जीकी कुल ग्यारह रचनाएँ हैं, इनमें सात तो टीकाग्रन्थ हैं, एक स्वतन्त्रग्रन्थ है, एक आध्यात्मिक पत्र है,एक अर्थसंदृष्टि है जिसे गोम्मटसारकी टीकाका परिशिष्ट समझना चाहिए और एकभाषा पूजा है। टीका ग्रन्थोंमें गोम्मटसार जीवकांड १ गो० कर्मकाण्ड २ लब्धिसार ३ क्षपणासार ४ त्रिलोकसार ५ आत्मानुशासन ६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ये सात ग्रन्थ हैं। इनमें गोम्मटसार दोनों भाग (जीवकांड और कर्मकाण्ड) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीकी रचनाएँ हैं। ये वि० की ग्यारहवीं शताब्दिमें हुए हैं। इस ग्रन्थपर टीकाओंकी कमी नहीं है। पर उनमें मन्दप्रबोधिका और जीवतत्वप्रदीपिका ये दो टीकाएँ ही अधिक प्रचलित हैं। इनमें पहली अभयचन्द्र आचार्यकी बनाई हुई है और दूसरी ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य नेमिचन्द्र भट्टारककी बनाई हुई है। मन्द प्रबोधिनी अधूरी टीका है और जीवतत्व प्रदीपिका पूरी टीका है। पं० जीने जो गोम्मटसारकी भाषाटीका सम्यग्ज्ञानचद्रिका बनाई है वह इनमें दूसरी टीकाको आधार लेकर बनाई है।

सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका–

यह संस्कृत जीवतत्व प्रदीपिका टीकाका अविकल अनुवाद है। फिर भी प्रमेयको समझानेके लिए इसमें कहीं २ विशेष वर्णन भी है। अनुवाद बड़ा सरस है और स्वतन्त्र व्याख्या जैसा मालूम पड़ता है। इसके प्रारंभमें एक बहुत बड़ी विस्तृत भूमिका है जिसमें टीकाके अवतरणका हेतु,ग्रन्थके प्रमेयोंका सामान्य परिचय,गणित आदिकी प्रक्रियाका विधान है। गोम्मटसारकी टीका की तरह क्षपणसार गर्भित लब्धिसारकी टीकाका नाम भी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका है। लब्धिसारकी रचना भी मन्त्री चामुण्डरायकी प्रेरणासे आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा हुई है और कषायप्राभृत परसे संगृहीत है। इसके आदिमें भी विस्तृत भूमिका है जिसमें ग्रंथकी पारिभाषिक संज्ञाओंको लौकिक दृष्टान्तों द्वारा बड़ी सुन्दरतासे समझाया है। साथ ही अर्थ संदृष्टि रूपमें परिशिष्ट भी है।

त्रिलोकसार टीका–

त्रिलोकसार भी आचार्य नेमिचन्द्र सि० च० की है। इसमें उर्ध्व, मध्य और अधः लोकका विस्तृत वर्णन है। यह भी गोम्मटसारादिकी तरह संगृहीत ग्रंथ है। इस ग्रन्थ पर एक संस्कृत टीका है जो माधवचन्द्र त्रैविद्य देवकी बनाई हुई है। संभवतः ये आचार्य नेमिचन्द्रके ही शिष्य हैं। माधवचन्द्रका बनाया हुआ संस्कृत गद्यका क्षपणसार भी है। पं० टोडर मलजीने इस ग्रन्थ पर भाषा टीका लिखी है। यह टीका न अति विस्तृत है न अति संक्षिप्त है। इसके प्रारंभमें भी बड़ी उपयोगी भूमिका है जिसमें परिकर्माष्टक विधान तथा परिधि-धनुष, जीवा, वेदी आदि संज्ञाओंका खुलासा किया है। गोम्मटसारके बाद ही इसका निर्माण हुआ है।

आत्मानुशासन टीका–

आत्मानुशासन ग्रंथ आदि पु० के कर्ता जिनसेनके शिष्य आचार्य भदन्त गुणभद्रके द्वारा रचा गया है यह २७२ अनुष्टुप श्लकोंका लघुकाय ग्रंथ है। अपने नामके अनुसार आत्माको अनुशासित करनेवाला अपने ढंगका जैन वाङ्मयमें यह एकही ग्रंथ है। और पढ़ते समय सुभाषित जैसा ही आनन्द आता है। इस पर आचार्य प्रभाचंद्रकी एक छोटी संस्कृत टीका है जो प्रत्येक श्लोकके अर्थको विशद करती है। इसी ग्रन्थ पर पं० जीकी भाषा वचनिका है। जो शायद उक्त संस्कृत टीकाके अनुसार ही बनाई गई है। इसमें श्लोकोंका अर्थ तो है ही साथ ही प्रत्येक श्लोकका भावार्थ भी दे दिया गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका–

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय अमृतचंद्राचार्यकी प्रौढ़ और महान रचना है। आचार्य कुन्दकुन्दके आध्यात्मिक ग्रन्थोंके सफल टीकाकारोंमें अमृतचन्द्र आचार्यका प्रमुख और गौरव पूर्णस्थान है। उक्त ग्रन्थ एक श्रावकाचार ग्रन्थ है। अन्यान्य विषयोंके साथ इसमें हिंसा और अहिंसाका बड़ा ही सुन्दर और हृदय ग्राही विवेचन किया गया है। पं० जी ने इसकी सुन्दर भाषा-टीका लिखी है पर दुर्भाग्यसे वह अधूरी ही रह गई है। सं० १८२७ में पद्मपुराणके टीकाकार पं० दौलतरामजी ने इसे पूरा किया है। ऐसा मालूम पड़ता है शायद यह आपकी अन्तिम रचना हैं।

अर्थसंदृष्टि–

यह कोई अलग ग्रन्थ नहीं है। गोम्मटसारादि ग्रन्थोंके परिशिष्ट रूपमें इसे समझना चाहिए। फिर भी इसमें पं० जीकी अपूर्व प्रतिभाके दर्शन होते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो गोम्मटसारादिकी भाषा टीकाएँ तो केवल संस्कृत टीकाओंका शब्दशः अनुवाद हैं। उनमें विशेष वर्णन तो यत्र तत्र ही है। हां पं० जीका गोम्मटसारके विशिष्ट अभ्यासका प्रतिबिम्ब इन अर्थ संदृष्टियोंमें ही मालूम पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं पं० जीने यह बड़े परिश्रम और साधनासे लिखी है और

उसे पढ़कर ऐसा मालूम पड़ता है कि गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रन्थोंपर उनका असाधारण अधिकार था। आज तो अधिकारकी कौन कहे उनका समझना भी दुरूह हो रहा है।

आध्यात्मिक पत्र—

यह रचना रहस्यपूर्ण चिट्ठीके नामसे प्रसिद्ध है और वि० सं० १८११ फा० व० ५ को लिखी गई है। वास्तवमें यह कोई रचना नहीं है, पत्र ही है और मुल्तानके अध्यात्म प्रेमी खानचन्द्रजी गंगाधरजी, श्रीपालजी आदि महानुभावोंको लिखी गई है। इसमें आपने अपने अध्यात्मिक हृदयको उडेल कर रख दिया है। निर्विकल्पसमाधिका थोड़ेमें ही बड़ा सुन्दर चित्र खींचा गया है। अध्यात्मरसिकोंको यह पत्र अवश्य पढ़ना चाहिए।

गोम्मटसारपूजा—

यह रचना हमारे देखनेमें नहीं आई। पर कहा जाता है कि यह रचना आपकी ही है। बाबा दुलीचन्द्रजीकी ग्रन्थसूचीमें भी इसका उल्लेख पं० जीकी कृतियोंमें नहीं किया गया है। यह निश्चित है कि पं० जी गोम्मटसारके विशिष्ट अभ्यासी थे षट्खण्डागम और कषायपाहुड़के बाद सिद्धान्त ग्रन्थोंमें गोम्मटसारका ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः उसकी महानता और गंभीरताको देखकर ही आपने उक्त पूजा बनाई होगी। श्री पं० चैनसुखदासजीका अनुमान है कि गोम्मटसारकी टीका आदिकी समाप्तिपर हर्षोपलक्ष्यमें इस पूजाको बनाया होगा। लेकिन जब हम उस संबंधमें यह पढ़ते हैं कि यह महाराजा जयसिंहके राज्यकालमें बनाई गई है तब आपका उक्त अनुमान हमें ठीक नहीं मालूम पड़ता। क्यों कि गोम्मटसारकी टीका महाराज माधवसिंहके समयमें पूरी हुई है। अतः उसके बाद बनाई जानेवाली पूजा भी आपके ही समयमें बनाई हुई लिखी गई होती। महाराजा माधवसिंहसे पहले सवाई महाराजा जयसिंह ही जयपुरके अधिपति थे तब हो सकता है पं० जी पूजा वगैरह बनाने लग गए हों। हां इसके लिए जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं १७९७में उनके जन्म होनेकी मान्यता छोड़नी पड़ेगी।

यह पं० जीकी कृतियोंका सामान्य परिचय है। आप अगर जीवित रहते तो निःसन्देह और भी अनेक ग्रन्थोंकी टीका करते। जयपुरके जैनोंका आज जैसी यातायातकी सुविधा न होने पर भी सिद्धान्त ग्रन्थोंके लिए मूड़बिद्री तक पहुँचना आपकी ही प्रेरणाका फल मालूम पड़ता है। भाई रायमल्लने इन्द्रध्वज पूजा संबंधी अपने ऐतिहासिक पत्रमें टोडरमलजीके बारेमें लिखा है कि 'पांच सात ग्रंथोंकी टीका करनेका और उपाय है सो आयुकी अधिकता[1] रहे बनेगा' इससे भी उनकी टीका करने की उत्सुकता साबित होती है। अस्तु पं० जी इस भौतिक संसारमें न रहकर भी अमर हो गए हैं और आज लगभग दोसौ वर्ष बाद नत मस्तक होकर उस शहीद आत्माको हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

१—उस समय पं० टोडर मलजी प्रचलित मान्यता के अनुसार २४ वर्षके नव युवक थे। पता नहीं उनके बारे में 'आयुकी अधिकता' लिखने का रायमल्लजीका क्या अभिप्राय है।

साधर्मी भाई रायमल्ल

साधर्मी भाई रायमल्ल उन महापुरुषोंमें हैं- जो विना किसी आत्मप्रदर्शनके चुपचाप आत्मकल्याण और जनताकी सेवामें निरत रहते हैं। धर्म और समाजकी सेवामें इस महापुरुषने जिस प्रकार अपने आपको खपाया था उसे किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता। भाई रायमल्लके भूलनेका अर्थ है टोडरमलजीको भूल जाना। 'योजकस्तत्र दुर्लभः' के अनुसार ये भाई रायमल्ल ही थे जिन्होंने गोम्मटसारादिकी टीका करनेके लिए प० जीको प्रेरित किया था। टीका ही नहीं बल्कि उन्होंने उसमें क्रियात्मक सहयोग भी दिया था। आपके सहयोगका ही यह फल था कि इतने दुरुह ग्रन्थोंको ६५ हजार श्लोकप्रमाण टीका पं०जी तीन वर्षमें कर सके थे। इस संबंधमें रायमल्ल जीने अपने परिचयमें स्वयं लिखा है— 'पीछे सेखावाटी विर्षे सिंघाणां नग्र तहां टोडरमलजी एक दिल्लीका बड़ा साहूकार साधर्मी ताके समीप कर्म कार्यके अर्थि वहां रहे तहां हम गए। अर टोडरमलजी सूं मिले। नाना प्रकारके प्रश्न किए ताका उत्तर एक गोम्मटसार नामा ग्रन्थकी साखिसूं देते गए। ता ग्रन्थकी महिमा हम पूर्वे सुनी थी तासूं विशेष देखी। पीछे उनसूं हम कही—तुम्हारे या ग्रन्थका परिचय निर्मल भया है, तुम करि या की भाषा टीका होय तो घणां जीवोंका कल्याण होइ अर जिनधर्मका उद्योत होइ। अब ई कालके दोष करि जीवां की बुद्धि तुच्छ रही है तो यातें आगे भी अल्प रहेगी। तातें ऐसा महान ग्रन्थ पराकृत ताकी मूल गाथा १५०० ताकी टीका संस्कृत अठारह हजार ता विषै अलौकिक चर्चाका समूह संदृष्टि व गणित शास्त्रकी आम्नाय संयुक्त लिख्या है। ताका भाव भासना महा-कठिन है। अर याकी प्रवृत्ति पूर्वे दीर्घकालपर्यंत तें लगाय अब ताई नाहीं तो आगे भी याकी प्रवृत्ति कैसे रहेगी। तातें तुम या ग्रन्थकी टीका करनेका उपाय शीघ्र करो। आयुका भरोसा है नाहीं। पीछे ऐसे हमारे प्रेरकपणांका निमित्त करि इनके टीका करनेका अनुराग भया। पूर्वे भी याकी टीका करनेका इनका मनोर्थ था ही। पीछे हमारे कहने करि विशेष मनोर्थ भया। तब शुभ दिन मुहूर्त विषै टीका करनेका प्रारम्भ सिंघाणां नग्रविषै भया सोवै तो टीका बनावते गए, हम बांचते गए। बरस तीनमें गोम्मटसार ग्रन्थको ३८००० लब्धिसार क्षपणसार ग्रन्थकी १३००० त्रिलोकसार ग्रन्थकी १४००० सब मिलिकरि च्यारां ग्रन्थांकी पैसठि हजार टीका भई' पं० टोडर-मलजीने भी टीका की अन्तिम प्रशस्तिमे आपका उल्लेख[1] किया है। इसी प्रकार पद्मपुराण हरिवंशपुराणादिकी टीका भी आपने प्रेरणा कर पं० दौलतरामजीसे लिखवाई हैं[2]। जिनवाणीकी

१—रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज थयो॥

२—रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घटमें स्वपर विवेक। दयावंत गुणवंत सुजान, पर उपकारी परम निधान॥ दौलतराम सुताको मित्र, तासों भाख्यों वचन पवित्र। पद्म पुराण महाशुभ ग्रन्थ, तामें लोक-शिखरको पन्थ॥ भाषा रूप होय जा येह, बहुजन वाचें कर अति नेह। ताके वचन हिएमें धार, भाषा कीनी मति अनुसार।

सेवाका आपको व्यसन ही था। आश्चर्य नहीं यदि उक्त ग्रन्थोंकी टीकाके लिए आपकी प्रेरणा न होती तो वे शायद ही प्रकाशमें आते।

आप बचपनसे ही विरक्त, विचारक और सदाचारकी मूर्ति थे। तेरह-चौदह वर्षकी अवस्थामें जब यौवन उभार लेता है और तरह २ की दुष्प्रवृत्तियोंका युवक क्रीड़ास्थल बनने लगता है तब आप एक गम्भीर दार्शनिककी तरह जन्म मरणकी समस्या सुख दुःख का संयोग, जगतका विनाश और सृजन आदि बातोंमें उलझे रहा करते थे[१]। इस तरह आप सात वर्ष तक बराबर इन्हीं बातोंको सोचते रहे पर आपको इनका कोई समाधान न सूझा। २२ वर्षकी अवस्थामें आप साहपुरा नगर गए। वहां एक धार्मिक और सहृदय सज्जन नीलापति साहूकारसे आपकी भेंट हुई। आपने (रायमल्लने) लिखा है कि नीलापति दिगम्बर धर्मके कट्टर श्रद्धानी, आध्यात्मिक शास्त्रों के पाठी, षट्द्रव्य, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय आदि चर्चाके पारगामी, धर्ममूर्ति और ज्ञानके सागर थे। इनके तीन पुत्र थे वे भी बड़े धर्मात्मा थे। इस परिवारके अतिरिक्त और भी ५-७ लोग वहां विशेष चर्चाके जानकार थे। रायमल्लजी उनकी गोष्ठीमें रहे और अपनी अनेक शंकाओंका समाधान कर शुद्ध दिगम्बर सर्वज्ञ वीतरागके मर्मको सत्य पहचाना। आपने लिखा है कि यहां हमें इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका बोध हुआ जैसे कोई सोता आदमी जाग उठता है। आप यहां सात वर्ष रहे। इस अर्सेमें आपके परिणाम इतने निर्मल होगए कि आपने जीवन पर्यंत सब प्रकारकी बनस्पतिका भक्षण, रातका पानी तथा आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा ले ली।

यहांसे चलकर आप उदयपुर पहुँचे और श्री पं० दौलतरामजीकी संगति की। यहां भी ४०,५० श्री पुरुषोंकी चर्चा गोष्ठीमें आपको बैठनेका अवसर मिला और खूब धार्मिक लाभ लिया। यहांसे आप फिर साहपुरा आए और कुछ दिन रहकर पं० टोडरमलजीकी ख्याति सुनकर उनसे मिलने जयपुर चल दिए। वहां मालूम हुआ कि टोडरमलजी इस समय सिंघाणा नगरमें हैं अतः वहां पं० वंशीधरजीसे जो संभवतः टोडरमलजीके गुरु थे उनसे मिले। उनकी संगतिका लाभ लेकर आप आगरे आए। और पं० भूधरमलजी (जैन शतकके कर्ता) से मिले। इनके बारेमें लिखा है कि ये व्याकरणके पाठी और अनेक शास्त्रोंके पारगामी थे। तथा आगरेमें साहगंजके चैत्यालयमें शास्त्र प्रवचन करते थे। साथ ही ऐसे ही विद्वान एक धर्मपाल सेठ भी थे जो मोती कटरेके चैत्यालयमें शास्त्र प्रवचन किया करते थे। यहाँ आपने इन दोनों विद्वानोंसे चर्चा वार्ताका लाभ उठाया। यहांसे आप पुनः सेखावाटी चल दिए और सिंघाड़ा नगरमें प० टोडरमलजीसे मिले। वहीं पहुँच कर आपने पं० जीसे गोम्मटसारादिकी टीका करनेके लिए प्रेरणा की। तीन

१—अरमन विषैं ऐसा संदेह उपजे—ए सासता एता मनुष्य उपजे हैं, एती वनस्पति उपजे हैं, एता तिर्यंच उपजे हैं, ऐता नाज, सप्तधातु, रूई, षट्रसमेवा आदि नाना प्रकारकी वस्तु उपजे है सो कहां समावे है...... । बहुरि केई काल ऐसा विचार आवे-अठे धर्म साधन करिए, पीछे वाका फलतें राज पद पावें, ताके पाप करि फेरि नर्क जाय तो ऐसा धर्म करि भी कहा सिद्धि ! ऐसा धर्म करिए जा सब संसार का दुःख निवर्ति हो जाय। इत्यादि देखो वी० वा० वर्ष १ अंक २।

वर्ष तक आप वहां रहे और टीका निर्माणमें पं० जीको सहयोग करते रहे। टीका करनेके बाद आप दोनों जयपुर आए और ग्रन्थोंका संशोधन कर उन्हें लिखवाकर जहां तहां विराजमान किया। इसके बाद संभवतः आप जयपुरमें ही बस गए थे और तत्वचर्चामें अपना समय बिताते थे।

संवत् १८८१ में इन्द्रध्वज पूजा महोत्सवमें आपने अत्यधिक काम किया था। इन्द्रध्वज पूजाका निमन्त्रण पत्र[1] आपनेही अपने हाथों लिखा था। पत्रके प्रत्येक शब्दमें आपके हृदयकी सरलता फूट पड़ती है। इस पत्रको पढ़कर आपके कामका अन्दाजा पाठक लगा सकेंगे। आपके मालवा जानेका वर्णन पं० दौलतरामजीने इस प्रकार लिखा है—

रायमल्लके रुचि बहुत, व्रत किरिया परवीन
गए देश मालव विषैं जिन शासन लवलीन
तहां सुनाए ग्रन्थ उन भाषा आदि पुराण
पद्म पुराणादिक तथा, तिनको कियो बखान
सब भाई राजी भए, सुनकर भाषा रूप
तिनके रुचि अतिहो बढ़ी, धारी कथा अनूप
रायमल्लसे सबनने करी प्रार्थना येह
करवाओ हरिवंशकी भाषा बहु गुण गेह
आगे दौलतरामने टीका भाषा मांहि
करी सो ही अब यह करे यामें संशय नाहिं
तब भेजी पत्री यहां रायमल्ल धर भाव
लिखो जु साधर्मीनुको कारण धर्म प्रभाव
तथा जु दौलतरामको मल्ल लिखी यह बात
करहु भाषा हरिवंशकी सबके चित्त सुहात

इस तरह प्रेरणा करके ग्रन्थ लिखवाना फिर उन्हें जाकर देश देशान्तरोंमें सुनाना, पुनः उसके बाद अन्य ग्रन्थोंके लिखनेके लिए प्रेरणा करना भाई रायमल्लका ही काम था। आज जो काम एक संस्था नहीं कर पाती वह अकेले भाई रायमल्ल करते थे।

धर्म प्रचार करते हुए आप बासोदा भी गए थे। वहां आप जिस त्याग और सदाचार वृत्तिसे रहे उससे आपकी महत्ताका पता चलता है। आपके व्यवहारसे प्रभावित होकर वहां के उग्रसेन ताराचन्द आदि सहधर्मी भाइयोंने जयपुरके महाराम जी गुमानीरामजी आदिको आपकी प्रशंसामें इस प्रकार लिखा था। 'हमको तो ऐसे पुरुष देखने में आए नहीं जिनके

[1]—देखो वीरवाणी वर्ष १ अङ्क ३

तत्वज्ञान, संयम, श्रद्धान, निःकषायतादि गुण समूह पाइए हैं, सो भाई जी ऐसे संत्पुरुष इस दुःखम काल विषें बहुरि होना दुर्लभ है' सच पूछा जाय तो धर्म प्रचारके लिए ऐसे ही त्यागी और वीतरागी पुरुषकी आवश्यकता है। आज अगर रायमल्लजी जैसे २—४ त्यागी भी हों तो जैन समाजका वे बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं।

शांतिनाथ पुराणकी प्रशस्तिमें भी जैसा की अभी खोजमें विद्वानोंको पता लगा है आप की प्रशंसामें कुछ शब्द पाए जाते हैं जो इस प्रकार हैं—

वासी श्री जयपुरतनों टोडरमल्ल कृपाल।
ता प्रसंगको पायकें गह्यों सुपंथ विशाल॥
गोमटसारादिक तने सिद्धान्तन में सार।
अवर बोध जिनके उदे महाकवी निरधार॥
पुनि ताके तट दूसरो राजमल्ल बुधराज।
जुगल मल्ल जब ये जुरे और मल्ल किह काज॥
देस ढुंढ़ाहर आदि दै संबोधे बहु देस।
रचि रचि ग्रन्थ कठिन किए टोडरमल्ल महेस॥

उपर्युक्त कवितामें तीसरा दोहा खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। लिखनेका मतलब यह है कि भाई रायमल्ल अपनी निःस्वार्थ सेवाओंके उपलक्ष्यमें अपने समयमें ही सब जगह आदर और सन्मानके पात्रके हो गए थे। हमारा अनुमान है कि जयपुरमें और आसपास धर्म प्रभावना और धार्मिक प्रवृत्तिको कायम रखनेमें भाई रायमल्लजीका ही क्रियात्मक सहयोग अधिक रहता होगा। हम आपकी इस प्रवृत्तिको इन्द्रध्वज पूजाके निमन्त्रण पत्रमें स्पष्ट देखते हैं। उस पत्रमें आपने जिस आकर्षक भाषाका प्रयोग किया है और जयपुरके धार्मिक वातावरणका जो चित्र खींचा है[1] उसे पढ़कर जयपुर न जानेवाला आदमी भी अवश्य पहुँचा होगा।

१—"अर इहां जैनी लोगोंका समूह है ही। अर माह सुदी १० के दिन लाखां आदमी अनेक हाथी, घोड़े, पालकी, निसाण, अनेक नौबति, नगारे आगवी बाजे सहित बड़ा उच्छव सूं इन्द्र करि करी हुई भक्ति ताकी उपमाने लियां ता सहित चैत्यालय सूं श्रीजी रथ ऊपर विराजमान होइ वा हाथीके होदे विराजमान होइ सहर बारें तेरह द्वीपकी रचना विषैं जाय विराजेंगे...... । तहां पीछे देश २ के जात्री पांच सात दिन पर्यंत और रहेंगे। ई भांति उच्छवकी महिमा जानोंगे।......अर सर्वत्र रूपा सोनांके जरीका वा तबकका वा चित्रामका वा मोडलके कामका समवशरणवत् जगमगाट नैं लियां सोभा बनैंगो। और लाखों रुपा सोनाके दीप वा फूल पूजनके ताईं बने हैं। और कलका रथ बण्या सो बिना बलधां, बिना आदम्यां, कलने फेरने करि गमन करेगा।....अर अढ़ाई द्वीप विषैं क्षेत्र, कुलाचल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, ताकी रचना बणी है। कठैं ही कल्पवृक्षांका वन, ता विषैं कठे ही चैत्यवृक्ष, कठे ही सामान्य

धवल जयधवल आदि लेने जयपुरसे जो पार्टी मूड़बिद्री गई थी उसमें भाई रायमल्ल भी थे। आपने वहां जमीन के निचे निकली हुई मन्दिरके भोरोंमें कुछ प्रतिमाओंके दर्शन किए थे। उनके दर्शन कर आप फूले नहीं समाए। अपने पत्रमें आपने उस घटनाको बड़े गद्गद् होकर लिखा है[1]। पं० जयचन्द्र जी छावड़ा जिन्होंने बीसियों ग्रंथोंकी टीका लिखी हैं वर्षों भाई रायमलके सहवासमें रहे थे और उसका लाभ उठा कर अच्छे खासा विद्वान बन गए थे। इस तरह प्रारंभसे लेकर अन्त तक हम रायमल्लजीका जीवन धर्म सेवा और परोपकारसे ओत प्रोत देखते हैं। आपने अपने ऐहिक सुखोंकी उपेक्षा कर समाज और और धर्मकी सेवामें जो तनमन धन लगा दिया था उससे सच पूंछा जाय तो आपका नैतिकस्तर पूज्य पं० टोडरमलजीसे भी अधिक ऊँचा उठ जाता है।

रायमल्लकी रचनाएँ

भाई रायमल्लकी केवल दो ही रचनाएँ उपलब्ध हैं। एकतो श्रावकाचार है और दूसरी कोई चर्चा संबंधी रचना है। बाबा दुलीचन्द्रजी सूचीमें इस श्रावकचारका पूरा नाम 'ज्ञानानंद निजरसनिरभरश्रावकाचार' लिखा है। लेकिन हमारे सामने जो लिखित प्रति मौजूद है उस पर केवल श्रावकचार लिखा है साथ ही मुख पृष्ठ पर 'टोडरमलजी कृत' लिखा है जो लेखकके प्रमादसे ही हुआ जान पड़ता है। यह शास्त्राकार १३×६ साइजके पृष्ठों पर दोनों ओर लिखा हुआ है। इसमें २२७ पृष्ठ हैं। और श्रावकचारकी करीब २ सभी बातोंका महत्वपूर्ण वर्णन है। कुछ बातोंका विशेष वर्णन भी है जैसे—चौथे कालमें जिन मंदिर करानेकी विधि, कुलिङ्गियोंकी उत्पत्तिका वर्णन, श्वेतांबरोंकी उत्पत्ति, श्रावकके चार अंतराय, सात जगह मौन, ग्यारह जगह चंदौवा, इत्यादि। आपकी वर्णन शैली बड़ी मधुर और हृदयग्राही है तथा आवश्यकतानुसार दृष्टांत देकर अपने विषयको खूब स्पष्ट किया है। यहां हम आपकी वर्णन शैलीका एक उदाहरण देते हैं—दर्शन किया विना कदाचिद्

वृक्षांका वन, कठे ही पुष्प वाड़ी, कठे ही सरोवर, कठे कुण्ड, कठे द्रह, कठे ही द्रह माहिं सू निकसि समुद्रमें प्रवेश करती नदी, ताकी रचना वणी है। कठे ही महलांकी पङ्क्ति, कठे ही ध्वजाके समूह, कठेही छोट २ ध्वजाके समूहका निर्मापण हुआ है। इन्द्रध्वज पूजा महोत्सवका निमंत्रणपत्र सं० १८२१।

१—और हम मेवाड़ विषैं गए थे। सो उहां चित्तौड़ गढ़ है। ताके तलैं तलहटी नग्र वसे हैं। सो उहां तलहटी विषैं हवेली निर्मापणके अर्थि भूमि खणतैं एक भेंहरा निकस्या, ता विखैं सोला बिंब फटिकमणि सादृश्य, महामनोज्ञ, उपमारहित, पद्मआसन विराजमान, पन्द्रा, सोला बरसका पुरुषके आकार सादृश्य परिणामने लियां जिन बिम्ब नीसरे। ता विषैं एक महाराजि (प्रतिमा) बावनके सालका प्रतिष्ठ्या, हरचा मौहराका अतिशय सहित नीसरे। और घणां जिनबिम्बका उपकरण धातुके नीसरे। ता विषैं सुवर्ण, पीतल सादृश्य दीसै ते नीसरे। धातुका महाराजि तो गढ़ ऊपर भेंहरा विषै विराजे हैं। ऊपर किल्लादार वा जोगी रहे है। ताके हाथि तो भेंहराकी कूंची है। अर पाषाणके बिम्ब तलहटीके मंदिर विषैं विराजै हैं····। सो उहांकी यात्रा हम करि आए। ताके दरसन लाभकी महिमा वचन अगोचर है सो भी वार्ता थें जानूंगे।

भोजण करणां उचित नाहीं। अर दर्शन क्रिया विणां कोई मूढ़धी सठ, अज्ञानी रोटी खाय है सो वाका मुख सेतखाना बराबरि है, अथवा सर्पका बील बराबरि है। जिह्वा है सोई सर्पिणी है मुख है सोइ बील है। अर कुभेषी, कुलिङ्गी जिन मंदिरमें रहते होइ ते वा मंदिर विषें भूलके भी जाय नाहीं...... ।

हमारा अनुरोध है कि प्रारम्भिक जिज्ञासुओंको यह ग्रन्थ अवश्य बांचना चाहिए। आपका दूसरा ग्रन्थ चर्चाग्रन्थ है जो हमारे सामने नहीं है और न उसके अबतक हमने दर्शन ही किए हैं। कहते हैं कि रायमल्लजीकी टोडरमलजीके साथ जो धार्मिक चर्चाएँ होती थीं उन्हीका इसमें संग्रह है। यदि ऐसा है तो यह ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण होगा।

इस तरह हम पं० टोडरमलजीकी तरह ही भाई रायमल्लको सरल स्वभावी, समाज सेवी और महा परोपकारी पाते हैं। सच पूँछा जाय तो उस समयके ये दो ही महानुभाव युग प्रवर्तक थे। एकने अपने ज्ञानसे जनताका स्तर ऊँचा उठाया तो दूसरेने अपनी सेवाओंसे लोगोंको नैतिक बल दिया। एकने अपने प्राणोंका बलिदान कर धर्म और समाजकी शान कायम रक्खी तो दूसरेने अपने सुखोंका बलिदान कर धर्म और समाजकी सेवामें अपने आपको खपा दिया। वे दो आत्माएँ थी जिन्होंने ज्ञान और त्यागके क्षेत्रको अमर बना दिया। आज वे नहीं हैं पर उनका बलिदान आज भी हमें आगे बढ़नेके लिए प्रेरणा दे रहा है।

जयधवला कार्यालय
बनारस
फाल्गुन शु० ९ वी० नि० सं० २४७४

लालबहादुर शास्त्री

संपादनमें उपयुक्त ग्रन्थसूची

संकेत	पूरा नाम	प्राप्तिस्थान
अ० पु०	अग्निपुराण	[जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस रतलाम]
अभि०को०	अभिधान राजेन्द्र कोष	[आनन्दाश्रम पूना]
अ० को०	अभिधर्म कोष	[काशी विद्यापीठ ग्रन्थमाला]
अ० स०	अष्ट सहस्री	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
आ० प०	आप्त परीक्षा	[बिहारीलाल कठनेरा बम्बई]
आचा०	आचारांग	[सिद्ध चक्र साहित्य प्रसारक समिति सूरत]
ईषा० नि०	ईषावास्योपनिषद्	[गीता प्रेस गोरखपुर]
उ० ध्य०	उत्तराध्ययन	[देवचन्द लालभाई सूरत]
उपा० क०सु०	उपासद दशाङ्ग कल्पसुबोधिनी टीका	[ऋषभदेव केशरीमलजी संस्था रतलाम]
उ० द०	उपासक दशाङ्ग	[,, ,, ,,]
क० सू० आ० म०	कल्पसूत्र आवश्यक मलय गिरी टीका	[आत्मानन्द सभा भावनगर].
कठो० नि०	कठोपनिषद्	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
कबी० र०	कबीरका रहस्यवाद	[एकेडेमी प्रयाग]
का० रू०	कातन्त्र रूपमाला	[जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई]
कु० म०	कुर्आन मर्जाद	[हिन्दुस्तान इलैक्ट्रिक प्रिंटिंग वर्क्स देहली]
केन० उ०	केनोपनिषद्	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
ग० चि०	गद्य चिन्तामणि	[,, ,, ,,]
गो० क०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	[जैन सिद्धांत प्र० संस्था कलकत्ता]
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड	[,, ,, ,,]
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्	[निर्णय सागर बम्बई]
ज० ध०	जयधवला	[भा० दि० जैन संघ चौरासी मथुरा]
जी० त० प्र०	जीवतत्व प्रदीपिका	[जैन सि० प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
ठाणा०	ठाणाङ्ग	[अहमदाबाद]

या० उ०	याज्ञवल्क्योपनिषद्	[आनन्दाश्रम पूना]
र० क० श्रा०	रत्नकरण्डश्रावकाचार	[माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई]
र० श्रा० टी०	रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका	[,, ,, ,,]
रा० प० सु०	रायपसेणियसुत्त	[आगमोदयसमिति सूरत]
व्या० प्र०	व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र	[आगमोदयसमिति सूरत]
वा० पु०	वायुपुराण	[आनन्द आश्रम पूना]
वा० रा०	वाल्मीकि रामायण	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
वि० सा० प्र०	विचार सार प्रकरण	[आगमोदय समिति सूरत]
वि० पु०	विष्णुपुराण	[आनन्दाश्रम पूना]
वे० सि० मु०	वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
वै० सू०	वैशेषिक सूत्र	[,, ,, ,,]
शा० वा० स०	शास्त्रवार्ता समुच्चय	[गोड़ीजी जैन उपाश्रय पायधुनी बंबई]
श्रा० प्र० सू०	श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र	[आगमोदयसमिति सूरत]
शि० सं०	शिवसंहिता	[आनन्दाश्रम पूना]
ष० प्रा०	षट् प्राभृत	[माणिक चन्द जैन ग्रंथमाला]
स० सा० क०	समयसार कलश	[जैन पुस्तकालय सूरत]
स० सू०	समवायांग सूत्र	[अहमदाबाद]
सं० त०	संमतितर्क	[गुजरात पुरातत्व मंदिर अहमदाबाद]
स्या० म०	स्याद्वादमंजरी	[रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई]
स्या० र० अ०	स्याद्वादरत्नकरावतारिका	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
स० सि०	सर्वार्थसिद्धि	[सोलापुर]
स० द० सं०	सर्वदर्शन संग्रह	[वेंकटेश्वर प्रेस (१९६२ मु०)]
सा० का०	साङ्ख्यकारिका	[चौखम्बा सिरीज काशी]
सा० कौ०	सांख्य तत्त्वकौमुदी	[,, ,, ,,]
सा० ध०	सागारधर्मामृत	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
सात्या० उ०	सात्यायनीयोपनिषद्	[आनन्दाश्रम पूना]
ज्ञा० क०	ज्ञातृ कथा	[आगमोदयसमिति सूरत]
त० रा० वा०	तत्त्वार्थ राजवार्तिक	[जैन सि० प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
त० श्लो० वा०	तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
त० सू०	तत्त्वार्थ सूत्र	[सर्वत्र उपलब्ध [
त० सं०	तत्त्व संग्रह	[गायकवाड़ आरिन्टयल सिरीज बड़ोदा]
ति० प०	तिलोयपण्णत्ति	[जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर]

त्रि० सा०	त्रिलोकसार	[जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई]
द्र० सं०	द्रव्य संग्रह	[जैन सि० प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
द्वि० क०	द्वितीय कर्मग्रन्थ	[आत्मानन्दसभा आगरा]
द० वै०	दशवैकालिक	[देवचंद लालभाई सूरत]
ध० प्र० पु०	धवला प्रथम पुस्तक	[जैन साहित्य उद्धारक फंड अमरावती]
ध० र०	धम्मरसायण	[माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
ध० च०	धम्मचक्क पवत्तसुत्त	[महाबोधि सोसायटी सारनाथ]
ध० सं०	धर्म संग्रह	[आगमोदय समिति सूरत]
नं० सू०	नन्दीसूत्र	[देव चंद लालभाई सूरत]
न्या० कु०	न्याय कुमुदचन्द्र	[माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
न्या० प्र०	न्याय प्रवेशिका	[बड़ौदा गायकवाड़ सिरीज]
न्या० वि०	न्यायविनिश्चय	[सिंघी जैन सिरीज कलकत्ता]
न्या० सू०	न्यायसूत्र	[चौखम्बा सिरीज]
पं० च० को०	पद्मचन्द्रकोष	[सैदमिट्ठा बाजार लाहौर]
प० परि० उ०	परमहंस परिव्राजकोपनिषद्	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
प्र० र०	प्रकरण रत्नाकर	[आगमोदय समिति सूरत]
प्र० क० मा०	प्रमेय कमल मार्तण्ड	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
प्र० र० मा०	प्रमेय रत्नमाला	[विद्याविलास प्रेस काशी]
प्र० सा०	प्रवचनसार	[रायचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
प० सु०	पवत्त सुत्त (संयुत्तनिकाय)	[महाबोधि सोसायटी सारनाथ]
प्र० भा०	प्रशस्तपादभाष्य	[चौखम्बा सिरीज काशी]
प्र० गु०	प्रथमगुच्छक	[स्या० विद्यालय भदैनी]
पं० का० टी०	पंचास्तिकाय टीका	[रायचन्द्र ग्रन्थमाला]
पं० ध्या०	पंचाध्यायी	[जैन पुस्तकालय सूरत]
बृ० द्र० सं०	बृहद्द्रव्य संग्रह	[रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई]
ब्र० बि०	ब्रह्मबिन्दु	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
ब्र० पु०	ब्रह्मपुराण	[आनन्दाश्रम पूना]
भ० गी०	भगवद्गीता	[आनन्दाश्रम पूना]
भ० सू०	भगवतीसूत्र	[ऋ० के० संस्था रतलाम]
भा० च०	भागवत	[आनन्दाश्रम पूना]
भा० स्कं० अ०	भागवतस्कंध अनुवाद (ज्वाला प्रशाद)	[मुरादाबाद]
भा० सं०	भाव संग्रह	[माणिक चंद ग्रन्थमाला बम्बई]

भि० उ०	भिक्षुक उपनिषद्	[आनन्दाश्रम पूना]
म० पु०	मत्स्य पुराण	[आनन्दाश्रम पूना]
म० स्मृ०	मनुस्मृति	[निर्णय सागर प्रेस बम्बई]
म० भा०	महाभारत	[शंकर नरहर जोशी पूना]
म० प० सु०	महासत्तिपठानसुत्त (दीघनिकाय)	[महाबोधि सोसायटी सारनाथ]
म० नि०	महानिशीथ चूर्णि	[ ]
मा० उ०	माण्डूक्योपनिषद्	[आनन्दाश्रम पूना]
मी० द० सू०	मीमांसादर्शन सूत्र	[आनन्द आश्रम पूना]
मी० न्या० प्र०	मीमांसान्याय प्रकाश	[चौखम्बा सिरीज काशी]
मी० श्लो०	मीमांसाश्लोक वार्तिक	[मद्रास यूनिवर्सिटी]
मु० उ०	मुण्डकोपनिषद्	[आनन्दाश्रम पूना]
मू० चा०	मूलाचार	[माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]

विषय सूची

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२	१५	पङ्क्तियां	पंक्तियां
५	४	इत	इस
६	४	लाभान्तराप	लाभान्तराय
२५	१५	दिया	छिपा
२५	३०	क्षयोग्शमक	चयोपशम
२६	१५	१५	१४
२८	१९	हितौ	इतौ
८	१६	पापण	पोपण
१०	२९	द्वादयङ्क	द्वादशाङ्ग
२०	२९	अक्त्रिप्र	अकृत्रिम
२१	१९	दिये	दिया
२२	१२	-चना	-पना
३२	१५	चक्षुदर्श	चक्षुदर्शन
३२	२७	शक्ति को	शक्ति के
३५	६	चरित्रमोह	चारित्रमोह
३६	६	मंदकपाप	मंदकपाय
४०	१५	ऊसकी	उसकी
४८	३०	ग्राशक्ति	आसक्ति
६६	१३	अङ्क	अङ्ग
८५	३१	वेदात्त	वेदान्त
९६	२९	पुत्न	पुत्र
११५	१७	दूस	दूर
११९	९	नैनायिक	नैयायिक
१२०	२९	हैशेपिक	वैशेपिक
१२५	८	उत्पत्न	उत्पन्न
१२५	२१	जात	जाता
१२७	१७	साम्यभाव तो	साम्यभावमें तो
१३५	२७	रात्रिमोजन	रात्रिभोजन

१३९	२०	छोड़ना	छेड़ना
१४९	२५	श्रद्वान	श्रद्धान
१५०	२०	कहें	कहेंगे
१६७	१७	क्षश्रित	आश्रित
१७२	९	वालशयित	वालश्रीर्यति
१७२	१६	किसका	जिसका
१९८	३०	सेहनन	संहनन
२१४	१६	तीर्यंचादि	तिर्यंचादि
२२६	१०	विषमसुख	विपय सुख
२३६	२३	पहने	पहले
२६५	२६	परियाटी	परिपाटी
२६५	२६	साम्यक्त्व	सम्यक्त्व
२८०	२८	जी	भी
२९३	१६	सकल चारित	सकल चारित्र
३०३	१	ज्ञान	घात
४०	३	हेयोत्पादेव	हेयोपादेय

पंडितप्रवर श्रीटोडरमलजीकृत

मोक्षमार्ग-प्रकाश

का

हिन्दी रूपान्तर

प्रथम अध्याय

(पूर्वपीठिका)

❀ मङ्गलाचरण ❀

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भए अरहंतादि महान॥ १॥
करि मंगल करिहौं महा ग्रन्थ करनको काज।
जातैं मिलै समाज सब पावै निजपदराज॥ २॥

अब मोक्षमार्गप्रकाश नामक शास्त्रके प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हैं—

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।

यह नमस्कारमन्त्र प्राकृत भाषामें है और महामंगलस्वरूप है। इसकी संस्कृत छाया निम्न प्रकार है—

नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः।
नमः उपाध्यायेभ्यः, नमो लोके सर्वसाधुभ्यः।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

अरहंतोंको नमस्कार है, सिद्धोंको नमस्कार है, आचार्योंको नमस्कार है, उपाध्यायोंको नमस्कार है, लोकमें सर्वसाधुओंको नमस्कार है।

चूँकि इसमें नमस्कार किया है इसलिए इसका नाम नमस्कारमन्त्र है।

यहाँ अब जिनको नमस्कार किया है उनके स्वरूपका विचार करते हैं; क्योंकि उनका स्वरूप जाने बिना यह नहीं जाना जा सकता कि मैं किसको नमस्कार करता हूँ। और उसके जाने

बिना उत्तम फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसलिए सबसे पहले अरहंतोंके स्वरूपपर विचार करते हैं।

अरहंतका स्वरूप

जो गृहस्थ दशा त्यागकर मुनिधर्मको अंगीकार करके[1] आत्माके स्वभावका साधन करते हैं और उसके द्वारा चार घातिया कर्मोंका विनाश कर अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुख इस अनंत चतुष्टयको प्राप्त कर लेते हैं वे अरहंत हैं। वे अरहंत अपने अनंत ज्ञानसे अनंत गुण पर्यायों सहित समस्त जीवादि द्रव्योंको विशेष रूपसे एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं। अनंत दर्शनसे उसका सामान्य अवलोकन करते हैं और अनंत सुखसे आकुलता रहित परमानंदका अनुभव करते हैं। तथा वे समस्त रागद्वेषादि विकार भावोंसे सर्वथा रहित हैं अतः परमशांत होते हैं। भूख प्यास आदि समस्त दोषोंसे रहित होनेके कारण वे देवोंके भी देव कहलाते हैं। उनका परम औदारिक शरीर उन सभी शस्त्र वस्त्रादिक अथवा अंगविकारादिसे रहित होता है जो काम-क्रोधादि निन्द्य भावोंके चिन्ह हैं। उनके वचनसे लोकमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होती है जिससे जीवोंका कल्याण होता है। लौकिक जीव जिन्हें प्रभुताका चिन्ह समझते हैं ऐसे अनेक अतिशय और नाना प्रकारके वैभवका संयोग उनके पाया जाता है। गणधर तथा इन्द्रादिक जीव अपने हितके लिए उनकी सेवा करते हैं। इस प्रकार सर्वथा पूज्य श्री अरहंतदेवको हमारा नमस्कार है।

सिद्धों का स्वरूप

अब सिद्धके स्वरूप पर विचार करते हैं—जो गृहस्थ अवस्थाको त्यागकर मुनिधर्म अङ्गीकार करते हैं और उस मुनि धर्मके साधनसे चार घातिया कर्मोंका विनाश कर पूर्वोक्त अनंत चतुष्टय भावको प्राप्त कर लेते हैं। फिर कुछ समय बाद चार अघातिया कर्मोंका भी विनाश कर[2] तथा परम औदारिक शरीरको भी छोड़कर अपने ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकके अग्रभागमें जाकर विराजमान[3] हो जाते हैं वे सिद्ध हैं। सभी पर द्रव्योंका संबंध छूट जानेसे उनको मुक्त अवस्थाकी प्राप्ति हो चुकी है। उनके आत्माके प्रदेशोंका आकार अपने अन्तिम शरीरसे कुछ कम पुरुषके आकारकी तरह अवस्थित रहता है[4]। प्रतिपक्षी आठों कर्मोंका नाश हो जानेसे उनके सम्यक्त्व, ज्ञान दर्शन, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनंतवीर्य और अव्याबाधत्व ये आठों आत्माके गुण पूर्ण रूपसे प्रकट हो चुके हैं[5]। [[6]इनके अतिरिक्त नोकर्मका संबंध हट जानेसे अमूर्तत्वादि आत्माके सम्पूर्ण धर्म भी उनके पूर्णतया प्रकट हो चुके हैं।] भावकर्मका अभाव हो जाने-

---

१—द्रव्यसं० गा० ५०, ति० प० प्र० अ० गा० २। २—ति० प० प्र० अ० गाथा १, धवला पु० पृ० ४८, गो० जी० गा० ६८, द्रव्यसं० गा० ५१,१४। ३—द्रव्यसं० गा० १४, गो० जी० .८, द्रव्यसं० गा० ५१, धवला प्र० पु० उद्धृत गा० पृ० ४८। ४—द्रव्यसं० गा० १४, ५१, धवला ० पृ० ४८। ५—गो० जी० गा० ६८, द्रव्यसं० गा० १४। ६—[ ] इस चिन्हके अन्तर्गत स्पष्टीकरण आगे परिशिष्टमें देखिए।

से उनका आकुलतारहित आनन्दमय शुद्धरूप परिणमन होता है। [उनके ध्यानसे भव्य जीवोंको स्वद्रव्य परद्रव्यका तथा उपाधिजन्य भावोंका ज्ञान होता है जो उनके लिए स्वयं सिद्धोंके समान बननेका एक साधन है।] इसलिए अपना जो शुद्ध स्वरूप साधन करनेके योग्य है उसको दर्शानेके लिए वे प्रतिबिंबके समान हैं। वे सिद्ध भगवान कृतकृत्य हो चुके हैं इसलिए वे अनंत काल तक ऐसे ही रहते हैं। इस तरह पूर्णताको प्राप्त सिद्ध भगवानको हमारा नमस्कार है।

मुनि सामान्य का स्वरूप

जो विरक्त हो समस्त परिग्रहको त्यागकर शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मको अंगीकार करते हैं तथा उसी शुद्धोपयोगके द्वारा अपनी आत्माका अनुभव करते हैं। एवं परद्रव्यमें अहंबुद्धि नहीं करते, ज्ञानादिक स्वभावको ही अपना मानते हैं, परभावोंमें ममत्व नहीं करते। अपने ज्ञानमें झलकनेवाले परद्रव्य और उनके स्वभावोंको जानते तो हैं परन्तु इष्ट अनिष्ट मानकर उनमें रागद्वेष नहीं करते। शरीरमें रोग बुढ़ापा आदि अनेक दशाएँ होती हैं, बाह्यमें भी नाना निमित्तोंका संयोग मिलता है, परन्तु उनमें कुछ भी सुख दुःख नहीं मानते। अपने योग्य बाह्य क्रियाओंको जैसे बनता है वैसे करते हैं बलात् नहीं करते। अपने उपयोगको भी बहुत इधर उधर नहीं लगाते। उदासीन होकर निश्चल वृत्ति धारण करते हैं। यदि कभी मंद रागके उदयसे शुभ उपयोग भी होता है तो उससे शुद्ध उपयोगके साधनोंमें ही अनुराग करते हैं। परन्तु उस राग भावको भी हेय जानकर दूर ही करना चाहते हैं। तीव्र कषायके उदयका अभाव हो जानेसे हिंसादि अशुभ उपयोग रूप परिणतिका तो उनके अस्तित्व ही मिट चुका है। इस तरह अंतरंग अवस्थाके होते हुए वे बहिरङ्गमें दिगम्बर सौम्य मुद्राके धारी होते हैं। शरीरका सजाना आदि विकारोंसे रहित होते हैं। वनखंड आदिमें रहते हैं। अट्ठाईस मूल गुणोंका अखण्ड पालन करते हैं। बाईस. परीषहोंको सहन करते हैं। बारह प्रकारके तपका आचरण करते हैं। कभी ध्यान मुद्रा धारणकर प्रतिमाकी तरह निश्चल हो जाते हैं तो कभी स्वाध्याय आदि बाह्य क्रियाओंमें लग जाते हैं और कभी मुनिधर्मके सहायक शरीरकी स्थितिके लिए उचित आहार विहारादि क्रियाएँ सावधानीसे करते हैं। ऐसे जैन मुनि होते हैं और उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।

आचार्यका स्वरूप

उनमें जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अधिकताके कारण प्रधान पदको पाकर संघके नायक बन जाते हैं। तथा मुख्य रूपसे तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण चारित्रमें ही मग्न रहते हैं किन्तु कभी २ धर्मके इच्छुक अन्य जीवोंको देखकर रागांशके उदयसे करुणाबुद्धिपूर्वक उन्हें उपदेश भी देते हैं। दीक्षा लेनेवालोंको दीक्षा देते हैं। अपना दोष निवेदन करनेवालोंको प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं इस तरह आचारका आचरण अर्थात् पालन करानेवाले आचार्य कहलाते हैं। उन्हें हमारा नमस्कार है।

१—द्रव्यसं० गा० ५२, बृ० द्रव्यसं० गा० ५२ टीका, धवला प्र० पु० उद्धरण गा० पृ० ४९।

इसी प्रकार जो बहुत जैन शास्त्रोंके ज्ञाता होनेके कारण संघमें पठन-पाठनके अधिकारी हो जाते हैं। समस्त शास्त्रोंका प्रयोजनभूत अर्थ जान एकाग्र होकर अपने स्वरूपका ध्यान करते हैं। और अगर कभी कषायांशोंके उदयसे आत्मामें उपयोग नहीं ठहरता तो उन शास्त्रोंको स्वयं पढ़ते हैं अथवा अन्य धर्मात्माओंको पढ़ाते हैं। इस तरह अपने पासके भव्योंको अध्ययन करानेवाले उपाध्याय कहलाते हैं। उन्हें हमारा नमस्कार है[1]।

उपाध्यायका स्वरूप

इन दो पदवी धारकोंके बिना अन्य समस्त जो मुनिपदके धारक हैं तथा आत्मस्वभावका साधन करते हैं[2]। पर द्रव्योंमें अपना उपयोग इष्ट अनिष्टकी कल्पनासे जिस प्रकार न फँसे न जाय उस प्रकार उस उपयोगका साधन करते हैं। कभी बाह्य तपश्चरण आदि क्रियाएँ करते हैं और कभी भक्ति वंदनादिक कार्योंमें लगते हैं। ऐसे आत्मस्वभावके साधकोंको साधु कहते हैं। उन्हें हमारा नमस्कार है[3]।

साधु परमेष्ठीका स्वरूप

इस प्रकार इन अरहंतादिकोंका स्वरूप वीतराग विज्ञानमय है। उसीके कारण वे स्तुति योग्य महान हुए हैं। अतः तत्त्वदृष्टिसे तो सब जीव समान हैं; परन्तु रागादि विकारोंसे या ज्ञानकी हीनतासे जीव निन्दा योग्य होते हैं और रागादिककी हीनता तथा ज्ञानकी विशेपता से स्तुतियोग्य होते हैं। इनमेंसे अरहंत और सिद्धोंके तो पूर्ण रागादिककी हीनता और ज्ञानकी विशेपता होनेके कारण सम्पूर्णतया वीतराग विज्ञानभाव मौजूद है और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंके एक देश रागादिककी हीनता तथा ज्ञानकी विशेषता होनेसे एक देश वीतराग विज्ञानभाव मौजूद है। इसलिए अरहंतादिक महान हैं और स्तुतिके योग्य होते हैं।

पूज्यताका कारण वीतरागविज्ञानता

इन अरहंतादि पदोंके बारेमें इतना विशेष समझना चाहिए कि प्रकृतमें अरहंत

१—ति० प० प्र० अ० गा० ४, द्रव्यसं० गा० ५३। २—प्र० सा० अ० ३ गा० ४। ३—धवला० पृ० ५१। ४—शंका-अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त अरहंत और सिद्धोंको नमस्कार करना तो ठीक है किन्तु जिन्होंने आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया है ऐसे आचार्यादिक तो देव नहीं कहला सकते अतः उन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिए।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि अपने अनन्तभेदों सहित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रका नाम देव है अत. उनसे विशिष्ट जो जीव है वह भी देव कहलाता है। अगर रत्न-त्रयको देव नहीं माना जायगा तो सभी जीव देव हो जायँगे। अतः आचार्यादिकको भी देव मानना चाहिए; क्योंकि रत्नत्रयका अस्तित्व अरहंतोंकी तरह उनमें भी पाया जाता है। यहाँ यह भी कहना उचित नहीं है कि सिद्धोंके रत्नत्रयसे आचार्यादिकोंके रत्नत्रयमें अन्तर है। ऐसा माननेपर आचार्यादिकोंके रत्नत्रयका अभाव ही हो जायगा।......

शंका—सम्पूर्ण रत्नत्रय देव कहलाते हैं एकदेश रत्नत्रय देव नहीं कहला सकते और चूंकि देश रत्नत्रय है अतः वे देव नहीं हैं।

[सम]ाधान—यह भी ठीक नहीं है। अगर एकदेश रत्नत्रयमें देवत्व नहीं माना जायगा तो सम्पूर्ण नहीं बन सकेगा। ध० प्र० पु० पृ० ५२, ५३।

पदसे मुख्यरूपसे तीर्थङ्कर केवलीका व गौणरूपसे सब केवलियोंका ग्रहण किया है। अरहंत यह शब्द प्राकृत भाषाका है। संस्कृत भाषामें उसका 'अर्हत्' यह रूप होता है। तथा सिद्ध संज्ञा चौदहवें गुणस्थानके अंत समयके बादसे प्रारम्भ होती है। जिन्हें आचार्यपद प्राप्त हुआ है वे संघमें रहें या एकाकी ध्यान करें अथवा अकेले विहार करें या आचार्योंमें भी प्रधान बनकर गणधर पदके धारक हो जाँय तो भी सभी आचार्य कहलाते हैं। पठन पाठन तो दूसरे मुनि भी करते हैं किन्तु जिन्हें आचार्यों द्वारा उपाध्याय पद दिया गया हो वे आत्मध्यानादि कार्य करते हुए भी उपाध्याय कहलाते हैं। जिनको कोई पदवी नहीं वे सब मुनि साधु संज्ञाके धारक समझना चाहिए। यहाँ ऐसा नियम नहीं है कि पंचाचारके पालनसे आचार्य पद होता है, पठन-पाठनसे ही उपाध्यायपद कहलाता है और मूलगुणोंके साधन करनेसे साधुपद होता है। यह तो शब्दनयसे केवल उनका अक्षरार्थ है किन्तु समभिरूढ़ नयसे पदवीकी अपेक्षा ही उनका आचार्यादिक नाम है। जैसे शब्दनयकी अपेक्षा गमन करनेवाली गौ कहलाती है। किन्तु गमन तो मनुष्यादिक भी करते हैं। इसलिए समभिरूढ़ नयसे पर्यायकी अपेक्षा गौ नाम है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।

परमेष्ठीके स्वरूपका उपसंहार

प्रश्न—यहाँ सिद्धोंके पहले अरहंतोंको नमस्कार करनेका क्या कारण है?

उत्तर—नमस्कार अपने प्रयोजन सिद्धिकी अपेक्षासे किया जाता है। अरहंतोंसे उपदेशादिक प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है इसलिए उन्हें पहले नमस्कार किया है[1]।

इस तरह इन अरहंतादिकोंके स्वरूपपर विचार किया क्योंकि स्वरूपका विचार करनेसे विशेष कार्यकी सिद्धि होती है। इन्हीं अरहंतादिकोंको परमेष्ठी भी कहते हैं क्योंकि जो सर्वोत्कृष्ट है उसीका नाम परमेष्ठी है। पाँच परमेष्ठियोंके समाहार अर्थात् समुदायका नाम पंच परमेष्ठी है। ऋषभ १, अजित २, संभव ३, अभिनंदन ४, सुमति ५, पद्मप्रभ ६, सुपार्श्व ७, चन्द्रप्रभ ८, पुष्पदंत ९, शीतल १०, श्रेयांस ११, वासुपूज्य १२, विमल १३, अनंत १४, धर्म १५, शांति १६, कुंथु १७, अर १८, मल्लि १९, मुनिसुव्रत २०, नमि २१, नेमि २२, पार्श्वनाथ २३ और महावीर २४ ये चौबीस तीर्थंकर इस भारतवर्षमें धर्म तीर्थके प्रवर्तक हुए हैं। इनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पंच कल्याणक हुए जिनमें इन्द्रादिकोंने उनकी विशेष पूजा की। वे अब सिद्धालयमें विराजमान हैं। उन्हें हमारा नमस्कार है। इसी तरह सीमंधर १, युगमंधर २, बाहु ३, सुबाहु ४, संजातक ५, स्वयंप्रभ ६, वृषभानन ७, अनंतवीर्य ८, सूरप्रभ ९, विशालकीर्ति १०, वज्रधर ११, चन्द्रानन १२, चन्द्रबाहु १३, भुजङ्गम १४, ईश्वर १५, नेमिप्रभु १६, वीरसेन १७,

भरत तथा विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकरोंका स्मरण

१—शंका—अशेष कर्म मलसे रहित सिद्धोंके रहने पर अरहंतोंको नमस्कार क्यों किया है? समाधान—यह कोई दोष नहीं है अधिक गुणवाले सिद्धोंसे अरहंतके प्रति अधिक श्रद्धा है। क्योंकि अरहंतोंके बिना हमको आप्त, आगम, पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता, और इनका ज्ञान हुआ अरहंतोंके प्रसादसे ही है अतः उपकारकी अपेक्षा प्रथम अरहंतोंको नमस्कार किया है। धवला प्र० पु० पृ० ५३।

महाभद्र १८, देवयश १९, अजितवीर्य २० ये बीस तीर्थङ्कर पंचमेरु संबंधी विदेह क्षेत्रोंमें अब भी केवलज्ञान सहित विराजमान हैं। उन्हें हमारा नमस्कार है। यद्यपि परमेष्ठी पदमें इनका अंतर्भाव हो जाता है तो भी वर्तमानमें इनकी विशेषता जानकर इन्हें अलगसे नमस्कार किया है।

जिन विम्ब तथा जिन-वाणीका स्मरण

तीनों लोकोंमें जो अकृत्रिम जिनविम्ब विराजमान हैं तथा मध्यलोकमें जो विधिपूर्वक[1] कृत्रिम जिनविम्ब हैं उनके दर्शनादिकसे अपने परका भेद विज्ञान होता है, कषाय मंद होकर शांत-भाव होते हैं, एक धर्मोपदेशको छोड़कर तीर्थङ्करोंके दर्शनकी तरह ही उनके दर्शनसे अपने हितकी सिद्धि होती है। उन जिनविम्बोंको हमारा नमस्कार है। इसी प्रकार केवली (अरहंत) भगवानकी दिव्यध्वनिसे दिए गए उपदेशके अनुसार गणधरोंने जो द्वादशाङ्गकी रचना की तथा उन्हींका अवलंबन लेकर आचार्योंने जो ग्रन्थादिकी रचना की है[2] वे सब जिनवचन हैं। ये स्याद्वाद चिन्हसे पहचानने योग्य हैं[3], न्याय मार्गसे अविरुद्ध हैं इसलिए प्रामाणिक हैं, जीवोंको तत्व ज्ञान करानेमें कारण हैं[4]। अतः उन जिन-वचनोंको भी हमारा नमस्कार है।

द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नमस्कार

तथा चैत्यालय, अर्जिका, उत्कृष्ट श्रावक आदि द्रव्य, तीर्थक्षेत्र, आदि क्षेत्र पञ्चकल्याणक आदि काल एवं रत्नत्रयादिक भाव जो मेरे लिए वन्दनीय हैं उन्हें मैं नमस्कार करता हूं। इनके अति-रिक्त जो थोड़े भी विनय करने योग्य हैं उनकी यथायोग्य विनय करता हूँ। इस तरह अपने इष्टोंका सन्मान कर यह मंगलाचरण किया है।

अब ये अरहंतादि इष्ट क्यों हैं इसपर विचार करते हैं। जिससे सुख हो तथा दुःखका विनाश हो उस कार्यका नाम प्रयोजन है। वह प्रयोजन जिससे सिद्ध हो वही अपना इष्ट है। इस समय हमारे वीतराग विशेष ज्ञानका होना ही प्रयोजन है क्योंकि इससे आकु-लतारहित सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है और सम्पूर्ण आकुलतारूप दुःखका विनाश होता है। इस प्रयोजनकी सिद्धि अरहंतादिकोंसे होती है इसलिए वे ही इष्ट हैं। लेकिन यह प्रयोजनसिद्धि अरहंतादिकोंसे कैसे होती है इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं—

अरहंतादिसे प्रयोजन सिद्धि

आत्माके परिणाम तीन तरहके होते हैं— संक्लेश, विशुद्ध (शुभ) और शुद्ध[5]। तीव्र कषायरूप संक्लेश परिणाम हैं, मन्द कषाय रूप विशुद्ध परिणाम हैं और कषायरहित शुद्ध परिणाम हैं। उनमेंसे संक्लेश परिमाणके द्वारा ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका, जो आत्माके वीतराग विशेष ज्ञानरूप स्वभावके घातक हैं, तीव्र बंध होता है और विशुद्ध परिणामोंसे मंद बंध होता है[6]। यदि वही विशुद्ध परिणाम प्रबल हुए तो पहलेके तीव्र बंधको भी मंद कर देते हैं। किन्तु शुद्ध परिणामोंसे बंध नहीं होता है केवल उन कर्मोंकी निर्जरा होती है। अरहंतादिकोंकी स्तुति आदि करनेके जो

१—मंत्रपूर्वक प्रतिष्ठादि विधानसे प्रतिष्ठित। २—ति० प० अ० १ गा० ८०। ३—गद्य-चिन्ता० मङ्गल श्लोक। ४—रत्न० श्रा० श्लोक ९। ५—प्र० सा० अ० १ गा० ९। ६—गो० क० गा० १६३।

भाव होते हैं वे कषायोंकी मंदताको लिये हुए होते हैं इसलिये वे विशुद्ध परिणाम हैं। तथा वे समस्त कषायोंको मिटानेके साधन हैं अतः शुद्ध परिणामोंके कारण हैं। अतः ऐसे परिणामोंसे जब अपने स्वभावके घातक घातिया कर्म क्षीण हो जाते हैं तब सहजमें ही वीतराग विशेष ज्ञान प्रगट हो जाता है। जितने अंशोंमें घातिया कर्म क्षीण होता है उतने ही अंशोंमें यह ज्ञान प्रगट होता है इस तरह अरहंतादिकोंसे अपने प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

अथवा अरहंतादिकोंकी मूर्तिको देखना, उनके स्वरूपका विचार करना, उनके वचन सुनना, उनके निकट रहना या उनके अनुसार प्रवृत्ति करना इत्यादि बातें भी तत्काल निमित्त बनकर

दर्शनस्मरण आदिसे कषायोंकी शिथिलता

रागादिकको कम करती हैं, जीव अजीवादिकका विशेष ज्ञान पैदा करती हैं, इसलिये इस तरहसे भी अरहंतादिकों द्वारा वीतराग विशेष ज्ञानरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

प्रश्न—इस प्रयोजन सिद्धिके अलावा क्या इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाले सुख-दुःखरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी इन अरहंतादिकोंसे होती है?

उत्तर—[अरहंतादिकोंकी स्तुति आदि करनेसे जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उनसे अघातिया कर्मोंकी साता आदि पुण्य प्रकृतियोंका बंध होता है। यदि उन विशुद्ध परिणामोंसे तीव्रता

अरहंतादिसे सांसारिक प्रयोजनकी सिद्धि

हुई तो पहलेकी बंधी हुई असाता आदि पाप प्रकृतियाँ भी मंद पड़ जाती हैं अथवा वे नष्ट होकर पुण्य प्रकृतिरूप परिणमन कर जाती हैं। उस पुण्यके उदयसे अपने आप इन्द्रिय सुखोंको पैदा करनेवाली सामग्री मिलती है और पापका उदय दूर हो जानेसे अपने आप दुःख पैदा करनेवाली सामग्री भी दूर हो जाती है। इस तरह इन्द्रियजन्य सुख-दुःखरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी इन अरहंतादिकोंसे होती है। अथवा जैन शासनके भक्त देवादिक भी उस भक्त पुरुषको अनेक इन्द्रियसुखोंको देनेवाली सामग्रियोंकी प्राप्ति कराते हैं, और दुःखदायक सामग्रीको दूर करते हैं। इस तरह भी उक्त प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

परन्तु इस प्रयोजनसे अपना कुछ हित नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा कषायभावोंसे बाह्य सामग्रियोंमें इष्ट अनिष्टपना मानकर स्वयं ही उनमें सुख दुःखकी कल्पना करता है। कषाय न

सांसारिक लाभसे हानि

हो तो बाह्य सामग्री कुछ भी सुख या दुःख नहीं देती। तथा कषायें सब आकुलतामय हैं, अतः इन्द्रियजनित सुखका चाहना और दुःखसे डरना केवल भ्रम है। वास्तवमें इस प्रयोजनको लेकर अरहंतादिकोंकी भक्ति करनेसे तीव्र कषायोंके कारण पाप बंध ही होता है। इसलिये अपनेको इस प्रयोजनका इच्छुक होना उचित नहीं; क्योंकि अरहंतादिकोंकी भक्तिसे ऐसे प्रयोजन तो अपने आप सिद्ध हो जाते हैं।]

१—मूलाचा० आवश्यक अ० श्लो० ७२।

इस प्रकार अरहंतादिकोंको परम इष्ट मानना योग्य है। यह अरहंतादिक ही परम मंगल हैं, इनमें भक्ति भाव होनेसे परम मंगल होता है। 'मंग' का अर्थ है सुख, उसको जो 'लाति' अर्थात् देवे वह मंगल है। अथवा 'मं' का अर्थ है पाप, उसको जो 'गालयति' अर्थात् गलावे—नष्ट करे उसे मंगल कहते हैं। अरहंतादिकोंकी भक्तिसे इन दोनों कार्योंकी सिद्धि होती है अतः उनमें परम मंगलपना मौजूद है।

अरहंतादि ही परम मंगल हैं

प्रश्न—ग्रन्थके आरम्भमें आपने मंगलाचरण किस लिये किया है।

उत्तर—ग्रन्थ सुखसे समाप्त हो, पापके उदयसे उसमें कोई विघ्न न आवे, इसलिये यहाँ पहले मंगलाचरण किया है।

प्रश्न—जो दूसरे मतवाले इस प्रकारका मंगलाचरण नहीं करते उनके भी ग्रन्थोंकी समाप्ति और विघ्नोंका विनाश देखा जाता है। इसमें क्या कारण है?

उत्तर—दूसरे मतवाले जो ग्रन्थ बनाते हैं उसमें मोहके तीव्र उदयसे मिथ्यात्व भावोंका पोषण करनेवाले विपरीत अर्थोंकी रचना रहती है इसलिये ऐसे ग्रन्थोंकी निर्विघ्न समाप्ति तो बिना वैसे मंगलाचरणके ही हो सकती है; क्योंकि इस प्रकारके मंगलाचरणसे यदि उसका मोह मंद हो जाय तो वैसा विपरीत कार्य उससे कैसे बने? किन्तु यह जो ग्रन्थ बनाया जा रहा है, इसमें मोहकी मंदतासे वीतराग तत्वज्ञानका पोषण करने वाले समीचीन अर्थ रहेंगे। इसलिये इसकी निर्विघ्न समाप्ति ऐसे मंगलाचरणसे ही हो सकती है। अगर ऐसा मंगलाचरण न किया जाय तो मोहकी तीव्रता रहनेसे ऐसा उत्तम कार्य कैसे बन सकता है?

अन्यमतोंके मंगलाचरण से वीतरागतत्वज्ञान पोषणरूप कार्यका निषेध

प्रश्न—लेकिन जो ऐसा मंगलाचरण नहीं करते उनके भी सुख देखा जाता है दुःख नहीं, और जो ऐसा मंगलाचरण करते हैं उनके भी दुःख देखा जाता है सुख नहीं। इसलिये मंगलपना कैसे संभव हो सकता है?

उत्तर—जीवोंके संक्लेश और विशुद्ध परिणाम अनेक प्रकारके हैं। उन परिणामोंके द्वारा पहले अनेक समयोंमें बांधे हुए कर्म एक समयमें उदय आते हैं। जैसे किसीके पहलेसे ही बहुत-सा धन इकट्ठा है। वर्तमानमें वह नहीं भी कमा रहा तो भी उसके धन देखा जाता है. कर्जा नहीं देखा जाता। इसी प्रकार जिसपर पहलेसे ही बहुत-सा कर्जा है वह कमाते हुए भी कर्जदार और निर्धन देखा जाता है। लेकिन विचार कर देखा जाय तो कमाना धन होनेका ही कारण है कर्जका कारण नहीं। उसी प्रकार जिनके पहलेका बंधा हुआ पुण्य अधिक है उनके ऐसा मंगलाचरण किये बिना ही सुख देखा जाता है; दुःख नहीं देखा जाता और जिनके पहलेका बंधा हुआ

मंगलाचरण करने न करनेसे ही सुख दुःख-की सम्भवता

१—धवला प्र० पु० पृ० ३२, धवला प्र० पु० उद्धृत गा० पृ० ३४, ति० प० अ १ गा० ९ व १५, आप्त परीक्षा पृ० ३।

अधिक पाप है उनके मंगलाचरण करते हुए भी सुख नहीं किन्तु दु:ख देखा जाता है। परन्तु विचार किया जाय तो मंगलाचरण करना सुखका ही कारण है दु:खका कारण नहीं इसलिये पूर्वोक्त मंगलको मंगलपना माननेमें कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न—आपकी यह बात तो मानी पर ऐसा भी देखा गया है कि जिन शासनके भक्त देवादिकोंने मंगल करने वालेकी सहायता नहीं की और न मंगल नहीं करनेवालोंको दण्ड ही दिया। इसका क्या कारण है?

उत्तर—जीवोंके सुख दुखका कारण अपने कर्मका उदय है उसीके अनुसार बाह्य-निमित्त मिलता है। इसलिये जिसके पापका उदय है उसे सहायताका निमित्त नहीं मिलता और जिसके पुण्यका उदय है उसे दण्डका निमित्त नहीं मिलता। किन्तु यह निमित्त मिलता कैसे है यहाँ यह बतलाते हैं—

देवादिक अपने क्षयोपशम ज्ञानसे सबको एक साथ नहीं जान सकते इसलिये मंगल करनेवालेका ज्ञान कभी किसी ही देवको होता है। अत: जब तक उसका ज्ञान न हो तब तक उसे सहायता या दंड नहीं दिया जा सकता। देवको ज्ञान भी हो लेकिन यदि वह अति मंदकषायी हो तो सहायता देने या दण्ड देनेके परिणाम ही उसके नहीं होते। अथवा यदि तीव्र कषायी हो तो उसके धर्मानुराग नहीं हो सकता। तथा अगर उस कार्य को करने के मध्यमकषाय रूप परिणाम हुये और अपनी शक्ति न हुई तो भी क्या कर सकता है? इस लिये सहायता करने या दण्ड देने का निमित्त नहीं बनता। हाँ यदि अपनी शक्ति हो और धर्मानुराग रूप मध्यम कषायके उदय-से वैसे परिणाम हो तथा उस समय अन्य जीवोंके धर्मरूप कर्तव्यका उसे ज्ञान हो, तब कोई देवादिक किसी धर्मात्माकी सहायता अथवा किसी अधर्मात्माको दंड देता है। इसलिये इस तरह-का कार्य होनेका कुछ नियम नहीं। इसीलिये कार्य करने या न करनेवालेको सहायता या दंड-का निमित्त नहीं बनता। यहाँ इतना और समझना चाहिये कि सुख दु:ख होने, सहायता करने या दु:ख दिलानेकी इच्छा कषाय रूप है, उसी समय या आगे चलकर दु:खदायक है। इसलिये ऐसी इच्छाको छोड़कर हमने तो एक वीतराग विशेष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही अरहंतादिकों-को नमस्कारादि रूप मंगल किया है।

इस तरह मंगलाचरण करके अब सार्थक नामवाले मोक्षमार्ग प्रकाश ग्रंथकी रचना करते हैं। लेकिन इसके पहले 'यह ग्रंथ प्रमाण है' ऐसी प्रतीति करानेके लिये पहले पूर्वपरम्पराका निरूपण करते हैं—

मोक्षमार्ग प्रकाशकी प्रामाणिकता और आगमपरंपरा

अकार आदि अक्षर अनादिनिधन हैं। किसीके किये हुए नहीं हैं। इनका लिखना तो अपनी इच्छानुसार अनेक प्रकारसे होता है। किन्तु बोलना सब जगह सदा एकसा होता है। कहा

भी है—'सिद्धो वर्णः समाम्नायः'[1] अर्थात् अक्षरोंकी परंपरा स्वयं सिद्ध है। इन अक्षरोंसे उत्पन्न सत्य अर्थके बतलानेवाले पदोंके समूहका नाम श्रुत है। वह भी अनादि निधन है। जैसे 'जीव' यह अनादिनिधन पद जीवका बतलानेवाला है। इसी प्रकार अपने-अपने सत्य अर्थके बतलानेवाले अनेक पदोंके समूहका नाम श्रुत समझना चाहिये। तथा जिस प्रकार मोती तो स्वयं सिद्ध है लेकिन कोई थोड़े, कोई अधिक, कोई किसी प्रकार, कोई किसी प्रकार उन मोतियोंको गूँथकर गहना बनाता है। वैसे ही पद तो स्वयं सिद्ध हैं, लेकिन कोई थोड़े, कोई अधिक, कोई किसी प्रकार, कोई किसी प्रकार उन पदोंको जोड़कर ग्रन्थ बनाता है। यहां मैं भी उन्हीं सत्यार्थ पदोंको अपनी बुद्धिके अनुसार जोड़कर यह ग्रन्थ बनाता हूँ। अपनी बुद्धिसे कल्पित झूठे अर्थके सूचक पद इसमें नहीं जोड़ रहा हूँ, इसलिये यह ग्रन्थ प्रमाण समझना चाहिये।

वर्णोंकी अनादि निधनता

प्रश्न—उन पदोंकी परंपरा इस ग्रन्थ तक कैसे चलती रही है?

उत्तर—अनादिसे तीर्थङ्कर केवल ज्ञानी होते चले आरहे हैं। उन्हें सबका ज्ञान होनेसे उन पदों और उनके अर्थोंका भी ज्ञान होता है। उन्हीं तीर्थङ्कर केवलियोंकी दिव्यध्वनिसे ऐसा उपदेश होता है जिससे अन्य जीवोंको भी उन पदों और अर्थोंका ज्ञान हो जाता है। उसी उपदेशके अनुसार गणधर देव अंग प्रकीर्णक रूप ग्रन्थकी रचना करते हैं। और उसके अनुसार अन्य आचार्यादिक नाना प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना करते हैं। उनका कोई अभ्यास करता है, कोई पढ़ता है, कोई सुनता है। इस तरह पदोंकी परंपराका मार्ग चला आता है।

सत्यार्थपदोंकी परंपरा

इस समय इस भरत क्षेत्रमें अवसर्पिणीकाल है। इसमें चौवीस तीर्थङ्कर हुए। इनमें अंतिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर थे। जिन्होंने केवलज्ञानसे विभूषित होकर जीवोंको दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश दिया। उसको सुनकर गौतम गणधरने अगम्य अर्थोंको भी जानकर धर्मानुरागके वशसे अङ्ग प्रकीर्णक ग्रन्थोंकी रचना की[2]।

महावीरसे द्वादशाङ्गका उद्भव तथा अंग-श्रुतकी परंपरा

भगवान महावीर स्वामीका निर्वाण हो जानेके बाद इस पंचम कालमें तीन केवली हुए—गौतम, सुधर्माचार्य और जम्बू स्वामी। इसके बाद कालदोपके प्रभावसे केवलियोंका तो अभाव हो गया। उसके बाद कुछ समय तक द्वादशाङ्गके पाठी श्रुतकेवली रहे। बादमें उनका भी अभाव हो गया। फिर कुछ काल तक थोड़े अंगोंके पाठी रहे[3]। उन्होंने यह विचार

१—का० रूपमा० सूत्र १। २—ति० प०, अ० १ गा० ७५, ७६, ७७, ७८, ७९। ३—महावीरके निर्वाणके बाद ६२ वर्षमें तीन केवली हुए। अंतिम केवली जंबूस्वामीके निर्वाण होनेके बाद निम्नलिखित पांच द्वादशाङ्गके पाठी श्रुतकेवली हुए—नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु। यह पांचों श्रुतकेवली १०० वर्षमें हुए। इनके बाद १८३ वर्षमें विशाख, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, विद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य दशपूर्वके पाठी हुए। इनके बाद २२० वर्षमें नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, कंस यह पांच आचार्य ११ अंगके पाठी रहे। इनके बाद

कर कि भविष्यमें हम जैसे भी ज्ञानी नहीं रहेंगे ग्रन्थ-रचना प्रारंभकी और द्वादशाङ्गके अनुकूल प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोगके अनेक ग्रन्थ बनाए।

बादमें जब उनका भी अभाव हो गया तब आचार्यादिकोंके द्वारा उनके अनुसार अथवा उनके अनुसारी ग्रन्थोंके अनुसार बनाये गये ग्रन्थोंकी प्रवृत्ति रही। उनमेंसे भी कालदोषसे दुष्टों द्वारा कितने ही ग्रन्थोंका विनाश कर दिया गया और जो महान ग्रन्थ थे वे पठन-पाठनमें न आनेसे वैसे ही लुप्त हो गए। कुछ महान ग्रन्थ मौजूद हैं पर बुद्धिकी मंदतासे उनका पठन-पाठन नहीं होता। जैसे दक्षिणमें गोम्मट स्वामीके निकट मूडबिद्री नगरमें धवल, महाधवल और जयधवल[1] ग्रन्थ पाए जाते हैं लेकिन उनका दर्शनमात्र होता है। बहुतसे ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनका बुद्धिसे अभ्यास हो सकता है लेकिन उनमें भी कुछ ही ग्रन्थोंका अभ्यास हो पाता है। इस तरह इस निकृष्ट कालमें उत्कृष्ट जैनमतका ह्रास तो हुआ, किन्तु परम्परासे अब भी जैनशास्त्रोंमें सत्य अर्थको बतलानेवाले पदोंका सद्भाव मौजूद है।

आरातीय आचार्यों द्वारा ग्रन्थ रचना तथा काल-दोष और बुद्धिमान्द्य-से उनका विनाश

हमने यहाँ इस कालमें मनुष्य पर्याय प्राप्त की है। इसमें पूर्वसंस्कारसे अथवा अच्छा होनहार था इसलिये हमने भी जैन ग्रन्थोंके अभ्यास करनेका प्रयत्न किया। अतः व्याकरण, न्याय, गणित आदिके उपयोगी ग्रन्थोंका कुछ अभ्यास कर टीका सहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र, क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन, आदि शास्त्रों तथा श्रावक मुनि संबंधी आचारके प्ररूपक अनेक शास्त्रों एवं अच्छी कथासहित पुराणादि शास्त्रोंका अपनी बुद्धिके अनुसार हमने अभ्यास किया है। उससे हमें भी कुछ सत्य अर्थवाले पदोंका ज्ञान हुआ है। किन्तु इस निकृष्ट समयमें हम जैसे मंदबुद्धियोंसे भी हीन बुद्धिके धारक बहुतसे मनुष्य देखे जाते हैं। उनको उन पदोंका ज्ञान करानेके लिये धर्मानुरागवश देश भाषामें ग्रन्थ बनानेकी हमारी इच्छा हुई है। उसी इच्छासे हम यह ग्रन्थ बना रहे हैं। इसलिये इसमें भी अर्थ सहित उन्हीं पदोंका प्रकाशन होगा। केवल इतना अन्तर है कि प्राकृत और संस्कृतके शास्त्रोंमें जिस प्रकार प्राकृत और संस्कृतके शब्द लिखे गए हैं उसी प्रकार यहाँ अपभ्रंश भाषाके अथवा यथार्थपनेको लिये हुए देशभाषाके पद लिखे जाँयगे। लेकिन अर्थमें कोई अन्तर न होगा। इस तरह इस ग्रन्थ तक उन सत्यार्थ पदोंकी परम्परा मौजूद है।

ग्रन्थकर्ता द्वारा जैनागम अभ्यासकी सूचना तथा शास्त्र रचनेका निश्चय

---

११८ वर्षमें सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य यह चार आचार्य संपूर्ण आचारांगके तथा शेष ११ अंग और चौदह पूर्वोंके एकदेशके पाठी हुए। इस तरह ६८३ वर्ष तक अंगज्ञानकी प्रवृत्ति रही। ति० प०, अ० ४ गा० १४८२–१४९२।

[1]—धवला टीका अमरावतीसे, जयधवला टीका भा० व० दि० जैन संघकी तरफसे तथा महाधवला टीका भारतीय ज्ञान पीठ काशीसे हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो रहे हैं।

प्रश्न—सत्यार्थ पदोंकी परम्परा मौजूद होनेपर भी उनमें असत्यार्थ पद न मिले होंगे इसका क्या विश्वास है ?

उत्तर—असत्यार्थ पदोंकी रचना अत्यंत तीव्र कषाय हुए बिना नहीं होती ; क्योंकि जिस असत्य रचनाकी परम्परासे अनेक जीवोंका अहित हो और स्वयंको इस महाहिंसाके पापसे नरक निगोदोंमें जाना पड़े, ऐसा विपरीत कार्य क्रोध, मान, माया और लोभकी अत्यंत तीव्रता होनेपर ही हो सकता है। ऐसा तीव्रकषायी जैन धर्ममें होता नहीं; क्योंकि मूल उपदेशदाता तीर्थङ्कर केवली तो सर्वथा मोहका नाश हो जानेसे सब कषायोंसे रहित ही हैं। तथा ग्रन्थकर्ता गणधर और आचार्य मोहके मंद उदयसे सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहको छोड़कर अत्यंत मंद कषायी हो जाते हैं। उनके उस मंद कषायसे कुछ शुभ उपयोगकी ही प्रवृत्ति पाई जाती है और कोई उसका प्रयोजन नहीं। इसी प्रकार कोई श्रद्धानी गृहस्थ ग्रन्थ बनाता है तो वह भी तीव्र कषायी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि वह तीव्र कषायी हो तो संपूर्ण कषायोंके नाश करनेवाले जैनधर्ममें उसकी रुचि कैसे हो सकती है ? अथवा जो मोहके उदयसे दूसरे कार्यों द्वारा कषायोंका पोषण करता है तो करे परन्तु यदि जिनेन्द्रकी आज्ञाका भंगकर अपनी कषायोंका पोषण करता है तो उसके जैनीपना नहीं है। इसलिये जैनधर्ममें ऐसा कोई तीव्र कषायी नहीं होता जो असत्यपदोंकी रचनाकर अपना और दूसरेका भव २ में बुरा करे।

असत्यार्थ पदोंके मिलने-का निषेध

प्रश्न—यदि कोई तीव्र कषायी झूठा जैनी असत्यार्थ पदोंको जैनशास्त्रोंमें मिला दे और बादमें उसकी परंपरा चल जाय तो क्या होगा ?

उत्तर—जैसे कोई सच्चे मोतियोंके गहनेमें झूठे मोती मिला दे परंतु उनकी आपसमें झलक मिलती न देख पारखी परीक्षा करके नहीं ठगाया जाता। कोई भोला ही मोतीके नामसे ठगाया जाता है। और न उन झूठे मोतियोंकी परंपरा ही चल पाती है ; क्योंकि कोई न कोई शीघ्र ही उन झूठे मोतियोंका भंडाफोड़ कर देता है। वैसे ही कोई जैनशास्त्रोंके सत्यार्थ पदोंमें असत्यार्थ पद मिला भी दे परन्तु जैनशास्त्रोंके पदोंमें तो कषायोंके मिटाने अथवा लौकिक कार्योंके घटानेका प्रयोजन है और उस पापीने जो असत्यार्थ पद मिलाए हैं उनमें कषाय पोषणका और लौकिक कार्योंके साधनेका प्रयोजन है। इस तरह दोनोंका प्रयोजन आपसमें न मिलता देख परीक्षा करनेवाला ज्ञानी ठगाया नहीं जाता। कोई मूर्ख ही जैनशास्त्रोंके नामसे वहां ठगाया जाता है। और न उन सत्यार्थ पदोंकी परंपरा ही चलती है ; क्योंकि कोई न कोई शीघ्र ही उनका भंडाफोड़ कर देता है। इसके अतिरिक्त ऐसे तीव्र कषायी झूठे जैनी इस निकृष्ट कालमें ही होते हैं। उत्कृष्ट क्षेत्र काल बहुत है उनमें नहीं होते। इसलिये जैनशास्त्रोंमें असत्यार्थ पदोंकी परम्परा नहीं चलती यह निश्चित है।

प्रश्न—कषायोंसे तो असत्यार्थ पद न मिलावे परन्तु क्षयोपशम ज्ञानकी मंदतासे अन्यथा समझकर ही यदि असत्यार्थ पद मिलादे तो उसकी परम्परा तो चलेगी ही।

उत्तर—मूलग्रन्थकर्ता तो गणधर देव हैं, वे स्वयं चार ज्ञानके धारक हैं और साक्षात् केवलीकी दिव्यध्वनि रूप उपदेश सुनते हैं। उसके अतिशयसे उन्हें सत्यार्थकी ही प्रतीति होती है, और उसीके अनुसार वे ग्रन्थ बनाते हैं। इसलिये उन ग्रन्थोंमें तो असत्यार्थ पद गूँथे ही कैसे जा सकते हैं? उनके बाद ग्रन्थ बनानेवाले आचार्य हैं वे भी यथायोग्य सम्यग्ज्ञानके धारक हैं और उन मूल ग्रन्थोंकी परम्पराके अनुसार ही ग्रन्थ बनाते हैं। जिन पदोंका उन्हें ज्ञान नहीं होता उनकी वे रचना नहीं करते और जिन पदोंका ज्ञान होता है उनकी सम्यग्ज्ञान प्रमाणसे ठीक ठीक रचना करते हैं। इसलिये प्रथम तो ऐसी सावधानी रखते हुए असत्यार्थ पद रचे नहीं जा सकते। और यदि कभी उन्हें पूर्व ग्रन्थोंके पदोंका अर्थ अन्यथा ही प्रतीत हुआ हो और वह उनकी प्रामाणिकतामें भी आ जाय तो इसमें कुछ वश नहीं है। परन्तु इस तरह अन्यथा अर्थकी प्रतीति किसी किसीको ही होती है सबको नहीं। लेकिन जिन्हें सत्यार्थकी प्रतीति हुई हो वे उसका निषेधकर उसकी परम्परा चलने नहीं देते। इसमें भी इतना और समझना चाहिये कि जिन देव, गुरु, धर्मादिक अथवा जीवादिक तत्त्वोंको अन्यथा समझनेसे जीवका अकल्याण हो उन्हें तो श्रद्धालु जैन अन्यथा नहीं जानता; क्योंकि इनका जैनशास्त्रोंमें खूब कथन है। और जिनको भ्रमसे अन्यथा समझ ले, वे यदि ऐसे सूक्ष्म अर्थ हों कि जिन्हें मान लेनेपर जीवका बुरा न हो और वे उसकी प्रामाणिकतामें भी आ जाँय तो भी कोई विशेष दोष नहीं है। इस ही के समर्थनमें गोम्मटसारमें कहा है—

'सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥'

[गो० जी० गा० २७]

अर्थात्—'सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट सत्य प्रवचनका श्रद्धान करता है और विना ही जाने गुरुकी आज्ञासे असत्यका भी श्रद्धान कर लेता है।'

ज्ञान तो हमारे भी विशेष नहीं है और जिन आज्ञा भंग करनेका बहुत डर है। परन्तु उपर्युक्त विचारके बलसे ही हम यह ग्रन्थ बनानेका साहस कर रहे हैं। इसलिये इस ग्रन्थमें पूर्वग्रन्थोंके अनुसार ही वर्णन करेंगे, अथवा कहीं पूर्वग्रन्थोंमें सामान्य गूढ़ वर्णन है तो उसका विशेष रूपसे वर्णन करेंगे। इस तरह वर्णन करनेमें तो बहुत सावधानी रक्खूंगा, लेकिन सावधानी करते हुए भी यदि कहीं सूक्ष्म अर्थका अन्यथा वर्णन हो जाय तो विशेष बुद्धिमान् उसे सम्हालकर शुद्ध कर लें, यह मेरी प्रार्थना है। इस प्रकार शास्त्र बनानेका मैंने निश्चय किया है।

शास्त्र, वक्ता तथा श्रोताका स्वरूप

अब कैसे शास्त्र बांचने सुननेके योग्य हैं? और उन शास्त्रोंके वक्ता और श्रोता कैसे होने चाहियें. इसका वर्णन करते हैं—

जो शास्त्र मोक्षमार्गका कथन करते हों वे ही बांचने सुननेके योग्य हैं, क्योंकि यह जीव

संसारमें अनेक दुःखोंसे पीड़ित है, अगर यह शास्त्ररूपी दीपकसे मोक्षमार्गको पाले तो उस मार्गमें स्वयं गमन करके दुःखोंसे मुक्त हो सकता है। चूंकि मोक्षमार्ग एक वीतराग भाव है इसलिये जिन शास्त्रोंमें किसी प्रकार राग, द्वेष और मोहरूप भावोंका निषेधकर वीतराग भावोंका प्रयोजन बतलाया गया हो उन्हींका पढ़ना सुनना उचित है। तथा जिन शास्त्रोंमें श्रृङ्गार भोग कौतूहलादिके पोषणसे रागभावोंका, हिंसा युद्धादिकके पोषणसे द्वेष भावोंका और अतत्त्वश्रद्धान आदिके पोषणसे मोहभावोंका प्रयोजन प्रकट किया गया हो वे शास्त्र नहीं शस्त्र हैं; क्योंकि जिन राग द्वेष मोह भावोंके कारण जीव अनादिसे दुखी है उनका संस्कार इस जीवके बिना सिखाये ही था। उन्हींका इन शास्त्रोंने फिरसे पोषण किया, भलाईकी क्या शिक्षा दी? केवल जीवके स्वभावका घात ही किया। इसलिये उनका बाँचना सुनना उचित नहीं। बांचने सुनने की तरह उनका संग्रह करना, सीखना, सिखाना, विचारना, लिखाना आदि कार्य भी उपलक्षणसे[1] त्याज्य समझना चाहिये। इसतरह साक्षात् या परंपरासे वीतराग भावोंका पोषण करनेवाले शास्त्र ही अभ्यास करनेके योग्य हैं। अब उन शास्त्रोंके वक्ताओंका स्वरूप बतलाते हैं।

शास्त्रका स्वरूप

पहले तो वक्ता जैनधर्मका श्रद्धालु हो क्योंकि जो स्वयं अश्रद्धालु है वह दूसरोंको श्रद्धालु कैसे बना सकता है? श्रोता तो स्वयं ही हीनबुद्धिके धारक होते हैं। उन्हें कोरी युक्तिसे कोई श्रद्धालु कैसे कर सकता है जब कि श्रद्धान ही सब धर्मोका मूल है। दूसरे, वक्ता शास्त्र बांचनेयोग्य बुद्धि रखता हो; क्योंकि बिना ऐसी शक्तिके वह वक्तापनेका अधिकारी हो नहीं सकता। तीसरे, सम्यग्ज्ञानसे सब प्रकारके व्यवहार निश्चयादिरूप व्याख्यानका अभिप्राय पहचानता हो; क्योंकि अगर ऐसा न होगा तो कुछका कुछ प्रयोजन प्रगट करके विपरीत प्रवृत्ति कराएगा। चौथे, भगवान्की आज्ञा भंग करनेसे डरता हो, अन्यथा किसी भी अभिप्रायसे सूत्रविरुद्ध[2] उपदेश देकर जीवोंका बुरा कर सकता है। कहा है—

वक्ताका स्वरूप

'बहुगुणविज्जाणिलयो, असुत्तभासी तहावि मुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो वि हु विग्घयरो विसहरो लोए॥'

अर्थात्—'बहुतसे क्षमादिक गुण और व्याकरण आदि विद्याओंका अधिकारी होकर भी जो उत्सूत्रभाषी है वह वक्ता त्यागनेके योग्य है। जैसे सर्प यद्यपि उत्कृष्टमणिका धारक हो तो भी लोकमें बाधा ही पैदा करता है'।

पांचवें, शास्त्र पढ़कर आजीविका आदि लौकिक कार्य साधनेकी इच्छा न रखता हो; क्योंकि आशावान वक्ता यथार्थ उपदेश दे नहीं सकता। उसको तो श्रोताओंके अभिप्रायानुसार कुछ व्याख्यान कर अपना मतलब साधना रहता है। वक्ताका पद श्रोताओंसे ऊँचा रहता है किन्तु लोभी वक्ता स्वयं अधीन हो जाता है और श्रोता ऊँचे हो जाते

१—'बिल्लीसे दूधकी रक्षा करना' यहाँ बिल्ली की तरह दूधको हानि पहुँचाने वाले अन्य कुत्ते आदि जानवरोंका भी ख्याल रखना उपलक्षण कहलाता है। २—शास्त्र विरुद्ध।

हैं। छठे, वक्तामें क्रोध और मानकी तीव्रता न होनी चाहिये। क्योंकि ऐसे क्रोधी मानीकी निन्दा होती है और श्रोता उससे डरते रहनेके कारण अपना हित नहीं कर सकते। सातवें, वक्ता स्वयं ही अनेक प्रश्न उठाकर उनका समाधान करता हो। तथा दूसरे कोई श्रोता अनेक तरहसे विचार कर प्रश्न करते हों तो मिष्ट वचनोंसे उनका संदेह दूर होने तक समाधान करनेकी क्षमता रखता हो। यदि उत्तर देनेकी सामर्थ्य न हो तो कह दे कि इसका मुझे ज्ञान नहीं, किसी विशेष ज्ञानीसे पूंछकर मैं तुम्हें उत्तर दूँगा, अथवा समय पाकर कोई विशेष ज्ञानी तुम्हींको मिले तो पूँछकर अपना सन्देह दूर कर लेना और मुझे भी बता देना। क्योंकि इतनी सरलता हुए बिना अभिमानके वश अपनी पंडिताई बतानेके लिये वक्ता शास्त्र विरुद्ध उपदेश दे सकता है। इससे विपरीत श्रद्धान हो जानेके कारण श्रोताओंका बुरा होगा और जैनधर्मकी निन्दा होगी। अथवा श्रोताओंका संदेह दूर न होगा और संदेह दूर हुए बिना उनका कल्याण भी कैसे होगा। अतः जैन धर्मकी प्रभावना भी न हो सकेगी।

आठवें, वक्ता लोकमें निन्दनीय अनीतिरूप कार्योंको न करता हो; क्योंकि लोकनिंद्य कार्योंके करनेसे वह हँसीका पात्र होगा। तब उसके वचन कौन प्रमाण मानेगा, वह केवल जिन-धर्मको लजावेगा। नवें, वक्ताका कुल हीन न हो, अंगहीन न हो, स्वरभंग न हो, मिष्ट वचन हों, प्रभुत्व हो जिससे वह लोकमान्य हो सके; अन्यथा वक्तापनेका बडप्पन उसे शोभा नहीं देगा। वक्तामें ये गुण अवश्य होने चाहियें। जैसा कि आत्मानुशासनमें भी कहा है—

'प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥' [श्लो० ५]

अर्थात्—'बुद्धिमान हो, समस्त शास्त्रोंका रहस्य जानता हो, लोकमर्यादाको समझने वाला हो, आशारहित हो, सूझ अच्छी हो, शांत हो, प्रश्न होनेसे पहले ही जिसे उत्तर सूझ जाता हो, अधिकतर प्रश्नोंका सहन करने वाला हो; प्रभु हो, न वह दूसरेकी निन्दा करता हो और न दूसरे उसकी निन्दा करते हों। पराए मनको हरण करने वाला हो, गुणवान हो, स्पष्ट तथा मीठा बोलता हो, ऐसा वक्ता धर्मकथा कहे।'

इसके अतिरिक्त विशेष वक्ता वे हैं जिन्हें व्याकरण न्यायादिक बड़े २ जैन शास्त्रोंका विशेष ज्ञान हो, इससे उनका वक्तापना और भी शोभित होता है। लेकिन इस तरह विशेष वक्ता होकर भी आध्यात्मिक रससे जिन्होंने अपने यथार्थ स्वरूपका अनुभव नहीं किया वे जिनधर्मके मर्मको नहीं जानते, केवल रूढ़िसे ही वक्ता हैं। आध्यात्मिक रसमय सच्चे जैनधर्मका स्वरूप उनके द्वारा कैसे प्रकट हो सकता है? इसलिए आत्मज्ञानी होने पर ही सच्चा वक्तापना हो सकता है। प्रवचनसारमें भी ऐसा ही कहा है कि आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा संयमभाव

यह तीनों ही यदि आत्मज्ञानसे शून्य हों तो कार्यकारी नहीं हैं[1]। दोहापाहुड़में भी ऐसा ही लिखा है :—

'पंडिय पंडिय पंडिय कण छोड़ि वितुस कंडिया।
पय अत्थं तुट्ठोसि परमत्थ ण जाणइ मूढोसि॥' [श्लो० ८४]

'अरे पंडित! तू कण छोड़कर तुष ही इकट्ठा करता है। तू अर्थ और शब्दमें तो संतुष्ट है किन्तु परमार्थ नहीं समझता, इसलिये मूर्ख ही है।'

चौदहविद्याओंमें भी पहले अध्यात्म विद्या ही प्रधान बतलाई है इसलिये अध्यात्म रसका रसिया ही जिन धर्मके रहस्यका वक्ता होता है। इनके अतिरिक्त जो बुद्धि ऋद्धिके धारी हैं अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञानके स्वामी हैं वे महावक्ता हैं। इस तरह वक्ताओंके जो विशेष गुण बतलाए गये हैं यदि उनका धारी कोई विशिष्ट वक्ता मिल जाय तो बहुत अच्छा है। अन्यथा श्रद्धान आदि गुणोंके धारी वक्ताओंके मुखसे ही शास्त्र सुनना चाहिये। ऐसे वक्ता मुनि हों या श्रावक उनके मुखसे शास्त्र सुनना योग्य है। लेकिन केवल रूढ़िसे या शास्त्र सुननेके प्रलोभनसे श्रद्धान आदि गुणरहित पापी पुरुषोंके मुखसे शास्त्र सुनना उचित नहीं। कहा है—

तं जिणआणपरेण धम्मो सोयव्व सुगुरुपासम्मि
अह उचिओ सद्धाओ सस्सुवएसस्स कहणाओ॥ १॥

अर्थात् 'जो जिन आज्ञा माननेमें तत्पर है उसे निर्ग्रन्थ सुगुरुके पास ही धर्म सुनना उचित है। अथवा उस सुगुरुके उपदेशको ही कहनेवाले उचित श्रद्धानी श्रावकसे धर्म सुनना चाहिये'।

इसतरह जो वक्ता धर्मबुद्धिसे उपदेश देता है वह अपना तथा अन्य जीवोंका भला करता है और जो कषाय बुद्धिसे उपदेश देता है वह अपना तथा दूसरे जीवोंका बुरा करता है। इसतरह वक्ताका स्वरूप कहा। अब यहां श्रोताका स्वरूप बतलाते हैं—

श्रोताका स्वरूप

जिस जीव का भला होनहार है वह यह विचार करता है कि मैं कौन हूं, कहाँसे आकर यहाँ जन्म लिया है, मरकर कहाँ जाऊँगा, मेरा स्वरूप क्या है, यह सब क्या चरित्र हो रहा है, मेरे इन भावोंका मुझे क्या फल मिलेगा, जीव दुखी हो रहा है उसके दुःख दूर होनेका उपाय क्या है? इन सब बातोंको समझकर जिससे मेरा कुछ हित हो वह मुझे करना चाहिये। ऐसा विचारकर जो प्रयत्नशील हुआ है तथा इस कार्यकी सिद्धि शास्त्र सुननेसे होती जान जो अत्यन्त प्रेमसे शास्त्र सुनता है, कुछ पूछना हो तो पूछता है, गुरुओं द्वारा कहे गये अर्थको अपने अन्तरङ्गमें बार २ सोचता है, अपने विचारसे सत्य अर्थोंका निश्चयकर कर्तव्यके अनुसार प्रयत्न करता है वह नवीन श्रोता है। तथा जो जैन धर्मका प्रगाढ़ श्रद्धानी है, अनेक शास्त्रोंके सुननेसे जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई है, व्यवहार,

---

१—प्र० सा० अ० ३ गा० ३८, ३९।

निश्चयके स्वरूपको अच्छी तरह समझकर जिस अर्थको सुनता है उसका यथावत् अवधारण करता है, शंका होनेपर अत्यन्त विनयसे पूछता है, अथवा परस्परमें अनेक प्रश्नोत्तरोंके द्वारा वस्तुका निर्णय करता है, शास्त्रके अभ्यासमें अत्यन्त आसक्त है, धर्म बुद्धिसे निंद्य कार्योंको जिसने छोड़ दिया है, ऐसा श्रोता होना चाहिए। इनके अतिरिक्त व्याकरण न्यायादिक अथवा बड़े २ जैन शास्त्रोंका ज्ञान होनेसे श्रोतापन भी शोभित होता है। लेकिन ऐसा श्रोता होनेपर भी यदि आत्मज्ञान नहीं हो तो वह उपदेशका मर्म नहीं समझ सक्ता। इसलिये आत्मज्ञानके द्वारा जिसने स्वरूपका आस्वादन किया है वही जिनधर्मके रहस्यका श्रोता होता है। तथा जो बुद्धिके अतिशय अथवा अवधि मनःपर्यय ज्ञानसे युक्त हो वह महान् श्रोता है। इस तरह श्रोताओंके विशेष गुण समझना चाहिए। कुछ श्रोता ऐसे भी हैं जो इस खयालसे कि शास्त्र सुननेसे हमारा भला होगा शास्त्र सुनते तो हैं परन्तु बुद्धि की मन्दतासे विशेष नहीं समझते उनको केवल पुण्यबंध ही होता है किन्तु कार्य सिद्ध नहीं होता। जो कुलपरंपरासे या सहज निमित्त मिलते रहनेके कारण शास्त्र सुनते हैं, अथवा केवल सुनते ही हैं अवधारण नहीं करते, उनको परिणामोंके अनुसार कभी पुण्यबंध होता है कभी पापबंध होता है। लेकिन जो ईर्षा द्वेषवश शास्त्र सुनते हैं, विवाद या तर्क करनेका ही जिनका अभिप्राय रहता है, अथवा जो अपनी महत्ताके लिए या लोभादिक प्रयोजनके लिए शास्त्र सुनते हैं, अथवा शास्त्र सुनने पर भी जिन्हें सुहाता नहीं उनको केवल पापबंध ही होता है। यह श्रोताओंका स्वरूप है। इसीप्रकार जो शास्त्रोंको पढ़ते या पढ़ाते हैं उनका भी स्वरूप समझना चाहिए। इस तरह शास्त्र, वक्ता और श्रोताओंका स्वरूप बतलाया। उचित वक्ता श्रोता हों तो उचित शास्त्रको पढना सुनना उचित है। अब मोक्षमार्ग प्रकाश नामक शास्त्रकी सार्थकता बतलाते हैं—

मोक्षमार्ग प्रकाश नामकी सार्थकता—

इस संसार रूपी वनमें समस्त जीव कर्मजन्य नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित हो रहे हैं। वहाँ मिथ्यात्व रूपी अंधकार व्याप्त है इस लिये वे वहाँसे मुक्त होनेका मार्ग नहीं पाते, तड़प तड़प कर वहीं दुःख सह रहे हैं। ऐसे जीवोंकी भलाईके लिये भगवान तीर्थङ्करकेवली रूप सूर्यका उदय हुआ। उसकी दिव्यध्वनिरूपी किरणोंसे वहाँसे मुक्त होनेका मार्ग प्रकाशित हुआ। जैसे स्वयं सूर्यकी इच्छा मार्ग प्रकाशनकी नहीं होती किन्तु स्वभावतः उसकी किरणें फैलनेसे मार्गका प्रकाशन होता है वैसे ही केवली भगवान वीतराग हैं वे इच्छापूर्वक मोक्षमार्ग नहीं प्रकट करते, किन्तु अघातिया कर्मोंके उदयसे स्वभावतः उनका शरीर रूप पुद्‌गल दिव्यध्वनि रूप परिणमन करता है, उससे मोक्षमार्गका प्रकाशन होता है। फिर गणधर देव यह सोचते हैं कि केवली रूप सूर्यके अस्त होने पर जीव मोक्षमार्गको कैसे पाएंगे, और बिना मोक्षमार्ग पाए वे यह सब दुःख सहेंगे। अतः करुणा बुद्धिसे गणधर द्वादशाङ्ग रूपी दीपकोंका प्रकाश करते हैं। इसके बाद दीपकसे

तीर्थंकर केवली का उदय

गणधर द्वारा द्वादशाङ्ग आदिकी रचना

दीपक जोड़ कर जैसे दीपकोंकी परंपरा चलती है वैसे ही आचार्यों द्वारा उन ग्रन्थोंसे अन्य ग्रन्थ वनाए जाते हैं, उनसे भी कोई अन्य ग्रन्थ वनाता है। इस तरह ग्रन्थोंकी परंपरा चलती है, मैं भी इस ग्रन्थको पूर्व ग्रन्थोंसे ही वना रहा हूं। तथा जिस प्रकार सूर्य और दीपक एक ही रूपसे मार्गका प्रकाशन करते हैं वैसे ही दिव्यध्वनि और सर्व ग्रन्थ एक ही रूपसे मोक्षमार्गका प्रकाशन करते हैं। इसलिए यह ग्रन्थ भी मोक्षमार्गका प्रकाशन करता है। हाँ, जो नेत्ररहित या नेत्रविकारी पुरुष हैं उन्हें प्रकाश रहते हुए भी मार्ग नहीं सूझता। किन्तु इससे जिस प्रकार दीपककी मार्ग प्रकाशकताका अभाव नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञानरहित या मिथ्यात्वादि विकारोंसे सहित हैं, यदि उन्हें मोक्षमार्ग नहीं सूझता तो इससे ग्रन्थकी मोक्षमार्ग प्रकाशकताका अभाव नहीं हो जाता। अतः इस ग्रन्थका मोक्षमार्ग प्रकाश नाम सार्थक जानना चाहिए।

प्रश्न—मोक्षमार्गके प्रकाशक जव पूर्व ग्रन्थ मौजूद हैं तव आप यह नवीन ग्रन्थ क्यों वना रहे हैं?

प्रकृत ग्रन्थकी आवश्यकता

उत्तर—जैसे वड़े दीपकोंके प्रकाशके लिए वहुत तेल वगैरहकी आवश्यकता होती है, किन्तु जिनकी अधिक तेल वगैरह दे सकनेकी शक्ति नहीं है उन्हें यदि छोटासा दीपक दे दिया जाय तो वे उसके अनुरूप थोड़ेसे साधनोंको रखकर उसके प्रकाशमें अपना कार्य करते हैं। उसी प्रकार वड़े ग्रन्थोंका प्रकाश अधिक ज्ञानादिक साधनोंकी अपेक्षा रखता है, उतनी ज्ञानादिक शक्ति जिनके पास नहीं है उन्हें यदि छोटासा ग्रन्थ वनाकर दे दिया जाय तो वे उस थोड़े साधनसे ही अपना कार्य कर लेते हैं। इस लिए यह छोटा और सरल ग्रन्थ वनाया जाता है।

इस ग्रन्थके वनानेमें न मेरी कषायें कारण हैं, न मुझे अपना मान, लोभ या यश रखनेकी इच्छा है, न मैं इसे अपना मार्ग चलनेको वनाता हूँ। किन्तु जिन्हें न्याय व्याकरणादिक अथवा नय प्रमाणादिक या विशेष अर्थोंका ज्ञान नहीं है, वे वड़े ग्रन्थोंका अभ्यास तो कर नहीं सकते। और किन्हीं छोटे ग्रन्थोंका अभ्यास करते हैं तो उनका यथार्थ अर्थ उन्हें मालूम नहीं होता। आजकल ऐसे अल्पज्ञानी वहुतसे पाए जाते हैं। उनके भलेके लिए धर्मवुद्धिसे यह ग्रन्थ वना रहा हूँ। लेकिन जैसे किसी अत्यंत दरिद्रीको देखने मात्रसे चिन्तामणि रत्नकी प्राप्ति होती हो किन्तु वह न देखे अथवा किसी कोढ़ीको अमृत पिलाया जाये और वह न पीवे, उसी प्रकार संसार पीड़ित जीवको 'मोक्षमार्गके उपदेशका सुगम निमित्त मिले और वह अभ्यास न करे तो उसके दुर्भाग्यकी महिमाका क्या कहना। उसके होनहारपर विचार करने से ही अपने अन्दर समताके भाव होते हैं। कहा है—

साहीणे गुरुजोगे जेण सुणंतीह धम्म वयणाइ
तेधिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभय विहूणा

अर्थात् स्वतन्त्र उपदेशदाता गुरुका नियोग मिलनेपर भी जो जीव धर्म वचनोंको नहीं

सुनते वे धीठ और दुष्ट चित्त हैं। अथवा जिस संसार भयसे तीर्थङ्करादिक डरते हैं वे उस डरसे भी रहित हैं इसलिए वे बड़े सुभट हैं।

प्रवचन सारमें भी मोक्षमार्गके अधिकारमें पहले आगम ज्ञान बतलाया है[१]। इसलिए इस जीवका मुख्यकर्तव्य आगमका जानना है इसीके होनेपर तत्वोंका श्रद्धान होता है और तत्वोंका श्रद्धान होनेपर संयम भाव होता है। तथा इसी आगमके ज्ञानसे आत्मज्ञानकी भी प्राप्ति होती है तब सहज ही में मोक्ष मिल जाता है। धर्मके अनेक अंग हैं उनमें ध्यानको छोड़कर इससे ऊँचा और कोई अंग नहीं है। इसलिए जैसे हो वैसे आगमका अभ्यास करना चाहिए। इस ग्रन्थका वांचना सुनना विचारना तो और भी अधिक सुगम है, इसके लिए किसी व्याकरणादिककी भी जरूरत नहीं है। इसलिए इसका अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाश नामक शास्त्रमें पीठबन्धका प्ररूपक

प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

१—प्र० सा० अ० ३ गा० ३२-३६

अध्याय २

संसार अवस्थाका निरूपण

दोहा

मिथ्या भाव अभाव तें जो प्रगटै निजभाव।
सो जयवंत रहे सदा यह ही मोक्ष उपाव॥

अब इस शास्त्रमें मोक्षका मार्ग बतलाते हैं। बन्धनसे छूटनेको मोक्ष कहते हैं। इस आत्माके कर्मोंका बन्धन है उस बंधनसे यह दुखी हो रहा है। दुख दूर करनेका यह निरंतर उपाय भी करता है। परन्तु सच्चे उपायके बिना दुख दूर नहीं होता और दुख सहा भी नहीं जाता इस लिए यह व्याकुल हो रहा है। इस तरह जीवके समस्त दुखका मूल कारण कर्मबन्धन है और उसके अभावका नाम मोक्ष है और वह मोक्ष ही परम कल्याण है। इसकी प्राप्तिका सच्चा उपाय करना ही कर्तव्य है। इसलिए इस जीव को उसहीका उपदेश देते हैं। जैसे वैद्य रोगीको पहले रोगका निदान बताता है कि यह रोग इस कारण से हुआ है, फिर उस रोग से जो हालत होती है उसे बताता है। उससे रोगीको अपने रोगका निश्चय होता है। फिर वैद्य उस रोगके दूर करनेके अनेक उपाय बताता है तथा उस उपाय पर उसको विश्वास पैदा कराता है इतना तो वैद्य करता है। इसके बाद रोगी अगर उस उपायका साधन करे तो रोग मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक हालत में आ जाता है यह रोगी का कर्तव्य है। वैसे ही यहाँ कर्म बन्धन सहित जीवको पहले तो कर्मबन्धनका निदान बताएँगे कि इस प्रकार यह कर्मबन्धन हुआ है। फिर उस कर्मबन्धनके निमित्तसे जो हालत होती है वह बताएँगे जिससे इस जीवको यह निश्चय हो जाय कि मेरे ऐसा ही कर्मबन्धन है। फिर उस कर्मबन्धनके दूर होने का उपाय अनेक तरहसे बताएँगे तथा उसपर इसे विश्वास कराएँगे इतना उपदेश तो शास्त्र करेगा। इसके बाद यह उसका साधन करेगा तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर अपने स्वभावमें आ जायगा। यह जीवका कर्तव्य है इसलिए पहले यहाँ कर्मबन्धनका निदान बतलाते हैं।

दुःखका मूल कारण कर्मबंधन

कर्मबन्धनका कारण

इस कर्मबन्धनसे नाना उपाधिवाले भवोंमें भ्रमण करना पड़ता है, एक रूप रहना नहीं होता। इसलिए इस कर्मबन्धन सहित अवस्थाका नाम संसार है। इस संसारमें अनंतानंत जीव हैं वे अनादि कालसे ही कर्मबन्धन सहित हैं। ऐसा नहीं है कि जीव पहले अलग था और कर्म अलग थे बादमें इनका संयोग हुआ। किन्तु जैसे सुमेरु पर्वत आदि अकृत्रिम स्कंधोंमें अनन्त पुद्गल परमाणु अनादि से एक

संसारमें अनादिबद्ध जीवका अस्तित्व

बन्धनरूप है लेकिन बादमें उनमें से कितने ही परमाणु अलग हो जाते हैं कितने ही नये मिल जाते हैं। इस तरह मिलना बिछुड़ना हुआ करता है। इसी प्रकार इस संसार में एक जीव द्रव्य और अनन्त पुद्गल परमाणु अनादि से एक बन्धन रूप हो रहे हैं। बाद में उनमें से कितने ही कर्म-परमाणु अलग हो जाते हैं और कितने ही नये मिल जाते हैं इस तरह इनमें भी मिलना बिछुड़ना हुआ करता है।

प्रश्न—पुद्गल परमाणु तो जीवके रागादिक भावोंके निमित्तसे कर्म रूप होते हैं। तब वे अनादि कालसे कर्म रूप किस तरह हैं?

कर्मोंका जीवसे अनादि संबंध

उत्तर—निमित्त तो नये कार्यमें ही होता है अनादि अवस्थामें निमित्तका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। जैसे नये पुद्गल परमाणुओंका परस्परमें बंधन तो स्निग्ध रूक्ष गुणके अंशों से ही होता है किन्तु मेरु गिरि आदि स्कंधोंमें अनादि पुद्गल परमाणुओंका बंधन है वहाँ निमित्तसे कुछ प्रयोजन ही नहीं है। वैसे ही नये परमाणुओंका कर्म रूप होना तो रागादिकके निमित्तसे है किन्तु अनादि पुद्गल परमाणुओंकी कर्मरूपही अवस्था है वहाँ निमित्तसे कुछ मतलब नहीं है। अगर अनादि अवस्थामें भी निमित्त माना जायगा तो अनादिपना नहीं रहेगा इसलिये कर्मका संबंध अनादि ही मानना चाहिये। प्रवचनसार शास्त्रकी तत्त्वप्रदीपिका नामक व्याख्यामें जहाँ सामान्य ज्ञेयाधिकार है वहाँ भी यही कथन किया है कि रागादिकका कारण तो द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्मका कारण रागादिक हैं। इस पर किसीने यह तर्क किया कि यह तो इतरेतराश्रय दोष है क्योंकि द्रव्यकर्म रागादिकके निमित्तसे होते हैं और रागादिक द्रव्यकर्मके निमित्तसे। उसका उत्तर वहाँ इस तरह दिये है।

"नैवं, अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्मसंबन्धस्य तत्र हेतुत्वेनोपादानात्"[1]

अर्थात् [2]"इस तरह इतरेतराश्रय दोष नहीं आता क्योंकि अनादिसे स्वयं सिद्ध द्रव्यकर्मके संबंधको वहाँ कारण रूपसे ग्रहण किया है।

इस तरह आगममें तो यह कहा ही है किन्तु युक्तिसे भी यह बात सिद्ध है क्योंकि कर्मोंके निमित्तके बिना यदि पहले जीवके रागादिक होंगे तो रागादिक जीवका निज स्वभाव हो जायगा। जो पर निमित्तके बिना होता है वह स्वभाव कहलाता है। इसलिए कर्मका संबंध अनादि ही मानना ठीक है।

१—नहि,अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्। प्र०सा० मु० प्रति। २—संसार रूप जो आत्माका उस प्रकारका भाव है वही द्रव्यकर्मके संबंधका कारण है। संसार रूप आत्माके भावका क्या कारण है? द्रव्यकर्म कारण है, क्योंकि उस प्रकारका भाव द्रव्य कर्मसे ही संयुक्त पाया जाता है। यदि ऐसा है तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा? नहीं, क्योंकि अनादि प्रसिद्ध द्रव्य कर्मसे संबद्ध आत्माका कारण पहलेका द्रव्य कर्म है। इस प्रकार नया पुराना द्रव्य कर्म ही कार्य कारण भूत होनेसे आत्माके उस प्रकारके परिणाम भी द्रव्यकर्म ही कहलाएँगे। प्र० सा० अ० २ गा० २९ की टीका।

प्रश्न–जो द्रव्य जुदे २ हैं उनका अनादिसे संबंध कैसे हो सकता है ?

उत्तर–जैसे प्रारंभसे ही जल और दूधका, सोना और मैलका, तुप और धान्यका तथा तिल और तैलका संबंध देखा जाता है इनका नया मिलाप नहीं होता वैसे ही अनादि से जीव और कर्मका संबंध समझना चाहिए। इनका भी नया मिलाप नहीं हुआ है। और यह जो पूंछा गया है कि अनादि संबंध कैसे हो सकता है सो अनादिसे जैसे कितने ही द्रव्य अलग २ हैं वैसे ही कितने ही मिले हुए हैं ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न–संबंध या सहयोग कहना तो तब ठीक था जब पहले अलग २ होते और पीछे मिलजाते इसलिए अनादिसे मिले जीव और कर्मोका संबंध कैसे कह दिया ?

उत्तर–अनादिसे तो मिले ही हुए थे लेकिन जब बादमें अलग हुए तब समझा कि वे अलग थे इसीलिए अलग हुए हैं अतः पहले भी अलग ही थे इस तरह अनुमानसे या केवल-ज्ञानसे प्रत्यक्ष अलग २ मालूम पड़ते हैं। अतः जीव से कर्म परमाणुओंका संबंध होते समय भिन्न बना पाया जाता है। इसलिए भिन्नताकी अपेक्षा उनका संबंध अथवा संयोग बतलाया है। वे नए मिले हों अथवा पहलेके मिले हों भिन्न द्रव्योंके मिलापमें ऐसा ही कहा जाता है। इस तरह जीव कर्मोका अनादि संबंध है।

जीव और कर्मोंकी भिन्नता

उसमें जीव द्रव्य तो देखने जानने रूप चैतन्य गुणका धारक है और इन्द्रियगम्य न होने योग्य तथा अमूर्तिक है। संकोच विस्तार शक्तिको लिये हुए असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है। तथा कर्मचेतना गुणसे रहित जड़ है मूर्तिक है और अनंत पुद्गल परमाणुओंका पुंज रूप है। इस लिए एक द्रव्य नहीं है। इस तरह इन जीव और कर्मोका अनादि संबंध है। फिर भी जीवका कोई प्रदेश कर्मरूप नहीं होता और कर्मका कोई परमाणु जीवरूप नहीं होता। अपने २ गुणोंको कायम रखते हुए अलग २ ही रहते हैं। जैसे सोना और चांदीका यदि एक स्कंध बना दिया जाय फिर भी अपने पीत आदि गुणोंको लेकर सोना अलग रहता है और सफेदी आदि गुणोंको लेकर चांदी अलग रहती है। उसी प्रकार जीव और कर्मको भी अलग २ ही समझना चाहिये।

प्रश्न–मूर्तिकका मूर्तिकके साथ तो संबंध हो सकता है किन्तु अमूर्तिकका मूर्तिकके साथ संबंध कैसे हो सकता है ?

अमूर्तिक जीवका मूर्तिक कर्मों से संबंध

उत्तर–जैसे इन्द्रियोंके अगोचर सूक्ष्म पुद्गल और इन्द्रियोंके गोचर स्थूल पुद्गलोंका आपसमें बंध होना माना जाता है वैसे ही इन्द्रियोंके अगोचर इस अमूर्तिक आत्मा और इन्द्रियोंके गोचर होने योग्य मूर्तिक कर्मोका संबंध भी मानना चाहिये। इन दोनोंके संबंध होनेमें कोई किसीका कुछ करता तो है नहीं जबतक संबंध रहता है तबतक साथ रहते हैं बिछुड़ते नहीं और परस्परमें उनका कार्यकारणपना बना रहता है। बस इतना ही उनका संबंध जानना चाहिये। इस प्रकारका संबंध अगर मूर्तिक

अमूर्तिक का होता है तो कुछ विरोध नहीं है। इस प्रकार जैसे एक जीवके अनादि कर्म संबंध बतलाया है वैसे ही अलग-अलग अनन्त जीवोंके समझना चाहिये।

कर्मके आठ भेद और घातिया कर्मोंका प्रभाव

उस कर्मके ज्ञानावरणादिक आठ भेद हैं। उनमें से चार घातिया कर्मोंके निमित्तसे जीवके स्वभावका घात होता है। उसमें भी ज्ञानावरण और दर्शनावरणके उदयसे जीवके ज्ञान और दर्शन गुण प्रगट नहीं होते। उन कर्मोंके क्षयोपशम अनुसार थोड़े २ ज्ञान और दर्शन रहते हैं। तथा मोहनीयके उदयसे जो जीवके स्वभाव नहीं है ऐसे मिथ्यादर्शन तथा क्रोध, मान, माया और लोभादिक कषायें होती हैं।

[अंतरायके उदयसे जीवमें दीक्षा लेनेकी जो शक्ति (वीर्य) है वह प्रकट नहीं होती। उसके क्षयोपशमके अनुसार थोड़ी शक्ति रहती है] इस तरह घातिया कर्मोंके निमित्तसे जीवके स्वभावका घात अनादि कालसे हो रहा है। ऐसा नहीं है कि पहले तो स्वभावरूप शुद्ध आत्मा था बादमें कर्मोंके निमित्तसे स्वभावका घात होने पर अशुद्ध हुआ है।

प्रश्न—घात तो अभावको कहते हैं। जिसका पहले सद्भाव हो उसीका अभाव कहना ठीक है। लेकिन यहाँ स्वभावका सद्भाव तो था ही नहीं फिर घात किसका किया।

उत्तर—जीव में अनादि से ही ऐसी शक्ति पाई जाती है कि अगर कर्मोंका निमित्त न हों तो केवल ज्ञानादिक गुण सदा प्रकट रहें। परन्तु कर्मों का संबंध अनादिसे ही पाया जाता है इस लिये वह शक्ति प्रकट नहीं होती, अतः शक्ति की अपेक्षा स्वभाव मौजूद है किन्तु वह प्रकट नहीं होता इसलिये उसे घात शब्दसे कहते हैं। तथा चार अघातिया कर्मोंके निमित्तसे इस आत्मा को बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है।

[उनमेंसे वेदनीयसे तो शरीरमें या शरीरके बाहर नाना प्रकारके सुख दुःखोंके कारण परद्रव्योंका संयोग जुड़ता है] और आयुसे अपनी स्थिति पर्यन्त शरीरका संबंध नहीं छूटता। तथा नामसे गति जाति शरीरादिक पैदा होते हैं। इसी प्रकार गोत्रसे ऊँचे-नीचे कुलकी

अघातिया कर्मों का प्रभाव

प्राप्ति होती है। इस तरह अघातिया कर्मोंसे बाह्य सामग्री इकट्ठी होती है। उसके द्वारा मोहका सहयोग पाकर जीव सुखी या दुखी होता है। तथा शरीरादिकके सम्बन्धसे जीवका अमूर्तत्वादि स्वभाव अपना कार्य नहीं करता। जैसे, कोई शरीरको पकड़ता है तो आत्मा भी पकड़ा जाता है। जब तक कर्मका उदय रहता है तब तक बाह्य सामिग्री भी वैसी ही बनी रहती है, अन्य रूप नहीं होती। इस तरह इन अघातिया कर्मोंका निमित्त समझना चाहिये।

प्रश्न—कर्म तो जड़ है, बलवान् नहीं है। उससे जीवके स्वभावका घात होना तथा बाह्यसामिग्री का मिलना कैसे हो सकता है?

उत्तर—यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर प्रयत्न पूर्वक जीवके स्वभावका घात करे और बाह्य

सामिग्रीको मिलावे तव तो कर्मको चेतन भी होना चाहिये और वलवान भी होना चाहिये। परन्तु उसमें उपर्युक्त वातें तो हैं नहीं; केवल निमित्त नैमित्तिक संवंध है। जव उन कर्मोंका उदय होता है तव आत्मा स्वयं ही स्वभावरूप परिणमन न कर विभावरूप परिणमन करता है। अथवा अन्य द्रव्य भी वैसे ही संवंध रूप होकर परिणमन करते हैं। जैसे किसी पुरुषके सिरपर मोहन धूल पड़ी है उससे वह पागल हो जाता है। यहाँ मोहन धूलको न तो ज्ञान था न वह वलवान थी फिर भी मोहन धूलसे ही उसके पागलपन देखा जाता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि मोहन धूल तो केवल निमित्त है उसके निमित्तसे पुरुष स्वयं ही पागल हो जाता है। वस इसी प्रकारसे निमित्त नैमित्तिक संवंध हो रहा है। तथा जिस प्रकार सूर्यका उदय होने पर चकवा चकवियोंका संयोग होता है। किन्तु रातमें द्वेष पूर्वक जवर्दस्ती कोई उन्हें अलग नहीं कर देता और न दिनमें कोई दया कर उन्हें मिला ही देता है। सूर्यके उदय और अस्तका निमित्त पाकर वे अपने आप ही मिलते और विछुड़ते हैं। उनका इसी प्रकारसे निमित्त नैमित्तिक संवंध वन रहा है। वैसेही कर्म और जीवका भी निमित्त नैमित्तिक भाव जानना चाहिए। इस प्रकार कर्मोंके उदयसे ऐसी अवस्था होती है। अव नवीन कर्मोंका वंध कैसे होता है वह वतलाते हैं—

जड़ कर्मों से चेतन आत्मा का घात कैसे होता है

नवीन बन्ध प्रक्रिया

जैसे सूर्यका जितना प्रकाश वादलोंसे ढका हुआ है उतनेका तो उस समय अभाव है। तथा वादलोंके हल्के होनेसे जितना प्रकाश दीख रहा है वह उस सूर्यके स्वभावका अंश है वादलोंसे पैदा नहीं हुआ है। वैसे ही जीवका स्वभाव ज्ञानदर्शन और वीर्य ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतरायके निमित्तसे जितने अंशोंमें अप्रकट हैं उतने अंशोंमें तो उस समय उनका अभाव है तथा उनके क्षयोपशमसे जितना ज्ञान दर्शन वीर्य प्रकट है वह जीवके स्वभावका ही अंश है, कर्मोंसे पैदा हुआ औपाधिक भाव नहीं है। इस तरह अनादिसे लेकर कभी भी स्वभाव का सर्वथा अभाव नहीं होता। इसीसे जीवके जीवत्वका निश्चय किया जाता है क्योंकि देखने जानने रूप शक्तिको धारण करनेवाली वस्तु ही आत्मा है। आत्माके इस स्वभावसे नवीन कर्मोंका वंध नहीं होता। यदि निज स्वभाव ही वंधका कारण हो तो छूटना कैसे हो सकता है? तथा कर्मोंके उदयसे जितना ज्ञान, दर्शन और वीर्य अभाव रूप है उससे भी वंध नहीं होता क्योंकि जो स्वयं ही अभाव रूप है वह दूसरेके वंधका कारण कैसे हो सकता है? इसलिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतरायके निमित्तसे उत्पन्न सव नवीन कर्म वन्धके कारण नहीं है।

स्वभाव वंधका कारण नहीं है

मोहनीय कर्मके उदयसे जीवके अयथार्थ श्रद्धानरूप मिथ्यात्व भाव होते हैं और क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें होती हैं। यद्यपि ये सव जीवके रूप हैं जीवसे अलग नहीं है

जीव ही इनका कर्ता है जीवके परिणमन रूप ही ये हैं तो भी ये मोह कर्मके निमित्तसे होते हैं, कर्मका निमित्त दूर होने पर इनका भी अभाव हो जाता है। इसलिये यह जीवके अपने स्वभाव नहीं है औपाधिक भाव हैं इन्हीं भावोंसे नवीन वंध होता है, अतः मोहके उदयसे उत्पन्न भाव नवीन वंधके कारण हैं। पहले लिख आये हैं कि कर्मोंके उदयसे वाह्य सामिग्री मिलती है उनमेंसे शरीरादिक तो जीवके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाही होकर एक वंधन रूप ही रहते हैं। और धन कुटुम्बादिक आत्मा से भिन्न हैं अतः ये सव वंधके कारण नहीं हैं। क्यों कि पर द्रव्य वंधका कारण नहीं होता किन्तु इनमें आत्माके जो ममत्वरूप मिथ्यात्वादि भाव होते हैं वे ही इस वंधके कारण हैं। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि नाम कर्मके उदयसे शरीर, वचन और मन होते हैं। उनकी चेष्टाका निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होता है; उससे पुद्गल वर्गणाओंके साथ एक वंधन रूप होनेकी आत्माकी जो शक्ति होती है उसे योग कहते हैं। उसके निमित्तसे प्रति समय कर्म रूप होने योग्य अनंत परमाणुओंका ग्रहण होता है यदि योग अल्प हो तो थोड़े परमाणुओंका ग्रहण होता है। और वहुत हो तो वहुत परमाणुओंका ग्रहण होता है।

औपाधिक भाव ही नवीन वंधके कारण हैं

धन कुटुम्ब आदि परद्रव्य वंधके कारण नहीं हैं

योगका स्वरूप और उससे कर्मका आश्रव

[एक समयमें जितने पुद्गल परमाणु ग्रहण किये जाते हैं उनका ज्ञानावरणादिक मूल प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें शास्त्रमें जैसे कहा है वैसे वटवारा होता है।]

उस वटवारेके अनुसार परमाणु उन प्रकृतिरूप स्वयं ही परिणमन कर जाते हैं। विशेष इतना है कि योग शुभ और अशुभ भेद से दो प्रकारका है। धर्मके अंगोंमें मन वचन कायकी प्रवृत्ति होनेको तो शुभयोग कहते हैं। और अधर्मके अंगोंमें मन वचन कायकी प्रवृत्तिको अशुभयोग कहते हैं। इनमेंसे शुभ योग हो या अशुभयोग हो घातिया कर्मोंकी सव प्रकृतियोंका निरन्तर वंध होता ही रहता है। किसी समय किसी भी प्रकृतिका वंध हुये विना नहीं रहता। हाँ, मोहनीयकी हास्य शोकमेंसे एक, रति अरतिमेंसे एक तथा तीनों वेदोंमेंसे एक ही प्रकृतिका एक समयमें वंध होता है। तथा अघातियाकी प्रकृतियोंमेंसे शुभयोग होनेसे साता वेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका ही वंध होता है। और अशुभ योग होनेसे असाता वेदनीय आदि पाप प्रकृतियोंका ही वंध होता है। मिश्रयोगसे कुछ पुण्य प्रकृति और कुछ पाप प्रकृतियोंका वंध होता है। इस तरह योगोंके निमित्तसे कर्मोंका आगमन होता है। योग ही आश्रव है। योगसे ग्रहण किये हुये कर्म परमाणुओंको प्रदेश कहते हैं। योगके निमित्तसे ही उनका वन्ध होता है और उनमें मूल उत्तर प्रकृतियोंका विभाग होता है, इसलिये योगोंसे प्रदेश वंध और प्रकृति वंध समझना चाहिए। मोहके उदयसे मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं, सामान्यपनेसे उन सवका नाम कषाय है।

योगके शुभाशुभ भेद और उससे प्रकृति प्रदेश वंध का निरूपण

कषाय और उससे स्थिति अनुभाग वंधका निरूपण

उस कषायसे उन कर्मोंकी स्थिति बँधती है। [जितनी स्थिति बँधती है उसमें आबाधा कालको छोड़कर जबतक बँधी स्थिति पूर्ण होती है तबतक प्रति समय उस प्रकृतिका उदय आया ही करता है]। देव, मनुष्य और तिर्यञ्चायुके सिवा अन्य सब घातिया अघातिया प्रकृतियोंका मन्द कषायसे थोड़ा स्थितिबंध होता है और तीव्र कषायसे अधिक स्थितिबंध होता है।[1] इन तीन आयुओंका मन्द कषायसे बहुत और बहुत कषायसे अल्प स्थितिबंध होता है। इन कषायोंसे ही उन कर्म प्रकृतियों में अनुभाग शक्ति आती है। जैसा अनुभागबंध होता है वैसा ही उदय कालमें उन प्रकृतियोंका अधिक या थोड़ा फल होता है। घाति कर्मोंकी सब प्रकृतियोंमें और अघाति कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंमें मन्दकषाय होनेसे थोड़ा अनुभाग बंधता है और बहुत कषाय होनेसे बहुत अनुभाग बंधता है।[2] तथा पुण्य प्रकृतियोंमें मन्द कषाय होनेसे बहुत अनुभाग बंध होता है और अधिक कषाय होनेसे थोड़ा अनुभाग बंध होता है। इस तरह कषायोंसे कर्म-प्रकृतियोंमें स्थितिबंध और अनुभाग बंध होता है। जैसे मदिरा बहुत होकर भी यदि उसमें उन्मादक शक्ति थोड़ी है और वह थोड़े ही समय तक रहती है तो वह मदिरा हल्की कहलाती है। और मदिरा थोड़ी होकर भी यदि उसकी उन्मादक शक्ति अधिक है और वह अधिक समय तक रहती है तो वह मदिरा तेज कहलाती है। उसी प्रकार कर्मपरमाणु अधिक होकर भी यदि उनमें थोड़े ही समय तक थोड़े ही फल देने की शक्ति है तो वे कर्म प्रकृतियां हीन कही जाती हैं और कर्म परमाणु कम होकर भी यदि उनमें फल देनेकी शक्ति अधिक है और वह अधिक समय तक रहती है तो वे कर्म प्रकृतियां तीव्र कहलाती हैं। इस तरह योगोंसे होनेवाला प्रकृति बंध और प्रदेश बंध बलवान नहीं है किन्तु कषायोंसे होनेवाला स्थितिबंध और अनुभागबंध ही बलवान है अतः खास करके कषाय ही बंधका कारण है ? जो कर्म बन्धको रोकना चाहते हैं उन्हें कषाय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—पुद्गल परमाणु तो जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं वे यथायोग्य प्रकृति रूप कैसे परिणमन कर जाते हैं ?

उत्तर—भूख लगने पर मुख द्वारा ग्रहण किया गया भोजन रूप पुद्गलपिंड जैसे मांस, शुक्र, शोणित आदि धातुरूप परिणमन करता है और उस भोजनके परमाणुओंमेंसे यथा-

जड़ परमाणु यथायोग्य प्रकृतिरूप कैसे परिणमन करते हैं

योग्य किसी धातुरूप कम और किसी धातुरूप अधिक परमाणु हो जाते हैं। उसमें भी बहुतसे परमाणुओंका संबंध अधिक समय तक रहता है। बहुतोंका कम समय तक रहता है। तथा उनमेंसे कुछमें तो अपना कार्य करनेकी शक्ति अधिक होती है, कुछमें कम होती है इस तरह होनेमें उस भोजनरूप पुद्गल पिंडके कुछ ऐसा ज्ञान नहीं है कि मैं इस तरह परिणमन करूँ

१—गो० क० स्थिति बं० प्र० गा० १३४। २—गो० क० अनुभा० प्र० गा० १६३।

और न अन्य कोई उसको परिणमन करानेवाला है किन्तु उनके ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक संबंध है जिससे वे उसी प्रकार परिणमन करते हैं। वैसे ही कषायोंके होते हुए योगों द्वारा ग्रहण किया गया कार्माण वर्गणारूप पुद्गलपिंड ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप परिणमन करता है। उन कर्मपरमाणुओंमेंसे यथायोग्य किसी प्रकृतिरूप थोड़े और किसी प्रकृतिरूप अधिक परमाणु होते हैं। उनमें भी किन्हीं परमाणुओंका संबंध अधिक समय तक और किन्हींका थोड़े समय तक रहता है। तथा उनमें कुछ तो अपना कार्य करने की अधिक शक्ति रखते हैं कुछ कम शक्ति रखते हैं। ऐसा होनेमें कर्म परमाणुरूप पुद्गलपिंडको भी ऐसा ज्ञान नहीं है कि मैं इस तरह परिणमन करूँ। केवल निमित्त नैमित्तिक संबंध है। जिसमें वे उस प्रकारसे परिणमन करते हैं। लोकमें इस प्रकारके अनेक निमित्त नैमित्तिक संबंध मौजूद हैं। जैसे मंत्रके निमित्तसे जलादिकमें रोगादिक दूर करनेकी शक्ति हो जाती है अथवा कंकरी आदि में सर्पादि रोकनेकी शक्ति हो जाती है वैसे ही जीवोंके भावोंके निमित्तसे पुद्गल परमाणुओंमें ज्ञानावरणादि रूप शक्ति हो जाती है। अगर कर्मपरमाणुपिंड विचारकर प्रयत्नपूर्वक कार्य करें तो उसमें ज्ञानकी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु यदि जैसा निमित्त मिले स्वयमेव उस तरह परिणमन करे तो ज्ञानका कुछ प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार नवीन बंध होनेका विधान समझना चाहिए।

भावनिमित्तक कर्मोंकी संक्रमण आदि अवस्थाएँ

जो परमाणु कर्मरूप परिणत हुए हैं वे उदय कालके आनेसे पहले जीवके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप होकर रहते हैं उस समय जीवके भावोंको निमित्त पाकर कितनी ही प्रकृतियोंकी अवस्था बदल भी जाती है। अर्थात् एक प्रकृतिके परमाणु संक्रमणरूप होकर अन्य प्रकृतिरूप हो जाते हैं। जिन प्रकृतियोंका स्थिति अनुभाग बहुत होता है उनका अपकर्षण होकर थोड़ा रह जाता है। जिनका थोड़ा होता है तो उत्कर्षण होकर बहुत हो जाता है। इस तरह पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंकी अवस्था भी जीवके भावोंके निमित्तसे पलटती रहती है। और अगर निमित्त नहीं मिलता तो नहीं पलटती जैसीकी तैसी रहती है। इसतरह सत्तारूप कर्म रहते हैं।

कर्मोंका फल देनेमें निमित्त नैमित्तिक संबंध तथा सविपाक निर्जरा

जब कर्म प्रकृतियोंका उदय काल आता है तब स्वयं ही उन प्रकृतियोंका अनुभागके अनुसार कार्य होता है। कर्म उनके कार्यको पैदा नहीं करता। उदयकाल आने पर अमुक कार्य होता है बस इतना ही निमित्त नैमित्तिक संबंध है। जिस समय कर्म फल दे चुकता है उसके अनंतर समयमें ही अनुभाग शक्तिका अभाव होनेसे पुद्गलोंका कर्मपना भी जाता रहता है। वे पुद्गल अन्य पर्याय रूप परिणमन करते हैं। इसीका नाम सविपाक निर्जरा है। इस तरह हर समय फल देकर कर्म खिरते रहते हैं कर्मपना नष्ट होनेके बाद वे परमाणु उसी स्कंधमें रहें या अलग हो जांय इससे कुछ मतलब नहीं है।

यहाँ इतना और समझना चाहिए कि जीवके प्रति समय अनंत परमाणु वंधते हैं और वे आवाधा कालको छोड़कर अपनी स्थितिके जितने समयं हों उनमें क्रमसे उदय आते हैं। तथा अनेक समयोंमें वंधे जो परमाणु एक समयमें उदय आनेके योग्य होते हैं वे इकट्ठे होकर उदय आते हैं इन सव परमाणुओंका मिलकर जितना अनुभाग होता है उतना फल मिलता है। तथा अनेक समयों में वंधे कर्म परमाणु वंध समयसे लगाकर उदय समय पर्यंत कर्म रूपसे जीवके साथ संवंधित रहते हैं। इस तरह कर्मोंकी वन्ध उदय और सत्तारूप अवस्था जानना चाहिए। [प्रति समय एक समय-प्रवद्धमात्र परमाणु वंधते हैं और एक समयप्रवद्धमात्र परमाणुओं की निर्जरा होती है। कुछ कम डेढ़ गुण हानिसे गुणित समयप्रवद्धमात्र परमाणुओंकी सत्ता रहती है]। इन सवको विशेष रूपसे आगे कर्म अधिकारमें लिखेंगे वहाँसे समझना चाहिए।

कर्मों की वन्ध उदय सत्व रूप अवस्था

इस तरह यह कर्म परमाणु रूप अनंत पुद्गल द्रव्योंका कार्य है अतः इसे द्रव्य कर्म कहते हैं। तथा मोहके निमित्तसे मिथ्यात्व क्रोधादि रूप जीवका जो परिणाम होता है वह सव अशुद्ध भावोंका कार्य है अतः इसका नाम भावकर्म है। द्रव्यकर्मके निमित्तसे भावकर्म होता है और भावकर्मके निमित्तसे द्रव्यकर्मका वंध होता है। इस प्रकार द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्य-कर्म यों परस्पर कार्यकारणभाव होनेसे संसारचक्रमें परिभ्रमण होता है। विशेष यह है कि तीव्र मंद वंध होनेसे अथवा संक्रमणादि होनेसे अथवा एक कालमें वंधा हुआ कर्म अनेक कालमें या अनेक कालमें वंधा हुआ कर्म एक कालमें उदय आने से जव तीव्र उदय होता है तव तीव्र कषाय होती है और तव तीव्र ही नवीन वंध होता हैं। और जव मन्द उदय होता है तव कषाय भी मंद होती है और नवीन वंध भी मंद ही होता है। उन तीव्र मन्द कषायों ही के अनुसार पहले वंधे कर्मोंका संक्रमणादिक भी यदि होना होता है तो होता है। इस प्रकार अनादि से लेकर द्रव्यकर्म और भावकर्मकी प्रवृत्ति चली आ रही है।

द्रव्य और भावकर्म-का स्वरूप

नामकर्मके उदयसे शरीर होता है। वह शरीर द्रव्यकर्मकी तरह किंचित् सुख दुखका कारण है। इसलिए शरीरको नोकर्म कहते हैं। यहाँ "नोशब्दका" अर्थ "ईषत्" अर्थात् थोड़ा है। शरीर पुद्गल परमाणुओंका पिण्ड है। तथा द्रव्य इन्द्रिय, द्रव्यमन, स्वासोच्छ्वास वचन ये भी सव शरीरके ही अंग हैं। इसलिए इन्हें भी पुद्गल परमाणुओंका ही पिण्ड समझना चाहिए। इस शरीरका और द्रव्य कर्म संवंध सहित जीवका एक क्षेत्रावगाह रूप वंधन होता है। जन्मसमयसे लगा कर जितनी अपनी स्थिति है उतने समय तक शरीरका संवंध रहता है। आयु पूर्ण होने पर जव

शरीरकी नोकर्म अवस्था और उसकी प्रवृत्ति

१—कर्मरूपसे आया हुआ द्रव्य जव तक उदय या उदीरणा रूपमें नहीं आता तव तक का समय आवाधा काल कहलाता है।

मरण होता है तब उसका सम्बंध छूट जाता है अर्थात् शरीर और आत्मा अलग २ हो जाते हैं। तथा उसीके अनंतर समयमें या दूसरे तीसरे चौथे समयमें जीव कर्मोदयके निमित्तसे नवीन शरीर धारण कर लेता है। वहाँ भी अपनी आयु पर्यंत उसका वैसा ही संबंध रहता है। तथा मरण होने पर वह संबंध छूट जाता है। इसी प्रकार पहले शरीर का छोड़ना और नवीन शरीरको ग्रहण करना अनुक्रमसे हुआ करता है। यह आत्मा यों तो असंख्यात प्रदेशी है परन्तु संकोच विस्तारके कारण शरीर प्रमाण ही रहता है [हाँ समुद्घात होने पर शरीरके बाहर भी आत्माके प्रदेश फैल जाते हैं] पुराने शरीरको छोड़कर नया शरीर धारण करनेके बीचमें पहले छोड़े हुये शरीरके अनुसार ही आत्मप्रदेश रहते हैं। शरीरके अंगभूत द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमनकी सहायतासे जीवमें जाननेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। तथा शरीरकी अवस्थाके अनुसार मोहके उदयसे जीव सुखी या दुखी होता है। कभी तो जीवकी इच्छाके अनुसार शरीरकी प्रवृत्ति होती है कभी शरीरकी अवस्थाके अनुसार जीवकी प्रवृत्ति होती है। कभी जीवकी इच्छा कुछ होती है और पुद्गलकी अवस्था कुछ होती है इस तरह इस नोकर्मकी प्रवृत्ति जानना चाहिये।

अनादिसे लेकर तो पहले इस जीवका संबंध नित्यनिगोदके शरीरसे पाया जाता है। नित्यनिगोदका शरीर धारण कर मरता है तो फिर नित्य निगोदमें ही पैदा होता है। इस तरह अनंतानंत जीवराशि अनादिसे तो नित्यनिगोद पर्यायमें ही जन्म मरण किया करती है। वहाँसे एक महीने आठ समयमें ६०८ जीव निकलते हैं और निकल कर दूसरी पर्याय में पहुँचते हैं। तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति रूप एकेन्द्रिय पर्यायमें अथवा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय पर्यायोंमें या नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवरूप पंचेन्द्रिय रूप पर्यायोंमें भ्रमण करते हैं। वहाँ कितने ही काल तक भ्रमण कर फिर निगोद पर्यायको प्राप्त करते हैं उसका नाम इतरनिगोद है। वहाँ भी कितने ही समय रहकर फिर अन्यपर्यायोंमें भ्रमण करते हैं। वहाँ पृथ्वी आदि स्थावरोंमें भ्रमण करने का उत्कृष्ट काल असंख्यात कल्पमात्र है। तथा दो इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रसोंमें भ्रमण करनेका काल कुछ अधिक दो हजार सागर है और [इतर निगोदमें भ्रमण करनेका काल ढाई पुद्गलपरिवर्तन मात्र है जो अनंतकालके बराबर है] तथा इतर निगोदसे निकलनेके बाद कोई स्थावर पर्याय प्राप्त कर फिर निगोदमें चले जाते हैं। इस तरह एकेन्द्रिय पर्यायोंमें घूमनेका उत्कृष्टकाल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र है। तथा जघन्यकाल सब जगह एक अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इस प्रकार अधिकता तो एकेन्द्रिय पर्याय ही धारण करना पड़ती है दूसरी पर्याय तो काकतालीय न्यायके समान कदाचित् मिलती है। यों इस जीवके अनादिसे ही कर्म बन्धनरूप रोग लगा है।

नित्यनिगोद इतर-निगोद

त्रस स्थावरोंमें भ्रमण करनेका जघन्योत्कृष्टकाल

कर्मबन्धन रूप रोगसे जीवकी अवस्था

अब इस कर्मबन्धनरूपी रोगके निमित्तसे जीवकी जो अवस्था हो रही है वह बतलाते हैं। जीवका स्वभाव चैतन्य है वह सभीके सामान्य विशेष स्वरूपका जानने वाला है। पदार्थोंका जो स्वरूप है वह उसे प्रतिभासित होता है। इसीका नाम चैतन्य है [उनमें से सामान्य रूपके अवलोकनका नाम दर्शन है और विशेष रूपके प्रतिभासनका नाम ज्ञान है] अपने इसी स्वभावसे त्रिकालवर्ती संपूर्ण पदार्थोंको उनकी समस्त गुण पर्यायों सहित, प्रत्यक्ष, एक साथ, विना किसी सहारेके, देखने और जाननेकी शक्ति आत्मामें सदा रहती है। परन्तु अनादिसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका संबंध होनेके कारण यह शक्ति प्रकट नहीं होती। उन कर्मोंके क्षयोपशमसे कुछ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाया जाता है। और कभी अवधिज्ञान भी हो जाता है। इसी तरह अचक्षुदर्शन तो होता ही है पर कभी चक्षुदर्शन और अवधिदर्शन भी पाया जाता है। इनकी प्रवृत्ति कैसे होती है, सो भी सुनिये—

जीवका स्वभाव और उसपर कर्मोंका आवरण

मतिज्ञान तो शरीरके अंगभूत जीभ, नासिका, नेत्र, कान और स्पर्शन इन द्रव्येन्द्रियोंकी तथा हृदयमें अष्टदल कमलके आकार बने द्रव्य मनकी सहायतासे ही जानता है। जैसे जिसकी दृष्टि मंद होती है वह देखता तो अपनी आँखोंसे ही है परन्तु विना चशमेकी सहायतासे नहीं देख सकता। वैसे ही अल्पज्ञानी आत्मा जानता तो अपने ज्ञानसे ही है परन्तु द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य मनकी सहायताके विना नहीं जान सकता। तथा जिस तरह नेत्र तो जैसे हैं वैसे ही हैं परन्तु चशमेमें अगर कुछ दोष है तो देख नहीं सकता अथवा थोड़ा देखता है या कुछका कुछ देखता है, उसी तरह अपना क्षयोपशम तो जैसा है वैसा ही है किन्तु द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य मनके परमाणुओंमें कुछ विकार आ गया हो तो जान नहीं सकता अथवा थोड़ा जानता है या कुछका कुछ जानता है। क्योंकि द्रव्येन्द्रिय अथवा मनरूप परमाणुओंके परिणमनका और मतिज्ञानका निमित्त नैमित्तिक संबंध है। इसलिये उनके परिणमनके अनुसार ज्ञानका परिणमन होता है। उदाहरणके लिये जैसे मनुष्यादिकोंके बाल वृद्ध अवस्थामें जब द्रव्येन्द्रिय अथवा मन शिथिल होते हैं तब उनका जानना भी शिथिल हो जाता है। अथवा शीत वायु आदिके निमित्तसे जब स्पर्शनादिक इन्द्रियों अथवा मनके परमाणुओंमें विकार आ जाता है तब उनका जानना भी नहीं होता या थोड़ा जानना होता है अथवा अन्यथा जानना होता है। तथा इसी तरहसे इस ज्ञान और वाह्यद्रव्योंमें भी निमित्त नैमित्तिक संबंध पाया जाता है। अगर आँखों के सामने अंधकार हो, फूला आदि हो जाये या पत्थर सामने आ जाय तो दिखाई नहीं देता। अगर लाल कांच सामने हो तो सब लाल दिखाई देता है, हरा काँच हो तो हरा दिखाई देता है। इसी प्रकार अगर दूरबीन या चशमा लगा हो तो बहुत दीखने लग जाता है। प्रकाश, जल, काँच इत्यादि सामने हो तो जैसा है वैसा दीखता है। इसी तरह

मतिज्ञानकी पराधीन प्रवृत्ति

दूसरी इन्द्रियों और मनके भी यथासंभव निमित्त नैमित्तिक संबंध जानना चाहिये। कभी कभी मंत्रादिकके प्रयोगसे, शराब पीनेसे, भूतादिकके बाधा देनेसे भी नहीं जानना होता या थोड़ा जानना होता है अथवा अन्यथा जानना होता है। इस प्रकार ज्ञान बाह्य द्रव्यके भी अधीन है। इस ज्ञानसे जो कुछ जाना जाता है वह स्पष्ट नहीं जाना जाता। दूरसे कैसा ही जाननेमें आता है, पाससे कैसा ही, तत्काल कैसा ही, बहुत बार जाननेके बाद कैसा ही। अथवा किसीको संशयालु होकर जानता है, किसीको अन्यथा जानता है, किसीको थोड़ा जानता है। निर्मल ज्ञान हो नहीं पाता। इस प्रकार यह मतिज्ञान पराधीनताको लिये हुए इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवृत्ति करता है। उनमेंसे इन्द्रियोंसे तो जितना उनका क्षेत्र है उतने क्षेत्रमें वर्तमान अपने जानने योग्य स्थूल पुद्गल स्कंधोंको जानता है। उनमें भी अलग अलग इन्द्रियोंसे अलग अलग समयमें किसी स्कंधके केवल स्पर्शादिकका[1] ज्ञान होता है। तथा मनसे अपने जानने योग्य त्रिकाल संबंधी थोड़ेसे दूरवर्ती या समीपवर्ती, रूपी या अरूपी द्रव्य पर्यायोंको अत्यंत अस्पष्ट जानता है। वह भी इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान न हुआ हो[2] तथा अनुमानादिक जिसका किया हो उसीको जान सक्ता है। कभी कभी अपनी कल्पनासे असत्‌को ही जानता है। स्वप्नमें या जागतें हुये जिसको कभी कहीं नहीं देखा उसके रूप आकारादिकका विचार करने लगता है। जो जैसा नहीं है उसे वैसा मानने लगता है। इस तरह मनसे जानता है। यों इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है उसका नाम मतिज्ञान है। उसमें भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूप एकेन्द्रियोंके स्पर्शका ही ज्ञान है। लट, शंख आदि दो इन्द्रिय जीवोंके स्पर्श और रसका ज्ञान है। कीड़ी, मकोड़ा आदि तीन इन्द्रिय जीवोंके स्पर्श, रस, गंधका ज्ञान है भौंरा, मक्खी, पतंगे आदि चार इन्द्रिय जीवोंके स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्णका ज्ञान है। मच्छ, गाय, कबूतर आदि तिर्यंच और मनुष्य, देव, नारकी आदि पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्दका ज्ञान है। तिर्यंचोंमें कोई संज्ञी हैं कोई असंज्ञी है। संज्ञी तिर्यंचोंके मनोजनित ज्ञान होता है असंज्ञियोंके नहीं होता। मनुष्य, देव, नारकी सब संज्ञी हैं इनके भी मनोजनित ज्ञान है। इस प्रकार मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है।

श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति

मतिज्ञानसे जिस पदार्थको जाना है उसके संबंधसे अन्य पदार्थका ज्ञान जिसके द्वारा हो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। वह दो प्रकारका है अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। जैसे 'घट' इन दो अक्षरोंका सुनना या देखना तो मतिज्ञान हुआ और उसके संबंधसे जो घट पदार्थका ज्ञान हुआ वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान हुआ इस प्रकार और भी समझना। तथा जैसे स्पर्शसे शीतका जानना तो मतिज्ञान है और उसके संबंधसे यह

१—आदिसे मतलब रस, गन्ध, वर्ण, शब्दको लेना चाहिए। २—यहाँ 'न' शब्द अशुद्ध मालूम पड़ता है कारण मन उसे ही नहीं जानता जिसका इन्द्रियोंसे ज्ञान न हुआ हो बल्कि उसे भी जानता है जिसका इन्द्रियोंसे ज्ञान हुआ हो।

हितकारी नहीं है इससे वचना चाहिये इत्यादि रूप ज्ञान होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रियादिक असंज्ञी जीवोंके ही होता है तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रियोंके दोनों ही श्रुतज्ञान होते हैं। यह श्रुतज्ञान पराधीन मतिज्ञानके भी आधीन है और अन्य कारणोंके भी आधीन है। इसलिये महापराधीन है।

अपनी मर्यादाके अनुसार क्षेत्रकालके प्रमाणको लेकर रूपी पदार्थोंको जिसके द्वारा स्पष्ट जाना जाय उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह देव नारकियोंमें तो सबके पाया जाता है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्योंमें किसी किसीके पाया जाता है। असंज्ञी जीवोंके यह होता ही नहीं। यह भी शरीरादिक पुद्गलोंके आधीन है।

अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति और उसके भेद

अवधिज्ञानके तीन भेद हैं, देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। इनमें देशावधि तो थोड़े क्षेत्रकालकी मर्यादापूर्वक किंचिन्मात्र रूपी पदार्थोंको जानता है वह भी किसी ही जीवके होता है। और परमावधि, सर्वावधि तथा मनःपर्यय ज्ञान मोक्षके मार्गमें लगे हुए मुनियोंके ही प्रकट होते हैं। केवल ज्ञान मोक्षमार्ग स्वरूप ही है। इसलिये इस अनादि संसार अवस्थामें इन ज्ञानोंका सद्भाव नहीं है। इस तरह ज्ञानकी प्रवृत्ति पाई जाती है।

इन्द्रिय और मनका स्पर्शादिक विषयके साथ संबंध होनेपर पहले समयमें मतिज्ञानके पहले जो सत्तामात्र अवलोकनरूप प्रतिभास होता है उसका नाम चक्षुदर्श वा अचक्षुदर्शन है।

चक्षु आदि दर्शनोंका स्वरूप

चक्षुसे जो दर्शन होता है वह तो चक्षुदर्शन है। वह चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंके होता है तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र इन चार इन्द्रियों और मनसे जो दर्शन होता है उसका नाम अचक्षुदर्शन है वह यथायोग्य एकेन्द्रियादिक जीवोंके होता है।

अवधिज्ञानका विषयसंबंध होनेपर अवधिज्ञानके पहले जो सत्तामात्र अवलोकनरूप प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। जिनके अवधिज्ञान होता है उन्हींके अवधिदर्शन होता है। ये तीनों ही दर्शन मतिज्ञान और अवधिज्ञानकी तरह पराधीन समझने चाहिये। केवलदर्शन मोक्षस्वरूप है उसका यहाँ सद्भाव नहीं है।

एक समयमें एक ही उपयोग

इस प्रकार ज्ञान और दर्शनका सद्भाव ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयोपशमके अनुसार होता है। जब क्षयोपशम थोड़ा होता है तब ज्ञान और दर्शनकी शक्ति भी थोड़ी होती है। जब बहुत क्षयोपशम होता है तब शक्ति भी बहुत होती है। क्षयोपशम शक्तिको यथावत् बना रहनेपर भी परिणमनसे एक जीवके एक समयमें एक विषयका ही देखना अथवा जानना होता है। इस परिणमन हीका नाम उपयोग है। एक जीवके एक समयमें ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग ही होता है। तथा एक उपयोगमेंसे भी एक समयमें उसके एक भेदकी ही प्रवृत्ति होती है जैसे, जब मतिज्ञान होता है तब अन्य ज्ञान नहीं होता [एक भेदकी प्रवृत्ति भी एक समयमें एक विषयमें ही होती है अर्थात् जैसे, जब स्पर्शको जानता है तो

रसादिकको नहीं जानता। तथा एक विषयमेंसे भी उसके किसी एक अंशको ही जानता है। जैसे जब उष्ण स्पर्शको जानता है तब रूक्षादिकको नहीं जानता]। यों एक जीवके एक समयमें एक ज्ञेय या एक ही दृश्यका ज्ञान या दर्शन होता है। ऐसा देखा भी जाता है कि जब सुननेमें उपयोग लगा हो तब आँखोंके सामनेका समीपवर्ती पदार्थ भी नहीं दीखता। इसी प्रकार और प्रवृत्ति भी देखी जाती है। तथा उपयोग जल्दी होता है इसलिये कभी हम एक साथ भी अनेक पदार्थोंका जानना व देखना मान लेते हैं। पर वास्तवमें एक साथ नहीं होता, क्रमसे ही होता है। संस्कारवश उनका साधन रहता है। जैसे कौएके नेत्रके दो गोलक हैं पुतली एक है पर वह फिरती शीघ्र है इसलिये दोनों गोलकोंका काम करती है। वैसे ही इस जीवके द्वार तो अनेक हैं पर उपयोग एक है, वह शीघ्र परिणमन करता है इसलिये सब द्वारोंका साधन रहता है।

प्रश्न—अगर एक समयमें एक विषयका ही जानना व देखना होता है तो उतना ही क्षयोपशम कहना चाहिये अधिक कहनेसे क्या मतलब? और क्षयोपशमसे शक्ति होना जो कहा है सो शक्ति तो आत्मामें केवल ज्ञान और केवलदर्शनकी भी पाई जाती है?

एक समयमें एकका ही ज्ञान होनेपर अधिक क्षयोपशमकी संभवता

उत्तर—जैसे किसी पुरुषमें बहुत गाँवोंमें जानेकी शक्ति है लेकिन किसीने उसे रोककर कहा कि पाँच गाँवोंमें जाओ, किन्तु एक दिनमें एक ही गाँवमें जाओ। यहाँ उस पुरुषके बहुत गाँवोंमें जानेकी शक्ति तो द्रव्य अपेक्षा मौजूद है, अन्य समयमें वह सामर्थ्य कार्यरूप हो सकती है किन्तु वर्तमानमें कार्यरूप नहीं है। वर्तमानमें तो वह केवल पाँच गाँवोंमें ही गमन कर सकता है। यह पाँच गाँवोंमें जानेकी वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति पर्याय अपेक्षासे मौजूद है किन्तु उसका प्रगटपना एक दिनमें एक गाँवको जाने रूप ही पाया जाता है। वैसे ही इस जीवके सबके देखने जाननेकी शक्ति है परन्तु इसे कर्मोंने रोक रक्खा है। केवल थोड़ा सा क्षयोपशम है उसके द्वारा स्पर्शादिक विषयोंको जानता देखता तो है लेकिन एक समयमें एक ही को जानता व देखता है। यहाँ इस जीवके सबके देखने जाननेकी शक्ति द्रव्य अपेक्षा मौजूद है दूसरे समयमें वैसी सामर्थ्य हो सकती है परन्तु वर्तमानमें सामर्थ्यरूप नहीं है वर्तमानमें तो अपने योग्य विषयोंको ही देख व जान सकता है। यह अपने योग्य विषयोंको जानने व देखनेकी वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति पर्याय अपेक्षा मौजूद है उसकी व्यक्तता एक कालमें एक हीको जानने व देखने की पाई जाती है।

प्रश्न—यह तो ठीक है लेकिन यह बताइये कि क्षयोपशम होनेपर भी बाह्य इन्द्रियादिकका अन्यथा निमित्त मिलनेपर देखना जानना नहीं होता वा थोड़ा होता है या अन्यथा होता है। अतः इसमें कर्म ही तो निमित्त नहीं रहा?

ज्ञानदर्शनको पराधीनतामें कर्म ही निमित्त है।

उत्तर—जैसे रोकने वालेने यह कहा कि पाँच गाँवोंमेंसे एक दिनमें एक ही गाँवमें जाओ। परन्तु इन नौकरोंको साथ लेकर जाओ। अब यदि नौकर रास्तेमें बिगड़ जाँय तो जाना नहीं होता या थोड़ा जाना होता है या अन्यथा

जाना होता है। वैसे ही कर्मका क्षयोपशम ही ऐसा होता है कि इतने विषयोंमें से एक कालमें एक विषयको देखो और जानो परन्तु इन बाह्य द्रव्योंके सहारेसे जानो। अब यदि बाह्य द्रव्योंमें विकार आ जाता है तो देखना जानना नहीं होता या कम होता है या अन्यथा होता है। इस तरह यह कर्मोंके ही क्षयोपशमकी विशेषता है। इसलिये कर्मको ही निमित्त समझना चाहिये। जैसे किसीको अंधकार सामने आ जानेपर नहीं दीखता किन्तु उल्लू बिल्ली आदिकोंको अंधेरेमें भी दीखता है यह क्षयोपशमकी ही विशेषता है। जैसा क्षयोपशम होता है वैसा वैसा ही देखना जानना होता है। इस प्रकार इस जीवके क्षायोपशमिक ज्ञानकी प्रवृत्ति पाई जाती है।

मोक्षके मार्गमें लगे हुए जीवोंको जो अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं वे भी क्षयोपशम ज्ञान ही हैं। उनमें भी एक समयमें एकका ही प्रतिभासन होता है तथा वे भी परद्रव्यके आधीन हैं। तथा जो विशेष बात है वह विशेषरूपसे जानना। इस प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरणके उदयसे ज्ञान और दर्शनके बहुत अंशोंका तो अभाव है और उनके क्षयोपशमसे थोड़े अंशोंका सद्भाव पाया जाता है।

इसी तरह इस जीवके जब मोहका उदय होता है तब मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं। मिथ्यात्व भाव तो दर्शन मोहके उदयसे होता है जिससे यह जीव अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्व श्रद्धान करता है। तत्व जिस प्रकार हैं उस प्रकार तो नहीं मानता, जिस प्रकार नहीं है उस प्रकार मानता है। आप स्वयं अमूर्तिक प्रदेशोंका पुञ्ज है, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंका धारक है, अनादि निधन है। और जिनका जीवसे नया सम्बन्ध हुआ है ऐसे शरीरादिक मूर्तिक पुद्गल द्रव्योंके पिण्ड हैं, ज्ञानादि गुणोंसे हीन हैं, और जीवसे भिन्न हैं। इनके संयोगसे नाना प्रकार मनुष्य तिर्यञ्चादिक पर्यायें होती है, उन पर्यायोंमें यह जीव अहं बुद्धि रखता है। स्व और परका भेद नहीं कर सकता। जो पर्याय पाता है उसीको 'यह मैं हूँ' ऐसा समझता है। पाई हुई उस पर्यायमें जो ज्ञानादिक हैं वे तो अपने निजके गुण हैं और जो रागादिक हैं वे कर्मके निमित्तसे होनेवाले औपाधिक भाव हैं। तथा वर्णादिक अपने गुण नहीं हैं शरीरादिक पुद्गलोंके गुण हैं। इन वर्णादिकोंका या परमाणुओंका शरीरादिक पुद्गलोंमें ही अनेक प्रकार जो परिवर्तन होता है वह पुद्गलकी ही अवस्था है। किन्तु यह जीव इन सभीको ही अपना स्वरूप समझता है। स्वभाव परभावका इसको विवेक नहीं होता। यहाँ तक कि मनुष्यादि पर्यायोंमें कुटुम्ब धनादि जो प्रत्यक्ष अपनेसे भिन्न है और जो अपने आधीन होकर परिणमन भी नहीं करते। उनमें भी यह अपनापन करता है। हालाँकि वे किसी प्रकार अपने नहीं है किन्तु यही अपनी कल्पनासे उन्हें अपना मानता है। कभी मनुष्यादिक पर्यायमें देवादिक तत्त्वोंके कल्पित अन्यथा स्वरूपका तो विश्वास करता है किन्तु यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा विश्वास नहीं करता। इस तरह दर्शन मोहके उदयसे जीवके अतत्त्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्वभाव होता है। जहाँ तीव्र उदय होता है वहाँ

मोहका उदय और मिथ्यात्वका स्वरूप

सत्य श्रद्धान से बहुत विपरीत श्रद्धान होता है जब मन्द उदय होता है तब सत्य श्रद्धानसे कम विपरीत श्रद्धान होता है।

इसी प्रकार चारित्र मोहके उदयसे इस जीवके कषायभाव होते हैं। तब यह देखता जानता हुआ भी पर पदार्थोंमें इष्ट अनिष्टकी कल्पना करके क्रोधादिक करता है। क्रोधके उदयसे पदार्थोंमें अनिष्टपनेकी कल्पना करके उनका बुरा होना चाहता है। कोई मंदिर आदिक अचेतन पदार्थ यदि बुरा लगता है तो उसका टूटना फूटना चाहता है। जब शत्रु आदिक सचेतन पदार्थ बुरे लगते हैं तब वध बन्धनादिकके द्वारा दुःख देकर उनका बुरा चाहता है, इसी प्रकार अपना या अन्य किसी चेतन अचेतन पदार्थका कोई परिणमन जब अपनेको बुरा लगता है तब उस परिणमनका अन्यथा परिणमन करके उसका बुरा चाहता है। इस तरह क्रोधके उदयसे बुरा चाहनेकी इच्छा तो होती है पर बुरा होना होनहारके आधीन है। मानके उदयसे किसी पदार्थोंमें अनिष्टपना मान कर उसे नीचा दिखाना चाहता है आप ऊँचा होना चाहता है। मैल धूल आदि अचेतन पदार्थोंमें घृणा या निरादर करके उनकी हीनता और अपनी उच्चता चाहता है। तथा पुरुषादिक सचेतन पदार्थोंको झुकाकर अपने आधीन करके उनकी हीनता और अपनी उच्चता चाहता है। लोकमें अपनेको ऊँचा बतलानेके लिये उसीके अनुसार अपनी वेषभूषा बनाकर धन खर्च करके औरोंको हीन दिखाकर स्वयं उच्च होना चाहता है। अपनेसे ऊँचा कार्य करने वाले को किसी उपायसे नीचा दिखाता है और अपने नीच कार्यको ऊँचा दिखाता है। यों मानसे अपने बड़प्पनकी इच्छा होती है परन्तु बड़ा होना होनहार के आधीन है।

चरित्रमोहसे कषाय भावोंकी प्रवृत्ति

मायाके उदयसे किसी पदार्थको इष्ट मानकर अनेक छलोंसे उसकी सिद्धि करना चाहता है। रत्नसुवर्णादिक अचेतन पदार्थोंकी या दासीदासादिक सचेतन पदार्थोंकी सिद्धिके लिये अनेक छल करता है उनके लिये अपने अनेकरूप बनाता है और अन्य अचेतन तथा सचेतन पदार्थोंका रूप बदलता है। इस प्रकार मायासे इष्टसिद्धिके लिये छल तो करता है परन्तु इष्टसिद्धि होना भवितव्यके ऊपर है।

लोभके उदयसे पदार्थोंको इष्ट मानकर उन्हें पाना चाहता है, वस्त्राभरण धनधान्यादिक अचेतन पदार्थोंकी तृष्णा होती है, स्त्रीपुत्रादि सचेतन पदार्थोंकी तृष्णा होती है। अपने व अन्य चेतन अचेतन पदार्थोंके इच्छित परिणमनकी आवश्यकता समझ कर उनको उसी रूप परिणमन कराना चाहता है। इस प्रकार लोभसे इष्ट प्राप्तिकी इच्छा तो होती है परन्तु इष्ट प्राप्ति होना भवितव्यके आधीन है। यों क्रोधादिकसे आत्माका परिणमन होता है। उन क्रोधादिक कषायोंमें भी एक एकके चार चार भेद हैं।

अनंतानुबंधी १ अप्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरण ३ और संज्वलन ४ जिनके उदयसे आत्माके सम्यक्त्व न हो तथा स्वरूपाचरण चारित्र न हो सके वे अनंतानुबंधी कषाय हैं।

जिनके उदयसे देशचारित्ररूप थोड़ा भी त्याग न हो सके वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय हैं।

कषायोंके उत्तर भेद और उनका कार्य

जिनके उदयसे सबका त्यागरूप सकल चारित्र हो सके वे प्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। जिनके उदयसे सकल चारित्रमें दोष पैदा हों और यथाख्यात-चारित्र न हो सके वे संज्वलन कषाय हैं। अनादि संसार अवस्थामें इन चारों कषायोंका निरंतर उदय पाया जाता है। जहाँ परम कृष्ण लेश्यारूप तीव्र कषाय हों वहाँ भी और जहाँ शुक्ल लेश्यारूप मंदकषाय हों वहाँ भी निरंतर चारों ही का उदय रहता है। क्योंकि तीव्रमंदकी अपेक्षा अनंतानुबंधी आदि भेद नहीं हैं। किन्तु सम्यक्त्वादिको घातनेकी अपेक्षा ये भेद हैं। इन कषायोंकी प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागका उदय होने पर तीव्र क्रोधादिक होते हैं मंद अनुभागका उदय होने पर मंद होते हैं। तथा मोक्षमार्गमें लगनेपर चारोंमेंसे क्रमशः तीन दो और एकका उदय होता है बादमें चारोंका अभाव हो जाता है। क्रोधादि चारों कषायोंमेंसे एक समयमें एकका ही उदय रहता है। इन चारों कषायोंका परस्परमें कार्यकारण भाव है। क्रोधसे मानादिक हो जाते हैं मनसे क्रोधादिक हो जाते हैं। इसलिये कभी तो उनमें भिन्नता मालूम पड़ती है कभी भिन्नता नहीं मालूम पड़ती। इस तरह कषाय रूप परिणमन समझना चाहिये।

चारित्रमोहके ही उदयसे नोकषाय होती हैं। हास्यके उदयसे कहीं इष्टपना मानकर प्रफुल्लित होता है हर्ष मनाता है। रतिके उदयसे किसीको इष्ट मानकर प्रीति करता है। उसमें आसक्त होता है। अरतिके उदयसे किसीको अनिष्ट मानकर अप्रीति करता है उसमें उद्वेगरूप होता है। शोकके उदयसे कहीं अनिष्टपना मानकर दिलगीर होता है विषाद करता है। भयके उदयसे किसीको अनिष्ट मानकर उससे डरता है उसका संयोग नहीं चाहता। जुगुप्साके उदयसे किसी पदार्थको अनिष्ट मानकर उससे घृणा करता है उसका वियोग चाहता है। इस तरह हास्यादिक छः कषाय तो ये हैं। तथा वेदके उदयसे इसके कामरूप परिणाम होते हैं। उनमेंसे स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषसे रमण करनेकी इच्छा होती है। पुरुष वेदके उदयसे स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छा होती है। नपुंसक वेदके उदयसे एक साथ दोनोंसे रमणकी इच्छा होती है। इस प्रकार ये नव नोकषाय हैं। क्रोधादिकके समान ये बलवान नहीं हैं इसलिये इनको ईषत्कषाय कहते हैं। यहाँ 'नो' शब्द का अर्थ 'ईषत्' समझना चाहिये। उन क्रोधादिकके साथ इनका यथासंभव उदय होता है। इस प्रकार मोहके उदयसे मिथ्यात्व व कषाय भाव होते हैं। ये ही संसारके मूल हैं। इन्हीसे वर्तमान कालमें जीव दुखी है और आगामी कर्म बन्धनके भी ये ही कारण हैं तथा इन्हींका नाम राग द्वेष और मोह है। उनमेंसे मिथ्यात्वका नाम मोह है। क्योंकि मिथ्यात्वमें सावधानी नहीं है। माया और लोभ कषाय तथा हास्य और रति तथा तीन वेदोंका नाम राग है क्योंकि वहाँ इष्ट बुद्धि से अनुराग पाया जाता है। क्रोध तथा मान कषाय और अरति शोक भय और जुगुप्सा इनका नाम द्वेष है कारण अनिष्ट बुद्धिसे इनमें द्वेष देखा जाता है[1]।

१—क्रोध दोष है, क्योंकि क्रोधके करनेसे शरीरमें संताप होता है, शरीर कांपने लगता है उसकी

सामान्यतया इन सब ही का नाम मोह है क्योंकि इन सब हीमें असावधानी पाई जाती है।

अंतरायका कार्य

अंतरायके उदयसे जीव जो चाहता है वह नहीं होता। दान देना चाहता है पर दे नहीं सकता। वस्तुकी प्राप्ति चाहता है पर होती नहीं। भोग करना चाहता है पर नहीं भोग पाता। उपभोग चाहता है पर उपभोग कर नहीं सकता। अपनी ज्ञानादि शक्ति प्रगट करना चाहता है पर नहीं होती। यों अंतरायके उदयसे जो चाहता है वह नहीं होता। किन्तु उसीके क्षयोपशमसे कुछ चाहा हुआ भी होता है। चाहता तो बहुत है परन्तु चाहनेके अनुसार होता थोड़ा है। बहुत दान देना चाहता है परन्तु थोड़ा ही दे सकता है। लाभ अधिक चाहता है परन्तु थोड़ा ही होता है। ज्ञानादिक शक्तिके प्रगट होनेमें भी अनेक बाह्य कारणोंकी आवश्यकता होती है घातिकर्मोंके उदयसे जीवकी इस प्रकार अवस्था होती है।

वेदनीय आदि अघातिया कर्मोंका कार्य

अघातिकर्मोंमें से वेदनीयके उदयसे शरीरमें बाह्य सुखदुःखका कारण पैदा होता है। शरीरमें आरोग्यता, रोगीपना, सबलता, निर्बलता इत्यादिक और क्षुधा, तृषा, रोग, खेद, पीड़ा इत्यादि सुखदुःखके कारण होते हैं। तथा बाह्यमें सुहावनी ऋतु, पवनादिक, इष्ट स्त्रीपुत्रादिक अथवा मित्रधनादिक और असुहावनी ऋतु पवनादिक, अनिष्ट स्त्रीपुत्रादिक या शत्रु गरीबी वधबंधनादिक सुख-दुःखके कारण होते हैं। इन बाह्य कारणोंमें कितने ही कारण तो ऐसे हैं जिनके निमित्तसे शरीरकी अवस्था ही सुखदुःखका कारण हो जाती है और उन्हींसे सुख दुःख होता है। तथा कितने ही ऐसे हैं जो स्वयं ही सुखदुःखके कारण होते हैं। इन कारणोंका मिलना वेदनीयके उदयसे होता है। उसमें सुखका कारण तो साता वेदनीयसे मिलता है और दुःखका कारण असाता वेदनीयसे मिलता है। यहाँ इन कारणों हीसे सुख दुःखका होना नहीं समझ लेना चाहिये किन्तु मोह कर्मके उदयसे आत्मा स्वयं ही सुख दुःख मानता है। वेदनीय कर्मका और मोहनीय कर्मके उदयका ऐसा ही संबंध है। जब साता वेदनीयका पैदा किया हुआ बाह्य कारण मिलता है तब सुख मानने रूप मोह कर्मका उदय होता है और जब असाता वेदनीय द्वारा पैदा किया हुआ बाह्य कारण मिलता है तो दुःख मानने रूप मोह कर्मका उदय होता है। एक ही वस्तु किसीको सुखका और किसीको दुःखका कारण होती है। उदाहरणके लिये किसीके साता वेदनीयके

कान्ति बिगड़ जाती है, आँखोंके सामने अंधेरा छा जाता है, कान बहरे हो जाते हैं, मुखसे शब्द नहीं निकलते, स्मृति लुप्त हो जाती है आदि।

मानदोष है क्योंकि वह क्रोधके अनन्तर उत्पन्न होता है और क्रोधके विषयमें कहे गए समस्त दोषोंका कारण है। माया पेज्ज (राग) है क्योंकि उसका आलम्बन प्रिय वस्तु है तथा वह अपनी निष्पत्ति अनन्तर कालमें मनमें संतोष पैदा करती है। इसी प्रकार लोभ पेज्ज है क्योंकि वह प्रसन्नताका कारण है।

अरति शोक भय और जुगुप्सा द्वेष रूप हैं क्योंकि यह सब क्रोधके समान अशुभके कारण हैं। तथा हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद पेज्ज रूप हैं क्योंकि ये सब लोभके समान रागके कारण हैं। —जयधवला हि० अ० पृ० ३६६।

उदयसे मिला हुआ जैसा वस्त्र सुखका कारण है। दूसरेको असाता वेदनीयके उदयसे मिला हुआ वैसा ही वस्त्र दुःखका कारण होता है इसलिये बाह्य वस्तु सुखदुःखका निमित्तमात्र ही है। सुखदुःख तो मोहके उदयसे होता है। निर्मोही मुनियोंके अनेक ऋद्धि आदि, तथा परीषहादि कारण मिलते हैं तो भी सुखदुःख नहीं होता। किन्तु मोही जीवके कारण मिलें या न मिलें, अपने संकल्पसे ही सुखदुःख हुआ करते हैं। उसमें भी तीव्र मोहीके जिस कारणके मिलनेपर तीव्र सुखदुःख होता है उसी कारणके मिलनेपर मन्दमोहीके मन्द सुखदुःख होता है। इसलिये सुखदुःखका मूल बलवान् कारण मोहका उदय है। अन्य वस्तु बलवान् कारण नहीं है। परन्तु अन्य वस्तु और मोही जीवके परिणामोंमें निमित्त नैमित्तिक संबंधकी मुख्यता हैं इसलिये मोही जीव अन्य वस्तुको ही सुखदुःखका कारण मानता है। इस तरह वेदनीयके द्वारा सुखदुःखका कारण पैदा होता है।

इसी प्रकार आयु कर्मके उदयसे मनुष्यादि पर्यायोंकी स्थिति रहती है। जबतक आयुका उदय रहता है तबतक अनेक रोगादिक होनेपर भी शरीरसे संबंध नहीं छूटता। जब आयुका उदय नहीं होता तब अनेक उपाय करने पर भी शरीरसे संबंध नहीं रहता। उसी समय आत्मा और शरीर अलग हो जाते हैं। इस संसारमें जीवन मरणका कारण आयु कर्म ही है। जब नवीन आयुका उदय होता है तब नवीन पर्यायमें जन्म होता है। और जबतक वह आयु रहती है तबतक उस पर्यायरूप प्राणोंके धारण करनेसे जीना होता है। तथा जब उसका क्षय होता है तब उस पर्यायरूप प्राणोंके छूट जानेसे मरण हो जाता है। स्वभावतः इस प्रकार आयु कर्मका निमित्त है। कोई और पैदा करनेवाला, मारनेवाला या रक्षा करनेवाला नहीं है यह निश्चय समझना चाहिये। जिस प्रकार नये कपड़े पहनकर भी कुछ समय तक ही उनका पहरना होता है बादमें उनको छोड़कर नये कपड़े पहने जाते हैं उसी प्रकार यह जीव नवीन शरीर धारण करनेपर भी कब तक उसे धारण किये रह सकता है? उसे छोड़ वह अन्य शरीर धारण करता है। इसलिये शरीर संबंधकी ही अपेक्षा जन्मादिक है। जीव तो जन्मादिरहित नित्य है। फिर भी मोही जीवके भूत और भविष्यका विचार नहीं है इसलिये पर्याय रहने तक ही अपना अस्तित्व मानकर पर्याय संबंधी कार्योंमें ही लगा रहता है। इस प्रकार आयुसे पर्यायकी स्थिति जाननी चाहिये।

नामकर्मके उदयसे यह जीव मनुष्यादि गतियोंमें जाता है और उसी पर्याय रूप उसकी अवस्था होती है। वहाँ भी त्रस स्थावरोंमें विशेष जन्म लेता है और एकेन्द्रियादि जातिको धारण करता हैं। इस जाति नाम कर्मके उदयका और मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमका निमित्त नैमित्तिक संबंध समझना चाहिये जैसा क्षयोपशम हो वैसी ही जाति प्राप्त होती है। इस जीवका और शरीरका जब संबंध होता है तब शरीरके परमाणु और आत्माके प्रदेशोंका एक बँधन होता है और संकोच विस्तार रूप होकर यह आत्मा शरीरके बराबर ही रहती है। नोकर्मरूप शरीरमें अंगोपांगादिक भी अपने योग्यस्थान और योग्य परिमाणको लेकर होते हैं। इस हीसे स्पर्शन रसना आदि द्रव्येन्द्रियां पैदा होती हैं तथा हृदय स्थानमें आठ पांखडीका खिले हुए कमलके आकारका द्रव्यमन होता है। उस ही शरीरमें आकार वर्ण स्थूल सूक्ष्मत्व आदि कार्य भी पैदा होते

है यह सब शरीरके परमाणुओंके ही परिणमनका परिणाम है जो श्वासोच्छ्वास तथा स्वर है यह भी पुद्गलके पिंड हैं और शरीरके ही एक बंध रूप हैं, इनमें भी आत्माके प्रदेश व्याप्त हैं। जिसमें श्वासोच्छ्वास तो पवन है और अहारको लेने तथा नीहारको छोड़नेसे जैसे जीवन रहता है वैसे ही बाहरकी पवनको लेने तथा भीतरकी पवनको छोड़नेसे ही जीवन रहता है। इसीलिये श्वासोच्छ्वास जीवनका कारण है। इस शरीरमें जो स्थिति हड्डी मांसादिककी है वही पवन की है। तथा हाथ आदिकसे कार्य करनेकी तरह पवनसे भी कार्य किया जाता है। मुखमें रक्खा हुआ ग्रास पवनसे ही निगला जाता है, मल आदिक पवनसे ही त्यागे जाते हैं इसी तरह अन्य कार्य भी समझना चाहिए। नाड़ी वायुरोग वायगोला आदि पवनके रूप भी शरीरके अङ्ग हैं। स्वर शब्द रूप ही है। जैसे वीणाके तारको हिलाने पर भाषा रूप होने योग्य पुद्गलस्कंध साक्षर और अनक्षर शब्द रूप परिणमन करते हैं वैसे ही तालु ओठ आदि अङ्गोंके हिलाने पर भाषा पर्याप्तिके द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल स्कंध साक्षर तथा अनक्षर शब्दरूप परिणमन करते हैं। गमन भी शुभ अशुभ रूप होता है। जैसे एक बेड़ीमें बँधे हुए दो पुरुषोंमेंसे यदि एक गमन करना चाहे और दूसरा भी उसके साथ गमन करे तो गमनादि होते हैं। दोनोंमेंसे एक बैठ जाय तो गमनादि नहीं होते। अथवा दोनोंमें एक बलवान हो और वह दूसरेको घसीट ले जाय तो गमन होता है उसी प्रकार आत्मा और शरीरादि पुद्गलका एक क्षेत्रावगाह रूप बंधन है। यदि आत्मा हलन चलन करना चाहे और पुद्गलमें वैसी शक्ति न हो तो हलन चलन हो नहीं सकता। अथवा पुद्गलमें तो शक्ति हो और आत्माकी इच्छा न हो तो भी हलन चलन नहीं होता। और यदि पुद्गल बलवान हो और हलन चलन करे तो उसके साथ आत्मा विना इच्छाके भी हलन चलन करता है।

इस आत्माका अपयश आदि भी बाह्य निमित्तको लेकर होता है। इस तरह इन कार्योंसे मोहके अनुसार आत्मा सुखी दुखी होता है। नाम कर्मके उदयसे अपने आप इस तरह अनेक प्रकारकी रचना होती है दूसरा कोई करने वाला नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति तो आजकल यहाँ होती नहीं। गोत्र कर्मसे ऊँचे नीचे कुलमें जन्म होता है और उसीके अनुसार मोहके निमित्तसे जीव सुखी या दुखी होता है। यों अघातिया कर्मोंके निमित्तसे अवस्था होती है।

इस प्रकार इस अनादि संसारमें घातिया तथा अघातिया कर्मोंके उदयके अनुसार आत्माकी अवस्था होती है, इसलिए हे भव्य ! अपने अंतरङ्गमें विचार करके देख कि ऐसा है कि नहीं? विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि ऐसी अवस्था है। इसलिये तू ऐसा समझ कि तुझे अनादिसे यह संसार रूपी रोग लगा है और उसके नाशका तुझे उपाय करना है। इस विचारसे तेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाश नामक शास्त्रमें संसार अवस्थाका निरूपण
करने वाला द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ।

अध्याय ३

संसार और मोक्ष सुखका निरूपण

सो निज भाव सदा सुखद अपना करो प्रकाश।
जो बहुविध भव दुखनिको करि है सत्तानाश॥

अब इस संसार अवस्थामें होनेवाले नाना प्रकारके दुःखोंका वर्णन करते हैं क्योंकि यदि संसारमें सुख हो तो संसारसे मुक्त होनेका उपाय क्यों किया जाय ? अतः संसारमें अनेक दुःख हैं इसीसे उससे मुक्त होनेका उपाय किया जाता है। जैसे वैद्य रोगका निदान और उसकी अवस्थाका वर्णन कर रोगीको रोगका निश्चय कराता है और रोगके इलाज करानेकी उसमें रुचि पैदा करता है, वैसे ही यहाँ संसारका निदान और उसकी अवस्थाका वर्णन करके संसारीको संसार रोगका निश्चय कराते हुए उसके उपायकी रुचि उत्पन्न की जायगी। जैसे रोगी रोगसे दुखी है परन्तु उसका मूल कारण नहीं जानता, सच्चे उपायका उसे ज्ञान नहीं है और दुःख भी उससे सहा नहीं जाता तब स्वयंको जैसा दीखता है वैसा उपाय करता है लेकिन उससे दुःख दूर नहीं होता, तड़प तड़प कर पराधीन हो दुःख उठाता है तब वैद्य उसे दुःखका मूल कारण बताता है, दुखका स्वरूप बताता है और उसके लिये उपायोंको झूठा दिखाता है इसके बाद सच्चा ऊपाय करनेकी उसकी रुचि होती है। उसी प्रकार यह संसारी संसाररोगसे दुखी हो रहा है परन्तु उसका मूल कारण जानता नहीं और सच्चे उपायका उसे ज्ञान नहीं है तथा दुःख भी सहा नहीं जाता, तब उसे जो दीखता है वह करता है लेकिन उससे दुःख दूर नहीं होता, तड़प तड़प कर परवश हो दुःख उठाता है। ऐसी हालतमें अगर इसे दुःखका मूल कारण और दुःखका स्वरूप बता दिया जाय तथा इसके किए उपायोंको झूठा सिद्ध कर दिया जाय तो सच्चा उपाय करनेकी इसकी रुचि हो सकती है इसलिए यह वर्णन यहाँ किया जाता है।

संसार दुःखोंके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा

सब दुःखोंका मूल कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम है। दर्शन मोहके उदयसे जो अतत्व श्रद्धान होता है उसका नाम मिथ्यादर्शन है, उससे वस्तु स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती बल्कि अन्यथा प्रतीति होती है। उसी मिथ्यादर्शनके निमित्त से क्षयोपशमरूप ज्ञान मिथ्याज्ञान हो रहा है। उससे यथार्थ वस्तु स्वरूपका ज्ञान नहीं होता बल्कि अन्यथा ज्ञान होता है। तथा चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न हुए कषायभावका नाम असंयम है उससे जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसी प्रवृत्ति नहीं करता है अन्यथा

दुःखोंका मूल कारण

प्रवृत्ति करता है। इस तरह यह मिथ्यादर्शनादिक ही सब दुःखोंके मूलकारण हैं इसीको आगे स्पष्ट करते हैं।

मिथ्यादर्शनका प्रभाव

मिथ्यादर्शनादिकसे जीवके स्वपर विवेक नहीं हो सकता। स्वयं आत्मा और अनंत पुद्‌गल परमाणुमय शरीरके संयोगरूप जो मनुष्यादि पर्याय उत्पन्न होती है, उसीको यह अपना रूप मानता है। आत्माके ज्ञान दर्शनादिक जो स्वभाव हैं उनसे यह किंचित् जानता देखता है और इसके परिणाम कर्म उपाधिसे उत्पन्न क्रोधादिक भावरूप पाए जाते हैं। शरीरका स्पर्श, रस, गंध और वर्णरूप स्वभाव सबके प्रत्यक्ष ही है, इसका स्थूल कृश होना इसके स्पर्शादिकका पलटना आदि अनेक इसकी अवस्थाएँ भी होती हैं, इन सबको यह अपना स्वरूप समझता है। चूँकि ज्ञानकी प्रवृत्ति इन्द्रिय और मनके द्वारा होती है इसलिये यह खाल, जीभ, नाक, नेत्र, कान और मनको अपना अंग मानता है। इनसे मैं देखता जानता हूँ यह मानकर इन्द्रियोंसे प्रीति करता है।

मोहके निमित्तसे विषयोंकी इच्छा होती है

मोहके आवेशसे उन इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करनेकी इसकी इच्छा होती है। जब इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण करनेके बाद इच्छाएँ तृप्त हो जाती हैं तब निराकुल होकर आनन्द मानता है। जैसे, कुत्ता हड्डी चाबते समय अपने मुँहसे निकलते हुये लोहूके स्वादको हड्डीका स्वाद मानता है, वैसे ही यह जीव विषयोंको जानते समय अपनी ही ज्ञानकी प्रवृत्तिके स्वादको विषयोंका स्वाद मानता है। किन्तु विषयोंमें स्वाद नहीं है, यह स्वयं ही इच्छा करता है, स्वयं ही जानता है, स्वयं ही आनन्द मनाता है परन्तु मैं अनादि अनंत ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं ऐसे शुद्ध ज्ञानका अनुभव इसे नहीं होता। मैंने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूंघा, पदार्थका स्पर्श किया, स्वाद चखा, मुझे यह जानता है। इस प्रकार ज्ञेय मिश्रितज्ञानके अनुभवसे भी प्रधानता भासित होती है। इस तरह इस जीवके मोहके निमित्तसे विषयोंकी इच्छा पाई जाती है।

शक्ति कम होनेसे इच्छानुसार विषय न भोग सकनेसे दुख

इच्छा तो इसके त्रिकालवर्ती सब विषयोंके ग्रहण करनेकी है, कि मैं सबको स्पर्शन करूं, सबका स्वाद लूं, सबको सूंघूं, सबको देखूं, सबको सुनूं और सबको जानूं। यों इच्छा इतनी अधिक है और शक्ति इतनी ही है कि इन्द्रियोंके सन्मुख आए हुए वर्तमान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, और शब्दोंमें से किसी एक को थोड़ा सा ग्रहण करता है अथवा स्मरण पूर्वक मन द्वारा थोड़ा जानता है और वह भी जानना वगैरह बाह्यमें अनेक कारण मिलने पर होता है। इसलिए इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। उक्त इच्छा तो केवलज्ञान होने पर पूर्ण होती है। क्षयोपशम रूप इन्द्रियोंके द्वारा वह इच्छा पूर्ण नहीं होती। इसलिये मोहके निमित्तसे इन्द्रियोंके अपने-अपने विषय ग्रहण की इच्छा निरन्तर रहा ही करती हैं। उसीसे व्याकुल होकर यह दुखी रहता है। और इतना दुखी रहता है कि किसी एक विषय की प्राप्तिके लिये यह अपना

मरण भी नहीं गिनता। जैसे हाथीको कपटकी हथिनीका शरीर छूनेकी, मच्छको काँटे में लगे हुए मांस खानेकी, भ्रमरको कमलकी सुगंध लेनेकी, पतंगको दीपककी चमक देखनेकी और हिरणको गीत सुननेकी ऐसी इच्छा होती है कि तत्काल मरण दिखाई देता है तो भी उस मृत्युको नहीं गिनता और इच्छाकी ही पूर्ति करता है। क्योंकि मृत्युकी पीड़ासे इन्द्रियों द्वारा विषय सेवनकी पीड़ाको अधिक महसूस करता है। इन इन्द्रियोंकी पीड़ासे दुखी होकर जैसे विनाही विचारे कोई दुखी, पर्वतसे गिर पड़ता है वैसे ही यह जीव इन विषयोंमें कूद पड़ता है। अनेक कष्टोंसे कमाया हुआ धन इन विषयोंमें ही खो देता है। विषयोंके लिये जहाँ मृत्युकी संभावना है वहाँ भी पहुँचता है। नरकादिके कारण हिंसादि कार्योंको भी करता है, क्रोधादि कषायोंको भी पैदा करता है। करे भी तो क्या इन्द्रियोंकी पीड़ा सही नहीं जाती इसलिए कोई दूसरा उपाय भी नहीं सूझता। इन्द्रादिक भी इसी पीड़ासे पीडित हो विषयोंमें अत्यंत आसक्त रहते हैं। जैसे खाजरोग-से पीड़ित मनुष्य आसक्त होकर खुजाता है अगर वहाँ पीड़ा नहीं है तो क्यों खुजाता है वैसे ही इन्द्रिय रोगसे पीड़ित हुए इन्द्रादिक आसक्त हो इन्द्रिय विषयोंका सेवन करते हैं। अगर उन्हें पीड़ा न हो तो वे विषयोंका सेवन क्यों करें। इस तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरणके क्षयोप-शमसे उत्पन्न इन्द्रिय जनित ज्ञान मिथ्यादर्शनादिकके निमित्तसे इच्छा सहित हो कर दुखका कारण बन गया है।

अब यह जीव इस दुःखके दूर करनेका क्या उपाय करता है। यह बताते हैं—

दुःख दूर करनेका झूंठा उपाय

इन्द्रियोंके द्वारा विषय सेवन करनेसे मेरी इच्छा पूर्ण होगी ऐसा जानकर पहले तो नाना प्रकारके भोजनोंसे इन्द्रियोंको प्रबल करता है और समझता भी यही है कि यदि मेरी इन्द्रियाँ प्रबल रहेंगी तो मेरे विषय ग्रहणकी शक्ति भी विशेष होगी। इसके लिये आवश्यकतानुसार अनेक बाह्यकारणोंको मिलाता है, और चूंकि इन्द्रियां सन्मुख आये हुए विषयको ग्रहण करती हैं इसलिये अनेक बाह्य उपायोंसे विषय और इन्द्रियोंका संयोग मिलाता है। अनेक प्रकारके वस्त्र, भोजन, पुष्प, महल, आभूषण, गायक वादित्र आदिका संयोग मिलानेके लिए खेद खिन्न रहता है। जब तक विषय इन्द्रियोंके सन्मुख रहते हैं तब तक उनका कुछ स्पष्ट जानना होता है। बादमें मन द्वारा उनका स्मरण मात्र रह जाता है। समय बीत जानेपर स्मरण भी मंद होता जाता है। इसलिये उन विषयों को अपने आधीन रखनेका उपाय करता है। इतना ही नहीं बल्कि यथा शीघ्र बार बार उन विषयोंका ग्रहण करता है क्योंकि इन्द्रियाँ तो एक समयमें एक ही विषयका ग्रहण करती है और यह बहुत विषयों का ग्रहण करना चाहता है। इसलिए उतावला होकर बहुत शीघ्र एक विषयको छोड़ दूसरेको, दूसरेको छोड़ तीसरेको ग्रहण करता है, इस तरह यह झपट्टा मारता है। जो उपाय सूझता है वह करता है पर वास्तवमें यह उपाय झूंठा है। पहले तो इन सबका इसी प्रकार (इच्छानुकूल) होना अपने अधीन नहीं है अतः महा कठिन है। और कभी उदयके अनुसार ऐसी विधि मिल भी जाय तो इन्द्रियोंको प्रबल करनेसे कुछ

विषय ग्रहणकी शक्ति बढ़ती नहीं है। यह शक्ति तो ज्ञानदर्शनके बढ़नेपर बढ़ती है और वह कर्मके क्षयोपशमके आधीन है। किसीका शरीर पुष्ट होनेपर भी ऐसी शक्ति कम देखी जाती है। किसीका शरीर दुर्बल है उसके अधिक शक्ति देखी जाती है। इसलिए भोजनादिकसे इन्द्रियोंको पुष्ट करनेमें कुछ सिद्धि नहीं है। कषायोंके घटनेसे कर्मोंका क्षयोपशम होनेपर ज्ञानदर्शन बढ़ते हैं तब विषय ग्रहणकी शक्ति बढ़ती है। यह विषयोंका जो संयोग मिलाता है वह भी बहुत काल तक नहीं रहता। अथवा संपूर्ण विषयोंका संयोग मिलता ही नहीं, इसलिये यह व्याकुल ही रहता है। उन विषयोंको अपने आधीन रखकर उन्हें जल्दी जल्दी ग्रहण करता है लेकिन वे आधीन नहीं रहते। वे सब भिन्न भिन्न द्रव्य हैं अतः अपने ही आधीन होकर परिणमन करते हैं अथवा कर्मोदयके आधीन हैं परन्तु इस प्रकारका कर्मबन्ध यथायोग्य शुभ भावोंके होनेपर ही होता है बादमें वह उदय आता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। अनेक उपाय करनेपर भी कर्मोंका निमित्त मिले बिना सामग्री नहीं मिलती। अतः एक विषयको छोड़कर दूसरेके सेवनके लिए जो झपट्टा मारता है उससे कुछ सिद्धि नहीं होती। जिसे मन भरकी भूख है उसे एक दाना मिल जानेसे जैसे तृप्ति नहीं होती वैसे ही जो सब ग्रहण करना चाहता है उसकी इच्छा एक विषयके ग्रहण करनेसे कैसे मिट सकती है? और इच्छा मिटे बिना सुख नहीं होता। इसलिए यह उपाय झूठा है।

प्रश्न—इस उपायसे कोई कोई जीव सुखी भी होते देखे गए हैं, आप इसे सर्वथा झूठा कैसे कहते हैं?

उत्तर—वे सुखी नहीं होते किन्तु भ्रमसे सुख मानते हैं। सुखी जीवके अन्य विषयों-की इच्छा ही कैसे रहेगी। रोग मिटने पर जैसे अन्य औषधकी चाहना नहीं रहती वैसे ही दुःख मिटने पर अन्य विषयों की चाहना भी नहीं रहना चाहिए। सुख तो तब माना जाय जब विषय ग्रहण करनेसे इच्छा रुक जाय लेकिन वह तब तक रहती है जब तक कि विषयका ग्रहण नहीं होता और ज्योंही एक विषयका ग्रहण हुआ उसी समय अन्य विषयके ग्रहणकी इच्छा पैदा हो जाती है। भला फिर यह सुख कैसे माना जाये। जैसे कोई महाभूखा गरीब अन्नके एक कणका भक्षण कर अपनेको सुखी मानता है वैसे ही यह महातृष्णावान् एक विषयका निमित्त मिलने पर उसके ग्रहण करनेमें ही अपनेको सुखी मानता है। किन्तु परमार्थतः वह सुखी नहीं है।

प्रश्न—जैसे कण कण खाकर कोई अपनी भूख मिटा सकता है। वैसे ही एक एक विषयका ग्रहण कर कोई अपनी इच्छा पूर्ण करे तो क्या दोष है?

उत्तर—अगर कण इकट्ठे हो जायँ तो यह भी माना जा सकता है परन्तु दूसरे कणके मिलने तक यदि पहला कण भी जाता रहे तो भूखका मिटना नहीं हो सकता। ठीक उसी तरह अगर एक विषयको जानते समय दूसरे विषयोंका ग्रहण इकट्ठा हो जाय तो ठीक है परन्तु दूसरे विषयके ग्रहण करने तक यदि पहले विषयके ग्रहणका जानना न रहे तो इच्छा का मिटना कैसे हो सकता है और इच्छा पूर्ण न हो तो आकुलता नहीं मिटती और आकुलता मिटे बिना सुख

कैसे कहा जा सकता है। तथा एक विषयका ग्रहण भी मिथ्यादर्शनादिकके सद्भावसे करता है। इससे आगामी अनेक दुःखके कारण कर्मोंका बंध होता है। इसलिये न तो यह वर्तमानमें ही सुख है और न आगामी सुखका कारण ही है अतः दुःखरूप ही है। प्रवचनसारमें भी यही लिखा है—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
यं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुःखमेव तहा॥

[अ० १ गा० ७६]

अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुख पराधीन है, बाधा सहित है, विनाशीक है, बंधका कारण है, विषम है अतः ऐसा सुख दुःख ही है। इस तरह इस संसारी द्वारा किया गया उपाय झूठा समझना चाहिए।

प्रश्न—तो सच्चा उपाय क्या है?

उत्तर—जब इच्छा तो दूर हो जाय और सब विषयोंका युगपत् ग्रहण होने लगे तब यह दुख मिट सकता है। परन्तु इच्छा तो मोहके नष्ट होनेपर ही मिट सकती है और सबका युगपत् ग्रहण केवलज्ञान होनेपर हो सकता है। अतः इसका उपाय सम्यग्दर्शनादिक है और वही सच्चा उपाय समझना चाहिए। इस तरह मोहके निमित्तसे ज्ञानावरण, दर्शनावरणका क्षयोपशम भी दुखदायक है इसका वर्णन किया।

दुखनिवृत्तिका सच्चा उपाय

प्रश्न—ज्ञानावरण दर्शनावरणके उदयसे जो अज्ञान भाव है उसे ही दुखका कारण कहना चाहिए आप क्षयोपशमको दुखका कारण कैसे कहते हैं?

उत्तर—अगर अज्ञान दुखका कारण हो तो पुद्गलके भी दुख समझना चाहिए। इसलिये दुःखका मूल कारण तो इच्छा है [वह इच्छा क्षयोपशमसे ही होती है, अतः क्षयोपशम को दुखका कारण कहा है] वास्तवमें तो क्षयोपशम भी दुखका कारण नहीं है बल्कि मोहसे जो विषय ग्रहणकी इच्छा होती है वही दुःखका कारण है। और मोहका उदय दुखरूप ही है। वह दुःखरूप किस प्रकार है यह बताते हैं—

पहले तो दर्शन मोहके उदयसे जो मिथ्यादर्शन होता है उससे इसके जैसा श्रद्धान होता है वैसा पदार्थ नहीं होता और जैसा पदार्थ है वैसा यह मानता नहीं है अतः इसके आकुलता ही रहती है। जैसे कोई पागल किसीके द्वारा वस्त्र पहरानेपर उसे (वस्त्रको) अपना ही अंग समझ अपनेको और उस वस्त्रको एक मानता है। वह वस्त्र पहरानेवालेके आधीन है इसलिये पहरानेवाला कभी उसे फाड़ता है कभी सीता है, कभी छीनता है कभी नया पहराता है इत्यादि अनेक चरित्र करता है। परन्तु यह पागल उसे अपने आधीन समझ उसकी पराधीन

दर्शन मोहसे दुःखकी प्राप्ति और उसकी निवृत्तिका उपाय

क्रियापर महा खेद खिन्न होता रहता है वैसे ही कर्मोदयने इस जीवका शरीरके साथ संबंध कराया है। यह जीव उस शरीरको अपना अङ्ग समझ उसे और अपनेको एक मानता है। परन्तु शरीर कर्मकी आधीनतासे कभी कृश कभी स्थूल होता है कभी नष्ट होता है तो कभी नवीन पैदा होता है इत्यादि अनेक चरित्र होते हैं। लेकिन यह जीव उसे अपने आधीन समझ उसकी पराधीन क्रियापर ही महा खेद खिन्न होता है। तथा जैसे पागलके पास कोई मनुष्य, घोड़ा या धनादिक कहींसे आकर इकट्ठे हो जाँय तो यह उन्हें अपना समझता है। यद्यपि उनका आना जाना तथा परिणमन करना उनके ही आधीन है, परन्तु यह पागल उन्हें अपने अधीन समझ उनकी पराधीन क्रियापर खेद खिन्न होता है वैसे ही जहाँ यह जीव पर्याय धारण करता है वहाँ यदि कोई पुत्र, घोड़ा, धनादिक स्वयं आ मिलें तो यह उन्हें अपना समझता है। उनका आना, जाना परिणमन करना तो उन्हींके आधीन है परन्तु यह जीव उनको अपने आधीन मान उनकी पराधीन क्रियापर खेद खिन्न होता है।

प्रश्न—कभी-कभी शरीर या पुत्रादिककी इस जीवके आधीन भी क्रिया होती है तब तो यह सुखी होता होगा?

उत्तर—शरीरादिकका वैसा होनहार हो और जीवकी इच्छा भी उस ढंगकी हो तब कोई कहीं इसकी इच्छानुसार परिणमन करता है इसलिए कभी किसी समय उसीके विचारानुसार उसे सुखका आभास सा होता है परन्तु सब ही तो सब प्रकार इसकी इच्छानुसार परिणमन नहीं करते। इसलिये अभिप्रायमें तो अनेक आकुलताएँ सदा रहती ही हैं। तथा कभी किसी प्रकार इच्छानुसार परिणमन देखता भी है तो यह जीव शरीर पुत्रादिकमें अहंकार और ममत्व करता है। और इसी बुद्धिसे उनके पैदा करने, बढाने तथा रक्षा करनेकी चिंतासे निरंतर व्याकुल रहता है। नाना प्रकार कष्ट सह कर भी उनका भला चाहता है अतः विषयोंकी इंच्छाका होना कषायका होना, वाह्यसामग्रीमें इष्ट अनिष्टपना मानना, अन्यथा उपाय करना, सच्चे उपाय पर विश्वास न करना अन्यथा कल्पना करना आदि सब बातोंका मूलकारण एक मिथ्यादर्शन है। इसका नाश हो जाने पर सबका नाश हो जाता है इसलिये संपूर्ण दुखोंका मूल यही मिथ्यादर्शन है। इस मिथ्यादर्शनके नाशका यह उपाय भी नहीं करता। भला जब अन्यथा श्रद्धानको सत्य श्रद्धान समझता है तब उपाय भी क्यों करे? अगर कभी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें तत्वनिश्चयके उपायको सोचता है तो दुर्भाग्यसे कुदेव कुगुरु कुशास्त्रका निमित्त मिलने पर इसके अतत्व श्रद्धानकी और पुष्टि हो जाती है। यह तो समझता है कि इनसे मेरा भला होगा परन्तु वे ऐसा उपाय करते हैं जिससे यह अचेत हो जाता है। वस्तुस्वरूपके विचारमें प्रयत्नशील होता है परन्तु विपरीत विचार में और दृढ़ हो जाता है। तब विषय कषायकी वासना बढ़जानेसे अधिक दुखी होता है। और अगर कभी सुदेव सुगुरु तथा सुशास्त्रका भी निमित्त मिल जाता है तो उनके निश्चय उपदेशका तो श्रद्धान नहीं करता केवल व्यवहार श्रद्धानसे अतत्व श्रद्धानी ही बना रहता है। वहां अगर मंद कषाय हो और विषय इच्छा घटे तो थोड़ा सुखी होकर फिर जैसेका तैसा

हो जाता है इसलिये यह संसारी जो उपाय करता है वह झूठा ही होता है। इसके अतिरिक्त इस संसारीके एक यह उपाय है कि इसके जैसा श्रद्धान है उसीके अनुसार यह पदार्थका परिणमन चाहता है अगर वे वैसा परिणमन करें तो इसका सच्चा श्रद्धान हो जाय परन्तु अनादिनिधन वस्तुऐं अलग २ अपनी मर्यादाओंको लेकर परिणमन करती हैं। कोई किसीके आधीन नहीं। न कोई किसी के परिणमन करानेसे परिणमन करती है। अतः उनको परिणमन कराना यह उपाय नहीं है यह तो मिथ्यादर्शन है इसलिये सच्चा उपाय यह है कि जैसा पदार्थोंका स्वरूप है वैसा ही श्रद्धान हो तो सब दुख दूर हो सकता है। जैसे कोई मोही प्राणी मुर्देको जीता माने अथवा उसे जिलाना चाहे तो आप ही दुखी होता है लेकिन मुर्देको मुर्दा मानना और जिलाने पर यह नहीं जीयेगा ऐसा विश्वास करना उस दुखके दूर होनेका उपाय है वैसे ही यदि मिथ्या दृष्टि प्राणी पदार्थोंको अन्यथा माने और अन्यथा परिणमन कराना चाहे तो आपही दुखी होता है, लेकिन उनको यथार्थमानना और परिणमन कराने पर यह अन्यथा परिणमन नहीं करेंगे ऐसा विश्वास करना उस दुखके दूर होनेका उपाय है। भ्रमजनित दुखका उपाय भ्रमको दूर करना ही है। भ्रमके दूर करनेसे सम्यक् श्रद्धान होता है और उसीको सत्य उपाय समझना चाहिए।

चरित्र मोहसे दुखकी प्राप्ति तथा उसकी निवृत्ति

तथा चारित्र मोहके उदयसे क्रोधादि कषाय रूप अथवा हास्यादि नोकषायरूप जीवके भाव होते हैं। उस समय यह जीव क्लेशित हो दुखी होता हुआ विह्वलतासे कुकार्योंमें प्रवृत्ति करता है। इसी बातका अब आगे वर्णन करते हैं जब इसके क्रोध कषाय पैदा होती है तब दूसरेका बुरा करना चाहता है। उसके लिए अनेक उपाय करता है। मर्म छेदी गाली देना आदि कुवचन बोलता है। अपने अंगोंसे या हथियार पत्थर आदिसे घात करता है। कष्ट सहकर धन खर्चकर मरण करके अपना भी बुरा कर दूसरेके बुरा करनेका प्रयत्न करता है। अथवा दूसरों द्वारा बुरा होता हुआ समझे तो दूसरोंसे बुरा कराता है। उसका स्वयं बुरा होता हो तो उसमें हर्ष मानता है। उसका बुरा होनेसे अपना भले ही मतलब सिद्ध न हो तो भी उसका बुरा करता है। क्रोध होने पर कोई पूज्य या इष्ट बीचमें आते हैं तो उनको भी बुरा कहता है, मारने लग जाता है कुछ विचार नहीं रहता। यदि अन्यका बुरा न हो तो अपने अंतरंगमें स्वयं ही संतप्त होता है, अपने ही अंगों का. घात कर लेता है, विषाद करके मर जाता है। ऐसी अवस्था क्रोध से होती है। जब इसके मान कषाय पैदा होती है तब औरोंको नीचा और अपनेको ऊँचा दिखानेकी इच्छा होती है। उसके लिए अनेक उपाय करता है, दूसरेकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है। अनेक तरहसे औरोंकी महिमा मिटाता है अपनी महिमा प्रगट करता है। अत्यन्त कष्टसे कमाए हुए धनको विवाहादि कार्योंमें खर्च करता है यहाँ तक कि ऋण करके भी खर्च करता है। मरनेके बाद मेरा यश रहेगा इस विचारसे मर कर भी अपनी महिमा बढ़ाता है। जो अपना सम्मानादि न करे उसे डर दिखाकर दुःख पैदाकर अपना सम्मान कराता है। जब मान का उदय होता है तो अपने पूज्य, बड़ोंका

भी सम्मान नहीं करता, कुछ विचार ही नहीं रहता। यदि दूसरेका नीचापन और अपना ऊँचापन न प्रकट हो तो अपने अन्तरंगमें बड़ा सन्तप्त होता है, अपने अंगोंका घात कर लेता है, विषादसे मर जाता है। ऐसी अवस्था मानसे होती है। जब माया कषायका उदय होता है तब छलसे कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा होती है। उसके लिए अनेक उपाय करता है। अनेक प्रकार कपटके वचन कहता है। शरीरकी अवस्था कपटरूप कर लेता है। बाह्य वस्तुको अन्यथा दिखाता है। जिनमें अपना मरण समझता है ऐसे भी अत्याचार करता है। कपट प्रगट होनेपर अपना बुरा होगा, मृत्यु होगी, इन बातोंको भी नहीं गिनता। मायाचार करते समय बीचमें कोई पूज्य या इष्ट आ जाएँ तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नहीं रहता। अगर छलसे कार्य सिद्ध न हो तो स्वयं बड़ा क्लेशित होता है। अपने अंगोंका घात करता है, विषादसे मर जाता है। ऐसी अवस्था मायाकी होती है। इसी प्रकार जब इसके लोभकषाय पैदा होती है तब इसके इष्ट पदार्थके लाभकी इच्छा होती है। उसके लिये अनेक उपाय सोचता है। लोभ भरे वचनोंका प्रयोग करता है, शरीरकी अनेक चेष्टाएँ करता है। बहुत कष्ट सहता है। सेवा करता है, विदेश जाता है, जिससे अपना मरण होता हो वह कार्य भी करता है। अत्यन्त जिसमें दुःख हो ऐसे कार्योंको भी प्रारंभ करता है लोभ होनेपर पूज्य या इष्टजनका कोई कार्य हो तो वहाँ भी अपना मतलब साधता है। कुछ विचार नहीं करता। इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर उसकी अनेक प्रकारसे रक्षा करता है। यदि इष्टकी प्राप्ति न हो अथवा इष्टका वियोग हो जाय तो स्वयं बहुत दुखी होता है, अपने अंगोंका घात करता है, विषादसे मर जाता है, ऐसी अवस्था लोभसे होती है। इस प्रकार कषायोंसे पीड़ित हुए मनुष्यकी ये अवस्थाएँ होती हैं।

इन्हीं कषायोंकी साथी नोकषायें हैं। जब हास्य कषाय होती है तब खिलखिलाकर प्रफुल्लित हो उठता है, जैसे सन्निपातका रोगी अनेक रोगोंसे पीड़ित होकर भी किसी कल्पनासे हँसने लग जाता है, वैसे ही इस जीवके अनेक पीड़ायें हैं तो भी किसी झूठी कल्पनासे अपनेको सुहानेवाले कार्यको देखकर हर्ष मानता है। लेकिन वास्तवमें दुखी ही है। सुखी तो कषाय रोग मिटनेपर होगा। जब रति कषाय पैदा होती है तब इष्ट वस्तुमें अत्यंत आसक्त होता है जैसे बिल्ली चूहेको पकड़कर उसमें आसक्त होती है, कोई मारे तब भी नहीं छोड़ती क्योंकि वह उसको इष्ट है। वियोग होनेके अभिप्रायसे ही आसक्ति होती है इसलिए वह दुख ही है। जब अरति उत्पन्न होती है तब अनिष्ट वस्तुका संयोग पाकर महा व्याकुल होता है। अनिष्टका संयोग उसे सुहाता नहीं उसकी पीड़ा सही नहीं जाती इसलिए उसके वियोगको तड़फड़ाता है, अतः यह भी दुख ही है। जब शोक होता है तब इष्टका वियोग और अनिष्टका संयोग होनेपर अत्यंत व्याकुल हो अपने अन्दर संताप पैदा करता है, रोता चिल्लाता है, अचेत हो जाता है, अपना अंग घातकर मर जाता है। कुछ सिद्धि नहीं होती तो भी स्वयं महा दुखी होता है। जब भय पैदा होता है तब किसीको इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगका कारण जान डरता है,

अत्यंत विह्वल होकर भागता है, छिपता है, शिथिल होता है, कष्टदायक स्थानको प्राप्त होता है, मर जाता है। अतः यह दुःखरूप ही है। जब जुगुप्सा होती है तब अनिष्ट वस्तुसे घृणा करता है। उसका तो संयोग हुआ ही लेकिन यह घृणाकर भागना चाहता है। खेद खिन्न होकर महादुःख उठाता है। तीनों वेदोंसे जब कामवासना पैदा होती है तब पुरुषवेदसे स्त्रीके साथ और स्त्रीवेदसे पुरुषके साथ तथा नपुंसकवेदसे दोनोंके साथ रमण करनेकी इच्छा होती है, उससे अति व्याकुल होता है, अंतरंगमें सन्ताप करता है, निर्लज्ज हो जाता है, धन खर्च करता है। अपयशको नहीं देखता। बादको दुख होगा या दंडादिक मिलेगा इसको नहीं गिनता। काम पीड़ासे पागल हो जाता है यहाँ तक कि मर जाता है। रसग्रन्थोंमें कामकी दस दशाएँ वतलाई हैं[१] उनमें पागल होना और मरना भी है। वैद्यकशास्त्रोंमें ज्वरके भेदोंमें कामज्वरको मृत्युका कारण लिखा है। कामसे प्रत्यक्ष मरण होते देखा गया है। कामांधके कुछ विचार नहीं रहता, पिता पुत्रीसे और मनुष्य तिर्यञ्चणी आदिसे भी रमण करने लग जाते हैं। इस प्रकार कामकी पीड़ा महादुःख रूप है। इस प्रकार कपाय और नोकपायोंसे अवस्था होती है। यहाँ यह सोचने की बात है कि अगर इन अवस्थाओंमें प्रवृत्ति न करे तो क्रोधादिक उसे पीड़ा देते हैं। और प्रवृत्ति करता है तो मृत्यु पर्यन्त कष्ट ही भोगता है। लेकिन मृत्युपर्यन्त कष्ट भोगनेको तैयार है पर क्रोधादिककी पीड़ा सहन करनेको तैय्यार नहीं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि मृत्यु आदिक से कषायोंकी पीड़ा अधिक है। जब इसके कपायका उदय होता है तव कपाय किए विना रहा नहीं जाता। कषायोंके वाह्य कारण आ मिलते हैं तो उनके आश्रयसे कपाय करता है। नहीं मिलते तो स्वयं वैसे कारण मिलाता है। दृष्टान्तके लिए कपायोंका कारण व्यापारादि न हों तो जूआ खेलना क्रोधादिके कारण अनेक नाटक खेलना दुष्ट कथा-कहानी सुननी आदि कारण वनाता है। जब काम, क्रोधादिक पीड़ा देते हैं और शरीरमें उनके अनुसार कार्य करनेकी शक्ति नहीं होती तव औषध खाना आदि अन्य अनेक उपाय करता है। जब कोई कारण नहीं वनता तो अपने उपयोगमें कषायोंके कारण भूत पदार्थोंका चिन्तन कर स्वयं ही कषायरूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव कषायभावोंसे पीड़ित हुआ महान् दुःखी होता है। तथा जिस प्रयोजन को लेकर कषायभाव हुआ है उसकी सिद्धि हो तो मेरा दुख दूर हो जाय, मैं सुखी हो जाऊँ इस विचारसे उस प्रयोजन सिद्धिके लिए जो उपाय करता है। उसे दुःख दूर होनेका उपाय मानता है। इसलिए यहाँ कषायभावोंसे जो दुःख होता है वह तो सच्चा ही है। प्रत्यक्षमें स्वयं ही दुःखी होता है तथा उसका जो उपाय करता है वह झूठा है। क्योंकि क्रोधमें दूसरेके बुरा करनेका, मानमें औरोंको नीचा दिखानेका, अरतिमें अनिष्टके दूर होनेका शोकमें शोकका कारण मिटनेका, भयमें भयके मिटनेका, जुगुप्सामें जुगुप्साका कारण दूर होनेका, पुरुषवेदमें स्त्रीसे

१—१ दर्शन, २ आशक्ति, ३ संकल्प, ४ निद्राछेद, ५ शारीरिक कृशता, ६ जी न लगना, ७ निर्लज्जता, ८ उन्माद, ९ मूर्च्छा और १० मरण, ये कामकी दस दशाएँ हैं।

रमण करनेका स्त्री वेदमें पुरुषसे रमनेका तथा नपुंसक वेदमें दोनोंसे रमण करनेका प्रयोजन पाया जाता है। इनकी सिद्धि हो तो कषायोंके उपशमनसे दुःख दूर होकर यह सुखी हो सकता है। परन्तु इनकी सिद्धि इसके द्वारा किए गए उपायोंके आधीन नहीं है भवितव्यके आधीन है। क्योंकि अनेक उपाय करते हुए भी सिद्धि नहीं देखी जाती। तथा उपायका बनना भी अपने आधीन नहीं है; होनहारके ही आधीन है। क्योंकि अनेक उपाय करना चाहता है पर एक भी उपाय होता नहीं दिखाई देता। यदि काकतालीय न्यायसे प्रयोजनके अनुसार ही होनहार हो और उपाय भी वैसा ही हो तो उस कार्यकी सिद्धि हो भी जाती है, लेकिन उस कार्य संबंधी किसी कषायका उपशम होने पर भी वहाँ अन्य कषायें रुक नहीं जातीं। जब तक कार्य सिद्ध नहीं होता तब तक तो उस कार्य संबंधी कषाय रहती है जब कार्य सिद्ध हो जाता है तब उसी समय अन्य कार्य संबंधी कषाय पैदा हो जाती है। एक समय मात्र भी निराकुलता नहीं रहती। जैसे किसीने क्रोधसे किसीका बुरा किया जब उसका बुरा हो चुका तो दूसरेसे क्रोधकर उसका बुरा चाहने लगा। जब थोड़ी शक्ति थी तब छोटोंका बुरा चाहता था जब अधिक शक्ति हुई तो बड़ोंका बुरा चाहने लगा। इसी प्रकार मान माया लोभादिकसे विचारा हुआ कार्य जब सिद्ध हो जाता है तब दूसरे कार्योंमें मानादिक पैदा कर उनकी सिद्धि करना चाहता है। थोड़ी शक्ति थी तब छोटे कार्योंकी सिद्धि करना चाहता था अधिक शक्ति हुई तो बड़े कार्योंकी सिद्धि चाहने लगा। कषायोंमें अगर कार्यको उत्पन्न करनेकी कोई मर्यादा हो तो उस कार्यकी सिद्धि होने पर यह जीव सुखी हो सकता है, लेकिन मर्यादा है नहीं, इच्छा बढ़ती ही जाती है। यही बात आत्मानुशासनमें भी कही है:

'आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्मिन् किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥' [श्लो० ३६]

अर्थात् "प्रत्येक प्राणीमें आशारूपी गड्ढा पाया जाता है। जिसमें सम्पूर्ण संसार एक अणुके समान है। जब जीव अनंतानंत हैं तब एक अणु बराबर संसार किसके हिस्सेमें कितना आएगा? इसलिए विषयोंकी इच्छा व्यर्थ ही है।"

इच्छा पूर्ण होती ही नहीं है इसलिए किसी कार्यकी सिद्धि होने पर भी दुःख दूर नहीं होता। अथवा एक कषाय मिटती है तो उसी समय दूसरी कषाय पैदा हो जाती है। जैसे किसीके मारने वाले बहुत हैं जब एक मार चुकता है तब दूसरा मारने लग जाता है। वैसे ही जीव को दुख देने वाली कषायें भी अनेक हैं। जब क्रोध नहीं रहता तो मानादिक कषायें पैदा होने लग जाती हैं और मान नहीं रहता तो क्रोधादि कषायें पैदा होने लग जाती हैं। इस तरह कषायोंका सद्भाव रहा ही करता है। किसी भी समय कषाय रहित नहीं होता। इसलिये कषायका कोई कार्य सिद्ध होने पर भी दुख दूर कैसे हो सकता है? इसका अभिप्राय तो सब कषायोंके सम्पूर्ण प्रयोजनोंको सिद्ध करनेका है, यह कभी हो नहीं सकता इसलिये अंतरंगमें सदा दुखी ही रहता है अतः कषायों द्वारा प्रयोजनकी सिद्धि कर अपने दुख दूर करनेका उपाय करना झूँठा ही है।

प्रश्न—तो सच्चा उपाय क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान हो तो इष्ट अनिष्ट बुद्धि मिट सकती है। उन्हींके बलसे चारित्र मोहका अनुमान भी कम हो सकता है इस तरह कषायोंका अभाव हो तो उनकी पीड़ा भी जाती रहती है और प्रयोजन भी कुछ नहीं रहता। तब निराकुल होनेसे जीव अत्यंत सुखी होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही इस दुखके दूर करने का सच्चा उपाय है।

अंतरायसे दुःखकी प्राप्ति और उसकी निवृत्तिका सच्चा उपाय

मोह द्वारा दान लाभ भोग उपभोग वीर्य शक्तिका उत्साह उत्पन्न होता है लेकिन अंतरायके उदयसे नहीं हो पाता। उस सयय अत्यंत आकुलता होती है अतः यह दुःखरूप हीं है। इसके लिये यह विघ्नोंके बाह्य कारणोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है लेकिन यह उपाय झूंठा है। उपाय करनेपर भी अंतरायके उदयसे विघ्न होते देखा गया है। और अंतरायका क्षयोपशम होनेपर विना उपायके भी कार्यमें विघ्न नहीं होता। इसलिए विघ्नका मूल कारण अंतराय है। तथा जिस प्रकार पुरुषके द्वारा फेंकी हुई लाठी कुत्तेको लगती है तो कुत्ता लाठीसे व्यर्थ ही द्वेष करता है उसी प्रकार अंतरायके निमित्तसे विघ्नरूप हुए बाह्य चेतन अचेतन द्रव्यसे यह जीव भी वृथा ही द्वेष करने लगता है। बाह्य द्रव्य यदि कार्यमें विघ्न डालना चाहे तो भी विघ्न नहीं डाल सकते और यदि न चाहें तो भी विघ्नरूप हो जाते हैं। इसलिए बाह्य द्रव्योंके वशकी बात कुछ नहीं है। उनसे लड़ना या द्वेष करना वृथा है। अतः यह उपाय झूठा है। इसके लिए सच्चा उपाय यह है कि मिथ्यादर्शनादिकसे इच्छापूर्वक जो उत्साह पैदा होता है वह सम्यग्दर्शनादिकसे दूर हो सकता है। सम्यग्दर्शनादिकसे ही अंतरायका अनुभाग घटता है। उस समय इच्छा मिट जाती है शक्ति बढ़ जाती है तब दुःख दूर हो निराकुल सुख पैदा होता है। इसलिए सम्यग्दर्शनादिक ही सच्चा उपाय है।

वेदनीयसे दुखकी प्राप्ति और उसकी निवृत्तिका सच्चा उपाय

वेदनीयके उदयसे सुख दुःखके कारणोंका संयोग होता है उन कारणोंमें कुछ तो शरीरकी अवस्थाएँ हैं, कुछ शरीरकी अवस्थाके निमित्तभूत बाह्य संयोग हैं और कुछ बाह्य वस्तुओंका संयोग है। सो असाताके उदयसे शरीरमें क्षुधा, तृषा, उछ्वास, पीड़ा रोग इत्यादि होते हैं तथा शरीरकी अनिष्ट अवस्थाके कारणभूत बाह्य शीत, उष्ण, पवन तथा बंधन वगैरहका संयोग होता है, शत्रु कुपुत्रादिक अथवा कुरूपतादिक सहित स्कंधोंका संयोग होता है। मोहसे इनमें अनिष्ट बुद्धि होती है। जब इनका उदय होता है तब मोहका काम भी ऐसा ही होता है जिससे परिणामोंमें अत्यन्त व्याकुलता होती है और इनको दूर करना चाहता है। जबतक यह दूर नहीं होते तबतक दुखी होता है। इस तरह इनके होनेपर सब ही दुख मानते हैं। इसी तरह साताके उदयसे शरीर आरोग्य तथा बलवान होता है, शरीरकी इष्ट अवस्थाके निमित्तभूत खानपानादिक

अथवा सुहावने पवन आदिका संयोग होता है। वाह्य वस्तु मित्र, सुपुत्र, स्त्री, किंकर, हाथी, घोड़ा, धन, धान्य, मंदिर वस्त्रादिकका संयोग होता है और मोहसे इनमें इष्ट बुद्धि होती है। जब साताका उदय होता है तब मोहका उदय ऐसा ही आता है जिससे परिणामोंमें सुख मानता है उनकी रक्षा चाहता है और जब तक ये वस्तुएँ रहती हैं तब तक सुख मानता है। लेकिन इसका सुख मानना ऐसा है जैसे अनेक रोगोंसे पीड़ित कोई मनुष्य किसी एक रोगके कुछ समय के लिये अच्छे हो जानेपर पहलेकी अपेक्षा अपने आपको सुखी समझे। परन्तु वास्तवमें वह सुखी नहीं है। असाताके उदयसे जो कुछ होता है उससे तो वह जीव दुःख महसूस करता है अतः उसके दूर करनेका उपाय करता है साताके उदयसे जो होता है उसमें सुख मानता है और इसलिये उसके होनेका उपाय करता है, पर यह उपाय झूंठा है। क्योंकि पहले तो इसका उपाय इसके आधीन नहीं वेदनीय कर्मके उदयके-आधीन है। असाताको मिटानेके लिए तथा साताकी प्राप्तिके लिए तो सब ही प्रयत्न करते हैं परन्तु किसीके तो थोड़ा ही प्रयत्न करनेपर या न करनेपर भी उसकी सिद्धि हो जाती है। किसीके बहुत प्रयत्न करनेपर भी उसकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए यह सिद्ध होता है कि इसका प्रयत्न उसके आधीन नहीं है। यदि कभी उपायके अनुसार उदय भी आया और कुछ काल तक किसी प्रकार असाताका कारण मिटकर साताका कारण मिला, तो भी मोहके सद्भावसे उनके भोगनेकी जो इच्छा होती है उससे आकुलित होता है। एक भोग्य वस्तुको भोगनेकी इच्छा होती है वह जबतक न मिले तबतक तो उसकी इच्छासे आकुल रहता ही है। और जब मिल जाती है तो उसी समय दूसरेको भोगनेकी इच्छा पैदा हो जाती है तब उससे व्याकुल होता है। जैसे किसीको एक वस्तुका स्वाद लेनेके बाद तत्काल दूसरी वस्तुके स्वाद लेने अथवा स्पर्शादि करनेकी इच्छा होती है। अथवा पहले एक ही वस्तुको अन्य प्रकार भोगनेकी इच्छा होती है और उसके न मिलने तक आकुलता रहती है जब मिल जाती है तब दूसरे प्रकार भोगनेकी इच्छा होती है। जैसे पहले स्त्रीको देखनेकी इच्छा हुई जब वह पूर्ण हुई तो तत्काल उससे रमणकी अभिलाषा हो जाती है। तथा इस तरह भोग भोगते हुए भी लोगोंके अन्य उपाय करनेकी आकुलता होती है। बादमें उन्हें भी छोड़ अन्य उपाय करने लग जाता है। इस तरह अनेक प्रकार आकुलता होती है। देखो धन कमानेके लिये व्यापार आदि करनेसे और उसकी रक्षामें कितनी आकुलता होती है? तथा भूख, प्यास, शीत, उष्ण, मल, कफ आदि असाताका उदय आया ही करता है उसके निराकरणसे सुख मानता है भला वह काहेका सुख है। यह तो रोगका इलाज है जबतक भूख रहे तबतक उसके मिटानेकी इच्छासे आकुलता रहती है और जब वह मिट जाती है तो दूसरी इच्छा उत्पन्न होनेसे आकुलता हो जाती है। जब भूख पैदा होती है तब आकुलता होती ही है। उपाय करनेसे यदि कभी असाता दूर हो साता हो जाती है तो वहाँ भी आकुलता रहा ही करती है इसलिये साताके उदयमें भी दुख ही रहता है। तथा साताका उदय भी सदा नहीं रहता, उपाय करते करते असाता का उदय ऐसा आता है कि उसका उपाय भी नहीं बनता। और उसका दुख इतना होता है

कि सहा नहीं जाता। तब उसकी आकुलतासे विह्वल होकर महा दुखी होता है। अतः इस संसारमें पुण्यके उदयसे कभी किसीके ही साताका उदय पाया जाता है। अधिकतर जीवोंके प्रायः असाताका ही उदय रहता है। इसलिये इसका जो उपाय करता है वह झूठा है। अथवा बाह्य सामग्री से सुख दुःखका मानना ही भ्रम है। सुख दुख तो साता या असाताके उदय होने पर मोहके निमित्तसे होता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। लखपती हजारपति रह जाने पर दुखी होता है और सैकड़ों वाला हजारपति होने पर सुखी होता है हालांकि बाह्य सामग्री भी उसके पास इससे कई गुनी है। अथवा लखपतिके अधिक धनकी इच्छा है तो वह दुखी है और सैकड़ोंके धनवालेको यदि सन्तोष है तो वह सुखी है। तथा समान वस्तु मिलने पर भी कोई सुख मानता है कोई दुख मानता है। मोटे वस्त्रका मिलना किसीके लिए सुखकर है तो किसीके लिए दुखकर है। शरीरमें भूख आदि पीड़ा अथवा बाह्यमें इष्टका वियोग अनिष्टका संयोग होने पर किसीको बहुत दुख होता है किसीको थोड़ा दुख होता है किसीको होता ही नहीं इसलिए बाह्य सामग्रीके आधीन सुख दुख नहीं है। साता या असाताका उदय होने पर मोहके निमित्तसे ही सुख दुख मानना चाहिए।

प्रश्न—बाह्य सामग्रीके विषयमें तो आप ठीक कहते हैं परन्तु शरीरमें तो पीड़ा होने पर दुख ही होता है और पीड़ा न होने पर सुख ही होता है। इस तरह सुख दुःख शरीरकी अवस्थाके आधीन ही प्रतीत होते हैं।

उत्तर—आत्माका ज्ञान इन्द्रियाधीन है और इन्द्रियाँ शरीरका अङ्ग हैं इसलिए शरीरमें जो अवस्था होती है उसके जानने रूप ज्ञानका परिणमन होता है। उसीके साथ मोह भाव लगा होता है। उससे शरीर अवस्थाको लेकर सुख दुख विशेष महसूस होता है। सो यदि अपने पुत्र धनादिकसे अधिक मोह होता है तो उसके लिए शारीरिक कष्ट सहता हुआ भी थोड़ा दुख मानता है, उनको दुख होने पर अथवा उनका वियोग होने पर अधिक दुख मानता है। और जो मुनि हैं वे शरीरमें पीड़ा होते हुए भी दुःख नहीं मानते इसलिये सुख दुख मानना मोहके ही आधीन है। मोहका और वेदनीयका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये साता असाताके उदयसे सुख दुखका होना मालूम पड़ता है। तथा मुख्य रूपसे कितनी ही सामग्री साताके उदयसे मिलती है कितनी ही असाताके उदयसे मिलती है। इसलिये सामग्रियोंसे सुख दुख होना मालूम पड़ता है। परन्तु निश्चय करने पर तो मोह ही से सुख दुःखका होना मानना पड़ता है। औरोंसे सुख दुख होनेका नियम नहीं है। केवलीके साता असाताका उदय है और सुख दुखकी कारण सामग्रीका संयोग है परन्तु मोहके अभावसे कुछ भी सुख दुख नहीं होता। इसलिए सुख दुख मोहजनित ही मानना चाहिये। अतः सामग्री हटाने या जुटानेसे दुख दूर करने या सुख चाहनेका तेरा उपाय झूठा है। सच्चा उपाय तो यह है कि सम्यग्दर्शनादिकसे भ्रम दूर होने पर सामग्रीसे भी सुख दुखका महसूस होना जाता रहे केवल अपने

परिणामोंसे ही सुख दुख महसूस हों। तथा यथार्थ विचारका अभ्यास कर सामग्रीके निमित्तसे जैसे बने वैसे सुखी दुखी न होनेका साधन करे। सम्यग्दर्शनादिक भावनाओंसे ही जब मोह मन्द हो जाता है तब ऐसी दशा हो जाती है कि अनेक कारण मिलने पर भी अपने आपको सुख दुःख नहीं होता। जब कोई शान्त दशा रूप निराकुल होकर सच्चे सुखका अनुभव करता है तब सारे दुःख दूर होने पर वह सुखी होता है। यही सच्चा उपाय है।

आयु कर्मसे दुःखकी प्राप्ति और निवृत्ति-का सच्चा उपाय

आयु कर्मके निमित्तसे पर्यायका धारण करना जीवन है और पर्याय का छूट जाना मरण है। मिथ्यादर्शनादिकके प्रभावसे यह जीव इस पर्यायको ही आपरूप अनुभव करता है इसलिए जीवन रहने तक अपना अस्तित्व मानता है और मरण होने पर अपना अभाव मानता है। यही कारण है कि सदा ही इसे मरणका भय रहता है। और उस भयसे सदा आकुल रहता है। जिनको मरणका कारण समझता है उनसे बहुत डरता है। यदि कभी उनका संयोग हो जाता है तो महा विह्वल हो जाता है। इस तरह महा दुखी रहता है। जब इसका उपाय करता है तो मरणके कारणोंको दूर रखता है अथवा आप स्वयं उनसे भागता है। मरणसे बचनेके लिये औषधि आदिका सेवन करता है, किला, कोट आदि बनाता है इस तरह अनेक उपाय करता है। पर यह उपाय झूठा है क्योंकि आयुके पूर्ण होनेपर अनेक उपाय सहायक होते हुए भी मरण होता ही है। एक समय मात्र भी नहीं जीता। और जब तक आयु पूर्ण नहीं होती तब तक अनेक कारण मिलने पर भी सर्वथा मरण नहीं होता। इसलिए उपाय करनेसे मरण नहीं मिटता। तथा आयुकी स्थिति पूर्ण अवश्य होती है इसलिए मरण भी होता ही है अतः इसका उपाय करना झूठा ही है।

प्रश्न—तो सच्चा उपाय क्या है?

उत्तर—सम्यग्दर्शनादिकसे पर्यायमें अहंबुद्धि छूट जाय, अनादि निधन चेतन द्रव्यमें अहंबुद्धि उत्पन्न हो जाय, तथा पर्यायको स्वाँगके समान समझे तब मरणका भय नहीं रहता। सम्यग्दर्शनादिकसे ही सिद्ध पद प्राप्त होता है और तभी मरणका अभाव हो जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही सच्चा उपाय है।

नाम कर्मसे दुःखकी प्राप्ति और निवृत्ति-का सच्चा उपाय

नाम कर्मके उदयसे गति जाति शरीरादिक उत्पन्न होते हैं उनमें पुण्यके उदयसे जो होते हैं वे सुखके कारण हैं और पापके उदयसे जो होते हैं वे दुःखके कारण है। इनमें सुख मानना भ्रम है। तथा यह दुखके कारण मिटाने और सुखके कारण मिलनेका जो उपाय करता है वह झूठा है। सच्चा उपाय सम्यग्दर्शनादिक है और वह उसी तरह समझना चाहिये जैसा कि वेद-नीयका कथन करते समय निरूपण किया था। वेदनीय और नाम दोनों समान रूपसे सुख दुःखके कारण हैं। इसलिए नामका कथन वेदनीयके समान ही जानना चाहिए।

गोत्र कर्मके उदयसे यह जीव नीच या उच्च कुलमें पैदा होता है। उच्च कुलमें पैदा होनेपर अपनेको उच्च मानता है और नीच कुलमें पैदा होनेपर अपनेको नीच मानता है। कुल पलटनेका उपाय तो इसे मालूम नहीं इसलिए जैसा कुल मिलता है उसीमें यह अपनापन मानता है। परन्तु कुलकी अपेक्षा अपनेको नीचा या ऊँचा मानना भ्रम है। ऊँचे कुलका कोई निंद्य कार्य करे तो वह नीचा हो जाता है और नीच कुलमें कोई अच्छा कार्य करे तो वह ऊँचा हो जाता है। लोभादिकसे उच्च कुल वाला नीच कुल वालेकी सेवा करने लग जाता है। तथा कुल रहता ही कितने समय तक है? पर्याय छूटनेके बाद कुल भी बदल जाता है। अतः यह ऊँचे नीचे कुलमें जन्म लेनेसे अपने आपको ऊँचा या नीचा मानता है। उच्च कुल वालेको नीच होनेके भयका और नीच कुल वालेको अपने नीचेपनका दुख ही रहता है। इसलिये इसका सच्चा उपाय वही सम्यग्दर्शनादिक है। सम्यग्दर्शनसे उच्च नीच कुलमें हर्षविषाद नहीं मानता। तथा उसी सम्यग्दर्शनसे फिर न पलटने वाला ऊँचा सिद्धपद पाता है जिससे सारा दुःख मिटकर सुखी हो जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शनादिक ही दुःख मिटाने और सुख प्राप्त करनेके सच्चे उपाय हैं। इस प्रकार कर्मके उदयकी अपेक्षा मिथ्यादर्शनादिकके मिमित्तसे संसारमें दुःख ही दुःख पाया जाता है। उसका वर्णन किया। अब इस दुःखका पर्यायकी अपेक्षा वर्णन करते हैं।

गोत्र कर्मसे दुःखकी प्राप्ति और निवृत्तिका सच्चा उपाय

इस संसारमें बहुत सा काल तो एकेन्द्रिय पर्यायमें ही बीतता है। अतः अनादि कालसे तो नित्य निगोदमें ही रहना पड़ता है और वहाँसे निकलना ऐसा है जैसे भार भूनते समय चनेका उछट जाना। वहाँसे निकलनेके बाद जब दूसरी पर्याय धारण करता है तब त्रस पर्यायमें तो बहुत थोड़े ही समय तक रहता है एकेन्द्रिय पर्यायमें ही बहुत काल बिताता है। उसमें भी इतर निगोदमें तो बहुत रहना पड़ता है और कितने ही समय तक पृथ्वी, जल, आग, वायु और प्रत्येक वनस्पतिमें रहना होता है। नित्य निगोदसे निकलनेके बाद त्रसपर्याय में रहने का उत्कृष्ट काल कुछ अधिक दो हज़ार सागर है। एकेन्द्रियोंमें रहनेका उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्‌गलपरावर्तन मात्र है। और पुद्‌गलपरावर्तन काल इतना बड़ा है कि जिसके अनन्तवें भागमें भी अनन्तसागर होते हैं। इसलिए इस संसारीका मुख्यपनेसे एकेन्द्रिय पर्यायमें ही काल व्यतीत होता है। उस एकेन्द्रिय पर्यायमें ज्ञानदर्शनकी शक्ति तो बहुत थोड़ी रहती है। एक स्पर्शन इन्द्रियके निमित्तसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अचक्षुदर्शन केवल शीत उष्ण आदिकको ही थोड़ा जानते देखते हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरणके तीव्र उदयसे इससे अधिक ज्ञान दर्शन उसके नहीं पाया जाता। किन्तु विषयोंकी इच्छा पाई जाती है इसलिए वे महादुखी हैं। तथा दर्शन मोहके उदयसे मिथ्यादर्शन होता है इसलिए पर्याय ही को अपना अस्तित्व समझता है। अन्य विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है। चारित्र मोहके उदयसे तीव्र क्रोधादि कषायरूप परिणाम होते हैं क्योंकि उनके केवलीभगवानने कृष्ण, नील और कापोत लेश्या ही बतलाई है। यह लेश्याएँ तीव्र कषाय होनेपर ही होती हैं।

एकेन्द्रियोंके दुःख

इसलिए कषाय तो अधिक और शक्ति थोड़ी होनेके कारण वह बहुत दुखी हो रहा है। कुछ उपाय नहीं कर सकता।

प्रश्न—जब एकेन्द्रियके ज्ञान ही थोड़ा है तो वह क्या कषाय करेगा?

उत्तर—ऐसा नियम नहीं है कि जितना ज्ञान हो उतनी ही कषाय हो। ज्ञान तो क्षयोपशमके अनुसार होता है। अंधे बहरे पुरुषके ज्ञान कम होते हुए भी कषाय अधिक देखी जाती हैं। अतः एकेन्द्रियके ज्ञान थोड़ा होनेपर भी कषाय अधिक मानी है। परन्तु वे कषायें बाह्यमें तब प्रकट हों जब कषायोंके अनुसार कुछ उपाय किया जाय। वह तो शक्तिहीन हैं इसलिए उपाय कर नहीं सकता। अतः उसकी कषाय प्रगट नहीं होती। जैसे कोई शक्तिहीन पुरुष किसी कारणसे तीव्र कषाय होनेपर भी कुछ कर नहीं सकता तो उसकी कषाय भी बाह्यमें प्रगट नहीं होती वह यों ही अत्यंत दुखी होता है वैसे ही एकेन्द्रिय जीव शक्तिहीन होनेके कारण कषाय करता हुआ भी कुछ कर नहीं सकता अतः उसकी कषाय बाहर प्रकट नहीं होती यों ही स्वयं दुखी होता है। तथा यह भी समझना चाहिए कि कषाय बहुत हो और शक्ति कम हो तो अत्यंत दुःख होता है। इसी प्रकार यदि कषाय घटती जांय और शक्ति बढ़ती जाय तो दुःख भी कम होता है। एकेन्द्रिय जीवोंके शक्ति कम है कषाय अधिक है इसलिए वे महादुखी हैं। उनके दुख वे ही भोगते हैं और केवलीभगवान जानते हैं। जैसे सन्निपातके रोगीका ज्ञान कम हो जाता है और शक्ति घट जानेसे वह दुख प्रकट भी नहीं कर सकता परन्तु होता महादुखी है। वैसे ही एकेन्द्रियके ज्ञान थोड़ा है और बाह्यशक्ति घट जानेसे वह दुख प्रगट नहीं कर सकता परन्तु अति दुखी होता है। तथा अंतरायके उदयसे इच्छित कार्य नहीं होता इसलिये भी दुखी है। अघातिया कर्मोंमें भी खासकर पाप प्रकृतियोंका उदय है उनमेंसे असाताका उदय होनेपर उसके निमित्तसे महादुखी होता है। वनस्पति एकेन्द्रिय हवासे टूट जाता है, शीत उष्णसे अथवा जल न मिलनेसे सूक जाता है, अग्निसे जल जाता है, कोई उसे छेदता है, कोई मसलता है, कोई खाता है, कोई तोड़ता है इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं। इसी प्रकार यथासंभव पृथ्वी आदि पर्यायोंमें भी अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओंके होनेपर दुख होता है वैसे ही उनके समझना चाहिए। इन अवस्थाओंका ज्ञान उसे स्पर्शन इन्द्रियसे होता है क्योंकि उसके स्पर्शन इन्द्रिय ही है। उसीसे इनको जानकर मोहसे व्याकुल होता है। परन्तु भागने, लड़ने या पुकारनेकी शक्ति नहीं है इसलिए अज्ञानी लोग उनके दुखको समझते नहीं हैं। अगर कभी कुछ साताका उदय होता है तो वह उदय बलवान नहीं होता। आयु कर्म की अपेक्षा इन एकेन्द्रिय जीवोंमें जो अपर्याप्त है उनके तो पर्यायकी स्थिति श्वासके १८ वें भाग मात्र है और पर्याप्तकोंकी अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कितने ही वर्ष पर्यन्त तक की स्थिति है। आयु थोड़ी होनेसे जन्म मरण हुआ ही करता है उससे वे दुखी ही हैं। तथा नाम कर्ममें भी तिर्यञ्चगति आदि पाप प्रकृतियोंका ही उदय विशेषपनेसे पाया जाता है। पुण्य प्रकृतियोंमें से किसी ही का उदय होता है पर वह बलवान नहीं होता इसलिए उनके निमित्तसे मोहके वश

हो दुखी होता है। गोत्रकर्ममें नीचगोत्र ही का उदय है उससे इसकी महानता नहीं होती, इसलिए भी दुखी ही है। इस तरह एकेन्द्रिय जीव महादुखी है। इस संसारमें आधार मिलनेपर जैसे पत्थर बहुत काल तक ठहरता है आधार रहित आकाशमें तो कुछ ही समय तक ठहरता है। वैसे ही यह जीव एकेन्द्रिय पर्यायमें बहुत समय तक रहता है और अन्य ऊँची पर्यायोंमें थोड़े समय तक रहता है। इसलिये यह जीव संसारमें बहुत दुखी है।

दो इन्द्रिय आदिकोंके दुःख

तथा जिन दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायोंको यह जीव धारण करता है उनमें भी एकेन्द्रियके समान ही दुःख समझना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ क्रमसे एक एक इन्द्रिय जनित ज्ञान दर्शनकी तथा कुछ शक्तिकी अधिकता होती है एवं बोलनेकी शक्ति होती है। उनमें कुछ अपर्याप्त हैं। तथा जो पर्याप्त हैं वे भी हीन शक्तिके धारक छोटे जीव हैं उनकी शक्ति प्रकट नहीं होती। किन्ही पर्याप्तक जीवोंकी शक्ति अधिक है, तो उनकी शक्ति प्रकट होती है वे उससे विषयोंका तथा दुख दूर होनेका उपाय करते हैं। क्रोधादिकसे काटना, मारना, लड़ना, छल करना, अन्नादिकका संग्रह करना, भागना आदि कार्य करते हैं। दुःखसे तड़फड़ाहट करना, पुकारना आदि क्रिया करते हैं। इससे इनका दुःख कुछ प्रकट भी होता है। लट कीड़ी आदि जीवोंके शीत, उष्ण, छेदन, भेदनादिकसे तथा भूख प्यास आदिसे अत्यंत दुःख देखा जाता है। जो प्रत्यक्ष दीखता है उसीसे विचार कर लेना चाहिए। विशेष क्या लिखा जाय। इस तरह दो इन्द्रियादिक जीवको भी महादुखी समझना चाहिए।

नारकी जीवोंके दुःख

संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें नारकी जीव तो सब प्रकारसे बहुत दुखी हैं। उनमें ज्ञानादिककी शक्ति तो कुछ है। परन्तु विषयोंकी इच्छा बहुत है और इष्ट विषयोंकी सामग्रीकी प्राप्ति कुछ भी नहीं है, इसलिए उस शक्तिके होनेपर भी वे अति दुखी हैं। क्रोधादि कषायोंमें अति तीव्रता पाई जाती है इसलिये उनके कृष्ण आदि अशुभ लेश्याएँ ही है इनमें क्रोध और मानसे परस्पर दुख देनेका कार्य निरन्तर पाया जाता है। परस्पर मित्रता करें तो उनका वह दुख मिट सकता है दूसरोंको दुःख देनेमें उनका कुछ लाभ भी नहीं होता परन्तु क्रोध और मानकी अत्यंत तीव्रतासे परस्पर दुःख देनेकी ही बुद्धि रहती है। वे विक्रियासे अन्यको दुःखदायक शरीरके अङ्ग बनाते हैं, शस्त्रादि बनाते हैं उनसे दूसरोंको पीड़ा देते हैं दूसरों द्वारा स्वयं पीड़ित होते हैं। किन्तु उनकी कषायें कभी शान्त नहीं होतीं। माया और लोभकी भी अत्यंत तीव्रता है परन्तु कोई इष्ट सामग्री वहाँ दिखाई नहीं देती। इसलिए उन कषायोंका कार्य प्रकट नहीं होता। किन्तु उनसे अंतरंगमें महादुखी है। कभी कोई प्रयोजन पाकर उनका भी कुछ कार्य होता है। उनके हास्यरति कषाय हैं लेकिन बाह्य निमित्त नहीं है इसलिए प्रकट नहीं होती। कभी-कभी किसी कारणसे कुछ कुछ होती हैं। तथा अरति, शोक, भय, और जुगुप्साके बाह्य कारण मौजूद हैं इसलिए यह कषायें प्रकट रूपसे तीव्र हैं। वेदोंमें इनके

नपुंसक वेद है। उससे स्त्री और पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा तो बहुत होती है परन्तु निमित्त नहीं मिलता इसलिए महापीड़ित रहता है। इस तरह कषायोंसे अत्यंत दुःखी हैं। वेदनीयमें असाताका ही उदय है इससे वहां अनेक वेदनाओंके निमित्त हैं। शरीरमें कोढ़, कास, श्वास आदि अनेक रोग एक साथ पाए जाते हैं और भूख प्यास ऐसी लगती है कि सबका भक्षण और पान कर लेना चाहता है परन्तु भोजन मिट्टीका मिलता है। वह मिट्टी भी कैसी कि अगर यहाँ आजाय तो दुर्गन्धसे कई कोसोंके मनुष्य मर सकते हैं। और शीत उष्ण ऐसी है कि लाख योजनका लोहेका गोला भी उसमें भस्म हो सकता है। इस तरह कहीं वहां शीत है कहीं उष्ण है वहाँकी पृथ्वी परके कांटे हथियारोंसे भी अधिक तीक्ष्ण हैं। वहाँके वनके पत्ते शस्त्रोंकी धारके समान पैने हैं। नदीका जल ऐसा है कि उसके स्पर्शसे शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है। वायु ऐसी प्रचण्ड है कि उससे शरीर दग्ध सा हो जाता है। तथा एक नारकी दूसरे नारकीको अनेक तरहसे पीड़ा देता है। घानीमें पेलता है, खण्ड खण्ड करता है, हांडीमें रांधता है, कोड़े मारता है, तप्त लोहेसे छुआता है, इत्यादि वेदनाएँ देता है। तीसरी पृथ्वी तक असुर कुमार जाते हैं वे स्वयं पीड़ा देते हैं, परस्पर लड़ाते हैं। ऐसी वेदना होने पर भी उनका शरीर नहीं छूटता किन्तु खण्ड खण्ड होकर भी पारेकी तरह फिर मिल जाता है। इस तरह महा पीड़ा है तथा साताका निमित्त कुछ है नहीं। अपने मानने में कभी किसी को किसी कारण की अपेक्षा थोड़ा साताका भी उदय होता है तो वह बलवान नहीं होता। आयु वहाँ बहुत है। जघन्य आयु १० हजार वर्षकी और उत्कृष्ट तेतीस सागरकी है। इतने काल तक ऐसे दुख वहाँ सहने होते हैं। नाम कर्मकी वहाँ सबही पाप प्रकृतियोंका उदय है एक भी पुण्य प्रकृतिका उदय नहीं है उनसे महादुखी हैं। गोत्रमें नीच गोत्रका ही उदय है उससे उनकी महानता नहीं होती इसलिए भी महादुखी हैं। इस तरह नरक गतिमें महादुख समझना चाहिए।

तिर्यञ्चोंके दुःख

तिर्यञ्च गतिमें लब्धिअपर्याप्तक जीव बहुत हैं उनकी एक श्वासके १८ वें भाग मात्र आयु है। कितने ही छोटे जीव पर्याप्तक भी हैं, इनकी शक्ति प्रकट नहीं मालम पड़ती। उनके एकेन्द्रिय समान ही दुख समझना चाहिए। हाँ, ज्ञानकी अधिकता उनके विशेष है। बड़े पर्याप्तक जीवोंमें कितने ही सम्मूर्च्छन हैं कितने ही गर्भज हैं। उनमें ज्ञानादिकका विकास है किन्तु वे विषयोंकी इच्छासे आकुलित हैं। उनमें बहुतोंको तो इष्ट विषयकी प्राप्ति नहीं होती कभी किसीको ही कुछ प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व भावसे वे अतत्वश्रद्धानी हो रहे हैं। कषायें मुख्यतया तीव्र ही पाई जाती हैं। क्रोधसे मानसे परस्पर लड़ते हैं, भक्षण करते हैं, दुख देते हैं। माया और लोभसे छल करते हैं, वस्तुको चुराते हैं। हास्यादिकसे हास्यादि कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं। कभी किसी जीवके मंद कषाय भी

---

१ ति० प० गा० ३२, ३३, ३४। त्रि० सा० नरतिर्यग्सामान्याधिकार गा० १८१–१९३। त० रा० वा० अ० ३ सू० ३ के अन्तर्गत। ध० र० गा० २१–७३।

होती है परन्तु थोड़ोंके ही होती है इसलिए उसकी मुख्यता नहीं है। वेदनीयमें मुख्यतया असाताका उदय है उससे रोग पीड़ा भूख, प्यास, छेदन, भेदन, बहुत भार वहन, शीत, उष्ण, अंगभंगादिक अवस्थाएँ होती हैं। उससे दुखी होते हुए वे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। अतः यहाँ बहुत नहीं कहा है। कभी किसीके कुछ साताका उदय होता है परन्तु थोड़े जीवोंके ही होता है इसलिये उसकी मुख्यता नहीं है। आयु उनकी अन्तर्मुहूर्तसे लेकर करोड़ वर्ष तक की होती है। उसमें अधिक जीव अल्प आयुके धारक होते हैं इसलिये जन्म मरणका दुःख उठाते हैं। भोग भूमियोंकी आयु अधिक होती है और उनके साताका भी उदय रहता है किन्तु ऐसे जीव थोड़े हैं। नामकर्मकी प्रकृतियोंमेंसे मुख्यतासे तिर्यञ्चगति आदि पाप प्रकृतियोंका उदय होता है। किसीके कभी किसी पुण्य प्रकृतिका भी उदय होता है, परन्तु थोड़े जीवोंके ही होता है और थोड़ा होता है। उसकी मुख्यता नहीं है। गोत्रमें नीचगोत्रका ही उदय है इसलिए हीन हो रहे हैं। इस तरह तिर्यञ्चगतिमें महादुख समझना चाहिए।

मनुष्यगतिके दुःख

मनुष्यगतिमें असंख्यात जीव तो लब्ध्यपर्याप्त हैं वे सम्मूर्च्छन ही हैं उनकी आयु भी श्वासके अठारहवें भाग है। गर्भजोंमें भी कोई जीव गर्भमें आकर थोड़े ही समयमें मर जाते हैं। उनकी शक्ति तो प्रकट नहीं मालूम पड़ती, दुःख भी उनका एकेन्द्रियके समान समझना चाहिए। जो विशेषता है उसे विशेष समझना चाहिए। कितने ही समय तक गर्भमें रहकर बादमें गर्भजोंका निकलना होता है। उनका वर्णन कर्म अपेक्षा जैसा पहले किया है वैसा ही जानना चाहिये, वह सब दुख गर्भज मनुष्यों के होता है। अथवा तिर्यञ्चोंके दुःखोंका वर्णन जैसा किया है वैसा ही मनुष्योंमें समझना चाहिए। विशेष इतना है यहाँ कुछ शक्तिकी अधिकता है, राजा आदिकोंके विशेष साताका उदय होता है। क्षत्रियादिकोंके उच्चगोत्रका भी उदय है। धनकुटुम्बादिकोंका विशेष निमित्त पाया जाता है। इत्यादि विशेष जानना चाहिये। अथवा गर्भ आदि अवस्थाओंके दुःख प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। जैसे मलमें लट पैदा होती है वैसे ही गर्भमें रजवीर्यकी बिन्दुको अपने शरीर-रूप करके जीव पैदा होता है। बादमें वहाँ क्रमसे ज्ञानादिक व शरीरकी वृद्धि होती है। गर्भका दुःख बहुत है सिकुड़ कर नीचेकी ओर मुँह करके भूख प्यास आदिकी वेदनाके साथ वहाँ समय पूरा करता है। जब बाहर आता है तब बाल्यावस्थामें महादुःख होता है। कोई कहते हैं कि बाल्यावस्थामें दुःख थोड़ा है। पर यह बात नहीं है। शक्ति थोड़ी है इसलिए प्रकट नहीं हो सकती। पीछे व्यापार आदि व विषयकी इच्छा आदि दुःख प्रगट होते हैं। इष्ट अनिष्ट जनित आकुलता रहा ही करती है। जब वृद्ध होता है तब शक्तिहीन होकर परम दुःखी होता है। यह दुःख प्रत्यक्ष होते हुए देखे जाते हैं इन्हें अधिक क्या कहें। जो उन प्रत्यक्ष दुःखोंको भी नहीं देख सकते वे कहनेसे भी कब सुन सकते हैं।

कभी किसीके कुछ साताका उदय होता है पर वह भी आकुलतामय है। और तीर्थंकरादिक पद मोक्ष मार्ग पाए बिना होते नहीं। इस तरह मनुष्य पर्यायमें भी दुःख ही है।

किन्तु इसी एक मनुष्य पर्यायमें कोई अपना भला करना चाहे तो कर सकता है। जैसे गन्नेकी जड़ तथा उसका ऊपरी फीका भाग चूसने योग्य तो होता नहीं और न बीचेकी कानी पैरी चूसी जाती है। कोई स्वादका लोभी उसको बिगाड़ता है तो बिगाड़े। लेकिन अगर वह बो दिया जाय तो उससे बहुतसे गन्ने और उनका अच्छा मीठा स्वाद मिल सकता है। वैसे ही मनुष्य पर्यायकी बाल वृद्ध अवस्था तो भोगने योग्य नहीं और बीचकी अवस्था रोग श्लेष्मादि सहित है वहां सुख हो ही कैसे सकता है। कोई विषयसुखका लोभी यदि उसको व्यर्थ गँवाता है तो गँवाए। लेकिन यदि उसे धर्म साधनमें लगा दिया जाय तो उससे बहुत ऊँचा पद मिल सकता है, जहाँ निराकुल सुखकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिए मनुष्य पर्यायमें अपना हित साधन करना चाहिए। मिथ्या सुखके भ्रमसे उसे वृथा न खोना चाहिए।

देव पर्यायमें ज्ञानादिककी शक्ति औरोंसे कुछ अधिक है। देव भी मिथ्यात्वसे अतत्व-श्रद्धानी होते हैं। किन्तु उनकी कषायें कुछ मंद हैं। परन्तु उनमें भी भवनवासी व्यंतर और

देवगतिके दुःख

ज्योतिष्क देवोंकी कषायें बहुत मन्द नहीं होतीं और उपयोग बहुत चंचल होता है, शक्ति भी कुछ है अतः कषायोंके कार्योंमें लगे रहते हैं। कुतूहल और विषयादि कार्योंमें मन रहता है। उस आकुलतासे वे दुखी ही हैं। तथा वैमानिक देवों के ऊपर २ कषायें विशेष मंद होती हैं और शक्ति भी अधिक है इसलिए आकुलता कम होनेसे दुःख भी कम है। देवोंके भी क्रोध और मान कषाय हैं परन्तु मन्द होनेसे उनका कार्य गौण है। किसीका बुरा करना, किसीको हीन करना इत्यादि कार्य निकृष्ट देवोंके तो कौतूहलादिकसे होते हैं। किन्तु उत्कृष्ट देवोंके कम होते हैं, अतः मुख्यता नहीं है। माया और लोभ कषायके कारण यहाँ पाये जाते हैं अतः उनके कार्यकी मुख्यता है, इसलिए छल करना विषय सामग्री चाहना आदि कार्य विशेष होते हैं। वे भी ऊपर ऊपरके देवोंमें कम हैं। हास्य-रति कषायके कारण भी यहाँ अधिक हैं, इसलिए इनके कार्यकी मुख्यता है। अरति, शोक, भय, और जुगुप्साके कारण कम हैं इसलिये इनके कार्योंकी गौणता है। स्त्रीवेद पुरुषवेदका उदय होनेसे रमण करनेका भी निमित्त है। अतः काम सेवन करते हैं। यह भी कषायें ऊपर ऊपर मंद हैं। अहमिन्द्रोंमें वेदोंकी मंदतासे काम सेवनका अभाव है। इस तरह देवोंके कषायभाव हैं और कषायभावों ही से दुःख होता है। इनके कषायें जितनी कम हैं उतना ही दुःख कम है इसलिए औरोंकी अपेक्षा यह सुखी कहे जाते हैं। किन्तु वास्तवमें कषाय भाव मौजूद हैं उससे दुखी ही हैं। वेदनीयमेंसे साताका उदय बहुत है, लेकिन भवनत्रिकमें थोड़ा है। वैमानिकोंमें ऊपर ऊपर अधिक साताका उदय है। शरीरकी इष्ट अवस्था, और स्त्री घर आदि सामग्रीका संयोग पाया जाता है। कभी किसी कारणसे कुछ असाताका भी उदय होता है। निकृष्ट देवोंके वह कुछ प्रकट भी है। उत्कृष्ट देवोंके विशेष प्रकट नहीं है। आयु इनकी अधिक है। जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागर है। इससे अधिक आयुका धारक मोक्षमार्ग पाए

बिना नहीं होता] इतने समय तक ये विषय सुखमें मग्न रहते हैं। नाम कर्मकी देवगति आदि सब पुण्य प्रकृतियोंका ही उदय है, इसलिये सुखका कारण है। और गोत्रमें उच्चगोत्रका ही उदय है इसलिये महानताके पदको प्राप्त हैं। इस तरह इन्हें पुण्यउदयकी विशेषतासे इष्ट सामग्री मिली है और कषायोंके कारण इच्छा पाई जाती है इसलिए उनके भोगनेमें आसक्त हो रहे हैं। परन्तु इच्छा अधिक ही रहती है इसलिए सुखी नहीं हैं। ऊँचे देवोंके उत्कृष्ट पुण्यका उदय है, कषाय बहुत मंद है तो भी उनके इच्छाका अभाव नहीं होता इसलिए वास्तवमें दुखी है। इस तरह सर्वत्र संसारमें दुःख ही दुःख पाया जाता है। यों पर्यायकी अपेक्षा दुःखका वर्णन किया।

अब इस सब दुखका सामान्य रूपसे वर्णन करते हैं। दुखका लक्षण आकुलता है आकुलता इच्छासे होती है। यह इच्छा संसारियोंके अनेक प्रकारसे पाई जाती है। एक तो इच्छा विषय ग्रहण करनेकी है उससे यह देखना जानना चाहता है। जैसे रूप देखनेकी, राग सुननेकी, अव्यक्तको जानने आदिकी इच्छा होती है। उसमें उसे कोई पीड़ा नहीं है परन्तु जब तक देखता जानता नहीं तबतक महाव्याकुल होता है। इस इच्छाका नाम विषय है। एक इच्छा कषाय भावोके अनुसार कार्य करनेकी है सो वह कार्य करना चाहता है, जैसे किसीका बुरा करनेकी अपमान करने आदिकी इच्छा होती है। यहाँ भी अन्य कोई पीड़ा नहीं है। परन्तु जबतक कार्य नहीं होता तबतक महाव्याकुल होता है। इस इच्छाका नाम कषाय है। एक इच्छा पाप के उदयसे शरीरमें वा बाहरमें बाह्य अनिष्ट कारण मिलें तो उनके दूर करनेकी होती हैं। जैसे रोग पीड़ा भूख आदिका संयोग होने पर उनके दूर करनेकी इच्छा होती है लेकिन इसमें यह जीव पीड़ा अनुभव करता है। जब तक वह दूर नहीं होती तब तक महाव्याकुलता रहती है। इस इच्छाका नाम पापका उदय है। इस तरह इन तीन प्रकारकी इच्छाओंके होनेसे सब ही दुःख मानते हैं इसलिए ये इच्छाएँ दुःख रूप ही हैं। एक इच्छा बाह्य निमित्तको लेकर होती है। सो वह इन तीन प्रकारकी इच्छाओंके अनुसार प्रवृत्ति करनेकी इच्छा है। इन तीन प्रकारकी इच्छाओंमेंसे एक एक इच्छा अनेक प्रकारकी है उनमेंसे किसी भी प्रकारकी इच्छा पूर्ण करनेका कारण पुण्य उदयसे मिलता है। उन सबका एक साथ साधन नहीं हो सकता इसलिए एकको छोड़ दूसरी इच्छामें लगता है। दूसरीको छोड़ तीसरीमें लगता है। जैसे किसीको अनेक सामग्री मिली हो उसमेंसे वह किसीको देखता है, उसको छोड़ कोई राग सुनता है, उसको भी छोड़ किसीका बुरा करने लग जाता है, उसको छोड़ भोजन करता है। अथवा देखनेमें ही एकको देखनेके बाद दूसरेको देखने लग जाता है। इसी तरह अनेक कार्योंकी इच्छा होती है। इस इच्छाका नाम पुण्यका उदय है। इसको संसार सुख मानता है। पर यह सुख नहीं दुःख ही है। क्योंकि पहले तो सब प्रकारकी इच्छा पूर्ण होनेका किसीको कारण नहीं मिलता और कभी इच्छा पूर्ण करनेके कारण मिलते भी हैं तो एक साथ सबका साधन नहीं होता। इसलिए एकका साधन जब तक नहीं होता तब तक उसकी आकुलता रहती है। साधन होने पर उसी समय अन्यके साधनकी इच्छा

दुखका सामान्य निरूपण

होती है तब उसकी आकुलता होती है। एक समय भी निराकुल नहीं रहता। इसलिए दुखी ही है। अपना तीन प्रकारके इच्छा रूपी रोगको मिटानेका कुछ उपाय करता है इसलिए दुःख कुछ कम हो जाता है परन्तु सब दुःखका तो नाश नहीं होता। इसलिए दुःख ही हैं। इस तरह संसारी जीवोंके सब प्रकार दुःख ही है। यहाँ इतना और समझना कि जिन तीन प्रकारकी इच्छाओंसे जगत पीड़ित है उनके अतिरिक्त एक चौथी इच्छा है जो पुण्यका उदय आने पर होती है। किन्तु पुण्यबंध धर्मानुरागसे होता है और धर्मानुरागमें जीव थोड़े लगते हैं। अधिक जीव तो पाप क्रियाओंमें लगते हैं। इसलिए चौथी इच्छा कभी किसी जीवके किसी समय होती है। यहाँ इतना और समझना कि समान इच्छा वाले जीवोंकी अपेक्षा चौथी इच्छा वालेके उन तीन प्रकारकी इच्छाओंके घट जानेसे कुछ सुख होता है। किन्तु चौथी इच्छा वालेकी अपेक्षा महान इच्छा वाला जीव चौथी इच्छा होते हुए भी दुःखी है। किसीके बहुत विभूति है और उसके इच्छा बहुत है तो वह बहुत आकुलतावान है और जिसके थोड़ी विभूति है तथा इच्छा भी थोड़ी है वह थोड़ा आकुलतावान है। अथवा किसीको अनिष्ट सामग्री मिली है उसे दूर करनेकी इच्छा किसीके कम है तो वह थोड़ा आकुलतावान है और किसीको इष्ट सामग्री मिली है और वह उन्हें खूब भोगना चाहता है तो वह अधिक आकुलतावान है। इसलिए सुखी दुखी होना इच्छाके आधीन है। बाह्य कारणोंके आधीन नहीं। इच्छा ही की अपेक्षा नारकी दुःखी और देव सुखी कहे जाते हैं। क्योंकि नारकियोंके तीव्र कषाय होनेसे इच्छा बहुत है। देवोंके मन्द कषाय होनेके कारण इच्छा कम हैं। तथा मनुष्य तिर्यञ्च भी इच्छा ही की अपेक्षा सुखी और दुःखी हैं। तीव्र कषायसे जिसकी इच्छा बहुत है वह दुःखी कहा जाता है मंद कषयासे जिसकी इच्छा थोड़ी है वह सुखी कहा जाता है। परमार्थ से तो दुःख ही अधिक या थोड़ा है, सुख तो है ही नहीं। देवादिकोंके सुख मानना भ्रम है उनके चौथी इच्छाकी मुख्यता है इसलिये वे आकुलित हैं। इस प्रकार वह इच्छा मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमसे होती है। इच्छा आकुलतामय है और आकुलता दुःखमय है। इस तरह सभी संसारी जीव नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित हो रहे हैं। अब जिन जीवोंको दुःखोंसे छूटना हो वे इच्छा दूर करनेका उपाय करें, किन्तु इच्छा तब दूर होगी जब

दुःख निवृत्तिका सामान्य उपाय

मिथ्यात्त्व अज्ञान और असंयमका अभाव होगा तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रकी प्राप्ति होगी। इस ही कार्यका प्रयत्न करना योग्य है। इस तरह साधन करते हुए जितनी-जितनी इच्छा मिटे उतना ही दुःख दूर होता जाता है। तथा जब मोहके सर्वथा अभावसे सर्वथा इच्छाका अभाव हो जाता है तब सारा दुःख मिट कर सच्चा सुख प्रकट होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका अभाव होने पर इच्छा के कारणभूत क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनका तथा शक्तिहीनपनेका भी अभाव हो जाता है और अनंतज्ञान अनंतदर्शन और अनंतवीर्यकी प्राप्ति होती है। कुछ काल पीछे अघातिया कर्मोंका भी अभाव होने पर इच्छाके बाह्य कारणोंका भी अभाव हो जाता है।

क्योंकि मोहके नष्ट हो जानेके बाद उनमें उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती। मोहके होने पर ही वे इच्छा को उत्पन्न करते हैं इसलिये उन्हें कारण कहा। इनका भी अभाव होने पर सिद्ध पद प्राप्त होता है। वहाँ पर दुखका और दुखके कारणोंका सर्वथा अभाव होनेसे अनुपम, अखंडित सर्वोत्कृष्ट आनंदसहित अनंत कालतक विराजमान रहते हैं। वही यहाँ दरशाते हैं।

ज्ञानावरण दर्शनावरणके क्षयोपशम होने अथवा उदय होने पर मोहके उदयसे एक एक विषयको जानने देखनेकी इच्छा होती थी उससे यह महाव्याकुल होता था, किन्तु अब

सिद्धोंके सुखका स्वरूप

मोहके अभावसे इच्छाका भी अभाव हुआ इसलिए दुःखका भी अभाव हो गया है। तथा ज्ञानावरण दर्शनावरणके क्षयसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके सभी विषयोंका एक साथ ग्रहण होनेसे दुःखका कारण भी दूर होगया है। उसीको विशेष खुलासा करके बताते हैं :—जैसे आँखों से एक विषयको देखना चाहता था अब त्रिकालवर्ती त्रिलोकके सभी रूपोंको एक साथ देखता है। कोई विषय बिना देखे रहा नहीं जिसके देखनेकी इच्छा पैदा हो। इसी प्रकार स्पर्शनादिकसे एक एक विषयका ग्रहण करना चाहता था अब त्रिकालवर्ती त्रिलोकके सम्पूर्ण स्पर्श, रस, गन्ध वर्णोंको एक साथ ग्रहण करता है, बिना ग्रहण किया हुआ कोई रहा नहीं जिससे ग्रहणकी इच्छा पैदा हो।

प्रश्न—शरीरादिक के बिना मुक्त जीव सम्पूर्ण पदार्थोंको कैसे ग्रहण करते हैं?

उत्तर—जब इन्द्रियसे जानता देखता था तब तो द्रव्य इन्द्रियादिके बिना ग्रहण नहीं होता था। अब ऐसा स्वभाव प्रकट हुआ है कि बिना ही इन्द्रियोंके ग्रहण होता है। इसका मतलब यह नहीं है कि जैसे मनसे स्पर्शादिक को जानते हैं वैसेही केवली जानते होंगे, त्वचा जीभ आदि से जैसा स्पष्ट तरह जानना होता है वैसा न होता होगा। मनसे तो स्मरणादि होने पर अस्पष्ट ज्ञान होता है। और यहाँ स्पर्शादिकोंको पांचों इन्द्रियोंसे जैसे स्पर्श करता है, उनका स्वाद लेता है उन्हें सूंघता है, देखता है, सुनता है उससे भी अनन्तगुणा स्पष्ट ज्ञान सिद्धोंके होता है। विशेष इतना है कि वहाँ इन्द्रिय और विषयकाका संयोग होनेसे जानना होत था यहाँ दूर रहने पर भी वैसा ही जानना होता है। यह ज्ञानशक्ति की महिमा है। इसी प्रकार मनसे कुछ अतीत, अनागत और अव्यक्त को जानने की इच्छा होती थी, अब अनादि से अनन्त काल पर्यन्त सब पदार्थोंके द्रव्य क्षेत्र काल भावोंको एक साथ जानता है। कोई बिना जाने नहीं रहता जिसके जानने की इच्छा पैदा हो। इस प्रकार दुःख और दुःखोंके कारणोंका अभाव समझना चाहिए। मोहके उदयसे मिथ्यात्व व कषाय भाव होते थे। उनका सर्वथा अभाव होनेसे दुखका भी अभाव हुआ और इनके कारणोंका अभाव होनेसे दुःखोंके कारणोंका भी अभाव हुआ। उन्हीं कारणोंका अभाव यहाँ दिखाते हैं—

सब तत्त्वोंका यथार्थ प्रतिभास होनेसे अतत्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व कैसे हो सकता है? कोई अनिष्ट रहा नहीं और जो निन्दक है वह अपने आप उसका फल पाता ही है। तब क्रोध

किसपर करें ? सिद्धोंसे ऊंचा कोई है नहीं। इन्द्रादिक अपने आपही नमस्कार करते हैं, और इष्ट वस्तुको पाते हैं तब सिद्ध किससे मान करें ? सब भवितव्य जान लिया, कुछ काम बाकी रहा नहीं, किसीसे कुछ मतलब है नहीं। किसका लोभ करें ? कोई इष्ट बाकी रहा नहीं किस कारण से हास्य करे ? कोई अन्य इष्ट प्रीतियोग्य रहा नहीं किससे रति करें ? कोई दुःखदायक संयोग रहा नहीं किससे अरति करें ? कोई इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग होता नहीं, शोक क्यों करें ? कोई अनिष्ट करनेवाला है नहीं, भय किसका करे ? सब वस्तुएं अपने अपने स्वभावको लिए हुए प्रतिभासित होती हैं उनमेंसे अनिष्ट कुछ है नहीं; जुगुप्सा कहाँ करें ? कामपीड़ा दूर हो जानेसे स्त्री, पुरुष या दोनोंसे रमनेका कुछ मतलब नहीं रहा तब किसलिए पुरुषवेद स्त्रीवेद या नपुंसकवेद रूप भाव हों ? इस तरह मोहके पैदा होनेके कारणों का अभाव समझना चाहिए। तथा अन्तराय कर्मका उदय होनेसे शक्तिकी पूर्ति नहीं होती थी। अब उसका अभाव होगया, इसलिये दुःखका भी अभाव हुआ। और अनन्त शक्ति प्रकट हो गई। इसलिये दुःखके कारणका भी अभाव हो गया।

प्रश्न—सिद्धोंमें दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप कार्य नहीं है तब इनकी शक्ति कैसे प्रकट हुई कहलाई ?

समाधान—यह कार्य रोगके उपचार थे। जब रोग ही नहीं तब उपचार क्यों करें। इसलिये इन कार्योंका सद्भाव तो नहीं है और इनके रोकनेवाले कर्मका अभाव होगया है इसलिए शक्ति प्रगट हुई कहते हैं। जैसे कोई गमनं करना चाहता था उसे किसीने रोका तो दुखी हुआ। जब रोक उठा ली गई तब जिस कार्यके लिए जाना चाहता था वह कार्य ही न रहा। इसलिए गया भी नहीं। लेकिन गमन न करने पर भी गमन करने की शक्ति उसके प्रगट हुई कहलाती है वैसे ही यहाँ भी समझना तथा ज्ञानादिककी शक्तिरूप अनन्तवीर्य उनके प्रकट पाया जाता है। तथा अघातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंका उदय होने पर मोहके निमित्तसे दुःख मानता था और पुण्य प्रकृति के उदयमें सुख मानता था। परमार्थसे आकुलताके कारण वह सब दुःख ही था। अब मोहके नाशसे आकुलता दूर होनेके कारण सम्पूर्ण दुःखका नाश हुआ। तथा जिन कारणोंसे दुःख मानता था वे कारण तो नष्ट होगये और जिनसे कुछ दुःख दूर होने पर सुख मानता था वे अब मूलमें ही नहीं रहे, अतः उन दुःखोंके उपचारोंका कुछ प्रयोजन नहीं रहा। उनसे जो अर्थ सिद्ध करना चाहता था। उसकी अपने आप ही सिद्धि होरही है। इसही को विशेष रूपसे दिखाते हैं।

वेदनीयमें असाताके उदयसे दुःखके कारण शरीरमें रोगभूखादिक होते थे। अब शरीर ही नहीं तब वे कहाँ हों। और शरीरकी अनिष्ट अवस्थाके कारण आताप आदि थे। सो अब शरीर बिना वे किसका अनिष्ट करें तथा जो बाह्य निमित्त अनिष्ट बनता था सो वह अब इनका अनिष्ट रहा नहीं। इस तरह दुःखके कारणका तो अभाव हुआ। तथा साताके उदयसे

---

१ मुद्रित प्रतिमें गमनके बाद नहीं शब्द है लेकिन वह यहाँ उपयुक्त नहीं मालूम पड़ता।

कुछ दुःख मिटनेके कारण औषधि भोजनादिकका प्रयोजन रहा नहीं और इष्ट कार्य पराधीन नहीं रहा इसलिये बाह्यमें भी मित्रादिकोंको इष्ट माननेका प्रयोजन नहीं रहा। इनसे दुःख मिटाना चाहता था व इष्ट करना चाहता था। सो अब संपूर्ण दुःख नष्ट हो गया और संपूर्ण इष्टकी प्राप्ति हो गई। आयुके निमित्तसे मरना और जीना होता था। मरणके निमित्तसे दुःख मानता था सो तो अविनाशी पद पाया इसलिए दुःखका कारण नहीं रहा। तथा द्रव्य प्राणोंको धारण करनेसे कितने ही समय तक जीने मरनेको सुख मानता था। तथा नरक पर्यायमें दुःखकी अधिकतासे जीना नहीं चाहता था। अब सिद्ध पर्यायमें द्रव्य प्राणोंके बिना ही अपने चैतन्य प्राणोंसे हमेशा जीता है। वहाँ दुःखका लवलेश भी नहीं रहा।

नाम कर्मके उदयसे अशुभ गति जाति आदि होनेसे दुःख मानता था उन सबका अब अभाव हुआ दुःख कहाँसे हो। और शुभगति आदि होनेसे कुछ दुःख दूर होनेके कारण सुख मानता था अब उनके बिना ही सब दुखोंका नाश तथा सब सुखोंका प्रकाश पाया जाता है, इस-लिए उनका भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा। गोत्र कर्मके उदयसे नीच कुल पाने पर दुःख मानता था, उसका अभाव होनेसे दुःखका कारण नहीं रहा। उच्च कुल पानेसे सुख मानता था अब उच्च कुलके बिना ही त्रैलोक्य पूज्य उच्च पदको प्राप्त है। इस प्रकार सिद्धोंके सब कर्मोंके नाश होनेसे सब दुःखका नाश हुआ। दुःखका लक्षण तो आकुलता है, आकुलता तब ही होती है जब इच्छा होती है। उनके इच्छा व इच्छाके कारणोंका नाश हुआ इसलिए निराकुल हो सर्व दुःखरहित अनंत सुखका अनुभव करते है। क्योंकि निराकुलपना ही सुखका लक्षण है। संसारमें भी जब कोई किसी प्रकार निराकुल होता है तो सुख अनुभव करता है। फिर जहाँ सर्वथा निराकुल हो वहाँ संपूर्ण सुख कैसे न माना जाय। इस प्रकार सम्यग्दर्शनादिकका साधन करनेसे सिद्धपद प्राप्त होने पर सब दुखोंका अभाव हो जाता है और सब सुख प्रगट हो जाते हैं। यहाँ अब उपदेश देते हैं :—

हे भव्य, हे भाई! जो तुझे संसारके दुःख दिखाए, वे तुझ पर बीते हैं या नहीं यह सोच, और तेरे किए हुए उपायोंको झूठा बताया है सो वह भी इसी प्रकार है या नहीं यह भी देख, और सिद्ध पद मिलने पर सुख होता है या नहीं यह भी विचार। अगर जो कुछ कहा है उस पर ही तुझे विश्वास होता है तो संसारसे छूटकर सिद्ध पद पानेका हम जो उपाय कहते हैं वह तू कर। इसमें देर मत कर। इस उपायके करनेसे तेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाश नामक शास्त्रमें संसारसुखका व मोक्षसुखका निरूपण करनेवाला तृतीय अध्याय संपूर्ण हुआ।

अध्याय ४

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रका निरूपण।

इस भवके सब दुखनके, कारण मिथ्याभाव।
तिनकी सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव॥

अब यहाँ संसारदुःखोंके बीजभूत मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके स्वरूपका विशेष निरूपण करते हैं—जैसे वैद्य रोगके कारणोंको विशेष रूपसे बतलाता है तो रोगी कुपथ्य का सेवन न कर रोगरहित हो जाता है, वैसे ही यहाँ संसारके कारणोंका विशेष निरूपण किया जाता है जिससे संसारी मिथ्यात्वादिकका सेवन न कर संसार रहित हो जाय। इसलिये मिथ्यादर्शनादिका विशेष वर्णन करते हैं।

मिथ्यादर्शनादिके निरूपणकी प्रतिज्ञा

मिथ्यादर्शनका स्वरूप

यह जीव अनादिसे कर्मबन्धसहित है। इसके दर्शन मोहके उदयसे उत्पन्न अतत्व-श्रद्धानका नाम मिथ्यादर्शन है। श्रद्धान करने योग्य पदार्थके स्वरूपको तत्व कहते हैं। और जो तत्व नहीं उसे अतत्व कहते हैं। जो अतत्व है वह असत्य है। उसीका नाम मिथ्या है। तथा 'यह इसी प्रकार है' इस तरहकी प्रतीतिका नाम श्रद्धान है। यहाँ श्रद्धान ही का नाम दर्शन है। यद्यपि दर्शन शब्दका अर्थ सामान्य तया देखना है तौ भी यहाँ प्रकरणवश इसका अर्थ श्रद्धान समझना चाहिए। तत्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें भी ऐसा ही लिखा है। क्योंकि सामान्य अवलोकन संसारसे छूटनेका कारण नहीं है। श्रद्धान ही मोक्षका कारण है, इसलिये मोक्षके कारणोंमें दर्शनका अर्थ श्रद्धान ही जानना चाहिए। इस तरह मिथ्यारूप जो दर्शन अर्थात् श्रद्धान है उसका नाम मिथ्यादर्शन है। जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा न मानना और जैसा नहीं है वैसा मानना इस प्रकारका विपरीत अभिनिवेश अर्थात् उल्टा अभिप्राय मिथ्यादर्शनसे होता है।

प्रश्न—केवलज्ञान विना सम्पूर्ण पदार्थ यथार्थ प्रतिभासित नहीं होते और यथार्थ प्रतिभास हुए विना यथार्थ श्रद्धान नहीं होता, फिर मिथ्यादर्शनका त्याग कैसे हो सकता है?

उत्तर—पदार्थोंका जानना न जानना अन्यथा जानना तो ज्ञानावरणके अनुसार है। यद्यपि यह सत्य है कि प्रतीति जानने पर ही होती है, विना जाने प्रतीति कैसी? परन्तु जैसे कोई पुरुष अप्रयोजनभूत पदार्थोंको अन्यथा जानता है, यथार्थ जानता है, जाननेके अनुसार मानता है इससे उसका न कुछ विगाड़ है न सुधार है अतः न वह पागल कहलाता है और न चतुर। किन्तु जो प्रयोजनभूत पदार्थ हैं उनको अन्यथा जानता है और वैसा ही मानता है तो विगाड़ होता है और पागल कहलाता है और अगर यथार्थ ही जानता मानता है तो सुधार होता है तथा होशियार कह-

९

लाता है। वैसे ही यह जीव यदि अप्रयोजनभूत पदार्थोंको अन्यथा जानता है यथार्थ जानता है, जाननेके अनुसार मानता है, इससे इसका न कुछ विगाड़ है न सुधार, इसलिए वह न मिथ्यादृष्टि कहलाता है और न सम्यग्दृष्टि। किन्तु प्रयोजनभूत पदार्थोंको यदि अन्यथा जानता है और वैसा ही श्रद्धान करता है तो उसका विगाड़ होता है और मिथ्यादृष्टि कहलाता है। और यदि उनको यथार्थ जानता है वैसा ही श्रद्धान करता है तो सुधार होता है और सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यहाँ इतना जानना चाहिए कि अप्रयोजन भूत या प्रयोजनभूत पदार्थोंको न जानने व यथार्थ अयथार्थ जाननेमें ज्ञानका हीनाधिक होना मात्र ही जीवका विगाड़ व सुधार है। उसका निमित्त तो ज्ञानावरण कर्म है। तथा प्रयोजनभू पदार्थोंका अन्यथा वा यथार्थ श्रद्धान करनेसे जीवका कुछ और भी विगाड़ व सुधार होता है। इसलिए इसका निमित्त दर्शनमोह कर्म है।

प्रश्न—जाननेके अनुसार ही जव श्रद्धान होता है तव ज्ञानावरणके अनुसार श्रद्धान हुआ, आप दर्शन मोहको विशेष निमित्त कैसे कहते हैं ?

उत्तर - प्रयोजनभूत जीवादि तत्वोंका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो सव संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके है। परन्तु द्रव्यलिङ्गी मुनि ग्यारह अङ्ग तक पढ़ जाते हैं और ग्रैवेयकोंके देव अवधि ज्ञानसे संयुक्त होते हैं; उनके ज्ञानावरणका क्षयोपशम वहुत होनेपर भी प्रयोजनभूत जीवादि तत्वोंका श्रद्धान नहीं होता। और तिर्यञ्चके ज्ञानावरणका क्षयोपशम कम होनेपर भी प्रयोजनभूत जीवादिकोंका श्रद्धान होता है इसलिये ज्ञात होता है कि ज्ञानावरणके अनुसार श्रद्धान नहीं है इसके लिये कोई अलग ही कर्म है और वह दर्शन मोह है। इसके उदयसे जीवके मिथ्यादर्शन होता है तव वह प्रयोजनभूत जीवादि तत्वोंका अन्यथा श्रद्धान करता है।

प्रश्न—प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत तत्व कौनसे हैं ?

उत्तर—इस जीवका प्रयोजन तो एक यही है कि दुःख न हो सुख हो। अन्य कुछ भी किसी जीवका प्रयोजन नहीं है। दुःखका न होना सुखका होना एक ही वात है ! इसलिए दुःखके अभावका नाम सुख है। इस प्रयोजनकी सिद्धि जीवादिकका सत्य श्रद्धान करने पर होती है। सो कैसे ? यह वताते हैं।

प्रयोजन अप्रयोजन-भूत तत्व

पहले तो दुःख दूर करनेके लिये अपना और परका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। अगर अपने परका ज्ञान नहीं है तो विना अपनेको पहचाने अपना दुःख दूर कैसे कर सकता है। अथवा स्व परको एक समझ अपना दुःख दूर करनेके लिए दूसरेका उपचार करने लगे तो अपना दुःख दूर कैसे हो सकता है? अथवा अपनेसे दूसरा भिन्न है और यह दूसरेमें ही अहंकार ममकार करने लगे तो दुखी ही होगा ? इसलिए अपने परका ज्ञान होनेपर ही दुःख दूर होता है। यह अपने परका ज्ञान जीव अजीवका ज्ञान होने पर ही होता है। आप स्वयं जीव हैं और शरीरादिक अजीव हैं। इस तरह अगर लक्षणसे जीव अजीवतोकी पहचान हो जाय अपने परका भिन्नपना मालूम

हो। इस तरह जीव अजीवको जानने अथवा उनका ज्ञान होनेपर जिन पदार्थोंके अन्यथा श्रद्धानसे दुःख होता था उनके यथार्थ ज्ञानसे दुःख दूर होता है। इसलिए जीव अजीवका जानना आवश्यक है।

तथा दुःखका कारण तो कर्मबन्धन है और उसका कारण मिथ्यात्वादिकका आश्रव है। यदि इनको न पहचाने या इनको दुःखका कारण न जाने तो इनका अभाव कैसे कर सकता है। और इनका अभाव किए विना जो कर्मबन्ध होता है इससे दुःख ही होना संभव है। अथवा मिथ्यादिक भाव ही दुःखमय है इनको ज्योंका त्यों न जाने तो इनका अभाव कैसे कर सकता है और इनका अभाव किये विना दुःख ही है। इसलिये आश्रवको भी जानना चाहिए।

इसी तरह समस्त दुःखका कारण कर्मबंधन है। इसको विना जाने इससे मुक्त होनेका उपाय नहीं होता तब उसके निमित्तसे दुखी होता है इसलिए बन्धको भी जानना चाहिए। आश्रवके अभावका नाम संवर है इसको जाने विना इसमें प्रवृत्ति नहीं होती और इसमें प्रवृत्ति हुए विना आश्रवके होनेसे वर्तमान और भविष्यमें दुःख ही रहेगा, इसलिए संवरको भी जानना उचित है। किसी प्रकार कुछ कर्मबन्धका अभाव होना निर्जरा है। इसको भी विना जाने इसमें प्रवृत्ति करनेका प्रयत्न नहीं कर सकता और उसमें प्रवृत्ति किये विना बन्ध होगा ही अतः उससे दुःख ही होगा इसलिए निर्जराको भी जानना चाहिए। सम्पूर्ण कर्मबन्धका सर्वथा अभाव होनेका नाम मोक्ष है इसको न पहचाने तो इसका उपाय ही क्या क्या कर सकता है और यदि उपाय न करेगा तो संसारमें कर्मबंधसे उत्पन्न दुःखोंको ही सहेगा। इसलिए मोक्षको भी जानना चाहिए। इस प्रकार जीवादि सात तत्त्व हैं। शास्त्र आदिसे उन्हें कभी समझ भी ले, लेकिन 'यह इसी प्रकार है' अगर ऐसा विश्वास नहीं करता तो उस जाननेसे क्या लाभ है? इसलिए उनका श्रद्धान करना ही कार्यकारी है। इस तरह जीवादि तत्वोंका सत्य श्रद्धान करने पर ही दुःखोंके अभावरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है। इसलिए जीवादिक पदार्थ ही प्रयोजनभूत जानना चाहिए। तथा इनके विशेष भेद पुण्यपापादिकका श्रद्धान भी प्रयोजनभूत है क्योंकि सामान्यसे विशेष बलवान होता है इस तरह ये पदार्थ तो प्रयोजनभूत हैं। इनके श्रद्धान करनेसे तो दुःख नहीं सुख होता है। और इनका यथार्थ श्रद्धान किए विना दुःख होता है सुख नहीं होता। लेकिन इनके विना जो अन्य पदार्थ है वे अप्रयोजनभूत हैं उनका यथार्थ श्रद्धान किया जाय या नहीं वह श्रद्धान सुखदुःखका कारण नहीं है।

प्रश्न—जीव अजीव पदार्थोंमें ही सब पदार्थ गर्भित हो जाते हैं तब उनसे भिन्न कौनसे पदार्थ हैं जो अप्रयोजनभूत हैं?

उत्तर—पदार्थ तो सब जीव अजीवोंमें ही गर्भित हैं, लेकिन उन जीव अजीवोंके भेद बहुत हैं। उनमें जिन विशेषों सहित जीव अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेपर स्वपरका श्रद्धान तथा रागादिक दूर करनेका श्रद्धान होता है उससे सुख होता है। अयथार्थ श्रद्धान करने पर स्वपरका

श्रद्धान और रागादिक दूर करनेका श्रद्धान नहीं होता उससे दुःख होता है उन विशेषों सहित तो जीव अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत जानना चाहिए। तथा जिन विशेषों सहित जीव अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेपर स्वपरका श्रद्धान हो न हो या रागादिकके दूर करनेका श्रद्धान हो न हो कुछ नियम नहीं उन विशेषों सहित जीव अजीव पदार्थ अप्रयोजनभूत जानना चाहिए। जैसे जीव और शरीरके चैतन्यमूर्तत्व आदि विशेषोंको लेकर श्रद्धान करना तो प्रयोजनभूत है और मनुष्यादि पर्यायोंका अथवा घड़ा कपड़ा आदि अवस्था या आकार आदि विशेषोंका श्रद्धान करना अप्रयोजनभूत है। ऐसे ही और भी जान लेना चाहिए। इस तरह बतलाए गए प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंके अयथार्थ श्रद्धानका नाम मिथ्यादर्शन है। अव संसारी जीवोंके मिथ्यादर्शनकी प्रवृत्ति कैसे पाई जाती है यह वतलाते हैं। यहाँ वर्णन तो श्रद्धानका ही है परन्तु जानने परही श्रद्धान होता है। इसलिए जाननेकी मुख्यतासे वर्णन करते हैं।

मिथ्यादर्शनकी प्रवृत्ति

जीव अनादिसे कर्मोके कारण अनेक पर्याय धारण करता है। पहली पर्याय छोड़ता है नवीन पर्याय धारण करता है। वह पर्याय आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीरका एक बंधानरूप है। उसी पर्यायमें जीवकी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अहंबुद्धि होती है। जीवका अपना स्वभाव तो ज्ञानादिक है और विभाव क्रोधादिक हैं तथा पुद्गल परमाणुओंके वर्ण रस गंध स्पर्शादिक स्वभाव है। इन सभीको यह अपना स्वरूप मानता है। 'यह मेरे हैं' इस प्रकार उनमें ममत्त्व वुद्धि होती हैं। जीवकी ज्ञानादिक व क्रोधादिककी अधिकता हीनतारूप अवस्थाको तथा पुद्गल परमाणुओंकी वर्णादि पलटनेरूप अवस्थाको यह अपनी अवस्था मानता है। 'यह मेरी अवस्थाएँ हैं' इस प्रकार ममवुद्धि करता है। जीव और शरीरका निमित्त नैमित्तिक संवंध है। इसलिए जो क्रिया होती है उसे अपनी मानता है। अपना स्वभाव ज्ञानदर्शन है उनकी प्रवृत्तिमें निमित्तमात्र शरीरका अङ्गरूप स्पर्शनादिक द्रव्येन्द्रियाँ हैं यह उनको एक मानता हुआ इस तरह विचारता है—हाथके स्पर्शनसे मैंने छूआ, जीभसे चाखा, नाकसे सूँघा, नेत्रसे देखा, कानसे सुना। मनोवर्गणारूप आठ पाँखड़ीका खिले हुए कमलके समान हृदयस्थानमें द्रव्यमन है। यह दीखता नहीं शरीरका एक अङ्ग है। उसके निमित्तसे स्मरणादिरूप ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। यह द्रव्य, मन और ज्ञानको एक मानता हुआ समझता है कि मैंने मनसे जाना। जव वोलनेकी इच्छा होती है तव जिस तरह वोलना हो उस तरह अपने प्रदेशोंको हिलाता है। उस समय एक क्षेत्रावगाहरूप संवंधसे शरीरके अंगही उसका निमित्त पाकर भाषावर्गणारूप-पुद्गलवचनरूप परिणमन करते हैं। यह सवको एक मानता हुआ समझता है कि मैं वोलता हूँ। अपने गमन करने या वस्तु ग्रहण करनेकी इच्छा होती है तव जैसे कार्य हों वैसे अपने प्रदेशोंको हिलाता है एक क्षेत्रावगाह संवंधसे उस समय शरीरके अङ्ग हिलते हैं तव कार्य होता है। अथवा अपनी विना इच्छाके शरीरके हिलनेपर आत्मप्रदेश भी हिलते हैं, यह सवको एक समझकर कहताही है कि मैं गमन करता हूँ, मैं वस्तुतः ग्रहण करता हूँ या मैंने किया है। जीवके कषाय भावोंके अनुसार शरीरकी चेष्टा भी वैसीही होजाती है जैसे क्रोध होनेपर नेत्र लाल

हो जाते हैं, हास्यादिकसे मुख प्रफुल्लित होजाता है। पुरुष वेदादिकसे लिंगकाठिन्यादि होजाता है। यह इन सबको अपना किया हुआ समझता है। शरीरमें शीत उष्ण क्षुधा तृषा रोग आदि अवस्थाएँ होती हैं उसके निमित्तसे मोहभावोंको लेकर सुखदुःख मानता है। इन सबको एक समझकर यह शीतादिक अथवा सुख दुखको अपनेही हुआ मानता है। शरीरके परमाणुओंके मिलने बिछुड़नेसे अथवा उनकी अवस्था पलटनेसे या शरीर स्कंधके खण्ड आदि होनेसे स्थूल, कृश, बाल, वृद्ध, अङ्गहीन आदि होता है और उसीके अनुसार आत्माके प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है, इन सबको एक मानकर मैं स्थूल हूं, कृश हूं, बालक हूं, वृद्ध हूं, मेरे इन अङ्गोंका भङ्ग हुआ है आदि समझता है। तथा शरीरकी अपेक्षा गति कुल आदिको अपना समझकर मैं मनुष्य हूं, मैं तिर्यंच हूं, मैं क्षत्रिय हूं, मैं वैश्य हूं इत्यादि कल्पना करता है। शरीरके संयोग वियोगकी अपेक्षा होनेवाले जन्ममरणको अपना जन्ममरण मानकर 'मैं पैदा हुआ' 'मैं मरूंगा' ऐसा समझता है। शरीर ही की अपेक्षा अन्य वस्तुओंसे नाता मानता है जिनसे शरीर पैदा हुआ है उनको अपना मातापिता मानता है। जो शरीरको रमण कराती हो उसे रमणी समझता है। जो शरीरसे उत्पन्न हुआ हो उसे पुत्र मानता है। जो शरीरका उपकारी हो उसमें मित्रकी कल्पना करता है। जो शरीरका बुरा करता हो उसे शत्रु समझता है। अधिक क्या कहा जाय जैसे भी हो वैसे अपनेको और शरीरको एक ही मानता है। इन्द्रियादिकका नाम तो यहां कहा है, इसे तो कुछ पता नहीं। अचेत होकर पर्यायमें अहंबुद्धि धारण करता है। इसका क्या कारण है यह बतलाते हैं।

इस आत्माके अनादिसे इन्द्रियज्ञान है उस इन्द्रिय ज्ञानसे यह स्वयं तो अमूर्तिक होनेके कारण प्रतिभासित नहीं होता मूर्तिक शरीर ही प्रतिभासित होता है। और यह आत्मा किसीको तो अपना मानकर अहंबुद्धि धारण करेगा ही इसलिए जब यह स्वयं अलग प्रतिभासित नहीं होता तब आत्मा और शरीरके समुदायरूप पर्यायमें ही अहंबुद्धि धारण करता है। तथा आत्मा और शरीरके नैमित्तिक संबंधकी घनिष्टता है उससे इसे आत्मा और शरीरकी भिन्नता मालूम नहीं पड़ती। जिस विचारसे भिन्नता मालूम हो सकती है वह मिथ्यादर्शनके प्रभावसे हो नहीं सकती इसलिए पर्यायमें ही अहंबुद्धि पाई जाती है। मिथ्यादर्शनके प्रभावसे यह जीव बाह्य सामग्रीका संयोग होने पर उन्हें भी अपनी मानता है। पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़ा, मन्दिर, किंकरादिक जो प्रत्यक्ष अपनेसे भिन्न हैं और सदा अपने अधीन नहीं उनमें भी यह ममत्वभाव करता है। पुत्रादिकोंमें तो जो यह हैं वही मैं हूं ऐसी भी कभी भ्रम बुद्धि करता है। मिथ्यादर्शनसे शरीरका स्वरूप भी अन्यथा मालूम पड़ता है। अनित्यको नित्य समझता है, भिन्नको अभिन्न मानता है, दुःखके कारणोंको सुखके कारण मानता है। इस तरह जीव अजीव तत्त्वोंका अयथार्थ ज्ञान होनेसे अयथार्थ श्रद्धान होता है उन्हें अपना स्वभाव मानता है, कर्मकी उपाधिसे पैदा हुआ नहीं मानता। दर्शन और ज्ञानरूप उपयोगको और इन आश्रव भावोंको एक मानता है क्योंकि इन दोनोंका आधार एक ही आत्मा है और इनका परिणमन भी एक ही समयमें होता है। इसलिए इसको भिन्नपना महसूस नहीं होता। और भिन्नपनेका कारण जो विचार है वह मिथ्या-

दर्शनके प्रभावसे हो नहीं सकता। तथा ये मिथ्यात्व और कषायभाव आकुलताको लिए हुए हैं इसलए वर्तमानमें दुःखमय हैं और कर्मबन्धके कारण हैं। इसलिये आगामी कालमें यह दुःख देंगे ऐसा नहीं मानता स्वयं भला समझ कर इन भावोंरूप प्रवृत्ति करता है। यह जीव दुःखी तो अपने इन मिथ्यात्व और कषायरूप भावोंसे होता है किन्तु वृथा ही औरोंको दुःखदायक मानता है। जैसे दुखी तो मिथ्यात्वश्रद्धानसे होता है किन्तु अपने श्रद्धानके अनुसार जो पदार्थ प्रवृत्ति न करे उसको दुःखदायक मानता है। इसी प्रकार दुखी तो क्रोधसे होता है परन्तु जिसपर क्रोधकिया हो उसे दुःखका कारण समझता है। तथा दुःखी तो लोभसे होता है लेकिन इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिको दुःखदायक मानता है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। इन भावोंका फल भी जैसा होता है वैसा नहीं प्रतीत होता। इनकी तीव्रतासे नरकादिक होते है। मंदतासे स्वर्गादिक होते है। वहाँ थोड़ी वहुत आकुलता होती है वह महसूस नहीं होती इसलिए ये बुरे नहीं लगते कारण यह है कि वे अपने किए हुए है इसलिए उन्हें बुरा कैसे मान सकता है।

इसी तरह आश्रवतत्वका अयथार्थ ज्ञान होनेसे अयथार्थ श्रद्धान होता है इन आश्रवभावोंसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका बंध होता है। उनके उदयसे ज्ञानदर्शनका हीनपना होना, मिथ्यात्व कषायरूप परिणामोंका होना, चाहा हुआ न होना, दुःखके कारण मिलना, शरीर संयोगका वना रहना, गतिजाति शरीरादिकका पैदा होना, नीचे ऊँचे कुलका पाना आदि होता है। इनके होनेमें मूल कारण कर्म है। उसको सूक्ष्म होनेके कारण यह पहचानता नहीं। और इन कार्योंका कर्ता स्वयंको मालूम नहीं होता इसलिए इनके होनेमें अपनेको या किसी औरको कर्ता मानता है और जव अपना या दूसरेका कर्तापना महसूस नहीं होता तव विमूढ़ हो भवितव्यको अङ्गीकार करता है। इस प्रकार वन्धतत्वका अयथार्थ ज्ञान होनेसे अयथार्थ श्रद्धान होता है।

आश्रवके अभावका नाम संवर है। जो आश्रवको यथार्थ नहीं पहचानता उसके संवरका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो सकता है। जैसे किसीका आचरण अहितकर है। यदि वह उसे अहितकर अनुभव नहीं करता तो उसके अभावको हितकर कैसे मान सकता है। इसी प्रकार जीवके आश्रवकी प्रवृत्ति है इसको यह अहितकर मालूम नहीं होता तो उसके अभावरूप संवरको हितकर कैसे मान सकता है? तथा अनादिसे इस जीवके आश्रवभाव ही हैं, संवर कभी हुआ नहीं इसलिए संवरका होना भी मालूम नहीं होता। संवर होनेसे सुख होता है यह भी इसे मालूम नहीं देता। संवरसे आगे दुःख नहीं होगा यह भी इसे नहीं जान पड़ता। इसलिए आश्रवका संवर तो करता नहीं और उन अन्य पदार्थोंका दुःखदायक मान उन्हींके न होनेका उपाय करता है। किन्तु वे अपने अधीन हैं नहीं इसलिये वृथा ही खेद खिन्न होता है। इस तरह संवर तत्वका अयथार्थ ज्ञान होनेसे अयथार्थ श्रद्धान होता है।

वंधका एक देशसे अभाव होनेको निर्जरा कहते हैं। जो बंधको यथार्थ नहीं पहचानता

उसके निर्जराका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो सकता है ? जैसे भक्षण किए हुए विष आदिसे दुख होना प्रतीत न हो तो उसके वमन करनेके उपायको अच्छा कैसे समझ सकता है। इस जीवके इन्द्रियोंसे सूक्ष्मरूप कर्मोंका तो ज्ञान नहीं होता उनमें दुख देनेकी जो शक्ति है उसका भी ज्ञान नहीं है। इसलिए अन्य पदार्थोंको ही दुःखदायी जानकर उनके ही अभावका उपाय करता है, किन्तु वह अपने अधीन नहीं है। तथा कभी दुख दूर करनेमें निमित्त कोई इष्ट संयोगादि कार्य बन भी जाता है तो वह कर्मके अनुसार ही बनता है इसलिए उनका उपाय करके व्यर्थ ही खेद करता है, इस तरह निर्जरातत्त्वके अयथार्थ ज्ञानसे अयथार्थ श्रद्धान होता है।

सम्पूर्ण कर्मबंधके अभावका नाम मोक्ष है। अगर बंधका या बंधजनित सब दुःखोंका ज्ञान न हो तो मोक्षका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो सकता है ? जैसे कोई रोगी अपने रोगको या रोगजनित दुखोंको न समझे तो सर्वथा रोगके अभावको कैसे अच्छा समझ सकता है। इस जीवके कर्म अथवा उसकी शक्तिका तो ज्ञान नहीं है इसलिए बाह्य पदार्थोंको दुःखका कारण जान उनके ही सर्वथा अभाव करनेका उपाय करता है। तथा यह तो जानता है कि इष्ट सामग्रीका संचय करके सुखी होना ही दुःख दूर करनेका उपाय है सो वह कभी होता नहीं इसलिए वृथा ही खेद करता है। इस तरह मिथ्यादर्शके कारण मोक्षतत्त्वके अयथार्थ ज्ञानसे अयथार्थ श्रद्धान होता है।

इस तरह यह जीव मिथ्यादर्शनसे प्रयोजनभूत जीवादि सप्त तत्त्वोंका अयथार्थ श्रद्धान करता है। *पुण्य पाप भी इन्हीं सात तत्त्वोंके भेद हैं इन पुण्य और पापोंकी एक ही जाति है तो भी* मिथ्यादर्शनसे पुण्यको अच्छा समझता है पापको बुरा मानता है। पुण्यसे अपनी इच्छाके अनुसार कुछ कार्य होता है इसलिये उसे अच्छा समझता है, पापसे इच्छानुसार कार्य नहीं हो तो इसलिये उसे बुरा समझता है। किन्तु आकुलताके कारण होनेसे दोनों ही बुरे हैं। लेकिन यह अपनी कल्पनासे उनमें सुखदुःख मानता है। परमार्थसे जहाँ आकुलता है वहाँ दुख ही है। इसलिए पुण्य पापके उदयको भला बुरा समझना भ्रम ही है। तथा कितने ही जीव पुण्यपापके कारण शुभ अशुभ भावोंको भला बुरा समझते हैं वह भी भ्रम है; क्योंकि दोनों ही कर्मबन्धके कारण हैं। इस तरह पुण्य पापके अयथार्थ ज्ञानसे अयथार्थ श्रद्धान होता है। इस प्रकार अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्यादर्शनका वर्णन किया। यह असत्य है इसलिए इसे मिथ्यात्व कहते हैं और चूंकि सत्य श्रद्धानसे रहित है इसलिए इसका नाम अदर्शन है।

मिथ्याज्ञानका स्वरूप

अब मिथ्याज्ञानका स्वरूप बतलाते हैं।

प्रयोजनभूत जीवादि तत्वोंका यथार्थ न जानना मिथ्याज्ञान है। उस मिथ्याज्ञानसे उनके जाननेमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होते हैं। 'यह यों है या यों है' इस तरह परस्पर विरुद्धता लिए हुए दो रूप ज्ञानका नाम संशय है, जैसे मैं आत्मा हूं या शरीर। 'ऐसा ही है' इस तरह वस्तुस्वरूपसे विरुद्ध एक रूपका होना विपर्यय है, जैसे मैं शरीर हूं।

'कुछ है' इस तरहके निश्चयरहित ज्ञानका नाम अनध्यवसाय है, जैसे मैं कोई हूं। इस प्रकार प्रयोजनभूत जीवादि तत्वोंको संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप जाननेका नाम मिथ्या ज्ञान है। मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान नाम यह अप्रयोजनभूत पदार्थोंके जाननेकी अपेक्षासे नहीं है। जैसे मिथ्यादृष्टि रस्सीको रस्सी समझे तो वह उसका सम्यग्ज्ञान नहीं है और सम्यग्दृष्टि रस्सीको सांप समझे तो यह उसका मिथ्याज्ञान नहीं है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष सच्चे और झूठे ज्ञानको सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान क्यों नहीं कहते ?

उत्तर—जहाँ केवल सत्य या झूठ निर्द्धारण करनेका ही प्रयोजन हो वहाँ तो किसी पदार्थको सत्य या झूठ जाननेकी अपेक्षासे मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम होता है, जैसे प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणके वर्णनमें किसी भी पदार्थको सत्य जाननेवाले सम्यग्ज्ञानका ही ग्रहण किया है। और संशयादिरूप जाननेको अप्रमाणरूप मिथ्याज्ञान बतलाया है। लेकिन यहाँ मोक्षके कारण सत्य झूठका निर्धारण करना है सो रस्सी सर्पादिकका यथार्थ या अन्यथा ज्ञान संसार या मोक्षका कारण नहीं है इसलिए उनकी अपेक्षा यहाँ मिथ्या ज्ञान या सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है। यहाँ तो प्रयोजनभूत जीवादिक तत्वोंको ही जाननेकी अपेक्षा मिथ्याज्ञान या सम्यग्ज्ञान बतलाया है। इस ही अभिप्रायको लेकर जैन सिद्धान्तमें मिथ्यादृष्टिका सब ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहा है और सम्यग्दृष्टिका सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टिके जीवादि तत्वोंके अयथार्थ ज्ञानको आप मिथ्याज्ञान भले ही कहे, परन्तु रस्सी सर्पादिकके यथार्थ ज्ञानको तो सम्यग्ज्ञान ही कहना चाहिए।

उत्तर—मिथ्यादृष्टि जानता हुआ भी सत् असत्का भेद नहीं करता। इसलिए कारण विपर्यय स्वरूपविपर्यय और भेदाभेदविपर्ययको पैदा करता है। जिसको जानता है उसके मूल कारणको न जानकर अन्यथा कारण मानना कारणविपर्यय है। वस्तुके मूल स्वरूपको न मानकर अन्यथा स्वरूपको मानना स्वरूपविपर्यय है। इसी प्रकार ज्ञेयवस्तुको यह इससे भिन्न है यह इससे अभिन्न है इस तरह न पहचानना अन्यथा भिन्न अभिन्नपना मानना भेदाभेद विपर्यय है। इस तरह मिथ्यादृष्टिके जाननेमें विपरीतता पाई जाती है। जैसे पागल पुरुष माताको स्त्री और स्त्रीको माता मानता है वैसे ही मिथ्यादृष्टिका अन्यथा ज्ञान समझना चाहिए। तथा जिस प्रकार कभी पागल आदमी माताको माता और स्त्रीको स्त्री भी कहता है तो भी उसका यह ज्ञान निश्चयरूप श्रद्धानको लिए नहीं होता इसलिए यथार्थ ज्ञान नहीं कहलाता। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि किसी समय किसी पदार्थको सत्य भी जानता है तो भी उसका ज्ञान निश्चयरूप श्रद्धानको लिए हुए नहीं होता। अथवा सत्य भी जानता है परन्तु उससे अपने अयथार्थ प्रयोजनका ही साधन करता है। इसलिए उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। इस तरह मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—इस मिथ्यात्वका कारण क्या है ?

उत्तर—मोहके उदयसे सम्यक्त्व न होकर जो मिथ्यात्व भाव होता है वही इस मिथ्या-

ज्ञानका कारण है। जैसे विपके संयोगसे भोजन भी विषरूप कहा जाता है वैसे ही मिथ्यात्वके संबंधसे ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है।

प्रश्न—आप मिथ्याज्ञानमें ज्ञानावरणको निमित्त क्यों नहीं मानते? उत्तर—ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानका अभावरूप अज्ञान भाव होता है तथा क्षयोपशमसे थोड़े ज्ञानरूप मतिज्ञान आदि होते हैं। यदि इन दोनोंको क्रमसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान कहा जायगा तो यह दोनों ही भाव मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके पाये जाते हैं। इसलिये दोनों हीके मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानका सद्भाव कहलायगा। लेकिन यह सिद्धान्त विरुद्ध है। इसलिए मिथ्याज्ञानमें ज्ञानावरण निमित्त नहीं हो सकता।

मिथ्याज्ञानमें ज्ञानावरण कारण नहीं है

प्रश्न—रस्सी सर्पादिकके अयथार्थ ज्ञानका जो कारण है जीवादि तत्त्वोंके अयथार्थ या यथार्थ ज्ञानका कारण उसीको कहना चाहिए।

उत्तर—जाननेमें जितना अयथार्थपन होता है उतना तो ज्ञानावरणके उदयका परिणाम है और जितना यथार्थपन है उतना ज्ञानावरणके क्षयोपशमका परिणाम है। जैसे रस्सीको सर्प जानना यहाँ अयथार्थ जाननेकी शक्तिका कारण उदय है इसलिये अयथार्थ जानता है और रस्सीको रस्सी जानना यहाँ यथार्थ जाननेकी शक्तिका कारण क्षयोपशम है इसलिए यथार्थ जानता है। वैसे ही जीवादि तत्त्वोंको यथार्थ जाननेकी शक्ति न होने या होनेमें ज्ञानावरण निमित्त है, जैसे किसी पुरुषके क्षयोपशमसे दुख या सुखके कारणभूत पदार्थोंको यथार्थ जाननेकी शक्ति है। सो जिसके असातावेदनीयका उदय है वह तो दुःखके कारणभूत पदार्थोंका ही वेदन करेगा सुखके कारणभूत पदार्थोंका नहीं। यदि उनका भी वेदन करेगा तो सुखी हो जायगा पर असाताके उदयसे वह हो नहीं सकता। इसलिए यहाँ दुःखके कारणभूत और सुखके कारणभूत पदार्थोंके वेदनमें ज्ञानावरणका निमित्त नहीं असाताका उदय ही कारणभूत है। वैसे ही इस जीवके प्रयोजनभूत जीवादि तत्व और अप्रयोजनभूत अन्य पदार्थोंके यथार्थ जाननेकी शक्ति है। किन्तु जिसके मिथ्यात्वका उदय है वह अप्रयोजनभूत पदार्थोंको ही जानेगा प्रयोजनभूत पदार्थोंको नहीं। अगर प्रयोजनभूतको जानेगा तो सम्यग्ज्ञान हो जायगा पर मिथ्यात्वके उदयसे वह हो नहीं सकता। इसलिए यहाँ प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थोंके जाननेमें ज्ञानावरण निमित्त नहीं है, मिथ्यात्वका उदय या अनुदय ही कारण है इसको यों समझना चाहिए कि जहाँ एकेन्द्रियादिकके जीवादिक तत्वोंके यथार्थ जाननेकी शक्ति नहीं हैं वहाँ तो ज्ञानावरण और मिथ्यात्व के उदयसे उत्पन्न मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन दोनोंका निमित्त है। तथा जहाँ संज्ञी मनुष्यादिकोंके क्षयोपशमादि लब्धि होनेसे शक्ति तो हो किन्तु जानना न हो वहां मिथ्यात्वका उदय ही निमित्त है इसीलिए मिथ्याज्ञानका मुख्य कारण ज्ञानावरण नहीं कहा। मोहके उदयसे उत्पन्न भावको ही उसका कारण कहा है।

प्रश्न—यदि ज्ञानके होने पर श्रद्धान होता है तो पहले मिथ्याज्ञान और पीछे मिथ्या-दर्शन कहना चाहिए ?

उत्तर—है तो इसी प्रकार विना ज्ञानके श्रद्धान कैसे हो सकता है परन्तु ज्ञान की मिथ्या और सम्यक् संज्ञा मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शनके निमित्तसे होती है। जैसे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थोंको जानते तो समान हैं परन्तु वही जानना मिथ्यादृष्टिके मिथ्याज्ञान और सम्यग्दृष्टिके सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसी तरह संपूर्ण मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानका कारण मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शनको समझना चाहिए। अतः जहाँ सामान्यपनेसे ज्ञानदर्शनका निरूपण हो वहाँ तो ज्ञान कारणभूत है उसे पहले कहना चाहिये और श्रद्धान कार्यभूत है उसे पीछे कहना चाहिए। तथा जहाँ मिथ्या और सम्यक् ज्ञान तथा श्रद्धानका निरूपण हो वहाँ श्रद्धान कारणभूत है उसे पहले कहना चाहिये। और ज्ञान कार्यभूत है उसे वाद में कहना चाहिए।

मिथ्यादर्शन और ज्ञान का पौर्वापर्य

प्रश्न—ज्ञान और श्रद्धान तो साथ २ होते हैं इनमें कारण कार्यपना आप कैसे कहते हैं ?

उत्तर—उसके होने पर वह होता है इस अपेक्षासे कार्य कारणपन है। जैसे दीपक और प्रकाश एक साथ होते हैं तो भी दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार ज्ञान और श्रद्धान हैं तथा मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानमें तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें कार्यकारण भाव है।

प्रश्न—अगर मिथ्यादर्शनके संयोगसे ही ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है तो एक मिथ्या-दर्शनको ही संसारका कारण कहना चाहिए। यहाँ मिथ्याज्ञान अलग क्यों कहा ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिके क्षयोपशमसे उत्पन्न यथार्थ ज्ञान में ज्ञानकी अपेक्षा तो कोई फर्क नहीं है और यह ज्ञान केवल ज्ञानमें भी जाकर मिल जाता है जैसे नदी समुद्रमें जाकर मिल जाती है परन्तु यह क्षयोपशमज्ञान जहाँ प्रवृत्ति करता है वहाँ एक ज्ञेयमें ही प्रवृत्ति करता है किन्तु मिथ्यादर्शनका निमित्त पाकर यह अन्य ज्ञेयोंमें तो प्रवृत्ति करता है किन्तु प्रयोजन-भूत जीवादि तत्वोंका यथार्थ निर्णय करनेमें नहीं प्रवृत्त होता। यह ज्ञानमें दोष हुआ। इस ही को मिथ्याज्ञान कहा है। तथा जीवादि तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान नहीं होता यह श्रद्धानमें दोष हुआ। इसको मिथ्यादर्शन वतलाया है। इस तरह लक्षण भेदसे मिथ्यादर्शन और मिथ्या-ज्ञानको अलग २ कहा है। यों मिथ्याज्ञानका स्वरूप वर्णन किया। यही मिथ्याज्ञान तत्वज्ञान के अभावमें अज्ञान कहा जाता है। इससे अपना प्रयोजन मतलव सिद्ध नहीं होता इसलिए इसीको कुज्ञान कहते हैं। अव मिथ्याचारित्रका स्वरूप वतलाते हैं।

चारित्र मोहके उदय से जो कषाय भाव होते हैं उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं। मिथ्याचारित्रके होते हुए जीव अपने स्वभाव रूप प्रवृत्ति नहीं करता। यह सुखी है ऐसी झूठी पर स्वभाव रूप प्रवृत्ति करना चाहता है वह होती नहीं इसलिए इसका नाम मिथ्या चारित्र है। वही दिखाते हैं—अपना स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है परन्तु यह केवल देखने जानने वाला ही नहीं रहता बल्कि जिन पदार्थोंको देखता है जानता है उनमें इष्ट अनिष्टपनेकी कल्पना करता है। उससे रागी द्वेषी होकर किसीका सद्भाव चाहता है और किसीका असद्भाव चाहता है किन्तु उनका सद्भाव या अभाव इसके करनेसे नहीं होता; क्योंकि कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कर्ता नहीं है। सब द्रव्य अपने अपने स्वभावरूप परिणमन करते हैं यह वृथा ही कषाय भावोंसे आकुलित होता है। यदि कभी इच्छानुसार पदार्थ परिणमन भी करता है तब भी इसके परिणमन करानेसे वह परिणमन नहीं करता। जैसे चलती हुई गाड़ी को धकेल कर बालक समझता है कि इस गाड़ीको मैं चला रहा हूँ। यह उसका समझना असत्य है। अगर उसके चलानेसे ही गाड़ी चलती होती तो जब गाड़ी ठहरी हो तब क्यों नहीं चलाता। वैसे ही पदार्थ तो स्वयं परिणमन करते हैं परन्तु अपनी इच्छानुसार परिणमन देखकर यह समझता है कि इसको मैं परिणमन करा रहा हूँ यह उसका समझना असत्य है। अगर वही परिणमन कराता है तो जब उसकी इच्छानुसार परिणमन नहीं करते तब क्यों नहीं कराता। इसलिए अपनी इच्छानुसार पदार्थोंका परिणमन कभी कोई बनाव बनता हो तब होता है। अधिकतर परिणमन तो इच्छाके विरुद्ध होता है। इसलिये यह निश्चय है कि अपने करने से किसीका सद्भाव या अभाव नहीं होता। अतः कषाय भाव करनेसे क्या लाभ केवल स्वयं ही दुखी होता है। जैसे विवाहादिक कार्योंमें मुख्य कार्य करने वालेका जब कहना नहीं होता तब कषाय करके वह स्वयं ही दुखी होता है वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। इसलिए कषाय भाव करना जल बिलोनेके समान है कुछ कार्यकारी नहीं है। अतः इन कषायोंकी प्रवृत्तिको मिथ्याचारित्र कहते हैं। और यह कषाय भाव पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करने से होता है इसलिए इष्ट या अनिष्ट मानना ही मिथ्या है क्योंकि कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं है। कैसे? यह बतलाते हैं।

मिथ्या चारित्रका स्वरूप

जो अपनेको सुखदायक उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं। और जो अपनेको दुःखदायक अनुपकारी हो उसे अनिष्ट कहते हैं। लोकमें सम्पूर्ण पदार्थ अपने २ स्वभावके कर्ता हैं। कोई किसीको सुखदायक, उपकारी या अनुपकारी नहीं है। यह जीव अपने परिणामोंमें उनको सुखदायक, और उपकारी जान इष्ट समझता है अथवा दुःखदायक और अनुपकारी जान अनिष्ट समझता है। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट लगता है। जैसे किसीको वस्त्र न मिलते हों तो वह मोटे वस्त्रोंको ही इष्ट मानता है और जिसे महीन वस्त्र मिलते हों वह उन्हें अनिष्ट मानता है। सूकरादिकको विष्ठा इष्ट है और देवादिकको अनिष्ट है। किसीको मेघवर्षा इष्ट लगती है किसीको

इष्ट अनिष्ट की कल्पना मिथ्या है

अनिष्ट लगती है। इसी तरह और भी समझना चाहिए। अनेक जीवोंको भी एक ही पदार्थ किसी समय इष्ट मालूम पड़ता है किसी समय अनिष्ट मालूम पड़ता है। यहाँ तक कि यह जीव जिसको मुख्यपने से इष्ट मानता है उसे ही अनिष्ट मानता देखा गया है। जैसे शरीर इष्ट है वही जब रोगादिसहित होता है तब अनिष्ट प्रतीत होता है। इष्ट पुत्रादिक भी कारण पाकर अनिष्ट होते देखे गए हैं। तथा जिसको यह जीव मुख्यपने से अनिष्ट मानता है। उसे ही इष्ट मानता देखा गया है। जैसे गाली अनिष्ट लगती है वही ससुरालमें इष्ट लगती है। इस तरह पदार्थोमें स्वयं इष्ट अनिष्टपना नहीं है। अगर पदार्थोमें ही इष्ट अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ एकको इष्ट होता वह सबको इष्ट होता और जो एकको अनिष्ट होता वह सबको अनिष्ट होता, किन्तु यह बात है नहीं। इसलिए यह जीव स्वयं ही कल्पना कर उनको इष्ट अनिष्ट मानता है। उसकी यह कल्पना झूठी है। पदार्थका सुखदायक उपकारी होना या दुःखदायक अनुपकारी होना अपने आप नहीं है पुण्य पापके उदयके अनुसार है। जिसके पुण्यका उदय है उसके पदार्थोंका संयोग सुखदायक और उपकारी होता है। जिसके पापका उदय है उसके पदार्थोंका संयोग दुखदायक और अनुपकारी होता है यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। किसीको स्त्रीपुत्रादिक सुखदायी हैं किसीको दुखदायी हैं। व्यापार करनेसे किसीको नफा होता है किसीको नुकसान होता है। किसीका शत्रु भी दास हो जाता है किसीका पुत्र भी शत्रु हो जाता है। इसलिए सिद्ध होता है कि पदार्थ स्वयं इष्ट अनिष्ट नहीं होता। किन्तु कर्मके उदयके अनुसार प्रवृत्ति करता है। जैसे कोई नौकर अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर किसी का इष्ट अनिष्ट करता है तो यह उस नौकरका कार्य नहीं है उसके स्वामीका कार्य है। नौकर-को ही इष्ट अनिष्ट मानना झूठ है। वैसे ही कर्मके उदयसे प्राप्त हुए पदार्थ, कर्मके अनुसार जीवका इष्ट अनिष्ट करते हैं। यह कुछ पदार्थोंका काम नहीं है कर्मका काम है। जो पदार्थको ही इष्ट अनिष्ट मानता है वह झूठ है इसलिए यह सिद्ध हुआ कि पदार्थोंको इष्ट अनिष्ट मानकर उनमें राग द्वेष करना मिथ्या है।

प्रश्न—अगर बाह्य वस्तुओंका संयोग कर्मके निमित्तसे होता है तो कर्मोसे तो राग द्वेष करना चाहिए ?

उत्तर—कर्म जड़ है उनके सुख दुःख देनेकी इच्छा नहीं न वे स्वयं कर्मरूप परिणमन करते हैं। जीवके भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होते हैं। जैसे कोई अपने हाथमें पत्थर लेकर अपना सिर फोड़े तो इसमें पत्थरका क्या दोष है। वैसे ही जीव अपने रागादिक भावोंसे पुद्गलको कर्मरूप परिणमा कर अपना बुरा करता है तो कर्मका क्या दोष। इसलिए कर्मोंसे भी राग द्वेष करना मिथ्या है। इस प्रकार पर द्रव्योंको इष्ट अनिष्ट मानकर राग द्वेष करना मिथ्या है। अगर पर द्रव्य इष्ट अनिष्ट होता और तब उसमें राग द्वेष करता तो मिथ्या नाम न होता लेकिन वह तो इष्ट अनिष्ट है नहीं और यह इष्ट अनिष्ट मान राग द्वेष करता है इसलिए इन

परिणामोंको मिथ्या बतलाया है। और मिथ्यारूप परिणमनका नाम मिथ्याचारित्र है। अब इस जीवके राग द्वेष होनेका विधान विस्तार से बताते हैं।

रागद्वेषकी प्रवृत्ति

पहले तो पर्यायमें ही इस जीवकी अहंबुद्धि है इससे वह अपनेको और शरीरको एक जान कर प्रवृत्ति करता है। शरीरको सुहाने वाली इस अवस्था में अनुराग करता है। न सुहाने वाली अनिष्ट अवस्थामें द्वेष करता है। शरीरकी इष्ट अवस्थाके कारण-भूत बाह्य पदार्थोंसे राग करता है और उसके घातकोंसे द्वेष करता है। तथा शरीरकी अनिष्ट अवस्थाके कारण भूत बाह्य पदार्थोंमें तो द्वेष करता है और उसके घातकोंसे राग करता है। इनमें जिन बाह्य पदार्थोंसे राग करता है उनके भी कारणभूत अन्य पदार्थोंमें राग करता है और उनके घातकोंसे द्वेष करता है। तथा जिन बाह्य पदार्थोंसे द्वेष करता है। उनके भी कारणभूत अन्य पदार्थों से द्वेष करता है और उनके घातकों में राग करता है। इनमें भी जिनसे राग करता है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थोंमें राग और द्वेष करता है तथा जिनसे द्वेष करता है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थोंमें द्वेष न राग करता है। इस तरह राग द्वेषकी परंपरा चालू रहती है। बहुत से बाह्य पदार्थ जो शरीरकी अवस्थाके कारण नहीं हैं उनमें भी राग द्वेष करता है। जैसे गऊके बछड़ेसे उसके शरीर का कुछ इष्ट नहीं होता तो भी गौ उसमें राग करती है। बिल्लीके आनेसे कुत्तेके शरीरका अनिष्ट नहीं होता तो भी कुत्ता उससे द्वेष करता है। बहुतसे वर्ण गंध शब्दादिकके देखने सूंघने आदिकसे शरीरका इष्ट नहीं होता तो भी उनमें राग करता है। बहुतसे वर्णादिकके देखनेसे शरीरका अनिष्ट नहीं होता तो भी उनमें द्वेष करता है। इस तरह भिन्न २ पदार्थोंमें राग द्वेष होता है। इनमें भी जिनसे राग करता है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थोंमें राग व द्वेष करता है। इस तरह यहाँ भी राग द्वेषकी परंपरा चालू रहती है।

प्रश्न—अन्य पदार्थोंसे तो राग द्वेष करनेका प्रयोजन समझा, परन्तु पहले तो मूलभूत शरीरकी अवस्थामें और बादमें जो शरीरकी अवस्थाके कारण नहीं है ऐसे अन्य पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट मानने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर—प्रथम मूलभूत शरीरकी अवस्था आदिकमें प्रयोजन विचार कर राग करे तो मिथ्याचरित्र ही वह क्यों कहलावे। उनमें बिना प्रयोजन ही राग द्वेष करता है और उन्हींके लिए दूसरोंसे रागद्वेष करता है इसलिए संपूर्ण रागद्वेष परिणतिका नाम मिथ्याचरित्र कहा है।

प्रश्न—शरीर की अवस्था और बाह्य पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट माननेका प्रयोजन तो मालूम नहीं होता और इष्ट अनिष्ट माने बिना रहा नहीं जाता इसका क्या कारण है?

उत्तर—इस जीवके चारित्र मोहके उदयसे जो रागद्वेष भाव होते हैं वे किसी पदार्थ-का आश्रय लिए बिना नहीं हो सकते। राग होता है तो वह किसी पदार्थमें ही होता है, द्वेष होता है वह भी पदार्थ मेंही होता है। इस तरह उन पदार्थोंका और रागद्वेषका निमित्त नैमित्तिक संबंध

है। वहाँ विशेष इतना है कि कोई पदार्थ तो मुख्यपनेसे रागका कारण होता है। कोई पदार्थ मुख्य-पनेसे द्वेषका कारण होता है। कोई पदार्थ किसी समय किसीके रागका कारण होता है और किसीके द्वेषका कारण होता है। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि एक कार्यके होनेमें अनेक कारण चाहिए। रागादिक होनेमें अन्तरङ्ग कारण मोहका उदय है वह बलवान है और बाह्य कारण पदार्थ हैं वे बलवान नहीं है। महामुनिके मोह मंद होनेसे बाह्य पदार्थोंका निमित्त होते हुए भी रागद्वेष पैदा नहीं होते। पापी जीवोंके मोह तीव्र होनेसे बाह्य कारण न होते हुए भी उनके संकल्प ही से राग द्वेष पैदा होते हैं। इसलिए मोहके उदयसे रागादिक पैदा होते हैं, वहाँ जिस पदार्थके आश्रयसे राग भाव होना होता है उसमें बिना ही प्रयोजन या कुछ प्रयोजन को लेकर इष्ट बुद्धि होती है। तथा जिस पदार्थके आश्रयसे द्वेष भाव होना होता है उसमें बिना ही प्रयोजन या कुछ प्रयोजन लिए अनिष्ट बुद्धि होती है, इसलिए मोहके उदयसे पदार्थको इष्ट अनिष्ट माने बिना रहा नहीं जाता। इस तरह पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि होनेसे रागद्वेषरूप जो परिणमन होता है उसका नाम मिथ्या चारित्र है। इन्हीं रागद्वेषोंके ही विशेष क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेदरूप कषाय भाव हैं वे सब इसी मिथ्या चारित्रके भेद हैं। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। चूंकि इस मिथ्या चारित्रमें स्वरूपाचरण चारित्रका अभाव है इसलिये इसे अचारित्र भी कहते हैं। वैसे परिणाम यहाँ नहीं मिटते अथवा विरक्त नहीं होते इसलिए इसे असंयम या अविरत भी कहते हैं। क्योंकि पांच इन्द्रिय और मनके विषयोंमें तथा पंचस्थावर और त्रसकी हिंसामें स्वच्छंदपना होता है इनके त्यागरूप भाव नहीं होते इसलिए यह असंयम है, जो बारह प्रकारका बतलाया है। ऐसे कार्य कषाय भाव होनेपर होते हैं। इसलिए मिथ्या चारित्रका नाम अविरत व असंयम समझना चाहिए। तथा इसका ही नाम अव्रत है क्योंकि हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाप कार्योंमें प्रवृत्तिका नाम अव्रत है। इनका मूल कारण प्रमत्तयोग बतलाया है। प्रमत्तयोग कषायमय है इसलिए मिथ्या चारित्रका नाम अव्रत भी है। इस तरह मिथ्याचारित्रका स्वरूप कहा।

उपसंहार

यों इस संसारी जीवके अनादिसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या चारित्ररूप परिणमन पाया जाता है। ऐसा परिणमन ऐकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत सब जीवोंके पाया जाता है। तथा संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें भी सम्यग्दृष्टिको छोड़कर अन्य सब जीवोंमें यह परिणमन होता है। इतना विशेष है कि जहाँ जैसा परिणमन संभव हो वहाँ वैसा समझना चाहिए—जैसे एकेन्द्रियादिकके इन्द्रियादिकी हीनता या अधिकता पायी जाती है और मनुष्यादिकोंके धन पुत्रादिकका संबंध पाया जाता है, सो इनके निमित्तसे मिथ्यादर्शनादिकका वर्णन किया ही है। उसमें जहां जैसा विशेष संबंध संभव हो वहां वैसा समझ लेना चाहिए। एकेन्द्रियादिक जीव इन्द्रिय शरीरादिकका नाम नहीं जानते परन्तु उसके अर्थरूप जो भाव है उस रूप परिणमन उनमें पाया जाता है। जैसे मैं स्पर्शनसे छूता हूं, शरीर

मेरा है ऐसा तो नहीं जानता तो भी उसका जो भाव है उस रूप परिणमन करता है। मनुष्यादिक ऐसा जानते हैं और उसके भावरूप परिणमन भी करते हैं इत्यादिक विशेष बातोंको समझ लेना चाहिए। इस तरह ये मिथ्यादर्शनादिक भाव जीवके अनादिसे पाए जाते हैं, नये नहीं है। इनकी महिमा तो देखो कि जो पर्याय धारण करता है वहाँ विना ही सिखाए मोहके उदयसे अपने आप ही वैसा परिणमन करता है। मनुष्यादिक पर्यायमें सत्य विचार होनेके कारण मिलते हैं तो भी सत्यरूप परिणमन नहीं होता। श्रीगुरुके उपदेशका निमित्त मिलता है वह बार-बार समझाते हैं तो भी कुछ विचार नहीं करता। तथा खुदको भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है किन्तु उसको नहीं मानता और अन्यथा ही मानता है। कैसे? यह बतलाते हैं।

मरण होनेपर शरीर और आत्मा जुदे हो जाते हैं यह बात प्रत्यक्ष है। एक शरीरको छोड़ आत्मा अन्य शरीर धारण करता है। व्यंतरादिक अपने पूर्वभवका संबंध प्रकट करते हुए देखे जाते हैं। लेकिन इसके शरीरसे भिन्न बुद्धि नहीं होती। स्त्रीपुत्रादिक अपने स्वार्थके सगे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं उनका प्रयोजन सिद्ध न हो तो विपरीत होते देखे गए हैं। यह उनमें ममत्व करता है और उनके लिए नरकादिमें ले जाने वाले नाना पाप करता है। अन्यकी धनादिक सामग्री अन्यकी हो जाती है पर यह उनको अपनी मानता है। शरीरकी अवस्था व बाह्य सामग्री स्वयं ही पैदा होती और नष्ट होती देखी जाती है यह वृथा ही उनका कर्ता बनता है। उसमें भी जो अपनी इच्छानुसार कार्य हो तो कहता है कि यह मैंने किया और अन्यथा होता है तो कहता है मैं क्या करूं? ऐसा ही होना था या ऐसा क्यों हुआ। यही मानना था तो या तो आपको सबका कर्ता मानता या अकर्ता मानता, किन्तु यह कुछ विचार नहीं। जानता है कि मरण अवश्य होगा परन्तु मरणका निश्चय कर कुछ कर्तव्य नहीं करता। इस पर्याय संबंधी ही प्रयत्न करता है। तथा मरणका निश्चय कर कभी तो कहता है मैं मरूंगा शरीरको जलावेंगे। कभी कहता है मुझको जलाएँगे। कभी कहता है यदि यश है तो हम भी जीवित हैं। कभी कहता है कि पुत्रादिक रहेंगे तो मैं भी जीता रहूंगा। इस तरह पागलकी तरह बकता है कुछ सावधानी नहीं है। अपना परलोक प्रत्यक्ष जानते हुए भी उसके इष्ट अनिष्टका कुछ उपाय नहीं करता। और यहां पुत्र पोता आदि मेरी संतानका अनिष्ट न हो अधिक समय तक इष्ट ही होता रहे यों अनेक उपाय करता है। परलोक हुए बाद किसीका इस लोककी सामग्रीसे उपकार होता नहीं देखा गया परन्तु इसका परलोक निश्चय होनेपर भी इस लोककी सामग्रीका ही यत्न रहता है। विषय कषायकी प्रवृत्तिसे व हिंसादि कार्यसे आप दुखी होता है, खेद खिन्न होता है, औरोंका वैरी बनता है, इस लोकमें निंद्य कहलाता है परलोकमें बुरा होता है, यह प्रत्यक्ष स्वयं जानता है तो भी उन्हींमें प्रवृत्ति करता है। इस तरह प्रत्यक्ष देखता हुआ भी श्रद्धान करता है अन्यथा जानता है, अन्यथा आचरण करता है। यह सब मोहका माहात्म्य है। इस प्रकार यह जीव मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप अनादिसे परिणमन करता है। इसी

परिणमनसे संसारमें अनेक प्रकार दुख पैदा करनेवाले कर्मोका संबंध पाया जाता है। यही भाव दुःखोंके बीज हैं अन्य कोई नहीं। इसलिए हे भव्य! अगर दुःखोंसे मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभावोंका अभाव करना यही कार्य है। इस कार्यके करनेसे तेरा परम कल्याण होगा।

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाश नामक शास्त्रमें मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रका निरूपण करनेवाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

अध्याय ५

विविध मत परीक्षा

बहुविधि मिथ्या गहन करि, मलिन भए निज भाव ।
ताको हेतु अभाव है, सहज- रूप दरसाव ॥ १ ॥

यह जीव पूर्वोक्त प्रकार अनादिसे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप परिणमन करता है। उससे संसारमें दुःख सहता हुआ कभी मनुष्यादि पर्यायोंमें विशेष श्रद्धा आदि करनेकी शक्ति पाता है। वहाँ यदि वह विशेष मिथ्या श्रद्धानादिके कारणोंसे उन मिथ्या श्रद्धानादिकका पोषण करता है तो उस जीव का दुःख से मुक्त होना अति दुर्लभ है। जैसे कोई रोगी पुरुष कुछ स्वास्थ्यको पाकर कुपथ्य सेवन करने लग जाय तो उस रोगीका सुलझना कठिन ही होता है वैसेही मिथ्यात्वादि सहित यह जीव यदि कुछ ज्ञानादि शक्ति पाकर विशेष विपरीत श्रद्धानादिके कारणोंका सेवन करता है तो इस जीवका मुक्त होना कठिनही है। इसलिए जैसे वैद्य कुपथ्योंको विशेष दिखाकर उनके सेवनका निषेध करता है वैसे ही यहाँ विशेष मिथ्या श्रद्धानादिके कारणों की विशेषता दिखाकर उनका निषेध किया जाता है। यहाँ अनादिसे जो मिथ्यात्वादि भाव पाए जाते हैं वे अगृहीत मिथ्यात्वादि हैं क्योंकि वे ग्रहण किए गए नए भाव नहीं हैं। इनके पुष्ट करनेके कारणोंसे विशेष मिथ्यात्वादिक जो भाव होते हैं वे गृहीत मिथ्यात्वादि हैं। जिसमें अगृहीत मिथ्यात्वादिका वर्णन तो पहले किया जा चुका है अब गृहीत मिथ्यात्वादिका वर्णन करते हैं।

गृहीत मिथ्यात्व

कुदेव कुगुरु कुधर्म और कल्पित तत्वोंके श्रद्धानका नाम मिथ्यादर्शन है। जिनमें विपरीत निरूपणके द्वारा रागादिकका पोषण है ऐसे कुशास्त्रोंके श्रद्धानपूर्वक अभ्यासका नाम मिथ्याज्ञान है। जिस आचरणमें कषायोंका सेवन हो उसे धर्मरूप अङ्गीकार करना मिथ्याचारित्र है। अब इनको विशेषरूप से बताते हैं।

इन्द्र लोकपाल, अद्वैतब्रह्म, राम, कृष्ण, महादेव, बुद्ध, पीर, पैगम्बर, हनुमान, भैरव, क्षेत्रपाल, देवी, दिहाड़ी, सती सीतला, चौथ, सांझी गनगोर, होली, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, ऊत, पितर, व्यंतर, गऊ, सर्प, अग्नि, जल, वृक्ष, शास्त्र, दवात, वर्तन आदि अनेकोंका अन्यथा श्रद्धानकर उनको पूजता है। उनसे अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है, लेकिन वे कार्य सिद्धिके कारण नहीं हैं इसलिए ऐसे श्रद्धानको गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। उनका अन्यथा श्रद्धान कैसे होता है ? यह बताते हैं—

[1]अद्वैत ब्रह्मको सर्वव्यापी सबका कर्ता माना जाता है लेकिन ऐसी बात नहीं है केवल मिथ्या कल्पना है[2]। पहले तो यही ठीक नहीं है कि वह सर्वव्यापी है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ प्रत्यक्ष रूपसे अलग २ दिखाई देते हैं उनके स्वभाव भी अलग २ हैं इसलिए उन्हें एक कैसे माना जा सकता है? एक मानना तो इस प्रकारसे हो सकता है कि प्रथम तो जितने अलग २ पदार्थ हैं उनके समुदायका कल्पनासे कुछ नाम रख लिया जाय। जैसा घोड़ा हाथी आदि भिन्न पदार्थोंको सेना नामसे कहा जाता है, उनसे अलग कोई सेना नामकी वस्तु नहीं है अगर इसी तरह सर्व पदार्थोंका नाम ब्रह्म है तो ब्रह्म कोई अलग वस्तु न रहकर कल्पना मात्र ही रहा। दूसरा प्रकार यह है कि पदार्थ व्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न २ है किन्तु जातिकी अपेक्षा उन्हें कल्पनासे एक कहा जाता है। जैसे घोड़े व्यक्ति रूपसे अलग अलग होते हुए भी आकारादिककी समानतासे उनकी एक जाति कही जाती है वह जाति घोड़ोंसे कुछ अलग नहीं है। यदि ब्रह्म भी इसी तरह सर्वोंकी एक जातिके रूपमें है तो ब्रह्म यहाँ भी कल्पना मात्रके सिवाय अलग कोई वस्तु नहीं रहा। तीसरा प्रकार यह है कि अलग अलग पदार्थोंके मिलनेसे एक स्कन्धको एक कहा जाता है, जैसे जलके अलग अलग परमाणु मिलकर एक समुद्र कहलाता है, पृथ्वीके परमाणु मिलकर घड़ा आदि कहलाते हैं। यहाँ समुद्र और घड़ा उन परमाणुओंसे अलग कोई वस्तु नहीं हैं। इसी प्रकार यदि सम्पूर्ण अलग अलग पदार्थ मिलकर एक ब्रह्म हो जाते हैं तो ब्रह्म इनसे अलग कोई पदार्थ नहीं रहा। चौथा प्रकार यह है कि अंग अलग अलग है और जिसके वे अङ्ग हैं वह एक अङ्गी कहलाता है। जैसे आँख, हाथ पैर आदि भिन्न भिन्न है और जिसके वे हैं उसका नाम एक मनुष्य है। इसी प्रकार सब पदार्थ तो अङ्ग है और जिसके यह हैं वह एक अङ्गी ब्रह्म है, यह सारा लोक विराट स्वरूप ब्रह्मका अङ्ग है अगर ऐसी मान्यता है तो मनुष्यके हाथ पैर आदिक अङ्ग अलग अलग रहकर एक अङ्गी नहीं कहला सकते जुड़े रहने पर ही शरीर कहलाते हैं परन्तु लोकमें पदार्थोंका अलग-पना प्रत्यक्ष दीखता है इसका एकपना कैसे माना जाय। अलग रहकर भी अगर एकपना माना जाय तो भिन्नपना कहां स्वीकार किया जायगा?

सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्मका खण्डन

तर्क—सब पदार्थोंमें सूक्ष्मरूप ब्रह्मके अङ्ग विद्यमान हैं उनसे सब पदार्थ जुड़े हुए हैं।

१—'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' छान्दोग्योपनिषद् प्र० ३, ख० १४, म० १
"नेह नानास्ति किंचन" कठोप० अ० २ व० ४१ मं० ११
"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥" मुण्डको० मु० २ खं० २ म० ११

२—विशेष खण्डनके लिए देखो प्रमेय क० मा० पृ० १७ (शास्त्राकार) अष्ट स० पृ० १५७, प्र० र० मा० पृ० ७४, तत्वा० श्लो० वा० पृ० ९४, न्यायकु० च० पृ० १२०, न्यायविनिश्चय टी० पृ० १६८, सन्मतितर्क टी० पृ० २८९ तथा ७१५, स्या० मं० पृ० ९७ शास्त्र वा० स० पृ० २७६।

समाधान—जो अङ्ग जिससे जुड़ा है वह उससे ही जुड़ा रहता है या टूट टूटकर अन्य अङ्गोंसे जुड़ा करता है। यदि पहला पक्ष स्वीकार है तो जब सूर्यादिक गमन करते हैं तब जिन सूक्ष्म अंगोंसे वे जुड़े हैं वे भी गमन करते होंगे और वे सूक्ष्म अंग जिन स्थूल अंगोंसे जुड़े हैं वे भी गमन करते होंगे इस तरह सम्पूर्ण लोक अस्थिर हो जायगा. जैसे शरीरका एक अङ्ग खींचनेपर सारा शरीर खिच जाता है वैसे ही एक पदार्थके गमन करने पर सम्पूर्ण पदार्थोंका गमन हो जायगा पर यह होता नहीं। अगर दूसरा पक्ष स्वीकार किया जायगा तो अङ्ग टूटनेसे भिन्नपना हो जायगा एकपना कैसे रहेगा। इसलिए सम्पूर्ण लोकके एकपनेको ब्रह्म मानना भ्रम ही है।

पांचवां प्रकार यह है कि पहले कोई पदार्थ एक था, बादमें अनेक हुआ फिर एक होगया इसलिये एक है। जैसे जल एक था बरतनोंमें अलग होगया मिलनेपर फिर एक होगया। अथवा जैसे सोनेका डला एक था वह कंकण कुंडलादि अनेक रूप हुआ मिलकर फिर सोनेका एक डला होगया। वैसे ही ब्रह्म एक था पीछे अनेक रूप हुआ फिर मिलकर एक रूप हो जायगा इसलिए एक कहा है। इस प्रकार यदि एकत्व माना जायगा तो ब्रह्म जब अनेक रूप हुआ तब जुड़ा रहा था अलग होगया था। अगर जुड़ा कहा जायगा तो पहला दोष ज्यों-का-त्यों है अगर अलग हुआ कहा जायगा तो उस समय एकत्व नहीं रहा। जल, स्वर्णादिकका भिन्न होकर जो एक होना कहा जाता है वह तो एक जातिकी अपेक्षा है, लेकिन यहाँ सब पदार्थोंकी कोई एक जाति नहीं, कोई चेतन है कोई अचेतन है इत्यादि अनेक रूप हैं उनकी एक जाति कैसे हो सकती है? तथा जाति अपेक्षा एकत्व मानना कल्पना मात्र है यह पहले कहा ही है। पहले एक था पीछे भिन्न हुआ तो जैसे एक पत्थर आदि फूट कर टुकड़े टुकड़े हो जाता है वैसे ही ब्रह्मके खंड खंड होगए। जब वे एक हुए तो उनका स्वरूप भिन्न भिन्न रहा या एक हो गया। यदि भिन्न भिन्न रहा तो अपने अपने स्वरूपसे सब भिन्न ही कहलाए। यदि एक हो गया है तो जड़ भी चेतन हो जायगा और चेतन जड़ हो जायगा। और इस तरह यदि अनेक वस्तुओं की एक वस्तु हुई तो कभी एक वस्तु कभी अनेक वस्तु कहना होगा। फिर अनादि अनंत एक ब्रह्म है यह नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जायगा कि लोकरचना हो या न हो ब्रह्म जैसेका तैसा रहता है इसलिए वह अनादि अनंत है तो प्रश्न यह होता है कि लोकमें पृथ्वी जलादिक वस्तुएँ अलग नवीन उत्पन्न हुई हैं या ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ है। अगर अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं तो यह अलग हुआ ब्रह्म अलग रहा सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म न कहलाया। अगर ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ तो कभी लोक हुआ कभी ब्रह्म हुआ जैसे का तैसा कहां रहा? अगर ऐसी मान्यता है कि सारा ब्रह्म लोकस्वरूप नहीं होता उसका कोई अंश होता है तो जैसे समुद्रका बिंदु विषरूप होने पर भले ही स्थूल दृष्टिसे उसका अन्यथापना न माना जाय लेकिन सूक्ष्म दृष्टिसे एक बिंदुकी अपेक्षा समुद्रमें अन्यथापना आ जाता है वैसे ही ब्रह्मका एक अंश भिन्न हो कर जब लोक रूप हुआ तब स्थूल विचारसे उसका अन्यथापन

भले ही न जाना जाय परन्तु सूक्ष्म विचारसे एक अंशकी अपेक्षा उसमें अन्यथापन हुआ ही, क्योंकि वह अन्यथापन और तो किसीके हुआ नहीं, ब्रह्मके ही हुआ। इसलिए ब्रह्मको सर्वरूप मानना भ्रम है। छठा प्रकार यह है कि जैसे आकाश सर्वव्यापी है वैसे ब्रह्म भी सर्वव्यापी है तब इसका अर्थ यह हुआ कि आकाशकी तरह ब्रह्म भी उतना ही बड़ा है और घटपटादिकमें अकाश जैसे रहता है वैसे ब्रह्म भी उनमें रहता है[1], लेकिन जैसे घट और आकाशको एक नहीं कह सकते वैसे ही ब्रह्म और लोकको भी एक नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि आकाशका तो लक्षण सर्वत्र दिखाई देता है इसलिए उसका सब जगह सद्भाव माना जा सकता है लेकिन ब्रह्मका लक्षण सब जगह नहीं दिखाई देता इसलिए उसका सद्भाव कैसे माना जा सकता है? इस तरह विचार करने पर किसी भी तरह एक ब्रह्म संभव नहीं होता। सम्पूर्ण पदार्थ भिन्न२ ही मालूम पड़ते हैं।

यहाँ प्रतिवादीका कहना है कि पदार्थ हैं तो सब एक ही लेकिन भ्रमसे वे एक मालूम नहीं पड़ते। इसमें युक्ति देना भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप युक्तिगम्य नहीं है, वचन अगोचर है एक भी है अनेक भी है जुदा भी है मिला भी है उसकी महिमा ही ऐसी है[2]।

परन्तु उसका यह कहना ठीक नहीं क्योकि उसे और सबको जो प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है उसे वह भ्रम कहता है[3] और युक्तिसे अनुमान करो तो कहता है कि सच्चा स्वरूप युक्ति-गम्य नहीं है, वचन अगोचर है परन्तु जब वह वचन अगोचर है तो उसका निर्णय कैसे हो। यह कहना कि ब्रह्म एक भी है अनेक भी है जुदा भी है मिला भी है तब ठीक होता जब किन किन अपेक्षाओंसे ऐसा है? यह बताया जाता। अन्यथा वह पागलोंका प्रलाप है जहां न्याय न हो वहां मिथ्या- वादी लोग इसी तरह बकवाद करते हैं। न्याय तो जो सत्य है उसीके अनुसार होगा। अब जो ब्रह्मको लोक का कर्ता मानते हैं उसका खंडन करते हैं।

१—आत्मा (परमात्मा) आकाशके समान है और घटाकाशों की तरह वह जीव रूपसे उत्पन्न हुआ है। तथा घटादिकके समान देह संघात रूपसे भी उत्पन्न कहा जाता हूँ। आत्माकी उत्पत्तिके विषयमें यही दृष्टान्त है। माण्डूक्योप० अद्वैत प्रकरण

२—उस ब्रह्म तक न आखें ही पहुँचती हैं न वाणी ही जाती है न मन ही जाता है अतः किस प्रकार शिष्यको इस ब्रह्मका उपदेश करना चाहिए यह हम नही जानते वह हमारी समझमें नहीं आता। वह विदितसे अन्य है तथा अविदितसे भी परे है ऐसा हमने पूर्व पुरुषोंसे सुना है जिन्होंने हमारे लिए उसका व्याख्यान किया है। केनोप० अ० १ म० ३

३—जो आदि अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी वैसा ही है इसलिए यह संपूर्ण पदार्थ समूह असत्के समान होकर भी सत् जैसा मालूम पड़ता है। स्वप्न और मायाका जो अस्तित्व है अथवा गन्धर्व नगरकी जो कल्पना है वही अस्तित्व और कल्पना इस विश्वके बारेमें विचक्षण पुरुषों द्वारा वेदान्तमें की गई है। माण्डूक्योप० वैतथ्य प्र० श्लो० ६३१

कहा जाता है कि ब्रह्मके पहले ऐसी इच्छा हुई कि 'एकोऽहं बहु स्यां[१]' मैं एक हूँ बहुत होऊँगा। लेकिन जो पहली अवस्थामें दुखी होता है वही दूसरी अवस्था चाहता है। ब्रह्म ने एक रूप अवस्थासे अनेक रूप होने की इच्छाकी सो ब्रह्मको पहले क्या दुःख था? अगर दुःख नहीं था और ऐसाही उसे कुतूहल हुआ तो जो पहले कम सुखी हो और बादमें कुतूहल करनेसे अधिक सुखी हो वह कुतूहल करना विचारता है ब्रह्म जब एक अवस्थासे अनेक अवस्था रूप हुआ तब उसके अधिक सुख कैसे संभव हो सकता है। और अगर वह पहले ही पूर्ण सुखी था तो अवस्था क्यों पलटता है? बिना प्रयोजनके तो कोई कुछ करता नहीं। दूसरे वह पहले भी सुखी था और इच्छानुसार कार्य होने पर भी सुखी होगा लेकिन जब इच्छा हुई उस समय तो दुःखी ही है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मके जिस समय इच्छा होती है उसी समय कार्य होता है इसलिए दुःखी नहीं होता यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्थूल कालकी अपेक्षा तो यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मकी इच्छाके समय ही कार्य होता है परन्तु सूक्ष्म कालको अपेक्षा इच्छाका और कार्यका होना एक साथ नहीं हो सकता। इच्छा तो तब ही होती है जब कार्य नहीं होता और जब कार्य होता है तब इच्छा नहीं होती इसलिए थोड़े समय तक तो इच्छा रही ही अतः दुःखी अवश्य हुआ होगा। क्योंकि इच्छा ही दुःख है और दुखका कोई स्वरूप नहीं। इसलिए ब्रह्मके इच्छाकी कल्पना करना मिथ्या है।

ब्रह्मकी इच्छासे सृष्टि रचनाका खण्डन

यदि यह कहा जाय कि इच्छा होते ही ब्रह्मकी माया प्रकट होती है तो ब्रह्मकी ही माया हुई[२] और इसतरह वह मायावी कहलाया उसका शुद्ध रूप कहाँ रहा। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मका और मायाका दंडी दंडके समान संयोग संबंध है या अग्नि उष्णके समान समवाय संबंध है। यदि संयोग संबंध है तो ब्रह्म भिन्न हुआ और माया भिन्न हुई तब अद्वैत ब्रह्म कैसे कहलाया। तथा जिस प्रकार दंडी दंडको उपकारी जान ग्रहण करता है वैसे ही ब्रह्म भी मायाको उपकारी जानता है तभी ग्रहण करता है अन्यथा क्यों करें। अतः जिसे ब्रह्म भी ग्रहण करता है उसका निषेध करना कैसे संभव हो सकता है वह तो एक उपादेय चीज़ हुई। अगर समवाय संबंध है तो जैसे अग्निका उष्ण स्वभाव है वैसे ब्रह्मका माया स्वभाव हुआ। उस स्वभावका निषेध कैसे संभव हो सकता है। वह तो उत्तम वस्तु हुई।

ब्रह्मकी मायाका खण्डन

१—उस परमात्माने कामना की मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् उत्पन्न हो जाऊँ। अतः उसने तप किया। उसने तप करके ही यह जो कुछ है इस सबकी रचना की। इसे रचकर वह इसीमें अनुप्रविष्ट हो गया। इसमें अनुप्रवेशकर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त अमूर्त कहेजाने योग्य आश्रय अनाश्रय चेतन अचेतन एवं व्यावहारिक-सत्य-असत्यरूप हो गया। तैत्तरीयोप० वल्ली २ अनु०

२—ब्रह्मकी अविद्यासे जगत्की उत्पत्ति होती है, ब्रह्म स्वयं जगत्की उत्पत्तिमें कारण नहीं है वह तो केवल अधिष्ठान मात्र होनेसे उसमें कारण कहलाता है। वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली श्लो० ३८

यदि कहा जाय कि ब्रह्म तो चैतन्य है और माया जड़ है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समवाय संबंधमें दो विरोधी स्वभाव नहीं रहते, जैसे प्रकाश और अन्धकार एक जगह नहीं रह सकते। यह कहा जाता है कि मायासे स्वयं ब्रह्म भ्रमरूप नहीं होता किन्तु अन्य जीव भ्रमरूप होते हैं तब तो जैसे कपटी अपने कपटको स्वयं ही जानता है उसके भ्रममें नहीं आता दूसरे ही जीव भ्रममें आते हैं। लेकिन कपटी तो वही कहलायगा जो कपट करेगा न कि भ्रममें आनेवाले दूसरे जीव? वैसे ही ब्रह्म अपनी मायाको स्वयं जानता है इसलिये वह भ्रमरूप नहीं होता दूसरे ही जीव भ्रममें आते हैं लेकिन मायावी तो ब्रह्म ही कहलायगा उसकी मायासे दूसरे जीव जो भ्रमरूप हुए हैं वे मायावी क्यों कहलाएंगे?

साथ ही एक प्रश्न यह भी उठता है कि जीव और ब्रह्म एक हैं या अलग है? यदि एक हैं तो जैसे कोई पागल स्वयं ही अपने अंगोंको पीड़ा पहुँचाता है वैसे ही ब्रह्म अपनेसे अभिन्न जीवोंको मायासे दुखी करता है इसको क्या कहा जायगा। और यदि अलग है तो जैसे कोई भूत विना ही प्रयोजन औरोंको भ्रम पैदा करे पीड़ा दे तो उसे निकृष्ट ही कहा जाता है वैसे ही ब्रह्म माया पैदा कर विना ही प्रयोजन दूसरे जीवोंको पीड़ा देता है उसे क्या कहा जायगा? इस तरह मायाको ब्रह्मकी बतलाना निराभ्रम है।

आगे प्रतिवादी कहता है कि जलसे भरे हुए अलग अलग वर्त्तनोंमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब अलग अलग दिखाई देता है परन्तु चन्द्रमा एक ही है। वैसे ही अलग २ बहुतसे शरीरोंमें ब्रह्मका चैतन्य प्रकाश अलग अलग पाया जाता है। लेकिन ब्रह्म एक ही है।[1] इसलिए जीवोंकी चेतना ब्रह्मकी ही चेतना है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। जड़ शरीरमें ब्रह्मके प्रतिबिम्बसे यदि चेतना होती है तो घट पट आदि जड़ पदार्थोंमें भी ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ जानेसे चेतना हो जानी चाहिए। यदि कहा जाय कि शरीरोंको चेतन नहीं करता जीवको चेतन करता है तो प्रश्न यह है कि जीवका स्वरूप चेतन है या अचेतन? अगर चेतन है तो चेतनको चेतन क्या करेगा? यदि अचेतन है तो शरीर घट और जीवकी एक जाति हुई। दूसरा प्रश्न यह है कि ब्रह्म और जीवोंकी चेतना एक है या भिन्न है? यदि एक है तो दोनोंमें ज्ञानकी अधिकता हीनता क्यों हैं? दूसरे यह सभी जीव परस्परमें एक दूसरे की बात क्यों नहीं जानते? अगर यह कहा जायगा कि यह उपाधिका भेद है चेतना तो भिन्न भिन्न ही है तो उपाधि मिटने पर इसकी चेतना ब्रह्ममें मिल जायगी या नष्ट हो जायगी? अगर नष्ट हो जायगी तो यह जीव अचेतन रह जायगा। अगर ब्रह्ममें मिल जायगी तो वहाँ इसका अस्तित्व रहेगा या नहीं यदि

जीवोंको ब्रह्मकी चेतनताका खण्डन

१—एक ही परमात्मा प्रत्येक जीवमें अवस्थित है अतः वह एक ही अनेक प्रकारसे दीखता है जैसे जलमें एकही चन्द्रमाके भिन्न २ प्रतिबिम्ब दीखते हैं। ब्रह्मबिन्दु १२

अस्तित्व रहेगा तो इसकी चेतना इसीकी रही ब्रह्ममें क्या मिला ? अगर अस्तित्व नहीं रहेगा तो इसका नाश हुआ कहलाया ब्रह्ममें कौन मिला ? अगर ब्रह्म और जीवकी चेतना भिन्न भिन्न मानी जायगी तो ब्रह्म और सब जीव भिन्न भिन्न ठहरे। इस प्रकार जीवोंकी चेतनाको ब्रह्मकी मानना भ्रम है।

शरीरादिकको यदि मायाका कहा जाता है तो माया ही हाड़ मांसादिक रूप होती है या मायाके निमित्तसे और कोई हाड़ मांस रूप होता है ? अगर माया ही हाड़ मांसरूप होती है तो मायाके वर्ण गंधादिक पहलेसे ही थे या नवीन हुए ? यदि पहलेसे ही थे तो पहले तो माया ब्रह्मकी थी और ब्रह्म अमूर्तिक है वहाँ वर्णादिक कैसे संभव हो सकते हैं ? अगर नवीन हुए तो अमूर्तिकसे मूर्तिक हुआ तब अमूर्तिक स्वभाव सदा नहीं रहा। अगर यह कहा जायगा कि मायाके निमित्तसे और कोई हड्डी मांसादि रूप होता है तो मायाके सिवाय और कोई पदार्थ तो ब्रह्मवादियोंके यहाँ है ही नहीं तब होगा कौन ? अगर यह कहा जायगा कि नवीन पदार्थ पैदा हुए हैं तो वे मायासे भिन्न पैदा हुए हैं या अभिन्न पैदा हुए हैं ? यदि भिन्न पैदा हुए तो शरीरादिक मायामयी कैसे हुए ? वे तो उन नवीन उत्पन्न पदार्थमय हुए। यदि अभिन्न पैदा हुए तो मायाही तद्रूप हुई। नवीन पदार्थोंका उत्पन्न होना क्यों कहते हो ? इसतरह शरीरादिकको मायाका स्वरूप कहना भ्रम है।

शरीर मायाका स्वरूप है इसका खण्डन

प्रतिवादी फिर कहता है कि—मायासे तीन गुण पैदा होते हैं राजस, तामस और सात्विक[1] परन्तु यह भी उसका कहना ठीक नहीं है क्योंकि मानादिकषायरूप भावको राजस कहते हैं, क्रोधादि कषायरूप भावको तामस कहते हैं, मंदकषायरूप भावको सात्विक कहते हैं। यह भाव प्रत्यक्ष चेतनामयी हैं और मायाका स्वरूप जड़ कहा जाता है सो जड़में चेतनमयी भाव कैसे पैदा हो सकते हैं ? अगर जड़के भी यह भाव पैदा हो सकते हैं तो पत्थर आदिके भी होना चाहिए। परन्तु चेतना स्वरूप जीवके ही यह भाव दीखते हैं। अतः यह भाव मायासे पैदा नहीं हो सकते। हां, यदि मायाको चेतन ठहराया जाय तो मान सकते हैं लेकिन मायाको चेतन ठहरानेसे शरीरादिक मायासे भिन्न होते हैं यह नहीं माना जा सकता इसलिए उसका निश्चय करना चाहिए। भ्रमरूप माननेमें कोई लाभ नहीं है।

प्रतिवादीका यह भी कहना है कि इन तीन गुणोंसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन देव प्रकट हुए हैं[2]। लेकिन यह ठीक नहीं है क्योंकि गुणोंसे गुण तो पैदा होते हैं परन्तु गुणसे

१—सत्व रज और तम गुण यह तीनों मायासे पैदा होते हैं तथा प्रत्येक शरीर और शरीर धारीमें विद्यमान हैं।—गीता अ० १४

२—तीनों गुणोंमें जब क्षोभ पैदा हुआ तो उनसे तीन देव निकले रजोगुण ब्रह्मा बन गया तमोगुण महादेव (अग्नि) हो गया तथा सत्वगुणसे विष्णु हो गया।—वायु पु० अ० ५ श्लोक १२५

गुणी पैदा नहीं होते। पुरुषसे क्रोध होता है लेकिन क्रोधसे पुरुष होता नहीं देखा गया। तथा इन गुणोंकी जब निन्दा की जाती है तब इनसे उत्पन्न हुए ब्रह्मादिक पूज्य कैसे माने जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि गुण तो हैं मायामय और यह तीनों ब्रह्मके अवतार हैं[1] किन्तु इन गुणोंसे उत्पन्न होनेके कारण ये भी मायामय कहलाए। फिर इनको ब्रह्मके अवतार कैसे कहा जा सकता है? ये गुण जिनमें थोड़े भी हैं उनसे तो इन्हें छोड़नेके लिए कहा जाता है और जो इन्हीं गुणोंकी मूर्ति है उन्हें पूज्य माना जाता है यह तो बड़ा भ्रम है। तथा इन तीनोंके कार्य भी इन्हीं रूपमें देखे जाते हैं। कुतूहलादिक, युद्धादिक, स्त्री सेवनादिक क्रियाएँ उन राजसादि गुणोंसे ही होती हैं इसलिए उनके राजसादिक गुण मौजूद हैं ऐसा कहना चाहिए। इनको पूज्य कहना या परमेश्वर कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। जैसे अन्य संसारी हैं वैसे ये भी हैं। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि संसारी तो मायाके आधीन हैं इसलिए बिना जाने ही उन कार्योंको करते हैं किन्तु ब्रह्मादिकके माया आधीन है वे जानकर इन कार्योंको करते हैं। क्योंकि मायाके आधीन होनेसे काम क्रोधादिकके सिवाय और क्या पैदा हो सकता है। इन काम क्रोधादिकी ब्रह्मादिकके तीव्रता पाई जाती है। कामकी तीव्रतासे स्त्रियोंके वशमें होकर इन्होंने नृत्य गान आदि किया है विह्वल हुए हैं, अनेक प्रकार कुचेष्टाएँ की हैं। क्रोधके वशीभूत होकर अनेक युद्धादि कार्य किए हैं, मानके वशीभूत होकर अपनी उच्चता प्रकट करनेके लिए अनेक उपाय किए हैं; मायाके वशीभूत होकर छल किए हैं, लोभके वशीभूत होकर परिग्रहका खूब संग्रह किया है। अधिक क्या कहा जाय चीरहरण आदि निर्लज्जोंकी क्रिया,[2] दही लूटना आदि चोरोंकी क्रिया, रुण्डमाला

राजसादि गुणोंसे ब्रह्मादिक विष्णु महेश की उत्पत्ति खण्डन

लीलासे सृष्टि रचनाका खण्डन

१—ब्रह्मा विष्णु और शिव यह तीनों ही ब्रह्मकी प्रधानशक्तियाँ हैं।—विष्णु पु० अ० २२ श्लो० ५८
कलिकालके प्रारभमें परब्रह्म परमात्मा ने रजोगुणसे उत्पन्न होकर ब्रह्मा बनकर प्रजाकी रचना की। प्रलयके समय तमोगुणसे उत्पन्न हो काल (शिव) बनकर उस सृष्टिको ग्रस लिया। उसी परमात्माने सत्वगुणसे उत्पन्न हो नारायण बनकर समुद्रमें शयन किया।

—वायु० पु० अ० ७ श्लो० ६८, ६९

२—एक दिन सब कुमारियों ने प्रतिदिन की तरह यमुना के तट पर जाकर अपने वस्त्र उतार दिए और भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों का गायन करती हुई बड़े आनन्द से जलक्रीड़ा करने लगी। परीक्षित्! सनकादि योगियों और शङ्कर आदि योगीश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण से गोपियों की यह अभिलाषा छिपी नहीं रही। वे उनका अभिप्राय जानकर अपने समवयस्क ग्वाल-बालकों के साथ उन कुमारियों की साधना () सफल करने के लिये यमुना तट पर गये। उन्होंने अकेले ही उन गोपियों के सारे

() पहले यह कन्यायें शरद ऋतु में श्रीकृष्ण की क्रीड़ाएं देखकर उनपर मोहित हो चुकी थीं और इसके लिए देवी कात्यायनी से यह वरदान माँग चुकी थी कि "आप नंद नंदन श्रीकृष्ण को हमारा पति बना दीजिए" देखो भाग० २२ अ० १० का प्रारंभ भाग।

धारण आदि पागलोंकी क्रिया[1], बहुरूप धारण आदि भूतोंकी क्रिया, गाय चराना आदि नीच कुलोंकी क्रिया, आदि सभी कुछ निंद्य क्रियाएँ की हैं। मायाके वशीभूत होकर इससे अधिक और क्या क्रियाएँ होती हैं सो पता नहीं। बाह्य कुचेष्टाओं सहित तीव्र काम क्रोधादिके धारी ब्रह्मादिकों को माया रहित मानना मेघ पटल सहित अमावस्याकी रातको अंधकार रहित मानने के समान है।

यदि यह कहा जाय कि इनको काम क्रोधादि व्याप्त नहीं होते, यहतो परमेश्वरकी लीला है[2]। सो भी ठीक नहीं है; क्यों कि ऐसे कार्यो को वे इच्छासे करते हैं या विना इच्छाके करते हैं? यदि इच्छासे करते हैं तो स्त्री सेवनकी इच्छाही का नाम काम है, युद्ध करनेकी इच्छाही का नाम क्रोध है इसी तरह और भी समझना चाहिए। अगर विना इच्छाके करते हैं तो विना चाहे किसी कामका होना पराधीनताका सूचक है, वह पराधीनता उनके कैसे संभव हो सकती है? और अगर यह लीला है कि परमेश्वर अवतार धारण कर इन कार्यो में लीला करता है तो अन्य जीवों को

वस्त्र उठा लिए और बड़ी फुर्तीसे एक कदम्बके वृक्ष पर चढ़ गए। साथी ग्वालबाल ठहठहाका मार हँसने लगे और स्वयं श्रीकृष्ण भी हंसते हुए गोपियोंसे हंसी की बात करने लगे भगवान की हंसी मसखरी देखकर गोपियों का हृदय प्रेमसे सराबोर होगया। वे तनिक सकुचाकर एक दूसरीकी ओर देखने और मुसकराने लगी। वे जलसे बाहर नहीं निकलीं। जब भगवान ने हंसी २ में बात कही तब उनके विनोदसे कुमारियों का चित्त और भी उनकी ओर खिंच गया। वे ठंडे पानीमें कण्ठ तक डूबी हुई थीं और थर २ कांप रही थीं. उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा। प्यारे श्रीकृष्ण! ऐसी अनीति मत करो हम जानती हैं कि तुम नन्दबाबाके लाड़ले लाल हो, हमारे प्यारे हो, सारे व्रजव सी आपकी सराहना करते हैं। देखो, हम जाड़े के मारे ठिठुर रही हैं हमें कँपकँपी छूट रही है तुम हमें हमारे वस्त्र दे दो नहीं तो हम नन्दबाबासे जाकर कह देंगी। भगवान् श्री कृष्णने कहा" कुमारियो! तुम्हारी मुसकान और पवित्रता प्रेमसे भरी है देखो जब तुम्हें मेरी दासी होना स्वीकार है और मेरी आज्ञा का पालन करना चाहती हो तो यहाँ आकर अपने २ वस्त्र ले लो। परीक्षित्! वे कुमारियाँ भगवान् की ऐसी बात सुनकर ठंडेसे ठिठुरती और कांपती हुई अपने दोनों हाथों से गुप्त अंगों को छिपाकर यमुना से बाहर निकलीं। उस समय ठंड उन्हें बहुत सता रही थी। उनके इस शुद्ध भावसे भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए। उनकी पवित्रता देखकर भगवान ने उनके वस्त्र अपने कंधेपर रखलिए और मुस्कराकर बोले 'गोपियो तुमने जो व्रत लिया था उसे अच्छी तरह निभाया है परन्तु नंगे होकर तुमने जो जलमें स्नान किया है उससे वरुण और यमुना का अपराध हुआ है। अतः अब इसकी निवृत्ति के लिए अपने हाथ जोड़कर सिरसे लगाओ। भगवान श्रीकृष्ण की बातें सुनकर गोपियों ने इसे सत्य समझा अतः समस्त कर्मों के साक्षी श्रीकृष्ण को नमस्कार किया...... परीक्षित! श्रीकृष्ण ने कुमारियोंसे छल भरी बातें की उनका लज्जा संकोच छुड़ाया, हंसी की, और उन्हें कठपुतलियों की तरह नचाया। यहाँ तक कि उनके वस्त्र हर लिये फिर भी वे रुष्ट नहीं हुईं बल्कि अपने प्रियतमके संगमें और भी प्रसन्न हुईं। अपने प्रियतमके समागम के लिए सज कर वे उन्हीं की ओर लजीली चितवनसे देखने लगीं। भागवत दशमस्कं० अ० २२

१—नाना रूपाय मुण्डाय वरूथ पृथुदण्डिने
नमः कपालहस्ताय दिग्वासाय शिखण्डिने मत्स्य पु० अ० २५० श्लो० २९

२—जिसकी चित्तमयी लीला यह चराचर विश्व है। उसके विश्वात्मकता होने पर भी एक पिण्डता अद्वैतत्व खण्डित नहीं होता। वेदान्त सि० मु० कारिका २३ के अन्तर्गत उद्धृत श्लोक।

इन कार्योंसे छुड़ाकर मुक्त करनेका उपदेश क्यों दिया जाता है। फिर तो क्षमा, शील, संतोष, संयमादिकका उपदेश सब झूठा कहलाया।

इसपर अगर यह कहा जाय कि परमेश्वरको तो कुछ मतलब नहीं किन्तु लोकनीतिको चलानेके लिए अथवा भक्तोंकी रक्षा और दुष्टोंका निग्रह करनेके लिए परमेश्वर अवतार धारण करता है[1]। सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रयोजनके विना चिंउटी भी कार्य नहीं करती परमेश्वर भला क्यों करेगा? और फिर प्रयोजन भी ऐसा कि लोक प्रवृत्तिके लिए करताहै। जैसे कोई पिता अपनी कुचेष्टाएँ पुत्रोंको सिखावे और जबवे चेष्टाऐं करें तो उनको मारने लग जाय ऐसे पिताको भला अच्छा कैसे कहा जासकता है? वैसे ही ब्रह्मा स्वयं काम क्रोध रूप चेष्टासे अपने पैदा किए लोगों को प्रवृत्ति कराता है और जब वे लोग वैसी प्रवृत्ति करते हैं तो उन्हें नरकादिकोंमें डाल देता है। शास्त्रोंमें नरकादिको इन्हीं भावोंका फल लिखा है। ऐसे प्रभुको भला कैसे माना जा सकता है? और यह जो कहा है कि उसका प्रयोजन भक्तोंकी रक्षा और दुष्टोंका निग्रह है उसमें भी प्रश्न यह है कि भक्तोंके दुःख देनेवाले जो दुष्ट लोगहैं वे परमेश्वर की इच्छासे हुए हैं या विना इच्छाके हुए हैं? यदि इच्छासे हुए हैं तो जैसे कोई अपने सेवकको स्वयं ही पिटवावे और पीटने वालेको फिर दंड दे भला ऐसा स्वामी अच्छा कैसे हो सकता है वैसे ही जो अपने भक्तोंको स्वयं अपनी इच्छासे दुष्टों द्वारा पीड़ित करावे और बादमें अवतार धारणकर उन दुष्टोंको मारे ऐसा ईश्वर भी अच्छा कैसेहो सकता है? अगर यह कहा जायगा कि विना इच्छाके ही दुष्ट मनुष्यपैदा हुए तो या तो परमेश्वरको ऐसे भविष्यका ज्ञान न होगा कि दुष्ट मेरे भक्तोंको दुखदेंगे या पहले ऐसी शक्ति न होगी जिससे वह इन्हें दुष्ट न होने देता। दूसरी बात यह है कि जब ऐसे कार्यके लिए परमात्माने अवतार धारण किया है। तो विना अवतार धारण किये उसमें ऐसी शक्ति थी या नहीं? अगर थी तो अवतार क्यों धारण करता है? अगर नहीं थी तो पीछे शक्ति होनेका क्या कारण हुआ?

लोकप्रवृत्ति या प्राणियों के निग्रह अनुग्रहके लिए सृष्टिरचना का खण्डन

यदि कहाजाय कि ऐसा किए विना उसकी महिमा प्रकट नहीं हो सकती थी तो इसका मतलब यह हुआ कि अपनी महिमाके लिए अपने अनुचरोंका पालन करता है और शत्रुओंका निग्रह करता है। इसीका नाम राग द्वेष है। और राग द्वेष संसारीजीव का लक्षण है। जब यह रागद्वेष परमेश्वरके ही पाया जाता है तब अन्य जीवोंको राग द्वेष छोड़कर समताभाव धारण करनेका उपदेश क्यों दिया जाता है? और राग द्वेषके अनुसार कार्य करनेमें थोड़ा बहुत समयतो लगता ही है उतने समय तक परमेश्वरके आकुलता भी रहती होगी। तथा जैसे जिस कामको छोटा

महत्ता दिखानेके लिए सृष्टिरचनाका खण्डन

१—साधुओं की रक्षा के लिए दुष्टों का निग्रह करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ। गीता अ० ४ श्लो० ८

आदमी कर सकता है उस कार्य को राजा स्वयं करे तो राजाकी इसमें महिमा नहीं होती उल्टी निंदा होती है। वैसे ही जिसकार्य को राजा व व्यंतर देवादिक कर सकते हैं उसकार्यको यदि परमेश्वर स्वयं अवतार धारण कर करता है तो इसमें परमेश्वरकी कुछ महिमा नहीं है निन्दाही है, इसके सिवा महिमा तो किसी और को दिखाई जाती है। लेकिन जब ब्रह्म अद्वैत है तब महिमा किसको दिखाता है? और महिमा दिखाने का फल तो स्तुति कराना है तो वह किससे स्तुति कराना चाहता है? इसके अतिरिक्त ब्रह्मवादीका कहना तो यह है कि सब जीव परमेश्वरकी इच्छानुसार ही प्रवृत्ति करते हैं[1]? तो जब वह स्वयं स्तुति कराना चाहता है तो सब जीवोंको स्तुतिरूप प्रवृत्ति क्यों नहीं कराता। जिससे अन्य कार्य न करना पड़े। इसलिए महिमाके लिए भी कार्य करना ठीक नहीं कहा जासकता।

तर्क—परमेश्वर इन कार्योंको करता हुआ भी अकर्ता है,[2] इसका कुछ निर्धारण नहीं है।

समाधान—कोई अपनी माताको बांझ कहे तो जैसे उसका कहना ठीक नहीं माना जाता वैसे ही कार्य करते हुए भी परमेश्वर को अकर्ता मानना ठीक नहीं है। यह कहना कि उसका निर्धारण नहीं है मिथ्या है क्योंकि निर्धारण किए विना ही यदि उसको माना जायगा तो आकाशके फूल गधेके सींग भी मानने पड़ेंगें। इसलिए ब्रह्मा विष्णु महेशका होना झूठ है।

प्रतिवादीकी यहभी मान्यता है कि ब्रह्मा तो सृष्टि पैदा करता है, विष्णु रक्षा करता है और महेश संहार करता है[3]। किन्तु उसका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इन कार्योंमें से

ब्रह्मा, विष्णु, महेश द्वारा सृष्टिके उत्पादन रक्षण और ध्वंस-का खण्डन

कोई कुछ करना चाहेगा कोई कुछ करना चाहेगा तो परस्पर विरोध होगा। यह कहनाकि यहतो परमेश्वरके ही रूप हैं इनमें विरोध क्यों होगा? ठीक नहीं है क्योंकि जो आदमी स्वयं ही पैदा करे स्वयं ही मारे उसके ऐसे कार्य करनेमें क्या लाभ है? अगर सृष्टि उसे अनिष्ट लगती है तो पैदा ही क्यों करता है? और इष्ट लगती है तो नष्ट क्यों करता है यदि यह कहा जाय कि पहले इष्ट थी तब पैदा की पीछे अनिष्ट लगी तो विनाश किया। तब प्रश्न यह है कि इससे परमेश्वरका स्वभाव अन्यथा हुआ या सृष्टिका स्वरूप अन्यथा हुआ? यदि पहला पक्ष मानोगे तो परमेश्वरका एक स्वभाव नहीं रहा। तब उस एक स्वभावके न रहनेका कारण क्या है 'यह भी बताना चाहिए क्योंकि विना कारणके स्वभावका पलटना नहीं होता। यदि दूसरा पक्ष स्वीकार है तो सृष्टि तो परमेश्वरके आधीन थी उसे ऐसा होने ही क्यों दिया कि अनिष्ट लगे।

१—हे अर्जुन! सब मनुष्य सर्वथा मेरे ही मार्गपर चलते हैं। गी० अ० ४ श्लो० ११

२—चातुर्वर्ण्यादिरूप सृष्टि का कर्ता होकर भी तू मुझे अकर्ता समझ इस लिए मैं अव्यय-अविनश्वर हूँ। गीता अ० ४ श्लो० १३

३—आप सम्पूर्ण प्राणियों के कर्ता रक्षक तथा विनाश करने वाले हैं सर्जन रक्षण और प्रलय में आपही ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप शक्ति धारण करते हैं। विष्णु पु० अ० १ अं० ४ श्लो० १५

दूसरे हमारा पूंछना यह है कि ब्रह्माजो सृष्टि पैदा करता है उसका तरीका क्या है एक तो यह कि जैसे मन्दिर चिनने वाला चूना पत्थर आदि सामग्री इकट्ठी कर आकारादि बनाता है वैसे ही ब्रह्मा सामग्री इकट्ठीकर सृष्टि रचना करता है तो यह सामग्री जहाँ से लाकर इकट्ठी की वह ठिकाना बताना चाहिए। और अकेले ब्रह्माने ही यदि इतनी रचनाकी तो आगे पीछे की या अपने शरीरके बहुतसे हाथ आदि बनाकर एक समयमें ही की ? यह बताना चाहिए।

दूसरे यह कि जैसे राजाकी आज्ञानुसार कार्य होता है वैसेही यदि ब्रह्माकी आज्ञानुसार सृष्टि पैदा होती है। तब प्रश्न यह है कि आज्ञा किसको दी ? और जिसको अज्ञादी वह सामग्री कहाँसे लाया और कैसे रचनाकी ? यह सब मालूम होना चाहिए।

तीसरे यह कि जैसे ऋद्धिधारी इच्छा करता है और कार्य स्वयमेव बन जाता है, वैसेही ब्रह्मा इच्छा करता है और उसके अनुसार सृष्टि स्वयमेव पैदा हो जाती है। लेकिन यहभी ठीक नहीं है क्योकि ब्रह्मातो इच्छाका ही कर्ता हुआ, सृष्टितो अपने आप पैदा हुई। दूसरे इच्छा तो परब्रह्मने की तब ब्रह्माका कर्तव्य क्या हुआ ? जिससे ब्रह्माको सृष्टिका पैदा करने वाला कहा जाय। अगर यह कहाजाय कि परमब्रह्म और ब्रह्म दोनोंने ही इच्छा की तब लोक पैदा हुआ तो ब्रह्मके शक्तिहीनपनेका दोप हुआ।

इसके अतिरिक्त यहभी प्रश्न है कि अगर बनानेसे ही लोक बनता है तो बनाने वाला तो सुखके लिए ही बनाता है इसलिए इष्ट ही रचना करता है लेकिन इसलोकमें इष्ट पदार्थतो कम है अनिष्ट बहुत हैं। जीवोंमें देवादिकोंकी रचना तो क्रीड़ करने व भक्ति कराने आदिके लिए की। परन्तु लट कीड़ी कुत्ते सूअर शेर आदिक किस लिए बनाए। ये तो रमणीक नहीं है सब प्रकारसे अनिष्ट ही हैं। तथा दरिद्री दुखी एवं नारकी आदिके देखनेसे अपनेको जुगुप्सा ग्लानि आदि दुःख पैदा होता है ऐसे अनिष्ट क्यों बनाए ? यदि यह कहा जाय कि यह जीव अपने पापसे लट, चींटी दरिद्री नारकी आदि पर्यायोंको भोगता है तो यह तो बादमें पाप करनेका फल हुआ, पहले लोक रचना करते समय इनको क्यों बनाया ? दूसरे; यदि जीव पीछेसे पापरूप परिणत हुए तो कैसे ? अगर स्वयं ही परिणत हुए तो मालूम पड़ता है ब्रह्माने पहले तो पैदा किए बादमे वे उसके आधीन न रहे। इस कारणसे ब्रह्माको दुःख ही हुआ। यदि ब्रह्माके परिणमन करने से वे पापरूप परिणत हुए तो ब्रह्माने उन्हें पापरूप परिणत क्यों किया ? जीवतो उसके ही पैदा किए हुए थे उनका बुरा किसलिये किया। इसलिये यह भी बात ठीक नहीं है। अजीवोंमें भी सुवर्ण सुगंधादि सहित वस्तुऐं तो रमणके लिए बनाई पर कुवर्ण दुर्गंधादि सहित दुखदायक वस्तुएं किस लिये बनाई ? इनके दर्शनादिकसे ब्रह्माको भी कुछ सुख पैदा नहीं होता होगा ? यदि पापी जीवोंको दुःख देनेके लिए बनाई तो अपने ही पैदा किए हुए जीवोंसे ऐसी दुष्टता क्यों की जो उनको दुखदायक सामग्री पहले ही बनादी। तथा धूल पर्वतादिक कितनी ही वस्तुएँ ऐसीहै जो अच्छी भी नहीं है और दुखदायक भी नहीं है उनको किसलिए बनाया ? अपने आप तो वे

जैसे तैसे बन सकते हैं परन्तु बनानेवालातो प्रयोजनको लेकरही बनाएगा। इसलिए 'ब्रह्मा सृष्टि का कर्ता है' यह वचन मिथ्या है।

इसी तरह विष्णुको लोकका रक्षक कहा जाताहै यहभी मिथ्या है क्यों की रक्षक तो दो ही काम करता है। एक तो दुख पैदा होने का कारण न होने दे दूसरे विनाश का कारण न होने दे। किन्तु लोकमें दुःख के पैदा होने के कारण जहां तहां देखे जाते हैं और उनसे जीवों को दुख ही देखने में आता है। भूख प्यास आदि लगते हैं शीत उष्णादिक से दुख होता है जीव परस्पर दुःख पैदा करते है, शस्त्रादि दुखके कारण बनते हैं। तथा विनष्ट होनेके भी अनेक कारण मौजूद हैं। जीवके विनाशके कारण रोगादिक अग्नि विष, तथा शस्त्रादि देखे जाते हैं। और जीवोंके परस्परमें भी विनष्ट होनेके कारण मौजूद हैं। इस तरह जब दोनो प्रकारसे रक्षा नहीं की तो विष्णुने रक्षक बन कर क्या किया ?। अगर यह कहाजाय कि विष्णु रक्षक ही है अन्यथा क्षुधा तृषादिकके लिए अन्न जलादिक कहांसे आते, कीड़ों को कण और कुंजर को मन कौन देता ? संकट में सहायता कौन करता मरणका कारण उपस्थित होनेपर टिट्हरी[1] की तरह कौन उबारता[2] इत्यादि बातोंसे मालूम पड़ता है कि विष्णु रक्षा करताही है परन्तु यह भी भ्रम है क्यों कि अगर ऐसा ही होता तो जहां जीवों को भूख प्यास पीड़ा देते हैं, अन्न जलादिक नहीं मिलते संकट पड़ने पर सहायता नहीं होती थोड़ा सा कारण पाकर मरण हो जाता है वहाँ या तो विष्णु को शक्ति नहीं है या उसको ज्ञान नहीं हुआ। लोकमें बहुतसे ऐसे प्राणी दुखी होकर मर जाते हैं। विष्णुने उनकी रक्षा क्यों नहीं की ? यह कहना कि वह तो जीवोंके कर्तव्यों का फल है ऐसा ही है जैसे कोई शक्तिहीन लोभी झूटा वैद्य किसी का कुछ भला हो तो उसको अपना किया हुआ माने और बुरा हो मरण हो तो कहे कि उसका होनहार ही ऐसा था। जो कुछ भला हुआ वह तो विष्णुने किया और जो बुरा हुआ वह जीवोंके कर्तव्यों का फल हुआ ? भला ऐसी झूठी कल्पना किसलिए की जाती है ?। या तो भला बुरा दोनों विष्णु का किया हुआ मानना चाहिए या दोनों उनके कर्तव्य का फल मानना चाहिए। यदि विष्णु का किया हुआ है तो बहुतसे जीव दुखी और शीघ्र मरते देखे जाते हैं उसको रक्षक कैसे कहाजा सकता है ? और यदि अपने कर्तव्यों का फल है तो जो करेगा वह पावेगा विष्णु रक्षा क्या करेगा ? यदि कहा जाय कि जो विष्णु के भक्त हैं उनकी रक्षा करता है तो जो कीड़ी कुंजर आदि विष्णुके भक्त नहीं हैं

१—पुराणों में लिखा है कि एक टिट्हरी नामका पक्षी समुद्रके किनारे रहता था उसे यह बड़ा दुःख था की उसके अंडे समुद्र बहा ले जाता था। उसने अपने इस दुखकी पुकार गरुड़ की मार्फत विष्णु भगवान् से की भगवान् ने दया कर उसके अंडे समुद्रसे दिलवा दिए।

२—मुझमें चित्त लगाकर अत्यंत श्रद्धा पूर्वक जो नित्य मेरी उपासना करते हैं वेही मेरे प्यारे हैं। जो सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण कर मेरी भक्तिमें तत्पर हो अभिन्न समाधिसे ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन अपने में लीन भक्तों को मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार सागर से उबारता हूँ। गीता अ० १२ श्लो० २.६.७

उनको अन्नदिक पहुँचाने में संकट के समय सहायक होने में अथवा मरण होने में विष्णुका कर्तव्य मान उसे सबका रक्षक क्यों कहा जाता है? केवल भक्तों का ही रक्षक मानना चाहिए। किन्तु भक्तोंका रक्षक भी नहीं है क्यों कि अभक्त भी भक्त पुरुषों को पीड़ा देते देखे गए हैं। उनके श्रद्धानुसार यह ठीक है कि कई स्थानों पर प्रह्लाद आदिक की उसने सहायता की है। परन्तु यहाँ तो हम यह पूंछते हैं कि प्रत्यक्ष मुसलमान आदि अभक्त पुरुषों द्वारा भक्त पुरुष पीड़ित होते हैं मदिरादिकों को विघ्न होता है वहां विष्णु सहायता क्यों नहीं करता? क्या उसमें शक्ति नहीं है या उसे खबर नहीं है? यदि शक्ति नहीं है तो इनसे भी हीन शक्ति का धारक हुआ। यदि खबर नहीं हैं तो इतनी सी भी खबर न होनेसे अज्ञानी हुआ। यदि यह कहा जाय कि शक्ति भी है खबर भी है लेकिन उसकी ऐसी ही इच्छा है तो उसे भक्तवत्सल क्यों कहाजाता है इस प्रकार विष्णु को लोक का रक्षक मानना मिथ्या है।

इसी तरह महेश को संहारक माना जाता है यहभी मिथ्या है। पहले तो महेश जो संहार करता है वह सदा ही करता है या महाप्रलयके समय करता है? यदि सदा करता है तो जैसे विष्णुकी रक्षा करने के कारण स्तुति की वैसे ही इसकी संहार करनेके कारण निंदा करना चाहिए क्यों कि रक्षा और संहार आपस में विरोधी है। दूसरे यह संहार कैसे करता है? जैसे पुरुष अपने हाथ आदिक से किसी को मारता है या दूसरे के द्वारा पिटवाता है वैसे ही महेश अपने अंगों से संहार करता है या किसीको आज्ञा देकर संहार कराता है? अगर अपने अंगों से संहार करता है तो संहार तो सारे लोकमें अनेकों जीवों का क्षण २ में होता है यह किस प्रकार अपने अंगों से या किसी को आज्ञा देकर एक साथ संहार कराता है यदि महेश केवल इच्छा ही करता है और उनका संहार स्वयमेव हो जाता है तो उसके सदा मारने रूप दुष्ट परिणाम ही रहने चाहिए। और अनेक जीवों को एक साथ मारने की इच्छा भी कैसे होती होगी? यदि महाप्रलयके समय संहार करता है तो परमब्रह्म की इच्छानुसार करता है या उसकी बिना इच्छाके करता है? यदि परमब्रह्म की इच्छानुसार करता है तो उसे ऐसा क्रोध कैसे हुआ जो सबके प्रलय करने की इच्छा हुई क्यों कि बिना किसी कारणके नाश की इच्छा नहीं होती। और नाश करने की इच्छा ही का नाम क्रोध है इस लिए उसका कारण बताना चाहिए। यदि बिना कारण के इच्छा होती है तो वह तो पागलों की सी इच्छा हुई। यदि यह कहा जाय कि परमब्रह्म ने यह स्वांग बनाया था बाद में दूर किया कारण कुछभी नही है? तो स्वांग बनाने वाला भी उसे जब स्वांग अच्छा लगता है तभी बनाता है जब अच्छा नहीं लगाता तब दूर करता है। यदि इसको इसी प्रकार लोक अच्छा या बुरा लगता है तो इसका लोकसे राग द्वेष हुआ। तब साक्षीस्वरूप परब्रह्म क्यों कहाजाता है? साक्षीभूत तो उसे कहते है जो अपने आप ही जैसा हो वैसा देखता जानता हो जो इष्ट अनिष्ट पैदा करे नष्ट करे उसे साक्षीभूत कैसे माना जा सकता है? क्योंकि साक्षीभूत होना और कर्ता हर्ता होना दोनों परस्पर विरोधी बातें है। एक के दोनों बातें संभव नहीं है।

दूसरे परमब्रह्मके तो पहले यह इच्छा हुई थी कि 'मैं एक हूं बहुत हो जाऊँ' तब बहुत हो गया था। अब ऐसी इच्छा हुई होगी कि 'मैं बहुत हूं एक हो जाऊँ। जैसे कोई भोले-पनसे कार्य कर पीछे उस कार्यको दूर करना चाहता है वैसेही पर ब्रह्मका भी बहुत होकर एक होने की इच्छा करना ऐसा मालूम पड़ता है कि उसने पहले बहुत होनेका कार्य भोलेपनसे किया था भविष्यके ज्ञानसे यदि करता तो दूर करनेकी इच्छा ही क्यों होती यदि परब्रह्मकी इच्छा बिनाही महेश संहार करताहै तो यह परब्रह्मका या ब्रह्माका विरोधी कहलाया।

तथा एक प्रश्न यहभी है कि यह महेश संहार कैसे करता है? अपने अङ्गोंसे संहार करता है या उसकी इच्छा होनेसे स्वयंमेवही संहार होता है। यदि अपने अङ्गोंसे संहार करता है तो सबका एक साथ संहार कैसे करता है। यदि इसकी इच्छासे स्वयमेव संहार होता है तो इच्छा तो परब्रह्मने की थी इसने संहार कैसे किया?

तीसरे यह भी पूंछना है सब लोकमें संहार होते समय जीव अजीव कहाँगए? यदि जीवोंमें भक्तजीव ब्रह्ममें मिलगए और अन्य जीव मायामें मिल गए तो माया ब्रह्मसे अलग रहती है या पीछे ब्रह्ममें मिल जाती है यदि अलग रहती है तो ब्रह्मकी तरह मायाभी नित्य हुई अद्वैत-ब्रह्म नहीं रहा। और अगर माया और ब्रह्म एक हो जाते हैं तो जो जीव मायामें मिले थे वे भी मायाके साथ ब्रह्ममें मिलगए। इस तरह महाप्रलयके समय सभीका परमब्रह्ममें मिलना रहा तो मोक्षका उपाय क्यों कियाजाय। तथा जो जीव मायामें मिल गए थे वे ही जीव बादमें लोक रचनाके समय लोकमें आवेंगे या वे ब्रह्ममें ही मिले रहेंगे और नए पैदा होंगे। अगर वेही आवेगें तो मालूम हुआ कि वे अलग २ रहे मिलना क्या रहा! यदि नए पैदा होंगेतो जीवका अस्तित्व थोड़ेही समय तक रहा। मुक्त होनेके उपाय करनेसे क्या लाभ।

ब्रह्मवादियोंका यह भी कहना है पृथ्वी आदिक मायामें मिलजाती हैं[1]। परन्तु यहाँ भी प्रश्न यह है कि वह माया अमूर्तिक सचेतन है या मूर्तिक सचेतन अगर अमूर्तिक सचेतन है तो

लोककी अनादि-निधनता

इसमें मूर्तिक अचेतन पदार्थ कैसे मिल सकते हैं और यदि मूर्तिक अचेतन है तो यह ब्रह्ममें मिलती है कि नहीं। अगर मिलती है[2] तो इससे ब्रह्मभी मूर्तिक अचेतनसे मिश्रित हुआ। अगर नहीं मिलती तो अद्वैतता नहीं रही। अगर यह कहाजाय कि सब अमूर्तिक चेतन हो जाते हैं तो आत्मा शरीरादिक की एकता हुई, इनकी एकता संसारी जीव पहलेसे ही मानता है उसको अज्ञानी क्यों कहा जाय? दूसरा प्रश्न यह है कि लोकका प्रलय होनेपर महेशका प्रलय होता है कि नहीं? अगर

१—हे द्विज! आकाश को भूतादि (तामस अहंकार), भूतादि को महत्तत्व और इन सबके साथ महत्तत्त्व को मूल प्रकृति अपने में लीन करलेती है। इस प्रकार यह प्रकृति व्यक्त अव्यक्त रूपसे सर्वमयी है अतः इसके अव्यक्त में व्यक्त रूप लीन हो जाता है। विष्णु पु० अं० ४ श्लो० ३३, ३५।

२—हे द्विज! व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप वाली प्रकृति का जो मैं विवेचन कर आया हूँ वह और पुरुष दोनों परमात्मा मे लीन हो जाते हैं। विष्णु पु० अं० ६ अ० ४ श्लो० ३९

होता है तो एक साथ या आगे पीछे? अगर एक साथ होता है तो स्वयं नष्ट होता हुआ लोक को नष्ट कैसे करता है? अगर आगे पीछे होता है तो लोकको नष्टकर यह रहा कहां क्योंकि वह स्वयं भी तो सृष्टिमें ही रहता है। इस तरह महेशको सृष्टिका संहारकर्ता मानना असंभव है। तथा इसी प्रकार या अन्य अनेक प्रकारसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशको क्रमसे सृष्टि कर्ता, सृष्टि रक्षक, सृष्टि संहारक मानना मिथ्या है। लोकको अनादि निधन ही मानना चाहिए। इस लोकमें जीवादिक पदार्थभी अलग २ अनादिनिधन हैं। उनकी अवस्थाका पलटन होतो है इस अपेक्षासे वे पैदा और नष्ट होते रहते हैं। स्वर्ग, नरक, द्वीपादिक अनादि से इसी प्रकार हैं और सदा इसी प्रकार रहेंगे यदि यह कहाजाय कि विना वनाए ऐसे आकारादिक कैसे संभव हो सकते हैं, यह तो वनाने से ही वनसकते हैं। यह ठीक नहीं हैं क्योंकि जो अनादिसे ही पाए जाते हैं उसमें तर्क क्या? जैसे परब्रह्मका स्वरूप अनादिनिधन माना जाता है, वैसेही यह भी है। यदि कहा जाय कि जीवादिक व स्वर्गादिक कैसे हुए तो हमभी यह पूंछेंगें कि परब्रह्म कैसे हुआ? यदि कहोगे कि इनकी रचना किसने की तो हम कहेगें कि परब्रह्मको किसने वनाया। यदि परब्रह्म स्वयं सिद्ध है तो जीव स्वर्गादि भी स्वयं सिद्ध हैं। आप कहेंगे कि इनकी और परब्रह्मकी समानता कैसे तो हम पूंछेगें कि इनकी समानतामें दोष क्या है? लोकको नया पैदा करना उसका विनाश करना आदि वातो के वारेमें तो हमने अनेक दोष वतलाए। अव यह तुम्हें वताना हैं कि लोकको अनादिनिधन माननेमें क्या दोष है। वास्तवमें परब्रह्म कोई अलग चीज़ नहीं है, इस संसार में जीवही यथार्थ मोक्षमार्गका साधन करके सर्वज्ञ वीतराग हो जाता है।

प्रश्न—आप अलग २ जीवोंको अनादिनिधन कह रहे हैं। लेकिन मुक्तहो जानेके वाद वे निराकार हो जाते हैं। उनका अलग २ रहना कैसे संभव हैं।

समाधान—मुक्त होनेके वाद जीव सर्वज्ञको दिखाई देते हैं या नहीं? यदि दिखाई देते हैं तो उनका कुछ न कुछ आकार दिखाई देता ही होगा। विना आकारके उन्हें क्या दीखता होगा? और अगर दिखाई नहीं देते हैं तो या तो वस्तुही नहीं या सर्वज्ञही नहीं। इसलिए वे इन्द्रियगम्य आकार न होने की अपेक्षा से निराकार हैं और सर्वज्ञके ज्ञान गम्य होने से आकारवान हैं।। जव आकारवान हैं तव अलग २ रहने में क्या दोष है। अगर जातिकी अपेक्षा से एक कहा जाय तो हम भी स्वीकार करते हैं। जैसे गेहूं भिन्न२ हैं उनकी जाति एक है इसलिए उन्हें एक माननेमें कोई दोष नहीं। इस प्रकार यथार्थ श्रद्धान से सव पदार्थ लोकमें अकृत्रिम अनादिनिधन और भिन्न २ मानना चाहिए। इतने परभी व्यर्थही भ्रमसे अगर किसीको सच्चे झूठे का निर्णय नहीं करना है तो उसका फल उसे प्राप्त होगा।

ब्रह्मवादियोंका यह भी कहना है कि ब्रह्मासे पुत्र पौत्रादि कुलप्रवृत्ति होती है,[1] कुलों में

१—आप मुझे उनकी ब्रह्मादि विभूतियों का वर्णन सुनाइए जिनसे पुत्र पौत्र नाती और कुटुम्बियों के सहित तरह २ की प्रजा उत्पन्न हुई और उससे यह सारा ब्रह्माण्ड भरगया। भा० अ० ७ स्कं० ३

राक्षस, मनुष्य, देव और तिर्यञ्चों में परस्पर जन्म भेद होता है। अर्थात् देवसे मनुष्य, मनुष्य से देव, अथवा तिर्यञ्च से मनुष्य इत्यादि। कोई माता और कोई पिता से पुत्र पुत्री का पैदा होना बताते हैं यह कैसे संभव है। तथा मनसे[1] हवासे[2] व वीर्य सूंघने आदि से भी प्रसूति बतलाते हैं यह भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। ऐसा होने से पुत्र पौत्रादिक का नियम कैसे रह सकता है। तथा बड़ों २ को अन्य २ माता पिता से उत्पन्न हुए बतलाते हैं। भला महान पुरुष कुशीली माता पिता से कैसे हो सकते हैं। यह तो लोकमें गाली है। ऐसा कह करभी उनकी महानता कैसे रह सकती है।

ब्रह्मा से कुल प्रवृत्ति आदि बातों का खण्डन

इसके अतिरिक्त गणेश आदि की मैल से उत्पत्ति बतलाते हैं[3]। किसी का अंग किसी के जुड़ा हुआ बतलाते हैं इत्यादि अनेक बातें प्रत्यक्षविरुद्ध कहते हैं। चौबीस अवतार भी यह लोक मानते हैं[4] उनमें किसी को पूर्णावतार और किसी को अंशावतार कहते हैं। जब पूर्णावतार हुआ तब ब्रह्म दूसरी जगह व्याप्त था या न था। यदि था तो पूर्णवतार कहां रहा ? यदि न था तो इतना ही ब्रह्म रहा। अंश अवतार में ब्रह्म का अंश तो सब जगह बताया जाता है इसमें क्या अधिकता रही

अवतार और उनकी लीलाओं का खण्डन

१—हे ब्रह्मन्! ब्रह्माके सृष्टि कर्ममें प्रवृत्त होनेपर देवताओं से लेकर स्थावर पर्यंत जो सृष्टि हुई वह केवल मानसिक सृष्टि थी। विष्णु पु० अं० १ अ० ५ श्लो० २९
मारीच, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता वसिष्ठ; भृगु नारद इन दस पुत्रों को ब्रह्मा ने मनसे पैदा किया। मत्स्य पु० अ० ४ श्लो० ६,७,८

२—अप्सराओं में श्रेष्ठ पुञ्जिकस्थला नाम की अप्सरा ही अंजना कहलाती थी जो केसरी नामक बन्दर की पत्नी थी। वह एक दिन विचित्र माला आभूषण और रेशमी वस्त्र पहने हुए वर्षाकालीन मेघ के सदृस किसी पर्वत के ऊपर घूम रही थी कि वायु ने उसके पीले लाल वस्त्रों को धीरेसे अपहरण कर लिया और उसकी गोल जंघाए पुष्ट स्तन तथा सुन्दर मुख देखने लगा तथा देखते ही कामसे पीड़ित हो उस कृपाङ्गी शुभाङ्गी यशस्विनी आयतश्रोणी अंजना को बलपूर्वक खींचकर अपनी लंबी भुजाओं मे पकड़ कर उसका आलिङ्गन किया। तब अंजना डरकर बोली कि मेरे एक पत्नी व्रतको कौन भङ्ग करना चाहता है। अञ्जना की यह बात सुनकर वायुने कहा" हे सुश्रोणि! तू डरे मत मैं तेरा व्रत भङ्ग (योनिभोगसे) नहीं करूगा किन्तु तुझे आलिङ्गन कर मानसिकभोग से ही मैं तेरे अन्दर प्रविष्ट हो गया हूँ अतः तेरे शक्ति शाली बुद्धिमान पुत्र होगा और वह लांघने कूदने में मेरे ही समान महा-प्रतापी तथा महाबलवान होगा। हे हनुमान्! जब तुम्हारी मातासे वायुने यह बात कही तब वे संतुष्ट हुई और एक गुफामें तुम्हें जन्म दिया। वाल्मीकी रामायण किस्किंधा कां० सर्ग ६६ श्लो० ८–२०।

३—अपनी सखियों के साथ पार्वती गुड़ियों से खेला करती थी एक दिन वह अपने मैले शरीर पर गन्ध तैलका उबटन कर उस शरीर का मैल उतार रही थी उस मैलको लेकर उसने हाथीके मुह वाला एक मनुष्य अर्थात् गणेश बना दिया। मत्स्य पु० अ० १५४ श्लो० ५०२

४—सनत्कुमार १ शूकरावतार २ देवर्षिनारद ३ नरनारायण ४ कपिलावतार ५ दत्तात्रेय ६ यज्ञपुरुषावतार ७ ऋषभावतार ८ पृथुअवतार ९ मत्स्यावतार १० कच्छपावतार ११ धन्वन्तरि १२ मोहनी-अवतार १३ नृसिंहअवतार १४ वामनावतार १५ परशुरामअवतार १६ व्यासअवतार १७ हंसावतार १८ रामावतार १९ कृष्णावतार २० हयग्रीव २१ हरि २२ बुद्धावतार २३ कल्किअवतार २४

कार्य तो साधारण और उसके वास्ते ब्रह्म स्वयं अवतार धारण करता है, इसका मतलब तो यह है कि बिना अवतार धारण किए ब्रह्म में उस कार्य के करने की शक्ति नहीं है; क्योंकि अगर कोई कार्य साधारण प्रयत्न से हो सकता है तो उसके लिए विशेष प्रयत्न की क्या आवश्यकता है! तथा अवतारों में भी मच्छ कच्छादि अवतार हुए हैं। भला थोड़े से कार्य के लिए हीन तिर्यञ्च पर्याय-रूप होना कैसे ठीक है? प्रह्लाद के लिए नरसिंह अवतार हुआ किन्तु इसके पहले हिरण्यकशिपुको ऐसा होने ही क्यों दिया[1]? और कितने ही समय तक अपने भक्त को दुख क्यों दिलाया। तथा भयंकर विड्रूप स्वांग क्यों धारण किया? कहा जाता है कि नाभि राजा के वृषभावतार हुआ[2]। वह नाभिराजा को पुत्रका सुख देने के लिए हुआ था तो फिर उसने तपश्चरण किस लिए किया? उनको तो कुछ साध्य था नहीं। यदि जगत को दिखाने के लिए तपश्चरण किया तो कोई अव-तार तो तपश्चरण दिखाता है कोई अवतार भोगादिक दिखाता है, संसार किसके भला समझे। यह तो बहुरूपियों का सा स्वांग हुआ।

उनका कहना है कि एक अरहंत नाम का राजा हुआ उसने वृषभावतार का मत अङ्गीकार कर जैन मत प्रकट किया[3]। लेकिन जैनों में कोई एक अरहंत नहीं हुआ। जो सर्वज्ञ पद पाकर पूजने योग्य हो वही अरहंत है। अवतारों में राम कृष्ण इन दो अवतारों को मुख्य बतलाया है।

१—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दो दैत्य आपस में भाई २ थे। जब भगवान ने वराहावतार लेकर हिर-ण्याक्ष का वध कर दिया तो हिरण्यकशिपु को बुरा लगा। बदले की भावना को लेकर संसार का एक छत्र सम्राट् बनने की अभिलाषा से वह मंदराचल की गुफाओं में तपस्या करने चला गया। उसकी उग्र तपस्या के कारण धूंआ और आग उसके सिर से निकलने लगा। उस आग से स्वर्गके देवता जब जलने लगे तब उससे बचने को ब्रह्मा जी से उन्होंने प्रार्थना की। ब्रह्मा जी हिरण्य-कशिपु के पास आए और प्रसन्न होकर उसकी इच्छानुसार उसे वरदान दिया कि पृथ्वी पर या आकाश में, भीतर या बाहर, दिन में या रात में कहीं किसी भी अस्त्र शस्त्रादिक से तेरी मृत्यु न होगी। इस वरदान के प्रभाव से उसने सुर असुर गंधर्व विद्याधर पितर आदि सब को अपने वश में कर लिया और संसार का एक छत्र सम्राट् बनकर रहने लगा।

इधर हिरण्यकशिपु का छोटा पुत्र प्रह्लाद गुरू के पास पढ़ा था एक दिन हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद से पूछा कि तुझे कौन सी बात अच्छी लगती है? प्रह्लाद ने कहा 'हरिभजन" इस पर हिरण्यकशिपु को चिढ़ पैदा हुई और कहा कि हरि (विष्णु) मेरा शत्रु है तू उसका नाम मत ले मैं ही भगवान हूँ। प्रल्हाद अपनी बात पर अड़ा रहा इस पर पिता ने पुत्र को घोर अमानुषिक यात-नाएँ दीं अन्त में विष्णु ने प्रकट होकर नृसिंहावतार लिया। उन्होंने हिरण्यकशिपु को उठा कर अपनी जांघ पर लिटा लिया और अपने तीक्ष्ण नखों से उसका वक्षस्थल फाड़ कर उसे परम धाम पहुँचा दिया। भागवत अ० २–८ स्कंध ७

२—भा० अ० ३–५ स्कंध ५

३—जिन ऋषभदेव का चरित सुन कर कोङ्क वेङ्क कुटक आदि देशों का अर्हत् नाम का राजा ऋषभदेव की शिक्षाएँ ग्रहण करेगा और कलिकाल में जब अधर्म की वृद्धि होगी तब होनहार के अनुसार उस शिक्षा से मोहित हो अपना धर्म पथ छोड़ बैठेगा तथा निडर हो मनमानेरूप से पाखण्ड पूर्ण कुपथ का प्रवर्तन करेगा। उसके साथ कलियुग में अन्य अनेक नीच मनुष्य देवमाया से मोहित हो अपने

उसमें रामावतार ने सीता के लिए विलाप कर[1] रावण से युद्ध कर तथा उसे मारकर राज्य किया, और कृष्णावतार ने पहले ग्वालिया बन कर पर स्त्री गोपिकाओं के लिए नाना विपरीत चेष्टाएँ की,[2] पीछे जरासिंधु आदि को मार कर राज्य किया। ऐसे कार्य करने से क्या सिद्धि हुई? तथा रामकृष्ण आदि का एक स्वरूप कहा जाता है लेकिन बीच में वे इतने दिन कहाँ रहे? अगर ब्रह्ममें रहे तो अलग २ रहे या एक रहे? यदि अलग २ रहे तो मालूम पड़ता है ये ब्रह्म से अलग २ थे। और यदि एक रहे तो राम ही कृष्ण हुए सीता रुक्मिणी हुई यह कैसे कहा जाय। इसी तरह रामावतार में तो सीता को मुख्य बतलाया जाता है। और कृष्णावतार में सीता को रुक्मिणी हुई बतलाते हैं लेकिन उस जगह रुक्मिणी को मुख्य न मानकर राधिका कुमारी को मुख्य कहा है। पूछने पर कहा जाता है कि राधा भक्त थी। किन्तु अपनी स्त्री को छोड़ दासीको मुख्य कहना कहां तक ठीक है? तथा कृष्ण ने राधा के साथ पर स्त्री सेवन के सारे काम कीये। भला यह भक्ति कैसी? ऐसे कार्य तो महानिंद्य है। रुक्मिणी को छोड़ कर राधा को मुख्य किया वह परस्त्री सेवन को अच्छा जानकर किया होगा। तथा एक राधा में ही नहीं किन्तु अनेक गोपिका कुब्जा आदि से भी आसक्त हुआ[3] क्या यह अवतार ऐसे ही कार्य का अधिकारी था? इसके अतिरिक्त लक्ष्मी

वेद विहित एवं शौच आचार को छोड़ देंगें। अधर्म की बढ़वारी से बुद्धिहीन हो मनमानी करते हुए स्नान आचमन नहीं करेंगें, अशुद्ध रहेंगें, केश लुंचन करेंगें। वेद ब्राह्मण यज्ञ पुरुष की निन्दा करेंगें इस तरह वे वेद रहित ऐच्छिक प्रवृत्ति में अंधपरंपरा पूर्वक विश्वास करके स्वयं ही नरक में पड़ेंगें। भागवत स्कंध ५ अ० ६ ९–११

१—रामचन्द्र जी अनेकबार दीर्घ निश्वास लेकर बाष्परुद्ध गद्गद कंठ से हा प्रिये! हा प्रिये कह कर चिल्लाए। जब सीता को नहीं देखा तो शोक से विह्वल हो उन्होंने विलाप किया। वा० रामाय० सर्ग ६२

२—कोई गोपिका भौंहें टेढ़ी कर माथे पर सिकुड़न डालकर श्रीकृष्णकी ओर (प्रणयकोप से) देखने लगी और इसी तरह अपने नेत्ररूपी भौंरों के द्वारा उनके मुखकमल का पान करने लगी। किसी चतुर गोपीने श्रीकृष्ण की स्तुति करने के व्याज से उन्हें बाहुपाश में जकड़कर चूम लिया। श्रीहरि की दोनों बाँहें जो गोपियों के गालों का आलिङ्गन कर रही थीं उससे उनके कपोलों में रोमाञ्च हो आया साथ ही वे पसीने से भरगई उससे ऐसा मालूम पड़ता था मानों वे भुजाएँ उस पुलकावलि (रोमाञ्च) रूप धान्य के लिए मेघ बन गई हों। पति पिता और भाई उन गोपिकाओं को रोकते थे तो भी वे रति की इच्छुक गोपियां रातमें श्रीकृष्ण के साथ रमण करती थीं। इधर अमेयात्मा श्रीकृष्ण भी अपनी किशोर अवस्था का मान करते हुए रातमें उन गोपियों के साथ रमण करते थे। विष्णु पु० अं० ५अ० १३ श्लो० ४५, ५४, ५५, ५९, ६०, ब्रह्मपु० अ० १८९।

इस आनन्द प्रद पुलिन पर भगवान ने गोपियों के साथ क्रीड़ा की हाथ फैलाना, आलिङ्गन करना, गोपियों के हाथ दबाना, उनकी चोटी, जांघ, नीवी (नाड़ा) और स्तन आदि का स्पर्श करना, विनोद करना, नखक्षत करना, विनोद पूर्ण चितवन से देखना, मुसकाना इन क्रियाओं के द्वारा गोपियों के दिव्य काम रसको, परमोज्वल प्रेमभावको उत्तेजित करते हुए भगवान श्रीकृष्ण उनके साथ क्रीड़ा करने लगे। भागवत स्कंध १० अ० ३०, ४२–४८

३—सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण लोकाचार के अनुसार तुरंत कुब्जा की बहुमूल्य सेजपर जा बैठे। तब कुब्जा स्नान अङ्गराग, वस्त्र, आभूषण, हार, गंधपान, सुधासव आदि से अपनेको सज्जित कर

को भी उसकी स्त्री[1] कहते हैं और लक्ष्मी धनादिक को कहते हैं वह भी जैसे पृथ्वी आदि में पाषाण धूल है वैसे रत्न सुवर्णादि है। अलग ही लक्ष्मी कौनसी है जिसका पति नारायण है? और सीता को माया का स्वरूप कहते हैं। तब अगर सीता में आसक्त थे तो माया में आसक्त हुए क्यों न कहलाये। कहाँ तक कहा जाय जो कुछ निरुपण किया गया है विरुद्ध किया गया है। परन्तु जीवों को भोगादिक की वार्ता अच्छी लगती है इससे उनका कहना सुहाता है। इस तरह इन अवतारों को ब्रह्मस्वरूप कहा है। तथा औरों को भी ब्रह्मस्वरूप कहते हैं। एक तो महादेव को ब्रह्मस्वरूप मानते है उसे योगी बतलाते है लेकिन उसने योग किसलिये धारण किया, मृगछाला भस्मी आदि किस लिए लगाई, रुन्डमाला किस लिए धारण करता है जब कि हड्डी को छूना तक भी निंद्य है सर्पादि सहित है इसमें भी क्या बड़ाई है? आक धतूरा खाने में भी क्या बड़प्पन है। त्रिशूलादिक भी न जाने किस भय से रखता है। पार्वती को साथ रखता है। भला योगी होकर स्त्री रखने का क्या काम? कामासक्त था तो घर में ही रहा होता? उसने अनेक प्रकार विपरीत चेष्टाऐं कीं। उनका कुछ मतलब तो है नहीं। पागलों के से कार्य हैं उसको ब्रह्म स्वरूप कहा जाता है।

तथा कभी कृष्ण को महादेव का सेवक कहते हैं[2] कभी महादेव को कृष्ण का सेवक कहते हैं[3] कभी दोनों को एक ही कहते हैं कुछ ठिकाना नहीं है। तथा सूर्यादिक को भी ब्रह्म का स्वरूप कहते हैं[4] इसके अतिरिक्त यह भी बतलाते हैं कि विष्णु ने कहा है 'मै धातुओं में स्वर्ण हूं, वृक्षों में

लीला पूर्वक शर्माती हुई मुसकान तथा हाव भाव कटाक्ष के साथ श्रीकृष्णकी ओर देखती हुई उनके पास आई। कुब्जा नवसंगम के संकोच से कुछ सकुचा रही थी। श्रीकृष्ण ने तब उसे अपने पास बुला लिया और कंकण मंडित कलाई पकड़ कर अपने पास बैठा लिया और उसके साथ रमण करने लगे। भागवत स्कंध १० अ० ४८, १-११

१—भृगु के द्वारा ख्यातिने धाता विधाता नाम के दो देवों को तथा जो देवाधिदेव नारायण की पत्नी है उस लक्ष्मीको जन्म दिया। विष्णुपु अं० १ अ० ८

देव पशु और मनुष्यादिकों में जो पुरूपवाचीरूप हैं वे सब विष्णु के रूप हैं और जो स्त्रीवाची रूप हैं वे लक्ष्मी के रूप हैं। इनसे भिन्न और कोई नहीं है। विष्णुपु० अं०१ अ० ८

२—ब्रह्मा को आगेकर विष्णुने अतीत अनागत और वर्तमान नामों से तथा अनेक छन्दों से शिव स्तुति की। वायुपु० अ० २४ श्लो० ९०

३—हे विष्णो? यह हमारे साथ ब्रह्मा तथा रुद्रों को लेकर शिव एवं आदित्यों के साथ सूर्य इस तरह सब देवता मिलकर आपकी शरण आए हैं। विष्णुपु० अं० १ अ० ९श्लोक ६३

४—हे जगत्पोषक सूर्य? हे एकाकी गमन करने वाले? हे यम (संसार का नियमन करने वाले) हे सूर्य (प्राण और रस का शोषण करने वाले)? हे प्रजापतिपुत्र? तू अपनी किरणों को हटाले तेरा जो कल्याण मय प्रताप है उसे मैं देखता हूँ यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ ईशावास्यो० मं० १६

सूर्य विष्णु भगवान का अतिश्रेष्ठ अंश और विकार रहित अंतर्ज्योतिस्वरूप है। विष्णुपु० अं०२ अ० ८ श्लो० ५६

कल्पवृक्ष हूँ, जूए में झूठ हूँ इत्यादि कुछ पूर्वापर विचार नहीं है। किसी एक अङ्ग से संसारी जीव को महान् मानते हैं। उसी से उसको ब्रह्म स्वरूप कहते हैं जब ऐसा है तो ब्रह्म को सर्वव्यापी विशेषण क्यों देते हैं? तथा यह भी ठीक नहीं है कि ब्रह्म सूर्य है, ब्रह्म सुवर्ण है, क्यों कि सूर्य प्रकाश करता है और सुवर्ण घन है। यह गुण तो दीपक और तांबे लोहादिक में भी मौजूद हैं। उन्हें भी ब्रह्म कहना चाहिए। वे बड़े छोटे रहें परन्तु जाति तो उनकी एक ही हुई। इस तरह झूठी महानता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार युक्ति बनाते हैं।

ज्वालामालिनी आदि देवियों को मायास्वरूप कह हिंसादिक पाप पैदा कराते हैं और उनका पूजन करना बतलाते हैं लेकिन जो माया निंद्य है उसका पूजना कैसे ठीक हो सकता है और हिंसादिक करते हुए भला कैसे हो सकता है? तथा अभक्ष्य भक्षण करने वाले गौ सर्पादिक पशुओं को पूज्य बतलाते हैं। अग्नि,हवा, व जलादिक को देव कह कर पूजना ठीक बताते हैं। अधिक क्या कहा जाय पुरुष लिङ्गी नाम सहित जो हैं उनमें ब्रह्म की कल्पना और स्त्री लिङ्गी नाम सहित जो हैं उनमें माया की कल्पना कर अनेक वस्तुओं का पूजना उपयुक्त बताते हैं। इनके पूजने से होगा क्या यह कुछ पता नहीं। झूठे लौकिक प्रयोजन के कारण ठहरा कर जगत को भ्रम पैदा कराते हैं।

देवता गौ सर्पादि की पूजा का खण्डन

त्रयी शक्ति रूप सूर्यस्वरूप भगवान विष्णु का न कभी उदय होता है न अस्त होता है। विष्णुपु० अं० २ अ० ११ श्लो० १८

१—छल करने वालोंने मैं जूआ हूँ, तेजस्वियों में तेज हूं वृक्षों में अश्वत्थ नाम का वृक्षविशेष हूँ, गन्धर्वों मे चित्ररथ हूँ, सिद्धों में कपिलमुनि हूँ, देवर्षियों मे नारद हूँ, जलों में रस हूँ, सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा हूँ धातुओं में स्वर्ण हूँ पवित्रों में दक्षिणा हूँ इत्यादि देखो गीता० अ० १० श्लो० १९—४२ तथा अ०७ श्लो० ८९ तथा भागवत स्कं० ११ अ० १६

२—क छिवा भव घोरा ग ट वीभत्सा न विद्युता।
ढ विश्वंभरा शंसिन्या ढ ज्वालामालया तथा ॥१४॥
........................पूज्याश्च शक्तयः क्रमात् ॥१७॥ अग्निपु० अ० १४६

३—कपिला (गाय) का पूजन करूंगा। निम्न लिखित मन्त्रों से गाय का पूजन करे "ॐ कपिले नन्दे नमः" कपिले भद्रिके नमः" अग्निपु० अ० ७७ श्लो० १। कृष्ण, बलभद्र, देवकी, वसुदेव, यशोदा, गाय इनका आह्वान पूजन करता हूँ। अग्निपु० १८३ अ० श्लो० ४ आनन्दाश्रम प्रेस पूना सेप्रकाशित। गोवत्स द्वादशीव्रत करने वाला भाद्रमास में गोवत्स का पूजन करे अग्नि पु० अ० १८८ श्लो० ६

४—मणिभद्रक काले तक्षक नाग की पूजा करनी चाहिए अग्निपु० पञ्चमीव्रत अ० १७९

५—हे सूत! द्विजातियों को जो अग्नियां सदा ही पूज्य हैं अनुक्रम से उन्हें और उनके वंश आदि का वर्णन करो मत्स्यपु० अ० ५१ श्लो० १। हे अग्ने! हमें कर्म फल के लिए सन्मार्ग से ले चल। हे देव तू समस्त ज्ञान और कर्मों के जानने वाला है। हमारे पाखण्डपूर्ण पापों को नष्ट कर। हम तुझे अनेक बार नमस्कार करते हैं। ईशावास्यो० मं० १८

उनका यह भी कहना है कि विधाता शरीर बनाता है, यम मारता है, मरते समय यम के दूत लेने आते हैं मरने के बाद मार्ग में बहुत समय लगता है, वहाँ पुण्य पाप का लेखा होता है दंडादिक दिया जाता है, यह सब कल्पित झूठी बातें हैं। जीव तो प्रतिसमय पैदा होते और मरते हैं। एक साथ उनका लेख दंडादिक कैसे संभव हो सकता है, और ऐसा मानने का न कोई कारण दीखता है।

मरनेके बाद श्राद्ध आदिकसे उसका भला होना कहते हैं जीते समय तो कोई किसीके पुण्ड पापसे सुखी दुखी नहीं होता मरे पीछे कैसे हो सकता है। यह सब उपाय मनुष्यों को भुलाकर अपना स्वार्थ साधनेके लिए बनाए गए हैं कीड़ी पतंग सिंहादिक जीव भी पैदा होते मरते है उनको प्रलयका जीव बतलाया जाता है। उनका भी मनुष्यादिकों की तरह ही मरण होता है। झूठी कल्पना करनेसे क्या लाभ ? शास्त्रादि में उनकी कथाओं का निरूपण भी विचार करने पर विरुद्ध ही प्रतीत होता है।

श्राद्धनिषेध

१—पहले यम के दूत आकर अपने पाश में बांधते हैं। फिर दण्डताड़न करते हैं। पुनः बहुत सा कठिन मार्ग तय करनेके बाद उस यम के दर्शन होते हैं। विष्णु पु० अं० ६ अ० ५ श्लो० ४४। गौतम का प्रिय मित्र श्वेत नाम का का ब्राह्मण अतिथियों का सत्कार करता हुआ गौतमी नदी के पास रहता था। जब उसकी आयु पूरीहुई तब यमके दूत उसे लेने आए। ब्रह्म पु० अ० ९४ (श्वेत तीर्थ वर्णन)

इस मनुष्यलोक और यमलोकमें ८६००० योजन का अन्तर है उसके मार्ग में सूनसान आकाश मात्र है। वह देखने में बड़ा भयानक और दुर्गम है। वहाँ न वृक्षों की छाया है न पानी है और क्षणभरको विश्राम के लिए न कोई स्थान ही है। यमराज की आज्ञा से उनके दूत यहाँ आते हैं और पृथ्वी पर रहने वाले सभी जीवों को बल पूर्वक पकड़ लेजाते हैं।
म० भा० वन० अ० २०० श्लो० ४६–४९

२—अन्न, जल, दूध, मूल या फल से प्रेम पूर्वक पितरों के लिए प्रति दिन श्राद्ध करे। उस दिन और नहीं तो कम से कम एक ब्राह्मणको अवश्य भोजन करावे। किन्तु विश्वदेवताओं के लिए कल्पित अन्नका भोजन किसी ब्राह्मण को न करावे। प्रतिदिन बाद में विश्वदेवताओं के लिए पके हुए अन्न का होम करे। होम करने के बाद पूर्वादि दिशाओं में इन्द्रादि देवताओं को बलिदेवे। बाद में पवन, जल, वनस्पति, मूसल, ओखली इनको नमस्कार कर द्वारजलादिक में बलिका क्षेपण करे, वास्तुपुरुषके शिर प्रदेश में लक्ष्मी को तथा अन्य देश में भद्रकाली को बलि देवे, आकाश में विश्वदेवताओं, दिन रात में विचरने वाले भूतों को बलि दे, तथा अवशिष्ट बलि का पितरों को दक्षिण दिशा में क्षेपण करें। इसके अतिरिक्त कुत्तों पतितों, चांडालों, पापरोगियों, कौवों तथा कीड़ों को भी पृथ्वी पर धीरे से बलिक्षेपण करे। इस तरह पितृयज्ञ से निवृत्त होकर पिण्डान्वाहारी (पितृयज्ञ पिण्ड के बाद जो भोजन किया जाता है) श्राद्ध प्रतिमास करे। उस समय देव श्राद्ध हो तो दो ब्राह्मणों को भोजन करावे पितृश्राद्ध हो तो तीन ब्राह्मणों को भोजन करावे। पितरों का उपकार करने वाला यह श्राद्ध सदा अमावस्या को करे तथा श्रोत्रिय (वेदपाठी) ब्राह्मण को यह दैव अन्न या पितृ अन्न प्रदान करे। अविद्वान बहुत से ब्राह्मणों को भी न प्रदान करे, क्योंकि अवेदपाठी ब्राह्मण जितने ग्रास खायेगा श्राद्धकर्ता उतने ही जलते हुए दुधारी तलवार जैसे लोह पिण्डों का

वे यज्ञादि करना भी धर्म बतलाते हैं। उसमें बड़े जीवों का होम करते हैं, अन्नादि का महा आरम्भ करते हैं। उसमें जीव घात होता ही है और शास्त्रों में उनके यहां हिंसा का

भक्षण करेगा। पवित्र स्थान पर ही यह श्राद्ध करे ऐसा करने से पितर संतुष्ट होते हैं। तिल, धान्य जौ, उड़द, जल, मूल, फल, इनमें से किसी एक को भी श्रद्धा पूर्वक देने से पितर एक महीने तक संतुष्ट होते हैं। मछली का मांस देने से दो मास तक पितर संतुष्ट होते हैं,, हिरण का मांस देने पर तीन मास तक, मेढ़े का मांस देने पर चार मास तक, भक्ष्य पक्षियों का मांस देने पर पांच मास तक पितर संतुष्ट होते हैं। बकरे के मांस से छः मासतक, चितकबरे हिरण के मांस से सात महीने तक, काले हिरण के मांस से आठ महीने तक, रुरु नामक हिरण के मांस नौ महीने तक, जंगली सुअर और भैंसे के मांस से दस महीने तक, खरगोश और कछुए के मांस से ग्यारह महीने तक, गाय के दूध से वर्ष भर तक, गैंडे के मांस से बारह वर्ष तक पितर संतुष्ट होते हैं तथा कालशाक (शाक) महाशल्क नाम की मछली गण्डक, लाल बकरा और निवार यह पितरों को अनन्त तृप्ति के लिए होते हैं। इस, तरह जो विधिपूर्वक विशुद्ध श्रद्धासे श्राद्ध करता है वह अनन्त काल तक अपने पितरों को संतुष्ट करता है। मनुस्मृ० अ० ३ श्लो० ८२, ८४, ८७, ९२, १२२, १३३, २०७, २६७, २७२,, २७५ इत्यादि।

१—"काली काली" इस नाम का जाप कर तलवार से पशु को मारे और उससे जो खून और मांस पैदा हो वह पूतना नैऋत आदि को वायवी, पाप राक्षसी चरकी आदि को प्रदान करे उक्त देवताओं को नमस्कार है। अग्निपु० अ० १८५ नवमीव्रत।

इस लिए आप लोग मेध्य पशुओं को मार कर विविध प्रकार के अर्घ से गोवर्धन की पूजा करे। विष्णुपु० अंश ५ अ० १० ॥३८॥

यज्ञ के लिए ब्राह्मणों को प्रशस्त मृग और पक्षियों का वध करना चाहिए अथवा भृत्यों के लिए (भरणीय वृद्धमाता पितादि के लिए) भी उनका वध करना चाहिए जैसे कि पहले अगस्त्य मुनिने किया था। मनु० अ० ५ श्लो० २२

पुराने ऋषियों द्वारा किए हुए यज्ञों में भी यहाँ खाने योग्य यही मृग पक्षी आदि हवन सामग्री थे। मनु० अ० ५ श्लो० २३

यज्ञ के लिए मृत्यु को प्राप्त होने वाले औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च और पक्षी पुनः जात्युत्कर्षता को प्राप्त होते हैं। मनु० अ० ५ श्लो० ४०

मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म और देवकर्म में पशु मारने चाहिए अन्यत्र नहीं इन्हीं कर्मों में पशुओंकी हिंसा करने वाले विद्वान लोग स्वयं को तथा पशु को उत्तम गति में पहुँचाते हैं। मनुस्मृ० अ० ५

उस यज्ञ स्तंभ से तीन सौ पशु बँधे हुए थे तथा एक राजा दशरथ का अश्वरत्न (घोड़ा) था। कौशल्याने उस घोड़े को सबतरफ से संस्कृत किया और बड़ी प्रसन्नता से तीन तलवारें मार कर उस (घोड़े) का वध कर डाला। बाद में स्थिर चित्त होकर कौशल्या धर्म कामनासे एक रात अन्य घोड़े के साथ रही····याज्ञिक ब्राह्मणों ने उस घोड़े के जितने अङ्ग थे उन सब को विधि पूर्वक अग्नि में क्षेपण किया। देखो दशरथ द्वारा अश्वमेध यज्ञ रामाय० (वाल्मी०) बालका० स० १४ श्लो० ३२, ३८

यज्ञ में पशुवध से धर्म का निषेध।

निषेध है[1] परन्तु ऐसे निर्दयी हैं कि कुछ गिनते ही नहीं और कहते हैं कि 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः'* अर्थात् यज्ञ के लिए पशुओं की रचना की गई है। उसमें मारने का दोष नहीं। वर्षा का होना और शत्रु आदिक का विनाश होना इत्यादि फल दिखा कर अपने लाभ के लिए राजा आदि को भी भ्रम में डालते हैं। जैसे विष से जीना प्रत्यक्ष विरुद्ध है वैसे ही हिंसा से धर्म और कार्य सिद्ध होना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। परन्तु जिन की हिंसा करना बतलाया उनके तो कुछ शक्ति नहीं है और हिंसा करने वालों को किसी का दर्द नहीं है। अगर किसी शक्तिवान् का या इष्ट वस्तु का होम करना बताया होता तो ठीक होता। लेकिन पाप का भय है नहीं इसलिए दुर्बल के घातक बनकर अपने लोभके लिए अपना व अन्य का बुरा करने में तत्पर हुए हैं।

कल्पित मोक्ष मार्ग का खण्डन—

भक्तियोग मीमांसा

तथा मोक्षमार्गका प्ररूपण भक्तियोग और ज्ञानयोग दो प्रकार से करते हैं[2]। उनमें भक्तियोग से मोक्षमार्ग का निरूपण कैसे करते हैं यह बतलाते हैं।

भक्ति निर्गुण और सगुण के भेद से दो प्रकार की है[3]। अद्वैत परब्रह्म की भक्ति करना

१—धर्म के मर्म को समझने वाला पुरुष श्राद्ध में (खाने के लिए) मांस न दे क्यों कि पितृजनों की तृप्ति जैसी मुनिजनोचित आहार से होती है वैसी पशु हिंसा से नहीं होती। सद्धर्म के इच्छुक पुरुषों के लिए सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति मन, वचन, काय से दण्डका त्याग कर देने के बराबर और कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है। पुरुष को द्रव्य यज्ञ से यजन करते देखकर जीव डरते है कि यह अपने ही प्राणों का पोषण करने वाला निर्दय अज्ञानी मुझे अवश्य मार डालेगा। भागव० स्कध ७ अ० १५ श्लको ७-८-१०

जिसके एक कांटा लगजाता है उसको भी बहुत पीड़ा होती है भला जिसको चक्र भाला तलवार लाठी आदि से मारा जायगा उसका तो कहना ही क्या है? महाभा०

* यज्ञार्थं पशवो सृष्टाः स्वयमेव स्वायंभुवा। यज्ञस्यभूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः। मनुस्मृ० अ० ५ श्लो० ३१

२—प्रिय उद्धव। मैंने ही वेदों में एव अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए अधिकार भेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश दिया है वे तीन योग, हैं ज्ञान योग कर्म योग और भक्ति। जो लोग कर्मों तथा उस के फलों से विरक्त हो गए है और उन का त्याग कर चुके हैं वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं।

और जो पुरुष न तो अत्यंत विरक्त हैं न अत्यंत आसक्त ही हैं तथा किसी पूर्व जन्म के शुभ कर्म से सौभाग्यवश मेरी लीला कथा आदि में उसकी श्रद्धा हो गई है वह भक्ति योग का अधिकारी है। भागवत स्कध० ११ अ० २०

निवृत्ति परक भक्ति मार्ग या ज्ञान मार्ग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती हैं। भागव० स्क० ७ अ० १५

३—यद्यपि आप के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंकी महिमा जानना अत्यंत कठिन है फिर भी जिनका अन्तः करण शुद्ध हो गया है वे स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूप से आपके निर्गुण स्वरूपकी महिमा जान सकते हैं। भागव० स्कं० १० अ० १४ ५-८

····इन सभी साधनों से सगुण निर्गुण रूप स्वयंप्रकाश भगवान को ही प्राप्त किया जाता है। भागवत० स्कं० ३ अ० ३२, ३१-३६

निर्गुण भक्ति है ! अर्थात् तुम निराकार हो, निरंजन हो मनवचन के अगोचर हो, अपार हो सर्व-व्यापी हो, एक हो, सब के प्रतिपालक हो, अघमउद्धारक हो, सबके कर्ता हर्ता हो, इस तरह के विशेषणों से गुणगान करना निर्गुण भक्ति है[१] । इन विशेषणों में निराकारादि रूप विशेषण तो अभावरूप हैं । उनको सर्वथा मानने से अभाव ही प्रतीत होगा, क्योंकि विना आकारादि के वस्तु कैसे मालूम हो सकती है ? तथा सर्वव्यापी आदि कितने ही विशेषण असंभव हैं । उनकी असंभवता पहले ही दिखाई जा चुकी है । यह इस प्रकार स्तुति करते हैं ' जीवबुद्धि से मैं ही तुम्हारा दास हूँ, शास्त्र दृष्टि से तुम्हारा अंश हूँ' तत्वबुद्धि से ' तूही मैं हूँ' लेकिन यह तीनों ही बातें भ्रमरूप है । यह भक्ति करने वाला जड़ है या चेतन ? यदि चेतन है तो यह चेतना ब्रह्म की है या इसकी ? यदि ब्रह्म की है तो मैं दास हूँ ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि चेतन ब्रह्म का स्वरूप है और स्वभाव और स्वभाववान का तादात्म्य संबंध है । वहां दास और स्वामी का संबंध कैसे बन सकता है ? दास और स्वामीका संबंध तो भिन्न पदार्थों में बन सकता है । अगर यह चेतना इसी की है तो यह अपनी चेतना का स्वामीं अलग पदार्थ रहा । फिर मैं अंश हूँ, या जो तू है वह मैं हूँ ऐसा कहना झूठ हुआ । यदि भक्ति करने वाला जड़ है तो जड़ के बुद्धि होना असंभव है । इस लिए 'मैं दास हूँ' ऐसा कहना तब ही ठीक हो सकता है जब दोनों अलग २ पदार्थ हों और 'तेरा मैं अंश हूँ ऐसा कहना भी नहीं बनता क्योंकि 'तू' और 'मैं' ऐसा व्यवहार तो भिन्न पदार्थों में ही होता है । लेकिन अंश अंशी भिन्न कैसे हो सकते हैं ? अंशी कोई जुदी चीज़ नहीं है । अंशों के समुदाय का नाम ही अंशी है । और 'तू है सो मैं हूँ' ऐसा कहना ही विरुद्ध है एक पदार्थ में अपनापन भी मानना और परायापन भी मानना कैसे ठीक हो सकता है ? इसलिए भ्रम छोड़कर निर्णय करना चाहिए । कोइ उसका नाम ही जपते हैं । लेकिन उसका स्वरूप पहचाने बिना उसका नाम जपना कोई कार्यकारी नहीं है । अगर यह कहा जाय कि नाम ही में अतिशय है तो जो नाम ईश्वर का है वही नाम पापी का रख कर दोनों का नाम उच्चारण करने से फल समान होना चाहिए सो कैसे हो सकता है ? इस लिए पहले स्वरूप का निर्णय कर बाद में यदि वह भक्ति करने योग्य हो तो उसकी भक्ति करनी चाहिए । इस तरह निर्गुण भक्ति का स्वरूप बतलाया ।

तथा जहां कामक्रोधादिक के द्वारा किये गये कार्यों का वर्णन कर स्तुति की जाती है उसे सगुण भक्ति कहते हैं । उस सगुण भक्ति में जैसे नायक-नायका का लौकिक श्रृंगार वर्णन किया जाता है वैसे ही ठाकुर-ठकुरानी का वर्णन करते हैं । स्वकीया परकीया स्त्री संबंधी संयोग

१—इनके अति रिक्त जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूपसे समुद्र की ओर बहता रहता है उसी प्रकार मेरे गुण के श्रवण मात्र से मन की गति का तैलधारावद् अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्य प्रेम होना यह निर्गुण भक्ति योग का लक्षण कहा गया है । भागव० स्कं० ३ अ० २९ ७-१४

वियोग रूप सभी व्यवहारों का वहां निरूपण करते हैं। स्नान करती हुई स्त्रियों के वस्त्र चुराना दही लूटना, स्त्रियों के पैरों पड़ना, स्त्रियों के आगे नाचना, इत्यादि जिन कार्यों को करते हुए संसारी जीव लज्जित होते हैं, उन्हीं को उचित ठहराते हैं। किन्तु ऐसे कार्य अत्यन्त कामुकता से ही होते हैं। युद्धादि किये हैं पर ऐसा करना क्रोध से होता है। अपनी महिमा दिखाने के लिए अनेक उपाय किए वतलाते हैं ऐसे कार्य भी मान से होते हैं। अनेक छल करना भी कहते हैं पर ये कार्य माया से होते हैं। विषय-सामग्री की प्राप्ति के लिए बहुत यत्न किया वताते हैं लेकिन यह लोभ से होता है। कुतूहलादिक का करना हास्य के कार्य हैं, इत्यादि ये सव कार्य क्रोधादि सहित होने पर ही होते हैं। इस तरह कामक्रोधादि से उत्पन्न कार्यों को प्रकट कर कहते हैं कि हम स्तुति करते हैं। भला जव ऐसे कार्य भी स्तुतियोग्य हुए तव निंदा करने योग्य कौन से कहलायेंगे ? जिसकी लोक में और शास्त्र में अत्यंत निंदा पायी जाती है उन कार्यों का वर्णन कर स्तुति करना तो हस्तचुगल का सा काम है। हम पूछते हैं कि किसी का नाम तो लिया न जाय और ऐसे कर्मों का निरूपण करके कहा जाय किसी ने ऐसे कार्य किये हैं तो उसको बुरा समझा जायगा या भला समझा जायगा ? अगर भला समझा जायगा तो पापी भी भले हुए। अगर बुरा समझा जायगा तो जो ऐसा कार्य करता है वह बुरा ही है। पक्षपातरहित होकर सोचना चाहिए। यदि पक्षपात से ही कहोगे कि ठाकुर का ऐसा वर्णन करना स्तुति है तो ठाकुर ने ऐसे कार्य किस लिए किए ? ऐसे निंद्य कार्यों से उसकी क्या सिद्धि हुई ? यदि प्रवृत्ति चलाने के लिए किए तो परस्त्रीसेवन आदि निंद्य कार्यों की प्रवृत्ति चलाने में अपना व दूसरे का क्या लाभ हुआ। इस लिए ठाकुर का ऐसा कार्य करना संभव नहीं है। 'यदि ठाकुर ने ऐसे कार्य नहीं किए और यों ही कहा जाता है तो जिसमें दोप न था उसको दोप लगाया। ऐसा वर्णन करना स्तुति नहीं, निंदा है। तथा स्तुति करते हुए जिन गुणों का वर्णन किया जाता है उसी रूप परिणाम होते हैं और उन्हीं में अनुराग होता है। काम क्रोधादि का वर्णन करते हुए स्वयं भी काम क्रोधादिरूप हो जाय अथवा कामक्रोधादि में अनुरागी हो जाय तो ऐसे भाव अच्छे नहीं हैं। अगर यह कहा जाय कि भक्त ऐसा भाव नहीं करता .तो हुए विना वर्णन कैसे किया, विना अनुराग के भक्ति कैसे की, अगर यही सव अच्छे हो तो ब्रह्मचर्य क्षमा आदि को अच्छा कैसे कहा जाय इनका तो आपस में विरोध है।

तथा सगुण भक्ति के लिए राम कृष्णादि की मूर्ति भी शृङ्गारादि की हुई विकारादि सहित स्त्री आदिको साथ लिए हुए वनाते हैं[1]। देखते ही कामक्रोधादि भाव प्रकट हो जाते हैं। तथा महादेव के लिंग का ही आकार वनाते हैं[2]। यह भी कैसी विडंवना हैं। जिसका नाम लेते ही लज्जा आती है, जगत जिसे ढ़ककर

१—देखो भागव० दशम स्कंध अ० ८ '९' २२।

२—अत्र उत्तम लिङ्ग का लक्षण कहूँगा। विचक्षण पुरुप चिकना, अच्छे वर्ण वाला लिङ्ग वनावे

रखता है ये लोग उसी के आकारका पूजन कराते हैं। क्या अन्य अङ्ग उसके न थे? किन्तु अधिक विडंबना ऐसा ही करने पर प्रकट होती है। सगुण भक्ति के लिए अनेक प्रकार की विषयसामग्री भी इकट्ठी करते हैं। नाम तो ठाकुर का होता है और भोग वे स्वयं ही लगाते हैं। भोजनादि बनाते हैं। ठाकुर को जो भोग लगाते हैं उसे प्रसाद की कल्पना कर स्वयं ही भक्षण कर जाते हैं। इसका मतलब तो यह है कि ठाकुर को भूख प्यास की पीड़ा होती होगी। अगर न होती तो ऐसी कल्पना कैसे संभव हो सकती थी। और जो भूख-प्यास से पीड़ित है वह व्याकुल है तब ईश्वर स्वयं दुखी हुआ तब दूसरे का दुख कैसे दूर करेगा। तथा भोजनादिक सामग्री ठाकुर को अर्पण करने के बाद उसे वापिस देने का अधिकार ठाकुर को ही है। जैसे राजा को दी गई भेंट यदि राजा ही वापिस दे दे तो ग्रहण करना योग्य है और राजा ने तो वह दी न हो स्वयं ही 'मुझे राजा ने दी' इस तरह कह कर अङ्गीकार करना तो खेल हुआ। उसी प्रकार यहाँ भी ऐसा करने से भक्ति नहीं हुई केवल हँसी करना हुआ। दूसरे प्रश्न यह है कि ठाकुर वापिस दे दें तभी ग्रहण करना चाहिए स्वयं ही ग्रहण क्यों करता है यदि कहा जाय कि ठाकुर की तो मूर्ति है इस लिए मैं ही कल्पना करता हूँ तो ठाकुर के करने का काम तैंने ही किया तब तूहीं ठाकुर हुआ। यदि दोनों एक हैं तो भेंट देना और प्रसाद पाना झूँठा हुआ। क्योंकि एक पदार्थ में यह व्यवहार ही नहीं होता। इस लिए भोजनासक्त पुरुषों द्वारा यह कल्पना की गई है। तथा ठाकुर के लिए नृत्य गीतादि कराना शीत ग्रीष्म वसंत आदि ऋतुओं में संसारियों के लिए उपयुक्त विषय-सामग्री इकट्ठी करना आदि कार्य करते हैं। वहाँ नाम तो ठाकुर का है किन्तु इन्द्रिय विषय अपने पोसे जाते हैं, यह उपाय विषयासक्त जीवों द्वारा किए गए हैं। जन्म विवाह सोने जागने की भी कल्पना की गई है। जैसे लड़कियाँ गुड्डे गुड़ियों का खेल बनाकर कुतूहल करती हैं वैसेही ये भी कुतूहल करते हैं। कुछ परमार्थरूप गुण नहीं है। बालक भी ठाकुर का स्वांग बना कर चेष्टाएं दिखाते हैं उससे अपने अपने विषयों का पोषण करते हैं और कहते हैं कि यह भी भक्ति है। इत्यादि अधिक क्या अनेक विपरीतताएँ सगुण भक्ति में पाई जाती हैं। इस तरह दोनो प्रकार की भक्ति से मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाना मिथ्या है। अब अन्यमत में ज्ञानयोग से जो मोक्ष मार्ग का स्वरूप बताया हैं वह बतलाते हैं[१]।

एक अद्वैत सर्वव्यापी परब्रह्म को जानने का नाम ज्ञान है उसका मिथ्यापन पहले ही कहा जा चुका है। अपने को सर्वथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मानना और काम क्रोधशरीरादिक को भ्रम

मन्दिर के माप के अनुसार लिङ्ग का माप होता है अथवा लिङ्ग के माप के अनुसार मन्दिर का माप होता है। मत्स्य पु० अ० २६३ श्लो० १२।

१—जो लोग कर्म तथा उनके फलों से विरक्त हो गए हैं और उनका त्याग कर चुके हैं वे ज्ञान योगके अधिकारी हैं। भाग० स्कं० ११ अ० २०।

ज्ञानयोग-मीमांसा

जानना इसको ज्ञान कहते हैं[1] किन्तु यह भ्रम है। अगर स्वयं शुद्ध है तो मोक्ष का उपाय क्यों करता है ? जब शुद्ध ब्रह्म ही है तब कर्तव्य क्या रहा। प्रत्यक्ष अपने काम क्रोधादिक होते देखे जाते हैं शरीरादिक का संयोग भी मौजूद है इनका अभाव जब होगा तब होगा, वर्तमान में इनका सद्भाव मानना भ्रम कैसे हुआ ? इनकी यह भी मान्यता है कि मोक्ष का उपाय करना भ्रम है। जो रस्सी भ्रम से सर्प मालूम पड़ती है लेकिन भ्रम दूर हो जाने पर रस्सी रस्सी ही है। वैसे ही भ्रम से स्वयं ब्रह्म को अशुद्ध मानता था जब भ्रम दूर होगया तब आप ब्रह्म ही है[2] यह कहना भी उनका मिथ्या है। आप शुद्ध हो फिर उन को अशुद्ध जाने तो भ्रम है और जब स्वयं कामक्रोधादिसहित अशुद्ध हो रहा है उसको अशुद्ध जानने में भ्रम कैसा ? झूठे भ्रम से अपने को शुद्ध मानने में क्या लाभ है। अगर यह कहा जाय कि यह कामक्रोधादिक मन के धर्म हैं ब्रह्म इन से अलग है तो प्रश्न यह है कि मन जीव का स्वरूप है या नहीं ? यदि है तो काम-क्रोधादिक जीव के हैं। अगर नहीं है तो जीव ज्ञानस्वरूप है या जड़ है। अगर ज्ञानस्वरूप है तो जीव का ज्ञान मन और इन्द्रियों द्वारा ही होता दीखता है। इनके विना कोइ ज्ञान बतावे तो उसे जीव का अलग स्वरूप माना जाय ऐसा कुछ मालूम नहीं पड़ता। 'मन ज्ञाने, धातु से मन शब्द पैदा होता है वह मन तो ज्ञानस्वरूप है, यह मन किसका है यह बताना चाहिए। यदि जीव जड़ है तो ज्ञान बिना अपने स्वरूप का विचार कैसे करता है; यह हो नहीं सकता। यदि ब्रह्म अलग है तो वह अलग ब्रह्म जीव ही है या और है। अगर जीव है तो जीव में "मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा मानने वाला ज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही है अलग नहीं है। क्योंकि अपना मन अपने में ही होता है। जिसको अलग समझा जाता है उसमें अपना मन नहीं माना जाता। इसलिए अगर मन से ब्रह्म अलग है तो मनरूप ज्ञान ब्रह्ममें अपनापन क्यों मानता है। अतः भ्रम छोड़ कर ऐसा मानना चाहिए जैसे स्पर्शनादि इन्द्रिय तो शरीरका स्वरूप है वह जड़ है। इसके ज़रिये से जो जानना होता है वह आत्माका स्वरूप है। वैसे ही मन भी सूक्ष्म परमाणुओंका पुंज है और शरीर ही का अंग है उसके जरिये जो जानना होता है कामक्रोधादिक भाव होते हैं वह सब आत्माका स्वरूप है। विशेषता यह है कि ज्ञान होना निज का स्वभाव है और कामक्रोधा-

१—अब संसार और अज्ञान से मुक्ति के लिए ब्रह्मज्ञान कहूँगा। यह परब्रह्म आत्मा मैं हूँ देहादि आत्मा नहीं है क्योंकि •घट की तरह यह दृश्यमान पदार्थ है। सोने और मरने के समय वस्तुतः आत्मा देह से भिन्न ही मालूम पड़ती है। अग्नि पु० अ० ३७८ श्लो० १२।

२—जिस प्रकार निश्चय न की हुई रस्सी अन्धकार में सर्पधारा आदि अनेक भावों से कल्पना की जाती है। उसी प्रकार आत्मा में भी तरह २ की कल्पनाएँ हो रही हैं। जिस प्रकार रस्सी का निश्चय हो जाने पर उसमें सर्पादिक का विकल्प हट जाता है तथा यह रस्सी ही है ऐसा अद्वैत निश्चय होता है उसी प्रकार आत्मा का निश्चय है। माण्डूक्य उ० गौड पदीय कारिका १७, १८। जैसे भ्रान्त दृष्टि से रस्सी सर्प रूप प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा मूढ़ बुद्धि से जगत्रूप प्रकाशित होता है। वेदान्त सि० मु० श्लो० २१

दिक औपाधिक भाव हैं। उससे आत्मा अशुद्ध है। तथा जब समय पाकर क्रोधादि मिट जायेंगे ज्ञान से मन और इन्द्रिय की पराधीनता हट जायगी तब केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा शुद्ध होगा। इसी प्रकार बुद्धि अहंकारादि भी जानना चाहिए। क्योंकि मन और बुद्ध्यादिक एकार्थवाचक है। और अहंकारादिक कामक्रोधादिक के समान औपाधिक भाव है। इनको अपने से भिन्न समझना भूल है। इनको अपने समझ औपाधिक भावों के अभाव करने का प्रयत्न करना योग्य है। किन्तु जो इनका अभाव नहीं कर सकते और महंतपना चाहते हैं वे जीव अपने अपने इन भावों को स्थिर न कर स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं, काम क्रोधादिक भावों को बढ़ाकर विषय-सामग्री में अथवा हिंसादि कार्यों में तत्पर होते है। अहंकारादिक के त्याग को भी अन्यथा मानते हैं। सबको परब्रह्म मानना कहीं अहंबुद्धि न मानना इसे अहंकार का त्याग कहते है सो मिथ्या है। क्योंकि स्वयंका कुछ अस्तित्व है या नहीं? यदि है तो स्वयंको स्वयं क्यों न मानना चाहिए यदि नहीं है तो सबको ब्रह्म मानने वाला कौन है? इसलिए शरीरादि पर वस्तु में अहंबुद्धि नहीं करना चाहिए। आपको उसको कर्ता न मानना ही अहंकार का त्याग है। अतः अपने में अहंबुद्धि करना दोष नहीं है। तथा सबको समान समझ कर किसी में भेद-भाव न करनेको राग द्वेषका त्याग कहते हैं यह भी मिथ्या है। क्योंकि सब पदार्थ समान नहीं है कोई चेतन है, कोई अचेतन है। कोई कैसा ही है कोई कैसा ही है। उनको समान कैसे माना जा सकता है! इसलिए परद्रव्यों में इष्ट अनिष्ट कल्पना न करने का नाम रागद्वेष का त्याग है। पदार्थों की विशेषता जानने में तो कुछ दोष नहीं है। इसी तरह अन्य मोक्षमार्गरूप भावोंकी अन्यथा कल्पना करते हैं; तथा ऐसी कल्पना से कुशीलका सेवन करते हैं, अभक्ष्य का भक्षण करते हैं वर्णादिक का भेद नहीं करते, हीन क्रियाका आचरण करते हैं इत्यादिक अनेक विपरीत प्रवृत्ति करते हैं। जब कोई पूछता है तो कहते हैं यह तो शरीर का धर्म है। अथवा जैसा भवितव्य है वैसा ही होता है। अथवा जैसी इश्वर की इच्छा है वैसा ही होता है, हमें विकल्प नहीं करना चाहिए। भला सोचने की बात है कि आप जान २ कर प्रवृत्ति करते हैं उसे तो शरीर का धर्म बताते हैं और उद्यमी होकर कार्य करने को भाग्य कहते है। अपनी इच्छा से सेवन करते हैं किन्तु उसे ईश्वर की इच्छा बताते हैं। विकल्प करते है और कहते हैं हमें विकल्प नहीं करना चाहिए। धर्म का आश्रय लेकर विषय कषाय सेवन की इच्छा से ऐसी झूठी कुयुक्ति बनाते हैं। अगर इसके परिणाम वैसे न हों तब तो यह समझा जाय की इसका कार्य नहीं है। जैसे ध्यान करते हुए के ऊपर कोई वस्त्र डालदे और वह उसमें सुख न माने तो वह उसका कार्य नहीं माना जा सकता। किन्तु यदि स्वयं ही वस्त्र अंगीकार कर पहने तथा शीतादिक की वेदना मिटा कर सुखी हो तो यह उसीका कार्य माना जायगा। तथा कुशील सेवन करना और अभक्ष्य भक्षण करना यह बिना निज के परिणाम हुए होता नहीं। उसे फिर निजका कर्तव्य क्यों न मानना चाहिए? अगर कामक्रोधादिक का अभाव ही हो जाय तो किसी कार्य में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। और अगर कामक्रोधादिक पाए जावें तो जैसे यह भाव कम हों वैसे प्रवृत्ति करना चाहिए। स्वच्छंद होकर इनको बढ़ाना ठीक नहीं है।

कोई जीव पवनादिक के साधनसे अपनेको ज्ञानी मानते हैं। इडा, पिंगला, सुषुम्ना रूप नासिका द्वार से पवन (हवा) निकलती है[1] वहां वर्णादिक के भेद से पवन ही को पृथ्वी तत्वादिकरूप कल्पना करते हैं[2]। उसके विज्ञान से कुछ साधन कर निमित्तका ज्ञान हो जाता है। उससे संसार को इष्ट अनिष्ट बताकर आप महंत कहलाता है। लेकिन यह तो लौकिक कार्य है कुछ मोक्षमार्ग नहीं है। जीवों को इष्ट अनिष्ट बताकर उनके रागद्वेष बढ़ाना और अपनेमें मान लोभादिक पैदा करना इसमें क्या सिद्धि है? प्राणायाम आदिकका साधन कर, पवन को चढ़ा समाधि लगाना[3] ऐसा है जैसे नट साधनसे हस्तादिक क्रिया करते हैं। हस्तादिक और पवन यह शरीर ही के अङ्ग हैं, इनके साधने से आत्महित कैसे सध सकता है? और यह कहना कि उससे मन का विकल्प मिटता है,[4] सुख पैदा होता है, यम की अधीनता नहीं होती, यह मिथ्या

पवनादिक के साधन से ज्ञानी होने का खण्डन

१—फिर बुद्धिमान पुरुष पिंगला को अर्थात् नाक के दाहिने रन्ध्र को बन्द करे तथा इडा अर्थात् बायें रन्ध्र से वायु को भीतर खींचे और शक्ति अनुसार उसे बन्द किए रक्खे। बाद में पिंगला के द्वारा बिना शीघ्रता किये धीरे २ वायु बाहर निकाले इसके बाद पुनः पिङ्गला से सांस ऊपर खींचे तथा उसको शक्त्यनुसार रोक रक्खे। फिर इड़ा के द्वारा धीरे २ वायु को बाहर निकाले। शिवसंहिता-पटल ३२ श्लो० २२,२३

२—आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः। मारुतो नीलजीमूता आकाशो भूरिवर्णकः॥

अर्थात् हाथ के अंगूठे और अंगुलियों से कान, आँख और नाक को दबाने पर यदि पीले रंग का आभास हो तो पृथ्वी तत्त्व, श्वेत रङ्ग का आभास हो तो जलतत्त्व, लाल रंग का आभास हो तो अग्नि तत्त्व, नीले या काले रंग का आभास हो तो वायुतत्त्व और अनेक वर्णों का आभास हो तो आकाशतत्त्व समझना चाहिए।

मध्ये पृथ्वी अधश्चापश्चोर्ध्वे वहति चानलः। तिर्यग्वायुप्रचारश्च नभो वहति संक्रमे।

अर्थात् नथुनों के बीच में श्वास चल रहा हो तो पृथ्वी तत्त्व का यदि नीचे से चल रहा हो तो जल तत्त्व का यदि ऊपर से चल रहा हो तो अग्नि तत्त्व का, यदि तिरछा चल रहा हो तो वायु तत्त्व का, यदि संक्रमण (घूम रहा हो) कर रहा हो तो आकाश तत्व का उदय समझना चाहिए। शिव संहिता।

३—किसी पवित्र स्थान पर कुश मृगचर्मआदि आसन के उपर पद्मासन लगाकर बैठे, वहाँ चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर मन एकाग्र करे। जब आसन पर बैठे जाय तब योग प्रारंभ करे शरीर, शिर और गर्दन को सीधा तथा अचल रक्खे। इधर उधर न देख कर नासाग्र दृष्टि रक्खे दोनों एड़ियों से अण्डकोष तथा उपस्थ इन्द्रिय को दबाले। जाँघों के ऊपर दोनों भुजाओं को फैलाकर इस तरह रक्खे कि दक्षिण हाथ बाँए हाथ के ऊपर रहे तथा मुख को थोड़ा ऊपर उठा ले। इसके बाद अपनी देहस्थ वायु अर्थात् प्राण का रोधन करे यह प्राणायाम है। इस प्राणायाम के लिए नासिका के एक छिद्र को अंगुली से दबाले तथा दूसरे छिद्र से उदरस्थ वायु का रेचन करे, इसे रेचक नाम से कहते हैं। तथा बाहर की वायु को भर कर शरीर को मशक की तरह फुलाले, इसक्रिया को पूरक कहते हैं। बाद में न भीतर की वायु को बाहर निकाले, न बाहर की वायु भीतर खींचे कुम्भ की तरह ज्यों का त्यों रहे इसे कुंभक कहते हैं। अग्नि पुराण अ० ३७३ श्लो० १-२१

४—ज्ञान वैराग्यरूप किरणों के द्वारा प्राणायाम से दबाया गया मन शीघ्रही निश्चल हो जाता है। अग्निपु० अ० ३७३ श्लो० १८ तथा भाग० पु० स्कं० ३ अ० २८, ८-१२

है। जैसे निद्रा में चेतना की प्रवृत्ति मिटती है वैसे ही यहां पवन के साधने से चेतना की प्रवृत्ति मिटती है। उसमें भी केवल मन को रोकता है वासना तो कुछ मिटी नहीं। इसलिए वह मन का विकल्प मिटना नहीं है। और चेतना विना सुख कैसे हो इसलिए वह सुख होना नहीं है। इस प्रकार की साधना करने वाले जो इस क्षेत्र में हुए हैं उनमें कोई अमर नहीं दीखता। अग्नि लगाने से उसका मरण होता भी देखा जाता है इसलिए वह यम के वशीभूत भी नहीं है यह झूठी कल्पना है। तथा जहाँ साधन में कुछ चेतना रहे और उस साधन से जो शब्द सुना जाय उसे अनहद[1] शब्द से ये कहते हैं। लेकिन इससे सुख होना मानना वीणादिक के शब्द से सुख मानने की तरह है, यह तो विषय पोषक रहा परमार्थ तो कुछ हुआ ही नहीं। तथा पवन के निकलने और भीतर घुसने में 'सोहं' ऐसे शब्द की कल्पना कर उसे 'अजपा जाप'[2] कहते हैं वह भी ऐसी ही कल्पना है जैसे तीतर के शब्द में 'तू ही' शब्द की कल्पना की जाती है क्योंकि तीतर कुछ अर्थ समझ कर वैसा शब्द नहीं करता। तथा शब्दके जपने सुनने से ही कुछ फल की प्राप्ति नहीं है। अर्थ के अवधारण करने से ही फल की प्राप्ति होती है। 'सोहं' शब्द का तो यह अर्थ है कि वह मैं हूँ। यहाँ एक अपेक्षा होती है कि वह कौन' तव उसका निर्णय होना चाहिए क्योंकि तत् शब्द और यत् शब्द का नित्य संवंध है। इसलिए उस वस्तु का निर्णय कर उसमें अहंवुद्धि धारण करने से 'सोऽहं' शब्द वनता है। वहाँ जव अपने आप अपना अनुभवन करता है तव 'सोऽहं' शब्द संभव नहीं होता। पर को अपने स्वरूप वताने में 'सोऽहं' शब्द संभव होता है। जैसे पुरुष अपने आपको जानते समय 'वह मैं हूँ' ऐसा क्यों विचरेगा? जव कोई दूसरा उसे न जानता हो या वह स्वयं अपना लक्षण नहीं पहचानता तो तव वह ऐसा कहता है 'जो ऐसा है वह मैं हूँ' उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

कोई ललाट भौं और नासिका के अग्रभाग देखने के अभ्यास से त्रिकुटी आदि का ध्यान होना वतलाकर परमार्थ मानता है लेकिन वह तो नेत्र की पुतरी फिरने से मूर्तिक वस्तु को देखता है इससे क्या सिद्धि है?

यदि ऐसे साधन से कुछ अतीत अनागत का ज्ञान भी हो जाय, वचनसिद्धि हो जाय अथवा पृथ्वी आकाशादि में गमनादिकी शक्ति हो जाय या शरीरादिक में अरोग्यता

१—हृदयमें अनाहत नामका चौथा कमल चक्र होता है इसके १२ दल होते हैं उसमें "क" से लेकर "ठ" तक १२ सकेताक्षर होते हैं इसका लाल रंग होता है। शिव संहिता पटल ५ श्लो० ८३

अनहद नाद गिणत नहि आवे, भांति भांति की राग उपावे। लवै सुखुम्नानीर फुंहारा, शून्य शिखर का यह विवहारा। "शब्द प्रकाश" श्रीराम चरण जी महाराज कृत

२—सोवत जागत डोरी लागी, अनवस्ती की संका भागी
रसना जपा अजप्पा पाया, वाहर साधन सकल विलाया "शब्द प्रकाश" श्रीराम चरणजी महाराज कृत
न जप्यते नोच्चर्यतेऽसौ अपितु श्वास प्रश्वासयोर्गमनागमनाभ्यां संपाद्यते (अ) हंस मन्त्रः।

हो जाय तो भी यह सब लौकिक कार्य हैं। देवादिक के स्वयमेव ही ऐसी शक्ति पाई जाती हैं। इनसे कुछ अपना भला तो होता नहीं। भला तो विषय कषाय की भावना मिटने से होता है। किन्तु यह सब तो विषय कषाय के पोषण के उपाय हैं इस लिए ये सब साधन कुछ भी हितकारी नहीं हैं। इनसे कष्ट बहुत है और वे रहते मरणपर्यन्त हैं अतः इनसे हित नहीं सधता। इसलिए ज्ञानी इस प्रकार का खेद नहीं करता। कषायी जीव ही ऐसे साधनों में लगता है।

इसी प्रकार किसी को तो बहुत तपश्चरणादिक से भी मोक्ष का साधन होना कठिन बताया जाता है किसी को सरलता से ही मोक्ष हुआ कहा जाता है। उद्धव आदिक को परम भक्त कहते हैं साथ ही उसे तप का उपदेश किया गया बतलाते हैं[1]। और वेश्यादिक का परिणामों के बिना ही केवल नामादिक से तिरना बतलाते हैं। कुछ भी आधार नहीं है। इस तरह मोक्ष मार्ग का अन्यथा प्ररूपण कहते हैं।

मोक्ष के विभिन्न स्वरूपों का खण्डन

मोक्ष की तरह मोक्ष स्वरूप का भी अन्यथा प्ररूपण करते हैं। उनके यहाँ मोक्ष अनेक प्रकार है। एक तो मोक्ष इस तरह बतलाते हैं कि जो वैकुण्ठधाम में ठाकुरजी ठकुरानीसहित भोग विलास कहते हैं वहाँ जाकर उत्पन्न हो और उनकी टहल किया करे सो मोक्ष है[2]। लेकिन यह ठीक नहीं है क्योंकि पहले तो ठाकुरजी संसारियों की तरह विषयासक्त है अतः जैसे राजादिक होते हैं वैसे ही ठाकुरजी हुए। दूसरे अन्य के पास में उसे टहल भी करना है इसलिए पराधीनता हुई। तीसरे मोक्ष पाकर भी वहाँ टहल की तो जैसे राजा की चाकरी की वैसे यह भी चाकरी हुई इस तरह पराधीन होकर सुख कैसे हो सकता है अतः यह भी नहीं बनता।

एक मोक्ष इस तरह बतलाते हैं कि ईश्वर के समान स्वयं होजाना, लेकिन यह भी मिथ्या है क्योंकि उसके समान और भी अनेक होंगे तो बहुत ईश्वर होने पर लोक का कर्ता हर्ता कौन रहेगा? भिन्न २ इच्छा होने पर परस्पर विरोध हो जायगा। यदि दोनों एक ही हैं तो समानता नहीं हुई। और यदि वह ईश्वर से न्यून है तो अपने नीचेपने से उच्चता होने की आकुलता रही तब सुखी कैसे हो। जैसे संसार में छोटा राजा बड़ा राजा होता है वैसे ही छोटा बड़ा ईश्वर भी मुक्ति में हुआ किन्तु यह ठीक नहीं।

१—साधु उद्धव! कलियुग में अधिकांश लोगों की रुचि अधर्म में होगी। अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु बान्धवों का स्नेह संबंध छोड़ दो और अनन्य प्रेम से मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टि से पृथ्वी में स्वच्छंद विचरण करो। भागव०पु० स्कंध ११ अ० ७

२—हे मुनियों सर्वाश्चर्यमय वैष्णव नाम के परम पद को तुम्हे बतलाता हूं उसे सुनिए, वह स्थान अनेक प्रकार के वृक्ष फल फूल, लता गुच्छा आदि से सुशोभित है वहीं श्रीहरि विराजमान हैं। उन्हे उन्नतस्तनवाली चन्द्रमुखी अनेक स्त्रियां तथा गंधर्वों की अप्सराएँ सुवर्णदण्ड वाले चमरों से हाँक रही हैं। वहाँ जाने से पुनः आना नही होता। सब प्रकार के आभूषण पहने हुए रूप यौवन से गर्वित स्त्रियाँ वहाँ प्रति दिन नाचती हैं। जो वैष्णव जगद्गुरू वासुदेव की पूजा करते हैं वे निःसन्देह विष्णुलोक को जाते हैं। ब्रह्मपुराण ६८ अ० भावमात्र

मोक्ष का एक रूप यह बतलाते है कि वैकुण्ठ में एक दीपक की सी ज्योति है उस ज्योति में ज्योति का जाकर मिल जाना मोक्ष है। लेकिन यह भी मिथ्या है। दीपक की ज्योति तो मूर्तिक अचेतन है ऐसी ज्योति वहां संभव ही कैसे हो सकती है। दूसरे ज्योति में ज्योति मिलते समय यह ज्योति रहती है या नष्ट हो जाती है। अगर रहती है तो ज्योति बढ़ती जायगी। इस तरह ज्योति में हीनाधिकपना होगा। और अगर नष्ट हो जाती है तो अपनी सत्ता ही नष्ट हो जाती है। ऐसा कार्य उपादेय कैसे माना जा सकता है? इसलिए यह भी ठीक नहीं।

मोक्ष का एक प्रकार यह है—आत्मा ब्रह्म ही है अतः माया का आवरण मिटने पर वह मुक्त ही है[1]। यह भी मिथ्या है। यह आत्मा जब माया के आवरण सहित था तब ब्रह्म से एकरूप था या जुदा था। अगर एक था तो ब्रह्म ही मायारूप हुआ। अगर जुदा था तो माया के दूर होने पर जब यह ब्रह्म में मिलता है तब इसका अस्तित्व रहता है या नहीं? यदि रहता है तो सर्वज्ञ को तो इसका अस्तित्व अलग ही दिखाई देता है अतः संयोग होने का नाम ही मिलना हुआ वास्तव में तो मिला नहीं। और अगर अस्तित्व नहीं रहता है तो अपना अभाव होना कौन चाहेगा। इसलिए यह भी नहीं बनता।

[2]कोई २ मोक्ष का स्वरूप ऐसा भी बतलाते ही कि बुद्धि आदिक गुणों का नाश होने पर मोक्ष होता है इसका यह मतलब हुआ कि शरीर के अंगभूत मन और इन्द्रियों के अधीन ज्ञान नहीं हैं। किन्तु ऐसा कहना तो कामक्रोधादिक दूर होने पर ही ठीक हो सकता है। दूसरे, अगर वहाँ चेतना का भी अभाव माना जायगा तो पत्थर आदि के समान जड़ अवस्था को कैसे भला समझा जा सकता है। तीसरे, भला साधन करने से तो ज्ञान और बढ़ता है उससे ज्ञान का अभाव कैसे कबूल किया जा सकता है। चौथे लोक में ज्ञान की महानता से जड़पने की महानता नहीं है। इस लिए यह भी नहीं बनता। इसी प्रकार अनेक तरह से कल्पना कर मोक्ष को बताते है। सो वे यथार्थ तो जानते नहीं मुक्ति अवस्था में संसार की अवस्था की कल्पना कर इच्छानुसार बकते हैं। इस तरह वेदांतादि मतो में अन्यथा निरूपण पाया जाता है।

इसी प्रकार मुसलमानों के मत में भी अन्यथा निरूपण पाया जाता है। जैसे वे ब्रह्म को सर्वव्यापी, निरंजन सब का कर्ता हर्ता मानते हैं वैसे ये खुदा को मानते हैं[3]। जैसे वे

१—वेदान्ती। २—वैशेषिक।

३—अल्लाह को जानते हो अल्लाह कौन है वह वह है कि उसके सिवा कोई पूज्य नहीं (केवल एक उपासना योग्य व्यक्ति)। वह (सदैव से) जीवित है (और हमेशा जिन्दा रहेगा। वह जो सांसारिक कारखाने का) संभालने वाला (है)। (मृत्यु तो क्या) उसे (कभी) ऊँघ और नींद (तक) नहीं आती। जो कुछ आकाशमें है और जो कुछ पृथ्वीमें है (सब) उसीका है। कौन (साहस रखता) है जो उसकी आज्ञा के बिना (प्रलयके दिन) उससें (किसीकी) सिफा-रिश कर सकें।

इस्लामी मान्यताओं का खण्डन

अवतार हुए मानते हैं वैसे ये पैगम्बर हुए मानते हैं[1]। जैसे वे पुण्य पाप का लेखा लेना यथायोग्य दण्डादिक देना ठहराते है वैसे ये खुदा को ठहराते हैं[2]। तथा जैसे वे गौ आदि को पूज्य कहते हैं वैसे ही ये सूकर आदि को कहते है[3] ये सब तिर्यञ्चादिक है। जैसे वे ईश्वर की भक्ति से मुक्ति बतलाते हैं वैसे ये खुदा की भक्ति से कहते हैं[4]। जैसे वे कहीं दया का पोषण करते हैं कहीं

उसे मालूम है जो कुछ (आज) लोगोंको पेश (आरहा) है और वह (जानता है) जो कुछ उनके बाद होना है। वह वर्तमानसे भी अभिज्ञ है और भविष्यसे भी वाकिफ। उपस्थितको भी जानता है और अदृश्य भी उसे ज्ञात है। उसकी मालूमात (अभिज्ञता) के किसी अंशका केवल उन (मालूमात) को छोड़ कर जिन्हें उसने (बतलाना) चाहा है प्राणीमात्र घेरा नहीं कर सकते। (प्राणी) केवल (इतना ही जानते हैं) जितना (खुद) उसने (बतला दिया है या बतलाना) चाहा है उस (के शासन) का सिंहासन (समस्त) आकाशों और पृथ्वी को घेरे हुए है और पृथ्वी व आकाश की सुरक्षा उस को (बिल्कुल) भार नहीं मालूम होती। वह (बड़ा) उच्च पदवाला (और) महान है। कुर्आन मजीद ख्वाजा हसन निजामी कृत हि० अ० पे० ६० अक्टूबर १९२८ में हिंदुस्थान इलैक्ट्रिक प्रिंटिंग वर्क्स देहली में मुद्रित।

१—निःसन्देह अल्लाह ने आदम और नूह और आल इब्राहीम(इब्राहीम का वंश) और आल इमान (इमान का वंश, को समस्त संसार (और समस्त प्राणियों) में (श्रेष्ठ ठहराकर पैगम्बरी के लिए) चुन लिया है। उनमें के कुछ लोग कुछ लोगों की सन्तान थे (और कुछ दूसरों की आदम तो सबके पूर्वज हैं ही) और अल्लाह (बड़ा सुनने वाला ज्ञानवान है) सुनता है और सब जानता है (किसी का कोई वचन और किसी का कोई कर्म उससे छिपा नहीं है) जिसके वचन व कर्मको इस योग्य पाता है उसके पैगम्बरी दे तो उसे पैगम्बरी प्रदान करता है। अत एव मुहम्मद (उनपर सलाम) के पैगम्बर होने पर आश्चर्य करना व्यर्थ है शंका और आश्चर्य से अलग रहो और उनकी आधीनता स्वीकार करो। कुर्आन मजीद ह० नि० कृत हिन्दी अ० पृ० ७६

२—और (तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के समस्त कार्यों में) उस दिन का डर रक्खो जिस दिन यहाँ से लौट कर अल्लाह के पास जाओगे (और) फिर (तुम में से) हर एक मनुष्य को अपने २ कर्मों का पूरा फल दिया जायगा और किसी के साथ अन्याय न होगा। कुर्आन मजीद ह० नि० कृत हि० अ० पृ० ६७

३—मुसलमान सूअर को पूज्य नही कहते किन्तु उसके मांसको अभक्ष्य कहते हैं। ग्रन्थकार का अभिप्राय भी सूअर की अभक्ष्यता से है न कि उसकी पूज्यता से यथा तुम पर मुर्दा जानवर और लहू हराम किया गया औ सूअर का मांस भी (हराम किया गया) इत्यादि कुर्आन मजीद ह० नि० कृत हि० अ० पृ० १५०

४—(ऐ मुहम्मद ! सल्लल्लाहु अलैहि व आलिही व सल्लम अल्लाह की महब्बत के दावेदारों से) कहदो कि अगर तुम अल्लाह को प्यार करते हो तो मेरी आधीनता करो। अल्लाह भी तुम को प्यार से रक्खेगा और तुम्हें तुम्हारे अपराधाक्षमा कर देगा और अल्लाह बड़ा क्षमा करने वाला और बड़ी कृपा करने वाला है (और यही उसकी महब्बत का अर्थ है कि पूजकों का प्रेम यह है कि वह वह अपने पूज्य के आधीन रहें अर्थात् उसमें भक्ति रक्खें और पूज्य का प्रेम यह है कि पूजक पर कृपा बनाए रक्खे कुर्आन मजीद ह० नि० कृ० हि० अ० पृ० ७६।

हिंसा का पोषण करते हैं वैसे ये कहीं मिहर करना बतलाते हैं कहीं जिबह करना बतलाते हैं[1]। जैसे वे कहीं तपश्चरण करना कहीं विषय सेवन करना ठीक बतलाते हैं वैसे ही ये भी पोषण करते है। जैसे वे कहीं मांस मदिरा शिकार आदि का निषेध करते हैं कहीं उत्तम पुरुषों द्वारा उनका अङ्गीकार करना बतलाते हैं वैसे ये भी उनका निषेध व अङ्गीकार करना बतलाते हैं[2]। इस तरह

१—ऐ मुसलमानों (जब तुम मुसलमान होग ए हो तो मानो अल्लाह और उसके रसूल की कुल आज्ञाओं को नियमानुसार पालन करने की प्रतिज्ञा कर चुके। अतएव तुम्हें चाहिए कि) सब प्रतिज्ञाओं को पूरा करो (अर्थात् समस्त धार्मिक आज्ञाओं का पालन करो। देखो ! चौपाये (जैसे ऊँट, बकरा, बकरी, भेंड़ इत्यादि) तुम्हारे लिए हलाल ठहराए गए हैं, सिवा उनके जिनका वर्णन आगे आता है। कुर्आन मजीद ह० नि० कु० हि० अ० पृ० १४९।

अलबत्ता (अगर) तुम हज (के एहराम बाँधने के बाद ऐसे) रोगग्रस्त हो जाओ या तुम्हारे सिर (ही में कोई ऐसी सख्त तकलीफ हो कि बिना बाल मुंडवाए कोई उपाय न हरहे तो मुंड़वा दो और) इसके बदले में (तीन) रोजे रख लो या (छः) अगाहिलों को खाना खिला दो या (एक) बकरा वध कर दो और जब (तुम्हारी वह तकलीफ जाती रहे) तुम निश्चिन्त हो जाओ तो जो (तुममें से) हज के समय तक कमरह से लाभ उठाना चाहे उसको कुर्बानी (करना चाहिए) जिस श्रेणी की संभव हो।

टीका— अगर कोई मनुष्य एक ही सफर में हज व कमरह-दोनों साथ करना चाहे जैसा कि दूर से आने वाले अक्सर करते हैं तो उनके लिए भी कुर्बानी की आज्ञा है। कुर्बानी कम से कम प्रति मनुष्य एक बकरी या सात आदमी मिलकर एक गाय या एक ऊँट कर सकते हैं:—हसन निजामी कुर्आन मजीद ह० मि० कु० हि० अ० पृ० ४३।

२—ऐ मुसलमानों ! शराब और जूआ तथा बुत और पासे (यह) सब अशुद्ध (और) शैतानी काम हैं। सो इन से बिल्कुल अलग रहो ताकि तुम कल्याण प्राप्त करो।

शैतान तो चाहता ही यह है कि मदिरा और जूए के द्वारा तुम में शत्रुता और द्वेष डलवा दे और (यहां तक कि) तुम्हें अल्लाह के स्मरण और नमाज से रोके तो (अब ज्ञान के पश्चात् भी) क्या तुम इन वस्तुओं से बचोगे (या नहीं ?) कुर्आन मजीद ह० मि० कु० हि० अ० पृ०१७३ तुम पर मुर्दा जानवर और लहू हराम किया गया और सूअर का मांस (भी हराम किया गया। और जो जानवर खुदा के सिवाय किसी और के नाम (पर) छोड़ा गया हो (वह भी) और जो (जानवर) गला घोटने से या चोट से मर गया हो या (जो जानवर) ऊंचे से गिर कर या सींग मारने से (मरा हो) और (या) जिसको दरिंदा (जंगली जानवर जैसे शेर चीता वगैरह खाने लगे (यह सब भी हराम है·······इत्यादि। कुर्आन मजीद ह० नि० कु० अ० पृ० १५०। और मैंने तुम्हारे लिए (सर्वश्रेष्ठ) इस्लाम धर्म को पसन्द फर्माया (है। तुम भी इस्लाम की पूरी २ पाबन्दी करो और हराम हलाल का सदैव ध्यान रक्खो जैसे खाने की जिन वस्तुओं को ऊपर हराम बताया गया है उन्हें कभी हलाल न समझो)। अलबत्ता अगर कोई भूख से विवश न हो जाय (परन्तु) उसके साथ उसका चित्त पाप की ओर न झुका हो तो (उसे इस्लाम हराम की हुई वस्तुयें भी खा लेने की आज्ञा देता है) अल्लाह क्षमा करने वाला कृपालु है। (ए रसूल ! मुसलमान) तुमसे पूछते हैं कौन २ सी चीजें उनके लिए हलाल हैं। (उनसे) कह दो कि (सब सुथरी चीजें तुम्हारे लिए हलाल हैं। और शिकार पर दौड़ाने के लिए जो शिकारी जानवर तुमने सधाए हों (और शिकार का तरीका) अल्लाह ने जैसा तुम्हें सिखा रक्खा है वैसा ही तुमने उन्हें सिखाया हो

अनेक प्रकार से समानता पाई जाती है। यद्यपि नामादिक भिन्न २ हैं तो भी प्रयोजनभूत अर्थ की एकता पाई जाती है। इस ही प्रकार ईश्वर खुदा आदि मूल श्रद्धान की तो एकता है और उत्तर श्रद्धान में बहुत सी विशेषताएँ हैं। उनके यहां भी विपरीतरूप विषय कषाय हिंसादि पाप के पोषक प्रत्यक्षादि प्रमाण विरुद्ध निरूपण करते हैं। इसलिये मुसलमानों का मत महा विपरीतरूप समझना चाहिए। इस प्रकार इस क्षेत्र में जिन धर्मों का विशेष प्रचार है उनका मिथ्यापना दिखलाया।

प्रश्नः—अगर ये मत मिथ्या हैं तो बड़े २ राजा विद्वान इन मतों को क्यों पालते हैं।

उत्तरः—जीवों के मिथ्या वासना अनादि से हैं और इनमें मिथ्यात्व ही का पोषण है। जीवों को विषय कषायरूप कार्यों की चाह रहती है और इनमें विषय कषाय रूप कार्यों का ही पोषण है। तथा राजादिकों और विद्वानों का ऐसे धर्म में विषय कषायरूप प्रयोजन सिद्ध होता है। जीव तो लोकनिंद्यपने को भी भूल कर अथवा पाप भी जानकर जिन कार्यों को करना चाहते हैं उन कार्यों को यदि धर्म बताया जाय तो भला ऐसे धर्म में कौन नहीं लगेगा इसी लिए इन धर्मों की अधिक प्रवृत्ति है। यहां यह कहना कि इन धर्मों में विरागता दया आदि भी तो बताए गए हैं ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे झोल दिये विना खोटा सिक्का नहीं चलता वैसे ही सत्य मिलाए विना झूठ नहीं चलता। परन्तु सबके हितरूप कार्यों में विषय कषाय का ही पोषण किया गया है। जैसे गीता में उपदेश देकर युद्ध कराने का ही प्रयोजन प्रकट किया है। वेदान्त में शुद्ध आत्मा को बतला कर स्वछंद होने का प्रयोजन प्रकट किया है इसी तरह और भी समझना चाहिए। दूसरे यह निकृष्ट काल हैं इसमें निकृष्ट धर्म की ही प्रवृत्ति विशेष होती है। जैसे इस काल में मुसलमान बहुत प्रधान हो गये और हिंदू घट गए। हिंदूओमें और बढ़ गए जैनी घट गए। यह सब कालका दोष है। इस तरह यहाँ मिथ्या धर्मकी प्रवृत्ति बहुत पाई जाती है। अब पांडित्यके बलसे कल्पित युक्तियों द्वारा अनेक मत स्थापित हुए हैं उनमें जो तत्त्वादिकोंकी मान्यता है उसका यहाँ निरूपण करते हैं।

तो (वह) जो (शिकार) तुम्हारे लिए पकड़े उसे खा लो (ऐसे शिकारी जानवरों के पकड़े हुए शिकार को मरने से पहले जिबह करना जरूरी नहीं है) मगर (यथाशक्ति यह विचार रहे कि) शिकारी जानवर को छोड़ते समय अल्लाह का नाम ले लो (जिस तरह जिबह करते समय लिया करते हो)। और अल्लाह से डरते रहो अल्लाह जल्द हिसाब लेने वाला है। कुर्आन मजीद ह० नि० कृ० हि० अ० पृ० १५१। और उन (के अर्थात् जन्नतियों के शरीर) पर महीन हरे रेशम के भी वस्त्र होंगे और मोटे रेशम के भी। और उन्हें (विशेष प्रकार की) चांदी (सोने) के कङ्गन भी पहनाए जावेंगे और उनका पालनकर्ता उन्हें (अत्युत्तम तथा) पवित्र स्वच्छ शरबत (पाकीजा शराब, देखो मौलाना नजीर अहमद मरहूम देहलवी कृत कुरान मजीद का हि० अ०) भी पिलाएगा इत्यादि। कुर्आन मजीद ह० नि० कृ० हि० अ० पृ० ८३७

सांख्यमतमें २५ तत्त्व माने हैं उन्हीं को यहाँ बताते हैं:— सत्व, रज तम, यह तीन गुण वे बतलाते हैं। इनमें सत्त्व से तो प्रसाद होता है, रजोगुण से चित्त की चंचलता होती है, तमोगुणसे मूढ़ता होती है। ऐसा इनका लक्षण वे करते हैं। इन तीन गुण रूप अवस्थाका नाम प्रकृति है। उस प्रकृतिसे बुद्धि पैदा होती है इसीका नाम महत् तत्त्व है। इस महान तत्त्व से अहंकार पैदा होता है और उससे १६ मात्राएँ होती हैं। उनके नाम ये हैं पांच ज्ञानेन्द्रियाँ स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इनके अतिरिक्त एक मन, पांच कर्मेन्द्रियां-वचन, चरण, हस्त, गुदा, लिंग। पांच तन्मात्राएँ- रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द। इन तन्मात्राओं में भी रूपसे अग्नि, रससे जल, गंधसे पृथ्वी, स्पर्शसे पवन और शब्दसे आकाश का होना बतलाते हैं। इस तरह २४ तत्व तो प्रकृतिस्वरूप हैं और इनसे भिन्न एक निर्गुण कर्ता[1] भोक्ता पुरुष है। इस प्रकार २५ तत्त्व बतलाए हैं[2]। यह सब कल्पित है क्योंकि रजसादिक गुण आश्रयके बिना कैसे हो सकते हैं। इनका आश्रय तो चेतन द्रव्य ही हो सकता है। तथा बुद्धिका इनसे होना बतलाते हैं लेकिन बुद्धि नाम ज्ञान का है। ज्ञानगुण के धारी पदार्थ में इनका होना देखा गया है इनसे ज्ञान हुआ कैसे माना जा सकता है। कोई कहता है कि बुद्धि अलग है ज्ञान अलग है। लेकिन मन तब आगे षोडश मात्राओं में कहा है और ज्ञान उससे जुदा है तो बुद्धि किसे कहा जायगा। और उस बुद्धि से अहंकार का होना बतलाया है लेकिन अहंकार तो परवस्तुमें 'मैं करता हूँ' ऐसा मानने का नाम है, साक्षी भूत ज्ञान से तो अहंकार होता नहीं। अतः उसे ज्ञान से उपजा हुआ कैसे कहा जासकता है? तथा अहंकार से षोडशमात्राओं का पैदा होना बताते हैं उनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां बतलायी हैं। लेकिन शरीर में नेत्रादि आकार रूप द्रव्येन्द्रियां तो पृथ्वी आदि के समान हैं। अन्य वर्णादिक के जानने रूप भावेन्द्रियां हैं वे ज्ञानरूप हैं। अहंकार का यहाँ क्या प्रयोजन है क्या बुद्धि रहित अहंकार किसीको दीखता है इसलिए अहंकार से उत्पन्न होना कैसे संभव हो सकता है? मनके विषय में भी यही बात समझना चाहिए क्योंकि द्रव्यमन शरीर रूप है भाव मन ज्ञानरूप है। इसी तरह पांच कर्मेन्द्रियां जो बतलाई हैं वे भी शरीरकी ही अंग हैं मूर्तिक हैं भला अमूर्तिक अहंकार से इनका पैदा होना कैसे संभव हो सकता है? दूसरे कर्मेन्द्रियां पांच ही तो नहीं हैं शरीर के सारे ही अंग कार्यकारी हैं। यह वर्णन तो सम्पूर्ण जीवों को लेकर है न कि

सांख्यमत का खण्डन

१—पुरुष को कर्ता कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्यमतानुसार प्रकृति के संसर्ग से पुरुष कर्ता की तरह मालूम पड़ता है इसलिए उपचार से उसे कर्ता कह देते हैं। वस्तुतः कर्ता नहीं है यथा तत्संयोगाद् अचेतनं चेतनावदिह लिंगम्, गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः, सां० का० २०। सत्वादयो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽपि अकर्तापि कर्ता भवति, कर्तृसंसर्गात् कर्तेव परं परमार्थतया अकर्ता पुरुषः। सांख्यतत्त्व कौ०।

२—सांख्य कारिका २२।

केवल मनुष्य को लेकर इस लिए सूंड पूंछ इत्यादि अंग भी कर्मेन्द्रियाँ हैं फिर पांच ही की संख्या नियमित कैसे कही जा सकती है ? इसी प्रकार स्पर्शादिक तन्मात्राएं भी कुछ भिन्न वस्तुऐं नहीं हैं किन्तु परमाणु से अभिन्न गुण हैं। यह भिन्न २ कैसे पैदा हो सकते हैं तथा अहंकार तो अमूर्तिक जीव का परिणाम है उससे इन मूर्तिक गुणों का पैदा होना कैसे माना जा सकता है ! तथा इन पाँचों से अग्नि आदिक पैदा होती हैं यह भी प्रत्यक्ष झूठ है क्योंकि रूपादिक और अग्नि आदिकका तो सहभावी गुणगुणी संबंध है। कहने मात्र को भिन्न है किन्तु वास्तवमें कोई भेद नहीं है न कोई किसी प्रकार भिन्न होता मालूम देता है केवल कथन मात्रसे भिन्नता प्रतीत होती है। इसलिए रूपादिक से अग्नि आदिक का उत्पन्न होना कैसे माना जाय कहने में भी गुणी में गुण तो कहे जाते हैं गुण से गुणी उत्पन्न हुआ नहीं कहा जाता।

इन सबसे भिन्न एक पुरुष माना जाता है किन्तु उसके स्वरूप को अवक्तव्य बतला कर उसके सम्बन्ध में उत्तर नहीं देते। उनसे पूँछा जाय कि वह पुरुप कैसा है, क्या है,कैसे कर्ता हर्ता है यह कुछ नहीं बताते। अगर बतावें तो विचार करने पर उसमें अन्यथापन मालूम देगा। इसप्रकार सांख्यमत द्वारा कल्पित तत्त्व मिथ्या समझना चाहिए।

तथा पुरुष से प्रकृति को भिन्न समझने का नाम मोक्षमार्ग बतलाते हैं लेकिन पहले तो प्रकृति पुरुष कोई चीज़ ही नहीं है। और अगर हो भी तो उनके जानने से ही सिद्धि नहीं हो सकती। जानकर रागादिक मिटाने से सिद्धि होती है। लेकिन उस प्रकार जानने से रागादिक घटते नहीं। यदि सबको प्रकृति का कार्य माने और अपने को अकर्ता समझे तो किसलिए रागादिक घटावेगा। इस लिए यह मोक्षमार्ग नहीं है।

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुप के अलग २ होने को मोक्ष कहते हैं। पच्चीस तत्त्वों में चौबीस तत्त्व तो प्रकृति संबंधी बतलाए हैं। एक पुरुष भिन्न बतलाया है सो यह तो अलग २ हैं ही। और जीव नाम का कोई पदार्थ पच्चीस तत्त्वों में बतलाया नहीं। प्रकृति का संयोग होने पर पुरुष ही को जीव संज्ञा कही जाती है। इस लिए पुरुष अलग २ रूप से प्रकृति सहित है बाद में साधन करने से कोई पुरुप प्रकृति रहित होता है। अतः सिद्ध हुआ कि पुरुष एक नही हैं।

दूसरी बात यह है कि प्रकृति पुरुष की भूलि है या व्यन्तरी के समान अलग ही है जो इस जीव को आकर चिपट जाती है। अगर इसकी भूलि है तो प्रकृति से इन्द्रियादिक तत्त्व उत्पन्न हुए कैसे माने जाएंगें ? और अगर अलग है तो प्रकृति भी एक वस्तु है सब कर्तव्य उसी का रहा, पुरुष का कुछ कर्तव्य नहीं रहा फिर उपदेश किस लिए देते हैं। इस तरह यह मोक्षर्माग मानना मिथ्या है। उनके यहाँ प्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह तीन माने हैं इनके सत्यासत्य का निर्णय जैन न्याय ग्रन्थों से जानना चाहिए[१]।

१—देखो प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ८१ (नि० सा०) न्याय कुमुद चन्द्रो पृ० ३५४ प्रमेय रत्नमाला च० स० प्र० सू० पृ० १५३

इस सांख्यमत में कोई ईश्वर को भी नहीं मानते कोई एक पुरुष को ही ईश्वर मानते हैं, कोई शिव को देव मानते है, कोई नारायण को देव मानते हैं, सब अपनी इच्छानुसार ही कल्पना करते हैं कुछ निश्चय नहीं है। तथा इस मत में कोई जटा धारण करते है, कोई चोटी रखाते हैं, कोई मुण्डित होते हैं, कोई गेरुआ वस्त्र पहनते हैं इत्यादि अनेक प्रकार भेष धारण कर तत्व ज्ञान के कारण महंत कहलाते हैं। इस तरह सांख्यमत का निरूपण किया।

शिवमत में दो भेद हैं, नैयायिक और वैशेषिक। नैयायिकमत में १६ तत्त्व बतलाए हैं, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास छल, जाति और निग्रहस्थान[१]। जिसमें प्रमाण के चार भेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान[२]। आत्मा देह, अर्थ और बुद्धि इसको प्रमेय कहा गया है[३]। 'यह क्या है' इसका नाम संशय है[४]। जिसके लिए प्रवृत्ति हो वह प्रयोजन है[५]। जिसको वादी प्रतिवादी स्वीकार करें वह दृष्टांत है[६]। दृष्टांतद्वारा जिसको ठहराया जाय वह सिद्धान्त है[७]। अनुमानके प्रतिज्ञा आदि पांच अंगों का नाम अवयव है। संशय दूर होने पर किसी विचारसे जो ठीक हो सो तर्क है[८]। वादमें निश्चयरूप जानना सो निर्णय है[९]। आचार्य और शिष्य का पक्ष प्रतिपक्षरूप से चर्चा करने का नाम वाद है[१०]। जानने की इच्छारूप चर्चा में छल जाति दूषणों का प्रयोग करना सो जल्प है[११]। प्रतिपक्षरहित वाद का नाम वितंडा है[१२]। जो सच्चे हेतु नहीं हैं ऐसे असिद्धादि हेत्वाभास कहलाते हैं। छल पूर्वक वचन कहना सो छल है[१३]। जोसच्चे दूषण नहीं ऐसे दूषणभासों का नाम जाति है[१४]। जिससे परवादी का निग्रह हो वह निग्रहस्थान है[१५]। इस प्रकार जो संशयादि तत्त्व कहे गए हैं वे कोई वस्तुस्वरूप तत्त्व नहीं हैं किन्तु ज्ञान का निर्णय करनेके लिए अथवा वादमें पांडित्य प्रगट करनेके लिए कारणभूत विचाररूप तत्त्व कहे हैं। इनसे परमार्थरूप कार्य कैसे हो सकता है? काम क्रोधादि भावों को मिटा कर निराकुल होने का नाम कार्य है उसका प्रयोजन तो यहाँ कुछ दिखाया नहीं गया। केवल पंडिताई की अनेक युक्तियां बताई हैं सो यह भी एक चातुर्य्य है। इस लिए यह तत्त्वभूत नहीं है। यदि कहा जाय कि इनको जाने बिना प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय नहीं किया जा सकता इस लिए इन्हें तत्त्व कहा है तो ऐसी

नैयायिक मत का खण्डन

१—न्यायसूत्र १।१।१। २—न्यायसूत्र १।१।३ ३—आत्मा शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। न्या सू० १।१।९। ४—समानानेकधर्मोपपत्ते उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थानतो विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। न्या० सू० १।१।२३। ५—न्या० सू० १।१।२४। ६-न्याय सू० १।१।२५ ७—तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः न्या० सू० १।१।२६ ८—अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्वज्ञानार्थमूहः तर्कः। न्या० सू० १।१।४०। ९—न्या० सू० १।१।४१ १०—प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः न्या०। सू० १।२।१।

११—यथोक्तोपपन्नछलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपलम्भो जल्पः। न्याय० सू० १।२।२। १२—न्याय० सू० १।२।३। १३—न्या० सू० १।२।१२। १४—साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जाति न्या० सू० १।२।२८। १५—विप्रतिपत्तिरविप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् न्या० सू० १।२।२९।

परंपरासे तो व्याकरण वाले भी कहते हैं कि व्यारण पढ़ने से अर्थ का निर्णय होता है। अथवा भोजनादिक के अधिकारी भी कहते हैं कि भोजन करने पर शरीर की स्थिरता होने से तत्त्व निर्णय करने की सामर्थ्य होती है। अतः ऐसी युक्तियां कार्यकारी नहीं। यदि कहा जाय कि व्याकरण भोजनादिक तो तत्त्वज्ञानके नियामक कारण नहीं हैं किन्तु केवल लौकिक कार्य साधनेके कारण हैं तो जैसे ये हैं वैसे ही प्रमाण प्रमेय आदिक भी हैं अर्थात् वे भी लौकिक कार्य साधनोंके कारण है। जैसे इन्द्रियादिक जानने को प्रत्यक्षादि प्रमाण कहते हैं अथवा स्थाणु पुरुषादि में संशयादि का निरूपण किया है। इस लिए जिनको जानने पर अवश्यही काम क्रोधादिक दूर होकर निराकुलता पैदा हो वे ही तत्त्व कार्य कारी हैं। यदि कहा जाय कि प्रमेय तत्त्वमें आत्मा आदिकका जो निर्णय होता है वह कार्यकारी है तो प्रमेय तो सवही वस्तु हैं। जो प्रकृति का विषय नहीं है ऐसा पदार्थ ही नहीं फिर प्रमेय तत्त्व किसलिए कहा आत्मा आदि तत्त्व कहने चाहिये थे।

और आत्मा आदिक का स्वरूप भी अन्यथा प्ररूपण किया है, जो कि पक्षपात रहित विचार करने पर वैसा मालूम पड़ता है अर्थात् आत्मा के दो भेद किए हैं परमात्मा और जीवात्मा। उसमें परमात्मा को सबका कर्ता कहा जाता है। इस संबंध में उनका अनुमान है कि जगत् कर्तासे पैदा हुआ है क्योंकि यह कार्य है, जो कार्य है वह कर्तासे पैदा होता है जैसे घटादिक, लेकिन यह अनुमान नहीं अनुमानाभास है क्योंकि यहाँ दूसरा अनुमानभी मौजूद है "यह जगत् कर्तासे पैदा हुआ नहीं है क्योंकि इसमें बहुतसे अकार्यरूप पदार्थ भी मौजूद हैं। जो अकार्य है वह कर्तासे पैदा हुआ नहीं होता जैसे सूर्यबिंबादिक। यह जगत् अनेक पदार्थों का समुदाय है उसमें कोई पदार्थ कृत्रिम हैं जो मनुष्यादिकों द्वारा किए हुए होते हैं, कोई अकृत्रिम हैं जिनका कोई कर्ता नहीं। यह प्रत्यक्षादि प्रमाणके अगोचर है इस लिए ईश्वर को कर्ता मानना मिथ्या है। तथा जीवात्मा को प्रति शरीर भिन्न २ बतलाते हैं यह कहना उनका सत्य है। परन्तु मुक्त होने के बाद भी उन्हें भिन्न २ ही मानना ठीक है, विशेष पहले कहा जाचुका है। इसी प्रकार अन्य तत्वों का भी मिथ्या प्ररूपण करते हैं तथा प्रमाणादिक के स्वरूप की भी अन्यथा कल्पना करते हैं।[1] यह सब जैन ग्रन्थों से परीक्षा करने पर मालूम हो जाता है। इस तरह नैयायिक मत में कहे गए सभी तत्त्व कल्पित समझना चाहिए।

वैशेषिक मत में भी सात तत्त्व कहे गए हैं। द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव[2]। इनमें द्रव्य नौ प्रकार है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा, और मन[3]। इनमें से पृथ्वी, जल, अग्निके परमाणु भिन्न २ हैं और वे नित्य हैं उनसे जो कार्यरूप पृथ्वी होती है वह अनित्य है[4] इस तरह उनका यह सब कहना प्रत्यक्षादिके विरुद्ध है। ईंधनरूप पृथ्वी आदिके

वैशेषिक मत का खण्डन

१—न्याय कु० च० ३३५, प्रमेय क० मा० १९५ इत्यादि, २—वैशेषिक सू० १।१।४। ३—वैशेषिक सू० १।१।५। ४—सा द्विविधा नित्या नित्या च नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्य रूपा त० स० सू० ९

परमाणु अग्नि रूप होते देखे जाते है अग्निके परमाणु राखरूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं, जलके परमाणु मोतीरूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि वे परमाणु तो नष्ट हो जाते दूसरे ही परमाणु उनरूप होते हैं तो यह प्रत्यक्ष को असत्य ठहराना है? कोई ऐसी प्रवल युक्ति हो तो यह ठीक भी मान लिया जाय केवल कहने मात्रसे ही कैसे जाना जा सकता है। परमाणुओं की पुद्गलरूप एक जाति है। वे ही परमाणु पृथ्वी आदि अनेक अवस्था रूप परिणमन करते हैं। तथा इन पृथ्वी आदिकों का शरीर कहीं जुदा बताते हैं यहभी मिथ्या है क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे पृथ्वी आदिक तो परमाणुपिंड हैं इनका शरीर अन्यत्र हो और ये अन्यत्र हों ऐसा संभव नहीं हो सकता, इसलिए इसे मिथ्या ही समझना चाहिए। तथा जहाँ पदार्थ अटकता नहीं ऐसी पोलका नाम आकाश वतलाते हैं। क्षण पल आदिको काल कहते हैं सो यह दोनों ही अवस्तु हैं सत्तारूप पदार्थ नहीं है। पदार्थोंके क्षेत्र परिणमन आदिका पूर्वापर विचार करनेके लिए इनकी कल्पना की जाती है। दिशाभी कुछ नहीं है आकाशमें खण्ड कल्पनासे दिशाऐं मानी जाती हैं। आत्मद्रव्य दो प्रकारका है जिसका हम पहले निरूपण कर चुके हैं। मन कोई अलग पदार्थ नहीं है, भावमन तो ज्ञानरूप है जो आत्मा का स्वरूप है। द्रव्यमन परमाणुओं का पिण्ड है वह शरीर का अंग है इस तरह इन द्रव्यों को कल्पित समझना चाहिए।

गुण इनके यहाँ २४ तरहके कहे गए हैं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, और द्रव्यत्व[१]। इनमें स्पर्शादिक गुण तो परमाणुओंमें पाए जाते हैं परन्तु पृथ्वीको गन्धवती ही कहना,[२] जलको शीतस्पर्शवान कहना + इत्यादि मिथ्या है क्योंकि किसी पृथ्वीमें गन्धकी मुख्यता नहीं मालूम होती, कोई जल उष्ण देखा जाता है इत्यादि सब प्रत्यक्षके विरुद्ध है। तथा शब्दको आकाशका गुण वतलाते हैं[3] यह भी मिथ्या है शब्द भित्ति आदिकसे रुकता है इसलिए मूर्तिक है। आकाश अमूर्तिक सर्वव्यापी है। भित्तिमें आकाश तो रहे और शब्द गुण प्रवेश नहीं कर सके यह कैसे हो सकता है। इसीतरह संख्या आदिक वस्तुरूपमें तो कुछ हैं नहीं। एक पदार्थकी अपेक्षा दूसरे पदार्थके हीनाधिक जानने को अपने ज्ञानमें संख्या आदिक की कल्पना की जाती है। तथा बुद्धि आदिक आत्माके परिणामन है। यदि बुद्धि नाम ज्ञान का है तो वह आत्माका गुण है और यदि मन का है तो उसे द्रव्यों के अन्दर गिनाया ही है यहाँ गुणोंमें क्यों कहा। इसी प्रकार सुखादिक भी आत्मामें कदाचित् ही पाए जाते हैं इसलिए ये गुण आत्माके लक्षण भूत तो नहीं है किन्तु अव्याप्त होनेसे लक्षणाभास हैं। स्नेहादिक भी पुद्गल परमाणुओं में पाए जाते हैं क्योंकि स्निग्ध गुरुत्व इत्यादि तो

१—प्रशस्त० भा० पृ० १०_तथा वै० सू० १।१।१६ २—गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथ्वीवृत्तिं प्रश० भा पृ० १०५ त० सं० सू० ९ +— त० सं० सू० १० ३—"शब्दगुणकमाकाशम्" तर्क संग्रह सू० १३

स्पर्शन इन्द्रियसे ही जाने जाते हैं। इसलिए स्पर्शगुणमें ही यह गर्भित हुए इन्हे अलग क्यों कहा है। द्रवत्व गुण को जलमें गिनाया है लेकिन इस प्रकार तो अग्नि आदिकमें उर्ध्वगमनत्वादिभी पाए जाते है। अतः या तो सबको अलग२ कहना चाहिए था या फिर सामान्यमें ही गर्भित करना चाहिए था। इस तरह जो गुण कहे गए हैं वे सभी कल्पित हैं।

कर्म पांच प्रकार का है:—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन[1]। लेकिन यह तो शरीर की चेष्टाएँ हैं इनको अलग कहने का क्या प्रयोजन ? दूसरे केवल इतनी ही चेष्टायें नहीं है वल्कि और भी अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ हैं। इन सबको एक अलग तत्व संज्ञा से कहा गया है यह ठीक नहीं है; क्योंकि कोई अलग पदार्थ होता तो अलग तत्त्व कहना ठीक था अथवा काम क्रोधादि मिटानेमें विशेप सहायक होता तो अलग तत्त्व कहना ठीक था लेकिन यह चेष्टायें दोनों में से एक भी नहीं हैं यों हीं कह देने से तो पाषाणादिक अनेक अवस्थायें होती हैं उनको भी पृथक् तत्त्व कहना चाहिये। लेकिन उससे कुछ लाभ नहीं है।

सामान्य दो प्रकार का है—पर और अपर[2]। पर तो सत्तारूप है और अपर द्रव्यत्व रूप है, तथा नित्य द्रव्य में जो पाये जायें वे विशेप हैं[3]। अयुतसिद्धि संवंध का नाम समवाय है[4]। ये सामान्यादिक तो वहुतों को एक रूप से अथवा एक वस्तु में भेद कल्पना करने से अथवा भेदकल्पना की अपेक्षा संवंध मानने से अपने विचार ही में होते हैं कोई अलग पदार्थ नहीं हैं और न इनके जानने से काम क्रोधादि मेटने रूप विशेप प्रयोजन की भी सिद्धि होती है इसलिए इन्हें तत्त्व क्यों कहा जाना चाहिए ? यदि ऐसे ही तत्त्व कहने थे तो प्रेमयत्वादि वस्तुके अनन्त धर्म हैं तथा संवंध आधारादिक रूप से अनेक सम्वन्ध वस्तु में संभव हैं। या तो वे सभी कहने थे या प्रयोजनभूत ही कहने थे। इसलिए सामान्यादिक तत्व भी वृथा ही कहे गए हैं। इस तरह वैशेपिकों द्वारा कहे गए सभी तत्त्व कल्पित समझना चाहिए। तथा वैशेपिक दो प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके सत्यासत्य का का निर्णय जैन न्यायग्रन्थों से समझना चाहिए[5]।

नैयायिकों का कहना है कि:—विपय, इन्द्रिय, वुद्धि, शरीर, सुख, दुःख इनके अभाव से जो आत्मा की स्थिति होती है उसका नाम मुक्ति है। और वैशेपिक कहते हैं कि चौवीस गुणों में वुद्धि आदि नौ गुणों के अभाव का नाम मुक्ति है[6]। यहां वुद्धि नाम ज्ञान का है और उसीका अभाव वतलाया है। इधर ज्ञानका अधिकरणपना आत्माका लक्षण वतलाया है। जव ज्ञानरूप लक्षणका अभाव हो गया तव लक्ष्यका अभाव पहले हो गया।

१—वैशे० सू० १।१।७ २—प्रशस्त० भा० पृ० ३११ ३—प्रशस्त० भा० पृ० १३
४—वैशे० सू० ७।२।२६ तथा प्रशस्त भा० पृ० १३
५—न्यायकु० च० पृ० २१५, प्रमेयक० पृ० १५६ आताप० (द्वितीयावृत्ति)-पृ० ८
६—न्यायम० उत्तरखड पृ० ५० आ० ९

फिर आत्माकी स्थित कहां कैसे रही ? यदि बुद्धि का अर्थ मन है तो भावमन तो ज्ञानरूप है और द्रव्यमन शरीररूप है। इनमें द्रव्यमनका संबंध तो मुक्ति होने पर छूटता ही है लेकिन वह जड़ है उसका बुद्धि नाम कैसे हो सकता है। मन के समान ही इन्द्रियां समझना चाहिए। इसी तरह विषयका भी अभाव बतलाया है। लेकिन यदि वहां स्पर्श आदि विषयोंका ही जानना नहीं रहता तो ज्ञान किसका नाम रहेगा। और यदि उन विषयों का ही अभाव हो जायगा तो लोकका भी अभाव हो जायगा। सुखके अभावके विषयमें भी यही बात है क्योंकि सुख ही के लिये यह सब उपाय किया जाता है उसका जहां अभाव है वह उपादेय कैसे कहा जा सकता है ? हाँ यदि आकुलतामय इन्द्रियजनित सुखका अभाव वहाँ होता है तो सत्य है। निराकुलता लक्षण अतीन्द्रिय सुख तो वहां से पूर्ण मौजूद रहता है इसलिए सुखका अभाव नहीं है। शरीर दुःख द्वेषादिकका अभाव कहना तो ठीक ही है।

शैव मत में कर्ता निगुर्ण ईश्वर शिव हैं उसको देव मानते हैं इसके स्वरूपका अन्य-थापन पूर्वोक्त प्रकारसे समझना चाहिए। इनके यहाँ भस्मी कौपीन जटा जनेऊ इत्यादि चिन्ह सहित जो भेष होते हैं वे आचारादिभेदसे चार प्रकार हैं शैव, पाशुपत, महाव्रती, और काल, खमु मुख किन्तु ये सब रागादि सहित हैं इसलिए सुलिङ्ग नहीं हैं। इस तरह शिव मत का निरूपण किया अब मीमांसक मतका स्वरूप बतलाते हैं।

मीमांसक मत का खण्डन

मीमांसक दो प्रकार हैं ब्रह्मवादी और कर्मवादी, जिसमें ब्रह्मवादी तो यह सब ब्रह्म हैं दूसरा कोई नहीं है इस तरह वेदान्त में कहे गये अद्वैत ब्रह्मका ही निरूपण करते हैं तथा आत्मा में लीन होनेको मुक्ति बतलाते हैं इनका मिथ्यापना पहले बताया जाचुका है दूसरे कर्मवादी क्रिया आचार यज्ञादिक कामों को कर्तव्य बतलाते है[1] लेकिन इन क्रियाओं में रागादिक का सद्भाव पाया जाता है इसलिए यह कार्य कुछ प्रयोजनभूत नहीं है। इनमें भी भट्ट और प्रभाकर द्वारा की हुई दो पद्धतियाँ हैं। जिसमें भट्ट तो छः प्रामाण मानता है, प्रत्यक्ष, अनुमान, वेद, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव। तथा प्रभाकर अभाव विना पांच ही प्रमाण मानता है। इनका सत्यासत्यपना जैन शास्त्रों से समझना चाहिए। इनमें से षट्कर्म सहित ब्रह्मसूत्र के धारक शूद्र अन्नादिक के त्यागी गृहस्थाश्रमी भाट्ट होते हैं। तथा वेदान्त में यज्ञोपवीत रहित ब्राह्मण का अन्नादिक ग्रहण करने वाले भागवत हैं जिनके चार भेद हैं कूटीचर बहूदक, हंस, परमहंस[2]। यह भी कुछ त्याग

१—प्रयोजन को लेकर वेद द्वारा जो आचरण किया जाता है वह धर्म है जैसे याग आदिक। वह याग "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वर्ग के उद्देश्य से किया जाता है, इत्यादि देखो मीमासा-न्या० प्र० (आपदेव कृत)

२—भिक्षुक उपनिषद, शात्यायनीय उपनिषद, याज्ञवल्क्य उ०, परमहंसपरिवा० उ०।

कर संतुष्ट हुए है। परन्तु ज्ञान और श्रद्धान का मिथ्यापना और रागादिक का सद्भाव इनमें पाया जाता है इस लिए यह भेष कार्यकारी नहीं है।

अब जैमनीय मत कहते हैः—

सर्वज्ञ देव कोई नहीं है[1]। वेद वचन नित्य है[2]। उनसे ही यथार्थ निर्णय होता है। इसलिए पहले वेदपाठ करके फिर क्रिया करना यही चोदना लक्षणरूप धर्म है[3]। उसीका साधन करना चाहिए। जैसे कहा है "स्वः कामोऽग्नि यजेत्" स्वर्गाभिलापी अग्निको पूजे।

यहाँ इनसे यह पूछना चाहिए कि शैव सांख्य नैयायिकादिक सब ही वेद को मानते हैं और तुम भी मानते हो। लेकिन तुम्हारे और उन सबके तत्त्वादि निरूपण में परस्पर विरुद्धता पाई जाती है इसका कारण क्या है। अगर वेद में ही कहीं कुछ कहीं कुछ निरूपण किया है तो उसकी प्रमाणता कैसे रही। और अगर मत वाले ही ऐसा निरूपण किरते हैं तो तुम परस्पर झगड़ कर यह निर्णय करो कि अमुक वेदका अनुसारी है और अमुक वेद से पराङ्मुख है। किन्तु हमें तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वेदमें ही पूर्वापर विरुद्धता निरूपण है। इसीलिए अपनी २ इच्छानुसार उसका अर्थ ग्रहण कर भिन्न २ मत के अधिकारी हुए हैं भला इस प्रकार के वेद को प्रमाण कैसे माना जासकता है ? तथा अग्नि पूजने से स्वर्गका होना लिखा है। भला अग्निको मनुष्यसे उत्तम कैसे माना जसकता है यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है दूसरे अग्नि स्वर्गदाता कैसे हो सकती है। इसी प्रकार अन्य वेद वचन भी प्रमाण विरुद्ध हैं। दूसरे वेदमें ब्रह्मका उल्लेख है फिर सर्वज्ञ क्यों नहीं मानते अतः जैमिनीय मतको भी कल्पित समझना चाहिए।

अब बौद्धमत का स्वरूप कहा जाता है।

बौद्ध मतमें चार तत्त्व कहे हैंः—दुख, आयतन, समुदय और मार्ग[4]। उसमें संसारी का जो स्वरूप है वह दुःख है। वह भी पांच प्रकार का है विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप[5]

बौद्धमतका खण्डन

रूपादिकका जानना विज्ञान है, सुख दुख का अनुभव करना वेदना है, नाम का जानना संज्ञा है, पढ़े हुएको धारण करना संस्कार है, रूपका धारण करना सो रूप है[6]।

यहाँ विज्ञानादिकको दुःख कहना मिथ्या है। दुःख तो काम क्रोधादिक है, ज्ञान दुःख नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किसीके ज्ञान थोड़ा है और कामक्रोधादिक बहुत हैं। इसलिए दुखी हैं। और किसीके ज्ञान बहुत हैं कामक्रोधादिक थोड़े हैं अथवा नहीं हैं तो सुखी है। इसलिए विज्ञानादिक दुःख रूप नहीं है।

आयतन १२ प्रकार कहे गए हैं ५ इन्द्रियाँ और ५ ही उनके शब्दादिक विषय, १ मन और एक धर्मायतन[1]। यह आयतन किस लिए कहे गए हैं? जब सबको यह क्षणिक बतलाते हैं तब इनका प्रयोजन क्या है?

तथा जिससे रागादिकके कारण उत्पन्न हों ऐसे आत्मा और आत्मीय का नाम समुदाय है[2]। यहाँ अंहरूप तो आत्मा है और ममरूप आत्मीय है इनको क्षणिक मानते हैं। इसलिए इनके कहने का भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

सब संस्कार क्षणिक हैं ऐसी वासना का नाम मार्ग है[3]। लेकिन प्रत्यक्ष में कई वस्तुएँ बहुत कालतक स्थायी देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि उनकी सदा एक अवस्था नहीं रहती तो यह तो हम भी मानते हैं; क्योंकि सूक्ष्म पर्यायें क्षणस्थायी हैं। यदि उस वस्तु का ही नाश माना जाय तो यह होता नहीं दीखता तब हम कैसे मानें। दूसरे बाल वृद्धादि अवस्थाओं में एकही आत्मा का अस्तित्व मालूम पड़ता हैं अगर वह एक नहीं है तो पूर्व और उत्तर कार्य का एक कर्ता कैसे माना जाता है? यदि वह संस्कारसे ऐसा माना जाता है तो संस्कार किसके हैं? जिसके हैं? वह नित्य है या क्षणिक है? नित्य है तो सबको क्षणिक कैसे बतलाया जाता है? यदि क्षणिक है तो जिसका आधारहो क्षणिक है उस की संस्कार परंपरा कैसी? तीसरे यदि सब क्षणिक हैं तो कहने वाला स्वयं भी क्षणिक हुआ। यदि ऐसी वासनाका नाम मार्ग है तो ऐसे मार्ग का फल स्वयं कहने वाला नहीं पाता फिर किस लिए इस मार्गमें प्रवृत्ति करता है? चौथे बौद्धमतमें निरर्थक शास्त्र बनाए गए हैं? क्योंकि उपदेश तो कुछ कर्तव्य करके उसका फल प्राप्त करे इसलिए दिया जात हैं। किन्तु क्षणिक वादमें यह बनता नहीं इसलिये यह मार्ग मिथ्या है।

तथा रागादिक ज्ञानसंतान की वासना के निरोध को मोक्ष बतलाते हैं[4]। लेकिन

१—पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्याः विषयाः पञ्चमानसम्, धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु ॥ ३८ ॥ वि० वि०। इन्द्रियार्थास्त एवेष्टा दशायतनधातवः धर्मायतनधात्वाख्या मन आयतन च तत्। अ० को० १, १४, १५, १६

२—रागादीनां गणोऽयं स्यात् समुदेति नृणां हृदि, आत्मात्मीय स्वाभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ॥ ३९ ॥ वि० वि०

३—क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा, स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥ ४० ॥ वि० वि०। उक्त मान्यताओं के विषय में विशेष जानने के लिये देखिए—'धम्मचक्क पवत्तसुत्त (संयुत्त नि०)' महासत्तिपट्ठान सुत्त (दी० नि०)

४—रागादिज्ञानसन्तान वासनोच्छेद संभवा चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥ ४४ ॥ वि० वि०

जब सब क्षणिक हैं तब मोक्ष किसको हुआ ! हाँ रागादिकका अभाव होना तो हमभी मानते हैं लेकिन ज्ञानादिक तो आत्मा के स्वरूप है उनका अभाव होने पर तो आत्मा का ही अभाव हो जयगा उसका उपाय करना कैसे हितकर हो सकता है ? हिताहितका विचार करनेवाला तो ज्ञान ही है । उसके अभावको कोई अपना हित कैसे मान सकता है ?

बौद्धमतमें दो प्रमाण माने गए हैं प्रत्यक्ष और अनुमान[१] । इनके सत्यासत्यका निरूपण जैनशास्त्रों से समझना चाहिए[२] । परन्तु जब यह दोही प्रमाण मानते हैं तो इनके शास्त्र अप्रमाण हुए उन का निरूपण किस लिए किया गया ? प्रत्यक्ष और अनुमान से तो जीव स्वयं ही जान लेंगे फिर शास्त्र किस लिए बनाए ? इसी तरह सुगतको देव मानते हैं और उसका स्वरुप नग्न वा विक्रिया रूप बताते हैं सो विटंबनारूप है । तथा कमंडलु और रक्तांबर के धारी एवं पूर्वाह्नमें भोजन करने वाले बौद्धमतके भिक्षुक होते हैं[३] । परन्तु जो क्षणिक है उसे भेष रखनेसे क्या प्रयोजन ? लेकिन महंतताके लिए कल्पित वार्तोंका निरूपण व वेश धारण करते हैं । इस प्रकार ये बौद्ध चार तरहके हैं वैभाषिक, सौत्रान्तिक, यौगाचार और माध्यमिक । इनमें वैभाषिक तो ज्ञानसहित पदार्थको मानता है । सौत्रान्तिक जो प्रत्यक्ष देखता है वही है उसके परे कुछ नहीं है ऐसा मानता है । यौगाचारोंके आकारसहित बुद्धिपाई जाती है माध्यमिक पदार्थ के आश्रय बिना ज्ञान ही को मानते हैं[४] इस तरह अपनी २ कल्पना करते हैं । विचार करने पर कोई ठिकाने की बात नहीं मालूम पड़ती । इस तरह बौद्धमतका निरूपण किया । अब चार्वाक मत कहा जाता है ।

कोई, सर्वज्ञ, देव, धर्म, अधर्म या मोक्ष नहीं है और न परलोक है न पुण्य पापका फल ही है[५] । यह इन्द्रिय गोचर जितना है उतना ही लोक है इस तरह चार्वाकका कहना है ।

चार्वाक मतका खण्डन

यहाँ उससे यह प्रश्न होता है कि सर्वज्ञ देव इस कालक्षेत्रमें नहीं है या सब काल और सब क्षेत्रमें नहीं है ? इस कालक्षेत्रमें तो हमभी नहीं मानते । यदि सब कालक्षेत्रमें नहीं है तो ऐसा जानना बिना सर्वज्ञके कैसे हुआ ? जो सब कालक्षेत्रकी बात जानता है वही सर्वज्ञ है और जो नहीं जानता वह तो उसका निषेध कैसे कर सकता है तथा धर्म अधर्म लोकमें प्रसिद्ध है अगर यह कल्पित होते तो सर्वजनों में प्रसिद्ध कैसे होते ? दूसरे जीवोंकी धर्मअधर्मरूप परिणति होती देखी जाती है

१—तत्त्व सं० श्लो० १४८७ पृ० ४३३

२—प्र० क० मा० पृ० ४६, प्र० र० मा० पृ० ३१ आदि ।

३—कृत्तिर्कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्न भोजनं संघो रक्ताम्बरत्वञ्च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥४५॥ वि० वि० ।

४—अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहुमन्यते । सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥ ४२ ॥
आकारसहिता बुद्धि र्योगाचारस्य सम्मता केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमा पुनः ॥४३॥ वि ०वि० ।

५—सर्वदर्शन सं० पृ० ९ "न स्वर्गो नापवर्गो" इत्यादि, तत्व सं० पृ० ५२० ५२३

उससे वर्तमानमें ही जीव सुखी या दुखी देखे जाते हैं इनको किस प्रकार न माना जाय। और मोक्षका होना तो अनुमान से भी सिद्ध होता है। क्रोधादिक दोष किसीके कम किसीके अधिक देखे जाते हैं। अतः किसीके इनका अभाव भी होता होगा। और ज्ञानादिकगुण किसीके कम किसीके अधिक प्रतिभासित होते हैं अतः किसीके संपूर्ण भी होते होंगे। इस तरह जिससे समस्त दोषोंकी हानि और समस्त गुणोंकी प्राप्ति हो उसीका नाम मोक्षअवस्था है। इसी तरह पुण्य पापका फल भी देखा जाता है। कोई उद्यम करनेपर भी दरिद्री रहता है। किसीके स्वयमेव लक्ष्मी होती हैं। कोई शरीर का यत्न करनेपर भी रोगी रहता है किसीके बिना ही यत्न किए नीरोगता रहती है इत्यादि बातें प्रत्यक्ष देखते हैं। अतः इसका कारण कुछ तो होगा? जो इसका कारण है वही पुण्य पाप है। इसी तरह परलोक भी प्रत्यक्ष और अनुमानसे मालुम पड़ता है. व्यंतरादिक देखे ही जाते हैं मैं अमुक था सो देव हुआ हूं आदि।

प्रश्नः—यह तो पवन है।

उत्तरः—इसीलिए हम तो 'मैं हूं' इत्यादि चेतन भाव जिसके आश्रय पाया जाता है उसीको आत्मा कहते हैं इसका नाम भले ही पवन कहा जाय परन्तु पवन तो भित्ति आदिसे रुकती है किन्तु आत्मा सब कुछ बन्द कर देनेपर भी नहीं अटकता। इसलिए उसे पवन कैसे कहा जासकता है? और यह कहना कि जितना इन्द्रियगोचर है उतनाही लोक है ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियगोचर तो थोड़ेसे भी योजन का दूरवर्ती क्षेत्र और थोड़ासा अतीत अनागत कालवर्ती पदार्थ भी नहीं हो सकता। और दूर देशकी अथवा अति प्राचीन कालकी बातें परम्परा से सुनी जाती हैं। इस लिए चार्वाक जब सबको नहीं जानता तब इतना ही लोक कैसे कहता है?

चार्वाक मतमें यह भी कहा है कि पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश मिलने से चेतना हो जाती है[१]। लेकिन मरते समय पृथवी आदि पदार्थ यहीं रहते हैं चेतनावान् पदार्थ निकल कर व्यंतरादिक हो जाता है इस तरह प्रत्यक्ष अलग २ होते देखे जाते हैं। दूसरे एक शरीर में पृथिवी आदि तो अलग २ दिखाई देते हैं और चेतना एक मालूम पड़ती है। अगर पृथ्वी आदिके आधार चेतना हो तो लोहू उच्छ्वास आदि में अलग २ ही चेतना होनी चाहिये और हस्तादि के काटने से जैसे कटे हस्तादिकमें वर्णादि रहजाते हैं वैसे ही चेतना भी रहजायगी तथा अहंकार बुद्धि तो चेतनाके हैं लेकिन पृथ्वी आदि रूप शरीर तो यहीं रहा और व्यंतरादि पर्यायमें पूर्व-पर्याय का अहंपना देखाजाता है सो यह कैसे संभव है? पूर्वपर्याय की गुप्त बातें प्रकट करते हैं सो यह ज्ञान किस के साथ गया जिसके साथ ज्ञान गया वही आत्मा है।

इस मतमें खान, पान, भोग, विलास इत्यादि स्वच्छंद वृत्ति का उपदेश है लेकिन इस प्रकार तो संसार स्वयं ही प्रवृत्ति कर रहा है वहाँ शास्त्र आदि बनाकर भला होने का क्या उपदेश दिया। यदि यह कहा जाय कि तपश्चरण शील संयमादिक छुड़ाने के लिए उपदेश दिया तो इन

१—सर्वदर्शन सं० पृ० ५ श्लो० १३

कार्यों से तो कषाय घटने से आकुलता घटती है और उससे यहीं सुख होता है यश आदि होते हैं। इनके छुड़ानेसे जीवोंका क्या भला होगा। विषयासक्त जीवोंको सुहाती बात कहकर अपना व औरों के बुरा करने का भय नहीं स्वच्छंद हो विषय सेवनके लिए ऐसी झूठी युक्ति चार्वाक लोग बनाते हैं। इस तरह चार्वाक मतका निरूपण किया।

इसी प्रकार अन्य और भी अनेक मत हैं वे झूँठी युक्ति बनाकर विषय कषायासक्त पापी जीवों द्वारा प्रकट किए गए हैं। उनके श्रद्धानादिक से जीवों का बुरा होता है। एक जिन मत ही सत्यार्थ का प्ररूपक है, सर्वज्ञ वीतरागदेव द्वारा भाषित है उसका श्रद्धान करने से ही जीवों का भला होता है। इस तरह जिन-मत में जो तत्त्व निरूपण किए हैं वे प्रत्यक्ष, परोक्ष दो प्रकार के हैं। सर्वज्ञ वीतराग अर्हंतदेव हैं। वाह्य अभ्यंतर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु हैं। इनका वर्णन इस ग्रन्थ में आगे विशेष रूप से लिखेंगे वहां से समझना चाहिए।

अन्यमतों के निराकरण में रागद्वेष का अभाव

प्रश्नः—आपके रागद्वेष हैं इसलिए आप अन्य मतका निषेध कर अपने मतका स्थापन कर रहे हैं?

उत्तरः—यथार्थ वस्तु के प्ररूपण करने में राग द्वेष नहीं है। कुछ अपना मतलब विचार कर अन्यथा प्ररूपण करने का नाम रागद्वेष है।

प्रश्नः—यदि रागद्वेष नहीं तो अन्यमत बुरे हैं और जैन मत अच्छा है ऐसा कैसे कहते हैं। साम्यभाव तो सबको समान समझना चाहिए मत का पक्ष क्यों करते हैं?

उत्तरः—बुरेको बुरा और अच्छेको अच्छा कहनेमें रागद्वेष क्या है। बुरेको भलेके समान समझना तो अज्ञानभाव है साम्यभाव नहीं है।

प्रश्नः—सब मतों का प्रयोजन तो एक है इसलिए सबको समान समझना चाहिए?

यदि प्रयोजन एकही हो तो नाना मत क्यों हों। एक मतमें तो एक प्रयोजन को लेकर अनेक प्रकार व्याख्यान होते हैं। उनको अलग मत कौन कहता है। परन्तु सब धर्मों के प्रयोजन ही भिन्न २ हैं वही बतलाते हैं। जैनमत में एक वीतरागभाव पोषण करने का प्रयोजन है उसी वीतरागभावका कथाओंमें लोकादिकके निरूपणमें वा आचरणमें वा तत्त्वोंमें जहाँ तहाँ पोषण किया गया है। तथा अन्य मतोंमें सराग भावके पोषण करनेका प्रयोजन है। इसलिए कल्पित रचना तो कषायी जीव रचते है। वेही अनेक युक्तियोंसे कषाय भावोंका ही पोषण करते हैं जैसे अद्वैतब्रह्मवादी सबको ब्रह्म मानता है। और सांख्यवादी सभी कार्य प्रकृतिका मानकर अपनेको शुद्ध अकर्ता मानता है और शिवमती तत्त्वज्ञानके द्वारा ही सिद्धि होना मानता है। मीमांसक कषायजनित आचरण को धर्म मानता है वौद्ध क्षणिक मानता है चार्वाक परलोकादि नहीं मानता, अतः ये सब विषय भोगादिरूप कार्योंमें स्वच्छंद होनेका ही पोषण करते हैं। यदि कही कोई कषाय घटानेका

अन्यमतों से जैन मत की तुलना

निरूपण करते भी हैं तो उस छलसे अन्य कषायोंका पोषण करते हैं। जैसे एक ओर तो गृहकार्य छोड़ परमेश्वरका भजन करना ठहराना और दूसरी ओर परमेश्वरका स्वरूप सरागी ठहराकर उसके आश्रयसे अपने विषय कषायोंका पोषण करना। लेकिन जैनधर्ममें देवगुरु धर्मादिकका स्वरूप वीतराग ही निरूपण कर वीतरागताका ही पोषण किया है यह स्पष्ट है इसके सम्बन्धमें हम क्या कहें। अन्यमतवाले भर्तृहरि ने भी वैराग्य प्रकरणमें[1] ऐसा ही लिखा है।

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्द्धधारी हरो
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात् परः।
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धोजनः
शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः॥ [श्लो० ७१ पृ० २२०]

उक्त श्लोकमें सरागियोंमें महादेवको प्रधान बतलाया है और वीतरागियोंमें जिनदेवको प्रधान कहा है। सरागभाव और वीतरागभावोंमें परस्पर प्रतिपक्षीपना है इसलिए इन दोनों में से एकही हितकारी है और वह वीतरागभाव ही है जिसके होने पर तत्काल आकुलता मिट जाती है जीव स्तुति योग्य हो जाता है। और भविष्यमें सब उसका भला होना बतलाते हैं। किन्तु सरागभाव होने पर तत्काल आकुलता पैदा होजाती है, निंदनीय होता है। आगे चलकर उसका बुरा होना प्रतीत होता है। इसलिए जिसमें वीतरागभाव ही लक्ष्य है ऐसा जैनमतही इष्ट है। और जिनमें सरागभावके प्रयोजन प्रकट किए गए हैं ऐसे अन्यमत अनिष्ट हैं। इनको समान कैसे माना जा सकता है?

प्रश्नः—यह तो सत्य है परन्तु अन्य मतकी निंदा करनेसे अन्यमतीको दुख होगा औरोंसे विरोध पैदा होगा इस लिए निंदा क्यों की जाय?

उत्तरः—यदि हम कषाय पूर्वक निंदा करें या औरोंको दुख उपजावें तो हम पापी हैं। अन्य मतके श्रद्धानादिकसे जीवोंका अतत्त्व श्रद्धान मजबूत होता है उससे संसारमें जीव दुखी होता है। इसलिए करुणाभावोंसे यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोषही दुःखी हो या विरोध करे तो हम क्या करें। जैसे मदिराकी निन्दा करनेपर कलाल दुख पाता है, कुशील की निंदा करने पर वेश्यादिक दुख पाती हैं, खोटे खरे के पहचानने की परीक्षा बतानेसे ठग दुख पाता है तो इसके लिए क्या किया जाय। इस प्रकार यदि पापियोंके भयसे धर्मोपदेश न किया जाय तो जीवोंका भला कैसे हो? ऐसा तो कोई उपदेशही नहीं जिससे सब चैन पावें। और जो यह कहा कि वे विरोध करेंगे सो विरोध तो परस्पर होता है। हम लड़ेंगे ही नहीं तो वे स्वयं ही शांत हो जायँगे। हमको तो हमारे परिणामों का फल मिलेगा।

१—यह श्लोक वैराग्य प्रकरणमें नहीं किन्तु शृङ्गार प्रकरणमें मिलता है।

प्रश्नः—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका अन्यथा श्रद्धान करनेसे मिथ्यादर्शन होता है लेकिन अन्य मतोंका श्रद्धान करनेसे मिथ्यादर्शनादिक कैसे होते हैं ?

उत्तरः—अन्यमतोंमें विपरीत युक्तियोंसे जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ प्रतिभासित न हो ऐसा यत्न किया है यह किस लिए किया है। यदि जीवादितत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित हो तो वीतरागभाव होते ही महंतपना प्रतिभासित हो जाता है। लेकिन जो जीव वीतरागी नहीं हैं और अपनी महंतता चाहते हैं उन्होंने उन सरागभावोंके होते हुए अपनी महंतता बनानेके लिए कल्पित युक्तियोंसे अन्यथा निरूपण किया है। जैसे अद्वैत ब्रह्मका निरूपण कर जीव अजीव का, स्वच्छंद वृत्तिका पोषण कर आश्रव संवरादिक का तथा सकषायीवत् वा अचेतनवत् मोक्ष को कहनेसे मोक्षका अयथार्थ श्रद्धान पोषण करते हैं इससे अन्य मतोंका अन्यथापन प्रकट है। अगर जीवोंको इनका अन्यथापना मालूम हो तो तत्वश्रद्धानमें रुचिवान होकर उनके युक्तियोंसे भ्रम पैदा न हो। इसतरह अन्यमतोंका निरूपण किया।

अन्य ग्रन्थोंसे जैनधर्म की प्राचीनता व समीचीनता

अब अन्यमतोंके शास्त्रों की ही साक्षिसे जिनमतकी समीचीनता व प्राचीनता प्रकट करते हैं।

बड़ा योगवाशिष्ट जो छत्तीसहजार श्लोक प्रमाण है उसके प्रथम वैराग्य प्रकरणके अन्तर्गत अहंकार निषेधाध्यायमें वशिष्ट और रामका संवाद वर्णन करते हुए ऐसा लिखा है:—

[1]नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥८॥ (स० १५ पृ० ३३)

इसमें रामचन्द्रजीने जिन समान होनेकी इच्छा प्रकट की है इसलिए रामचन्द्रजीसे जिनदेवका उत्तमपना और समीचीनपना प्रगट हुआ। दक्षिणामूर्ति सहस्रनाममें लिखा है:—

शिवोवाच—"जैनमार्गरतो जैनो जितक्रोधो जितामयः" ॥

यहाँ भगवत् का नाम जैन मार्गमें रत और जैन बतलाया है। इससे भी जैनधर्मकी प्रधानता व प्राचीनता ही प्रगट होती है। वैशम्पायन सहस्रनाम में लिखा है:

कालनेमिर्महावीरःशूरःशौरिर्जिनेश्वरः[2]। (म० भा०अनु० प०श्लो० ८२अ०१४९)

यहाँ भगवान का नाम जिनेश्वर कहा है इसलिए जिनेश्वर भगवान हैं। दुर्वासा ऋषिकृत महिम्नस्तोत्रमें इस तरह लिखा है—

तत्तद्दर्शनमुख्यशक्तिरिति च त्वं ब्रह्म कर्मेश्वरी।
कर्ताऽर्हन् पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः॥

यहाँ आप अरहंत हैं इस तरह भगवान की स्तुति की है। इससे अर्हंतको भगवान होना प्रकट है। हनुमन्नाटक में इस तरह लिखा है।

१—न मैं राम हूँ न मेरी कुछ इच्छा है न पदार्थों की तरफ ही मेरा चित्त है मैं केवल जिनेन्द्र भगवान की तरह अपनी आत्मा में शांति चाहता हूँ।

२—मूल ग्रन्थमें 'जनेश्वरे' पाठ है जो पक्षपातसे जोड़दिया मालूम पड़ता है।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो प्रभुः॥ [श्लो० ३]

यहाँ छहों मतमें ईश्वरको एक वतलाया है उसमें अरहंतदेवको भी ईश्वर वतलाया है।[1]

प्रश्नः—यहाँ जैसे सव मतोंमें एक ईश्वर माना है वैसे जैनोंको भी मानना चाहिए।

उत्तरः—उक्त श्लोक जैनोंका नहीं है अजैनोंका है इसलिए उनके ही मतसे अरहंतको ईश्वरपना सिद्ध है। यदि हम जैनोंके यहाँ भी ऐसा ही कहा होता तो हम भी शिवादिकको ईश्वर मांन लेते। जैसे कोई व्यापारी सच्चा रत्न दिखाता है कोइ झूठा रत्न दिखाता है। उसमें झूठे रत्नवाला तो सव रत्नोंका समान मोल लेनेके लिए समान कहता है। किन्तु सच्चे रत्नवाला समान कैसे कह सकता है। वैसे ही जैनी सच्चे देवादिक का निरूपण करते हैं और अन्यमती झूठा निरूपण करते हैं उसमें अन्यमती तो अपनी महिमाके लिए समान कह सकते हैं किन्तु जैनी कैसे कह सकते हैं? रुद्रयामलतन्त्रके अन्दर भवानी सहस्रनाममें भी लिखा है।

कुंडासना जगद्धात्री बुद्धमाता जिनेश्वरी ।
जिनमाता जिनेन्द्रा च शारदा हंसवाहिनी ॥ (पृ०९ श्लो० १३)

यहाँ भवानीके नाम जिनेश्वरी इत्यादि वतलाए हैं इससे जिनका उत्तमपना प्रकट होता है। गणेशपुराणमें भी ऐसाही वर्णन है।

'जैनंपाशुपतं सांख्यं'

व्यासकृत सूत्रोंमें भी देखिए।

"जैना एकस्मिन्नेव वस्तुनि उभये प्ररूपयन्ति"

इस प्रकार उनके शास्त्रोंमें जैन निरूपण मौजूद है इसलिए इससे जैनमतका प्राचीनपन झलकता है। इसी तरह भागवतके पंचमस्कंधमें ऋषभावतारका वर्णन है[2]। वहाँ उन्हें करुणामय

१—जिसको शैव 'शिव' कह कर वेदान्ती 'ब्रह्म' कह कर, बौद्ध 'बुद्ध कहकर' नैयायिक 'कर्ता' कह कर और जैन 'जिन' कह कर पूजते है वह तीन लोक का नाथ हरि हमको अभीष्ट फल दे।

२—श्री शुकदेव जी बोले कि इस भांति महायशस्वी और सव के सुहृद् ऋषभ भगवानने यद्यपि अपने पुत्र सव भांतिसे ही चतुर थे परन्तु मनुष्यों को उपदेश देने के हेतु प्रशान्त और कर्म बन्धनसे रहित महामुनियों को भक्ति ज्ञान और वैराग्यके दिखने वाले परमहंस आश्रम धर्म की शिक्षा देनेके हेतु अपने सौ पुत्रोंमें ज्येष्ट परम भागवत हरि भक्तोंके सेवक भरतको पृथ्वी पालनके हेतु राज्याभिषेक कर तत्काल ही संसार को छोड़ दिया और आत्मामें होमाग्निका आरोप कर केश खोल उन्मत्त की भाति नग्न हो केवल शरीरको संग ले ब्रह्मावर्तसे सन्यास धारण कर चल निकले। भा० स्क० ५ अ० ५,२९। ऋषभ अवतार कहें हैं कि ईश्वर अग्नीध्रके पुत्र नाभिसे सुदेवीपुत्र ऋषभदेव जी भए, समान

तृष्णादिरहित ध्यानमुद्राधारी सर्वाश्रमों से पूजित बतलाया है। ऋषभदेवके अनुसार अरहंत राजाने जैनधर्म चलाया ऐसा भी कहते हैं। इसलिए जैसे रामकृष्णादि अवतारोंके अनुसार अन्यमत चले वैसे ऋषभावतारके अनुसार जैनमत चला। इस तरह उनके मतसे ही जैनमत प्रमाण हुआ।

यहाँ इतना और विचार करना चाहिए कि कृष्णादि अवतारोंके अनुसार विषय कषायोंकी प्रवृत्ति होती है ऋषभावतारके अनुसार वीतराग साम्यभावोंकी प्रवृत्ति होती है। इन दोनों प्रवृत्तियों को समान मानने पर धर्म अधर्ममें कोई विशेषता नहीं रहती यदि कुछ विशेषता है तो जो कल्याणका साधन है उसे ही अङ्गीकार करना चाहिए।

दशावतार चरित्र में "बद्ध्वा पद्मासनं यो नयनयुगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे" इत्यादि बुद्धावतारका स्वरूप अरहंतदेवके समान लिखा है। यदि ऐसा स्वरूप पूज्य है तो अरहंतदेव सहजमें ही पूज्य हुए।

इसी प्रकार काशीखंडमें जहाँ दिवोदास राजाको संबोध कर राज्य छुड़ाया गया वहाँ नारायण तो विनयकीर्ति यति हुआ, लक्ष्मीको विनयश्री अर्जिका बनाया और गरुड़ को श्रावक किया, ऐसा कथन है इस तरह जहाँ संबोधन करनेके लिए जैनी भेष बनाना पड़ा हो वहाँ जैनधर्म हितकारी और प्राचीन अपने आप सिद्ध हो जाता है। प्रभासपुराण में लिखा है।

[1]भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।
तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः ॥१॥
पद्मासनः समासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः
नेमिनाथः शिवोऽथैवं नामचक्रेऽस्य वामनः ॥२॥
कलिकाले महाघोरे, सर्वपापप्रणाशकः
दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः ॥ ३ ॥

उक्त श्लोकमें वामनको पद्मासन दिगम्बर नेमिनाथका दर्शन हुआ ऐसा लिखा है साथ ही उनके दर्शनादिकसे कोटि यज्ञफल बतलाया है। इसप्रकारका नेमिनाथका स्वरूप जैनी प्रत्यक्षमानते हैं अतः प्रमाण ठहरा। प्रभास पुराण में लिखा है।

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

दृष्टा जड़की नाई योगाभ्यास करते भए। जिनके पारमहंस्य पदको ऋषियोंने नमस्कार कीनो स्वस्थ शांत इन्द्रिय सब संग त्याग ऋषभ देवजी भये जिनसे जैन मत प्रकट भया। भा० स्क० २ अ० श्लो० ९-१० अनु० ज्वालाप्रसाद।

१—अर्थ-अपने जन्म के पिछले भाग में वामन ने तप किया उस तप के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिए उस समय शिव श्याम वर्णधारी नग्न दिगम्बर होकर पद्मासन से बैठे से हुए थे। वामन ने तब उनका नाम नेमिनाथ रक्खा। यह 'नेमिनाथ' नाम इस महाघोर कलिकाल में सब पापों का नाश करने वाला है। इनके दर्शन स्पर्शन से करोड़ यज्ञों का फल होता है।

यहाँ नेमिनाथको जिन कहा है और उनके स्थानको ऋषियों का आश्रम और मुक्ति का कारण लिखा है और युगादिस्थान को भी ऐसा ही लिखा है इसलिए ये उत्तम पूज्य सिद्ध हुए। नागपुराणमें भवावताररहस्यके अन्दर लिखा है।

"अकारादि हकारांतं उर्ध्वाधोरेफसंयुतम्।
नादविन्दुकलाक्रान्तं चन्द्रमण्डलसन्निभम्॥ १॥
एतद्देवि परं तत्त्वं यो विजानाति तत्त्वतः।
संसारबन्धनं छित्वा सगच्छेत् परमां गतिम्॥ २॥

यहाँ अर्हं इस पदको परमतत्त्व कहा है और इसको जो वस्तुतः जानता है उसको परमगतिकी प्राप्ति होना बतलाया है। यह 'अर्हं' पद जैनमतका ही है। नागपुराणमें और भी कथन है:—

दशभिर्भोजितैर्विप्रैः यत्फलं जायते कृते।
मुनेरर्हत्सुभक्तस्य तत्फलं जायते कलौ॥ १॥

उक्त श्लोकमें बतलाया है कि कृतयुगमें दशब्राह्मणोंको भोजन करानेका जितना फल होता है उतना फल कलियुगमें अर्हन्तभक्त मुनिके भोजन करानेसे होता है इसलिए जैन मुनि उत्तम हुए।

मनुस्मृति में भी लिखा है:—

कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित्॥ १॥
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः॥ २॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः
नीतित्रितय कर्ता यो युगादौ प्रथमो जिन॥ ३॥*

यहाँ विमलवाहनादिक मनुओंका उल्लेख है जैन मतमें येही नाम कुलकरोंके कहे गए हैं और प्रथम जिनको युगके प्रारम्भमें मार्गका दर्शक तथा सुर असुरोंसे पूजित बतलाया है यदि ऐसा है तो जैनमत युगके आरंभसे ही है तथा प्रमाणभूत है ऐसा क्यों नहीं मानना चाहिए। तथा ऋग्वेद में कहा है:—

२—हे देवि! अर्हं इस परम तत्व को जो वस्तुतः जानता है वह संसार के बंधन काट कर परम धाम को पहुँचता है।

* उक्त श्लोक मनुस्मृति में नहीं पाए जाते उसका कारण यह है कि आज कोई भी स्मृतिग्रंथ अपने असली रूप में नहीं हैं। विद्वानों ने ऐसे अनेक श्लोक खोज निकाले हैं जो आज स्मृति ग्रन्थों में नहीं है-किन्तु प्रसङ्ग और प्रकरण के अनुसार उनका वहां होना अवश्यंभावी है। ऐसे श्लोक पुस्तकाकार अन्यत्र प्रकाशित हुए हैं।

ॐ त्रैलोकक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थङ्करान् ऋषभाद्या वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। ॐ पवित्रं नग्नमुपविप्रसामहे एषां नग्ना (नग्नये) जातिर्येषां वीरा। "इत्यादि।

यजुर्वेदमें लिखा है 'ॐ नमो अर्हतो ऋषभो, ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परममाहसंस्तुतं वरं शत्रुजयंतं पशुरिन्द्रमाहुतिरितिस्वाहा। ॐ त्रातारमिन्द्रं ऋषभं वदंति अमृतारमिन्द्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिन्द्र हवे शक्रमजितं तद्वर्धमानपुरुहूतमिन्द्रमाहुरिति स्वाहा*। ॐ नग्नसुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भ सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हंतमादित्यवर्णंतमसः परस्तात् स्वाहा। ॐ स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्तिनः पूषा विश्व वेदाः स्वस्तिनः तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु दीर्घायुस्त्वायुर्वलायुर्वा शुभजाताधु ॐ रक्षरक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थमनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमि स्वाहा' × :

यहाँ जैन तीर्थंकरोंके नाम हैं और उनका पूजन बतलाया है और इससे यह भी प्रकट है कि इनके बादमें वेद रचना हुई है। इस तरह अन्यमतोंकी साक्षि से भी जैनमतकी उत्तमता और प्राचीनता सिद्ध होती है। जिनमतके देखनेसे वे मत कल्पित ही प्रतिभा-

---

*उपर्युक्तमन्त्र आज वेदों में नहीं पाए जाते उसका कारण यह है कि आजके उपलब्ध वेद सम्पूर्ण वेद नहीं हैं किन्तु वेद के कुछ अंश हैं। महाभाष्य में पातञ्जलिने लिखा हैं 'एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदः' अर्थात् ऋग्वेदकी २१ सामवेद की १००० यजुर्वेदकी १०१ और अथर्ववेदकी नो शाखाएँ है। कहने का मतलब यह है कि जब इतनी शाखाएँ उपलब्ध हों तब एक वेद पूरा वेद कहलाये किन्तु आज इतनी तो क्या इससे चौथाई शाखाएँ भी नहीं मिलती। अतः जब तक पूरा वेद उपलब्ध नहो तब तक अमुक मन्त्र किसी वेद में नहीं है यह कहना अयुक्त है। आज यदि उक्त मन्त्र मौजूदा वेदों में नहीं पाए जाते तो इसका अर्थ यही है कि वे अन्य अनुपलब्ध शाखाओं में होंगे उनका सर्वथा अभाव नहीं कहा जासकता। दूसरे वेद मन्त्रों में रद्दो बदल भी की गई है। वैदिक साहित्यके अभ्यासियों की खोजसे पता चला है कि ऋग्वेद अष्ट० ८ अ० ७ वर्ग २४ में 'मुनयो वात वसनाः' ऐसा पाठ था किन्तु वह बिल्कुल ही हटा दिया गया है अतः आज के ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं है स्वयं डा० अल्वर्ट वेवट ने इस तथ्य को अपनी रचनाओं में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—The Digambaras appear to be the more ancient for not only in the Rik Sanhita (136-2) is mentioned of "wind Girdled Bachhanters-munayah Vatavasanah" but they also appear to be referred to in the well known accounts of Indian Gem-no-sophists of the line Alexander the great. [Indian Antiquary July 1909 Vol. 30.]

अर्थात् दिगम्बर लोग न केवल ऋग्वेदके 'मुनयो वात वसना' इस उल्लेख से ही प्राचीन प्रतीत होते हैं बल्कि सिकन्दर के समय के जैन साधुओं के इतिहाससे भी यह प्रकट होता हैं।

×—यजुर्वेद अ० २५ म० १९। ऋग्वेद अष्ट १ अ० ६ वर्ग १६।

सित होते हैं इसलिए जो अपने हितका इच्छुक है उसे पक्षपात छोड़ कर सत्य जैनधर्म अंगीकार करना चाहिए।

अन्यमतोंमें पूर्वापर विरोध भी पाया जाता है। पहले अवतारने वेदका उद्धार किया उसमें यज्ञादिकके लिए हिंसादिकका पोषण किया और बुद्धावतारने यज्ञका निंदक होकर हिंसादिकका निषेध किया। वृषभावतारने वीतराग संयमका मार्ग दिखाया। कृष्णावतारने परस्त्रीरमणादिक तथा विषय कषायादि मार्ग दिखाये। इन परस्पर विरुद्ध बातोंमें से संसारी जीव किसका कहना करे, किसके अनुसार प्रवृत्ति करे। इन सब अवतारोंको एक भी बताया जाता है लेकिन एक ही अवतार कभी कुछ कहे, कभी कुछ कहे कभी कुछ प्रवृत्ति करे तो उसके कहनेकी वा प्रवृत्ति करने की प्रतीति कैसे हो। कहीं क्रोधादि कषायोंका अथवा विषयोंका निषेध करते हैं तो कहीं लड़ने व विषय सेवन करनेका उपदेश देते हैं। इसको प्रारब्ध भी कहते हैं। तब तो बिना क्रोधादि हुए स्वयं लड़ाई आदि कार्य होने चाहिएँ लेकिन सो होता नहीं। दूसरी बात यह है कि लड़ना आदि कार्य होने पर क्रोधादि होते हैं यदि ऐसा माना जाये तो लड़ाईसे भिन्न क्रोधादि क्या चीज़ है जिसका निषेध किया। अतः यह ठीक नहीं बनता, इसमें पूर्वापर विरोध है। गीतामें वीतरागता दिखाकर लड़नेका उपदेश दिया है यह प्रत्यक्ष विरोध है तथा ऋषीश्वरादिकों द्वारा श्राप देनाभी बतलाते हैं। भला ऐसा क्रोध निंद्य कैसे न कहलायगा। इसके अतिरिक्त 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' ऐसाभी कहा है और साथही महाभारतमें ऐसा भी लिखा है:—

> अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
> दिवं गतानि राजेन्द्र अकृत्वा कुलसन्ततिम्।

यहाँ ब्रह्मचारी कुमारोंको स्वर्ग गया हुआ बताया है। यह परस्पर विरोध है। तथा ऋषीश्वर भारतमें ऐसा लिखा है:—

> मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्
> ये कुर्वन्ति वृथास्तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः॥ १॥
> वृथा एकादशी प्रोक्ता वृथा जागरणं हरेः
> वृथा च पौष्करी यात्रा कृत्स्नं चान्द्रायणं वृथा॥ २॥
> चातुर्मास्येतु संप्राप्ते रात्रिभोज्यं करोति यः
> तस्य शुद्धिर्न विद्येत चांद्रायणशतैरपि॥ ३॥ [

इन श्लोकोंमें मद्य मांसादि भक्षणका व रात्रिभोजनका वा चौमासेमें विशेष रूपसे रात्रिभोजनका वा कंदभक्षण का निषेध किया है। साथही बड़े पुरुषोंको मद्यमांसादिकका सेवन करने वाला कहते हैं। व्रतादिमें रात्रिभोजन व कंदभक्षणको ठीक बतलाते हैं। इस तरह विरुद्ध निरूपण करते हैं। इसी प्रकारके अनेक पूर्वापर विरुद्ध वचन अन्यमतके शास्त्रोंमें है। इसके लिए वे करें भी क्या? कहीं तो पूर्वपरंपरा जान कर विश्वास लानेके लिए यथार्थ कहा

और कहीं विषयकषायका पोषण करने लिए अन्यथा कहा लेकिन इस तरह जहाँ पूर्वापर विरोधहै उसका वचन प्रमाण कैसे माना जाय। अन्य मतमें क्षमा, शील, संतोष आदिकके, समर्थक जो वचन हैं वे जैनमत में भी पाए जाते हैं और जो विपरीत वचन हैं वे उनके कल्पित हैं। जिनमतके अनुसार वचन देखकर उसके विश्वाससे उनके विपरीत वचनोंपर भी श्रद्धानादिक हो सकता है इसलिए अन्यमतका कोई अंग भला देखकर भी उसका श्रद्धानादि नहीं करना चाहिए। जैसे विष मिश्रित भोजन हितकारी नहीं वैसेही यहाँ भी समझना चाहिए। इसी प्रकार कोई उत्तम धर्मका अङ्ग जिनमतमें न पाया जाय और अन्यमतमें पाया जाय अथवा कोई निषिद्ध धर्मका अङ्ग जैनमतमें तो पाया जाय और अन्यत्र न पाया जाय इसलिए अन्यमतका आदर करना चाहिए यह सर्वथा नहीं हो सकता। क्योंकि सर्वज्ञसे कुछ छिपा हुआ नहीं है। इसलिए अन्यमतों का श्रद्धानादिक छोड़कर जिनमतका दृढ़ श्रद्धानादिक करना चाहिए।

कालदोषसे कषायी जीवों द्वारा जिनमतमें भी जो कल्पित रचना की गई है उसे भी दिखाते हैं:—

श्वेताम्बर मत विचार—

किसी श्वेताम्बर मतवालेके द्वारा बनाए गए सूत्रोंको गणधरकृत कहा जाता है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि गणधर ने जो आचारांगादि बनाए हैं क्या-उनके पदोंका प्रमाण इतना ही था जितना कि अभी पाया जाता है? यदि इतना ही प्रमाण था तो श्वेताम्बर शास्त्रोंमें आचारांगादिकोंके पदोंका प्रमाण अठारह हजार कहा है[1] उसकी विधि कैसे बैठेगी! और पदका प्रमाण क्या है? यदि

अंग साहित्यकी नकली रचना

विभक्त्यन्तको पद कहा जायगा तो कहे हुए इस प्रमाणसे पदोंका प्रमाण बहुत अधिक हो जायगा। और यदि पदसे प्रमाणपद[2] लिया जायगा तो एक प्रमाण पदके साधिक इक्यावन करोड़ श्लोक बताए हैं[3]। किन्तु आचारांगादि तो उनसे बहुत छोटे बैठते हैं अतः यह बनता नहीं है। दूसरे आचारांगादिकसे दशवैकालिकादिका प्रमाण कम कहा है[4]। लेकिन श्वेताम्बरोंके यहाँ बड़ा है यह कैसे ठीक बैठेगा। यदि कहा जाय कि आचारांगादिक बड़े थे किन्तु काल दोष समझ कर उन्हींमें से कितने ही सूत्र निकाल कर शास्त्र बनाए गए हैं। तो सबसे पहले तो इस तरहसे तोड़े गये ग्रन्थ प्रमाण नहीं कहे जा सकते। दूसरे ग्रन्थ रचनाकी पद्धति यह है कि बड़ा

१—विचार सा० प्र० गा० ३४६। अभिधा० रा० प्र० अ० पृ० ३९। मू० नन्दी सू० ४५। समवायाग सू० १३६।

२—जो आठ अक्षरों से बनता है उसे प्रमाण पद कहते हैं ज० ध० पृ० ९०। गो० जी जीव प्र० टी० पृ ३३६

३—५१०८८४६२१$\frac{1}{2}$

४—दशवैकालिक आदि चौदह प्रकीर्णकों के श्लोकों का प्रमाण २५०३३८० $\frac{15}{32}$ हैं (ज० ध० पृ० ९३) जब कि केवल आचरांग के साधिक इक्यावन करोड़ हैं।

ग्रन्थ वनावे तो उसमें सव वर्णन विस्तार लेकर किया जाय और यदि छोटा ग्रन्थ वनावे तो संक्षेपसे किया जाय लेकिन सवंध न टूटे। परन्तु जिस बड़े ग्रन्थमें से थोड़ा सा कथन निकाल लिया गया हो उसका संवंध नहीं मिलता, कथन का अनुक्रम टूट जाता है। लेकिन श्वेतांवरीय ग्रन्थोंमें कथादिकका भी संवंध मिलता है टूटापना प्रतीत नहीं होता। तीसरे, अन्य कवियोंसे गणधरकी वुद्धि अधिक होती है इसलिए उसके वनाये ग्रन्थोंमें थोड़े शब्दोंमें वहुत अर्थ होना चाहिये। परन्तु इन शास्त्रोंमें अन्य कवियोंकीसी भी गंभीरता नहीं है। चौथे, ग्रन्थ वनानेवाला यों नहीं लिखता कि 'अमुक कहता है' परन्तु 'मैं कहता हूँ' ऐसा लिखता है। लेकिन इन शास्त्रोंमें 'हे गौतम' अथवा 'गौतम कहे हैं' ऐसा जगह २ पर लिखा हुआ है। इस प्रकारका लिखना तो तभी संभव हो सकता है जव कोई अन्य कर्ता हो। अतः ये सूत्र गणधरकृत नहीं हैं किन्तु औरोंके किए हुए हैं। गणधरके नामसे कल्पित रचनाको प्रमाण करना चाहते हैं किन्तु विवेकी तो परीक्षा पूर्वक ही मानेगा केवल कहने से ही नहीं मान सकता।

उनका ऐसा भी कहना है कि गणधर सूत्रोंके अनुसार कोई दश पूर्वधारी हुआ है उसने यह सूत्र वनाये हैं। लेकिन उनसे पूछना यह है कि यदि नये ग्रन्थ वनाये थे तो नया नाम रखना था, अंगादिकके नाम क्यों रक्खे गए। यह कार्य तो ऐसा हुआ जैसे कोई बड़े साहूकारकी कोठीका नाम रखकर अपनी साहूकारी प्रगट करे यह सत्य तो तव होता जैसे दिगम्वर आचार्यों ने अनेक ग्रन्थ रचे किन्तु सव ही गणधर द्वारा भाषित अंग प्रकीर्णकके अनुसार रचे और उन सवमें ग्रन्थकर्ताके स्थानमें आचार्योंने अपना २ भिन्न नाम रक्खा और उन ग्रन्थोंके नाम भी भिन्न भिन्न रखे किसी ग्रन्थका भी नाम अंगादिक नहीं रक्खा और न यही लिखा कि यह गणधरदेवने रचे हैं। सच्चेको तो जैसे दिगम्वरोंमें ग्रन्थोंके नाम रक्खे गये हैं और अनुसारी पूर्व ग्रन्थोंको वतलाया है वैसे कहना योग्य था। अंगादिकका नाम रख कर गणधरदेवका भ्रम किस लिए पैदा किया गया। इसलिए यह गणधरके या पूर्वधारीके वचन नहीं हैं। इन सूत्रोंमें विश्वास लानेके लिए जो जिनमत अनुसार कथन है वह तो सत्य है ही, दिगम्वर भी वैसा ही वतलाते हैं। लेकिन जो कल्पित रचना की है उसमें पूर्वापर विरुद्धपना तथा प्रत्यक्षादिक प्रमाणसे विरुद्धपना प्रतीत होता है वही दिखाते हैं :—

अन्य लिङ्गसे मुक्ति का निषेध

श्वेताम्वर, अन्य लिंगियों, गृहस्थों, स्त्रियों वा चांडालादि शूद्रोंको साक्षात् मुक्तिकी प्राप्ति मानते हैं[1] यह ठीक नहीं है क्यों कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चरित्रकी एकताका नाम मोक्षमार्ग है। उनके यहां सम्यग्दर्शनका स्वरूप निम्न प्रकार वतलाया है

१—एक समयमें अधिकसे अधिक चार पुरुष गृही लिंगसे मुक्त होते हैं, दश अन्य तापस आदि अजैन लिंगसे मुक्त होते हैं एवं एकसौ आठ जैनलिंगसे सिद्ध होते हैं। प्रकरण २० [प्रवचन सा०] भा० ३, पृ० १२७, गा० ४८२ .

श्वेताम्वर हो, दिगम्वर हो, वुद्ध हो, या अन्य लिङ्गी हो जो समभावसे अपनी आत्माका ध्यान

अरहंतो महादेवो जावज्जीवं सुसाह(हु)णो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं ए सम्मत्तं मए गहियं[1] ॥१॥

लेकिन अन्यलिंगीके अरहंतदेव, साधुगुरु और जिनप्रणीत तत्त्वका श्रद्धान कैसे संभव हो सकता है ? और जब सम्यक्त्व नहीं तब मोक्ष कैसे हो सकता है ? यदि कहा जाय कि अन्तरङ्गमें श्रद्धान होनेसे उनके सम्यग्दर्शन होता है तो सत्यश्रद्धान हुए बाद विपरीत लिंगका धारक कैसे रह सकता है जब कि विपरीत लिंगके धारककी प्रशंसादि करनेपर भी सम्यक्त्वमें अतीचार लगता है। तथा श्रद्धान होनेके बाद महाव्रतादि अंगीकार करने पर सम्यक्चारित्र होता है सो अन्य लिंगमें कैसे संभव हो सकता है। यदि अन्य लिंगमें भी सम्यक् चारित्र होगा तो अन्यलिंग और जैनलिंग समान हो जायंगे। इस लिए अन्य लिंगीको मोक्ष कहना मिथ्या है। इसी प्रकार गृहस्थको मोक्ष होनेकी बात है क्योंकि हिंसादिक सभी सावद्यका त्याग करने पर सम्यक्चारित्र होता है और सर्वसावद्य का त्याग करने पर गृहस्थपना संभव नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि अन्तरंगसे त्याग है तो त्याग तो तीनों योगोंसे होता है। गृहस्थाश्रममें कायसे त्याग कैसे हुआ ? अगर बाह्य परिग्रहादि रखनेपर भी महाव्रत होते हैं तो महाव्रतमें तो बाह्यत्याग करनेकी ही प्रतिज्ञा की जाती है त्याग किए बिना महाव्रत नहीं होते और महाव्रतके बिना छठे आदि गुणस्थान नहीं हो सकते तो मोक्ष कैसे हो सकता है। इस लिए गृहस्थको मोक्ष कहना मिथ्या है।

स्त्री मुक्ति का निषेध

स्त्रीको भी मोक्ष होना बतलाते हैं[2]। भला जो सातवें नरक जाने योग्य पाप नहीं कर सकती उसके मोक्षका कारण शुद्धभाव कैसे हो सकता है। क्योंकि जिसके दृढ़ भाव हों वहीं उत्कृष्ट पाप व धर्म पैदा कर सकता है। दूसरे स्त्रीके निशंक एकान्तमें ध्यान धरना, सर्व परिग्रहादिकका त्याग करना संभव नहीं है। यदि कहा जाय कि एक समयमें पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी, नपुंसकवेदीको सिद्धि होना सिद्धान्तमें लिखा है इसलिए स्त्री को मोक्ष मानना उचित हैं, तो यहां प्रश्न यह है कि यह कथन भाव वेद लेकर है या द्रव्यवेदको लेकर ? यदि भाव वेदको लेकर है तो हम इसे मानते हैं।

करता है वह निःसन्देह सिद्धि प्राप्त करता है उद्धृतं गा० षट्प्रा० पृ० १२। गृहस्थ लिंग से मुक्ति के लिए देखो आख्यान रतिसार कुमार चरित, कूर्मापुत्र की कथा, चांडाल की मुक्ति प्राप्तिके लिये देखो हरिकेशीय आख्यान उ० अ० १२

१—अरिहं देवो गुरुणो सुसाहुणो जिण मयं पमाणं च। इच्चाइ सुहो भावो सम्मत्तं बिंति जगगुरुणो ॥ अभिधा० रा० [भ० २ अधि०]

२—तयोश्च पुंस्त्री शरीरस्य सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां कृत्स्नकर्मक्षयस्वरूपा सिद्धिः ॥ ५७ ॥ रत्ना० प० ७। असन्निसरिसिव पक्खी सीह उरगित्थि जति जाहिं कमसो उक्कोसेणं सत्तम पुढ़ी मणुय मच्छा। प्र० १०० च० भा० सम्र० सू० २३४

यदि द्रव्यवेदको लेकर है, तो पुरुष; स्त्रीवेदी तो लोकमें बहुत दिखाई देते हैं नपुंसक तो कोई विरला ही दीखता है। एक समय में मोक्ष जानेवाले इतने नपुंसक कैसे संभव हो सकते हैं? यह ठीक है कि वे वेद नौमे गुणस्थान तक बतलाये हैं परन्तु वह कथन भी भाववेदकी अपेक्षासे ही है। द्रव्यवेदकी अपेक्षासे होता तो चौदहवें गुणस्थान तक वेदका सद्भाव कहलाता अतः स्त्रीको मोक्ष कहना मिथ्या है।

इसी प्रकार शूद्रोंकी भी मुक्ति कहते हैं। भला चांडालादिकों का सन्मानादि कर गृहस्थ दानादिक कैसे देगा यह तो लोक विरुद्ध होगा। दूसरे नीच कुलवालों के उत्तम परिणाम नहीं हो सकते। तीसरे नीच गोत्रका उदय पांचवे गुणस्थान तक ही है और ऊपर के गुणस्थान चढ़े बिना मोक्ष नहीं हो सकता। यदि संयम धारण करनेके बाद उसको उच्चगोत्र का उदय कहलायगा तो संयमधारण करने या न करने की अपेक्षा से नीच गोत्र का उदय ठहरा इस तरह तो असंयमी मनुष्य, तीर्थंकर, क्षत्रियादिकके भी नीचगोत्र का उदय ठहरेगा। यदि उनके कुलकी अपेक्षा से ऊंच गोत्र का उदय कहोगे तो चांडालादिक के भी कुलकी अपेक्षा ही नीचगोत्रका उदय कहना चाहिये उसका सद्भाव श्वेताम्बरीय सूत्रोंमें भी पंचम गुणस्थान तक ही कहा है[1]। किन्तु कल्पित रचना करनेमें पूर्वापर विरुद्धता होती है इसलिए शूद्रोंको मोक्ष कहना मिथ्या है।

शूद्र मुक्तिका निषेध

इस तरह श्वेताम्बरों ने सबके ही मोक्षकी पात्रता बतलाई है इसका प्रयोजन है सबसे भला बनना मोक्षका लालच देना और अपने कल्पित मतकी प्रवृत्ति करना। परन्तु विचार करने पर यह सब मिथ्या ही ठहरता है।

इनके शास्त्रोंमें अछेरा भी बतलाये हैं[2]। उनका कहना कि यह हुंडावसर्पिणीके निमित्त से हुए हैं इनको छोड़ना नहीं चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि कालदोष से कोई बात हो तो हो किन्तु वह प्रमाण विरुद्ध नहीं होनी चाहिये अगर प्रमाण विरुद्ध भी माना जायगा तो आकाश के फूल और गधेके सींग का भी होना संभव हो जायगा। किन्तु वे जो अछेरा कहते हैं वह प्रमाण विरुद्ध हैं यही बात नीचे दिखाते हैं?

अछेरोंका खण्डन

भगवान् महावीर कितने ही काल तक ब्राह्मणीके गर्भमें रहकर पीछे क्षत्रियाणी के गर्भमें

१—सगसीय दे सि तिरगइ आउ निउज्जोय ति कसाया। द्वि० कर्मग्र० गा० १६।

२—तीर्थंकर पर उपसर्ग, वर्द्धमान का गर्भहरण, स्त्री (मल्लि) तीर्थंकर, महावीर की वाणीका व्यर्थ होना, कृष्णका धातकी खंड में कंकानगरी जाना, चन्द्र सूर्य का नीचे उतरना। हरिवंश। कुलकी उतपत्ति, चमर (असुरकुमार) का ऊर्ध्वगमन, १०८ सिद्ध होना, असंयतपूजा, (दस अच्छेरगा पण्णता तं जहा—उवसग्ग गब्भहरणं इत्थी तित्थं अभाविया परिसा, कण्हस्स अवर कंका उत्तरणं चदसुराणं ॥ १ ॥ हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पाओ य अट्ठसय सिद्धा, असंजयेसु पूया दसवि अणंतेण कालेण। स्था० ठा० १० स० ७७७), स्था० सु० ७७७।

वृद्धिको प्राप्त हुए[1]। किन्तु यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है कि किसीका गर्भ किसीके यहां रक्खा जाय। और न अनुमानादिक से भी यह बात सिद्ध होती है। दूसरे जब यह बात तीथङ्कर की है तब उनके गर्भ कल्याणक का एक जगह होना और जन्म कल्याणक का दूसरी जगह होना कहलाया, कुछ दिन रत्नवृष्टि आदि किसीके यहां हुई कुछ दिन किसीके यहां हुई, सोलह स्वप्न[2] किसीको आये और पुत्र किसीके यहां पैदा हुआ माता दो हुईं और पिता एक ब्राह्मण ही हुआ। जन्म कल्याणदिकमें उसीका सम्मान हुआ या अन्य किसी कल्पित पिताका। और यदि दो पिता कहे जांय तो यह अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है। सर्वोत्कृष्ट पद धारण करने वालेके विषयमें ऐसी बातें सुनना भी योग्य नहीं। तीसरे जब तीर्थंकर के बारेमें यह बात हो सकती है तब सब ही जगह एक स्त्री का गर्भ दूसरी स्त्री में रख देना साधारण बात ठहरती है फिर तो जैसे वैष्णवों के यहां अनेक प्रकारसे पुत्र पुत्री का होना बतलाया जाता है। वैसेही यह कार्य भी हुआ। किन्तु ऐसे निकृष्ट कालमें तो ऐसी बातें होती नहीं फिर तीर्थङ्करके होना कैसे संभव हो सकता है इसलिए यह मिथ्या है।

मल्लिनाथको कन्या कहा जाता है[3] परन्तु मुनि देवादिकों की सभामें स्त्री का रहना उपदेश देना संभव नहीं है। उत्कृष्ट तथा तीर्थङ्कर पदके धारकके हीन स्त्रीपर्याय का होना ठीक नहीं बनता। तीर्थङ्करोंके नग्न लिङ्ग ही बतलाया है किन्तु स्त्री के नग्नपना संभव नहीं है, इत्यादि विचार करनेसे यह सब असंभव ही मालूम देता है।

हरिक्षेत्रके भोगभूमियां जीवको नरकमें गया बतलाते हैं[4], लेकिन बन्धप्रकरणमें भोगभूमिवाले जीवके देवगति, देवायु का ही बन्ध होना बतलाया है तब नरक गमन कैसे? सिद्धान्त में तो अनन्त कालमें जो बात होती है उसका भी उल्लेख रहता है जैसेः—तीसरे नरक तक तीर्थङ्कर प्रकृतिका सत्व बतलाया है, भोगभूमि वाले जीवके नरकायु और नरक गतिके बंध का अभाव बतलाया है। केवली भगवान् कुछ भूल तो जाते ही नहीं हैं अतः भोगभूमिके जीवका नरक जाना भी मिथ्या है। इस प्रकार सबही अछेरे असंभव समझना चाहिये। उनका कहना है कि उन्हें छोड़ना नहीं चाहिये परन्तु झूठ बोलने वाले ऐसा ही कहते हैं।

प्रश्नः—दिगम्बरों के यहां भी तो तीर्थङ्करके पुत्रीका दोष, चक्रवर्तीका मानभङ्ग, आदिक कार्य कालदोषसे बतलाये गये हैं उसी प्रकार यह भी समझना चाहिये।

उत्तरः—यह कार्य प्रमाण विरुद्ध नहीं है। दूसरोंके सदा हुआ करते थे किन्तु महान्

१—गर्भहरण की कथा देखो व्याख्या० प्र० सू० १८६, स्था० अभयदेव टीका पृ० ४९६, स्था० ठा० १०, उ० ३ कल्प० अधि. क्षण, आव० मलय०।

२—१४ स्वप्नकी मान्यता इस समय श्वेतांबरों में प्रचलित है।

३—मल्ली विदेह रायवर कन्नगा — मल्ली विदेह राजा की कन्या। स्थाना० सूत्र ५६४

४—स्थाना० ठा० १० पृ० ४९७ अभयदे० टीका, कल्प० अधि० क्षण, आवश्यक मलय०।ण०।

पुरुषोंके भी हुए अतः कालदोषसे हुए कहलाये। गर्भ हरणादि कार्य तो प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणोंके विरुद्ध हैं अतः उनका होना कैसे संभव हो सकता है।

इसी प्रकार और भी बहुतसे कथन इनके यहां प्रमाण विरुद्ध बतलाये गये हैं। जैसे:— सर्वार्थसिद्धिके देव मन ही से प्रश्न करते हैं और केवली भगवान् मन ही से उनका उत्तर देते हैं। परन्तु जहां साधारणसे जीवके मन की बात बिना मनःपर्यय ज्ञानके नहीं जानी जा सकती वहां केवली भगवानके मनकी बात सर्वार्थसिद्धिके देव कैसे जान सकते हैं। दूसरे केवलीके भाव मन का तो अभाव है और द्रव्यमन जड़ है उसका आकारमात्र है तब उत्तर कौन देता है। अतः मिथ्या है। इस प्रकार अनेक प्रमाण विरुद्ध कथन पाये जाते हैं इसलिए उनको आगम कल्पित ही समझना चाहिए।

श्वेताम्बरोंके यहां देव गुरुधर्मका स्वरूप भी अन्यथा निरूपण किया है। वे केवलीके क्षुधादिक दोष बतलाते हैं किन्तु यह देवका मिथ्या स्वरूप है क्योंकि क्षुधादिक दोष होनेसे आकुलता होगी तब अनंत सुख कैसे बन सकता है? यदि कहा जाय कि शरीर को क्षुधा लगती है आत्मा तद्रूप नहीं होता तब क्षुधादिक का उपाय आहारादिक को ग्रहण करना क्यों कहा जाता है? क्षुधादिक से

केवलीके आहार नीहार का निषेध

पीड़ा होती है तभी तो आहार ग्रहण करते हैं। यदि कहा जाय कि कर्मोदयसे जैसे विहार होता है वैसे ही आहार भी होता है तब भी ठीक नहीं है। क्योंकि विहार तो विहायोगति के उदय से होता है और उसमें पीड़ा का कोई कारण नहीं, यहां तक कि किसी जीवके बिना इच्छाके भी होता हुआ देखा गया है। किन्तु आहार तो प्रकृतिके बिना ही क्षुधाकी पीड़ासे ग्रहण किया जाता है और आत्मा जब पवनादिक को प्रेरित करता है तभी निगला जाता है। इसलिए विहारके समान आहार नहीं है। यदि साताके उदयसे आहारादिक का होना माना जायगा तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जो जीव क्षुधासे पीड़ित हो और बादमें आहारादि ग्रहण करने में सुख माने तब उसके आहारादिक का होना साताके उदय से माना जाता है। आहारादिक साता वेदनीके उदयसे हो यह बात नहीं है। यदि ऐसा होता तो साता वेदनीय का मुख्य उदय देवोंके है, वे निरंतर आहार क्यों नहीं ग्रहण करते। तपस्वी मुनियोंके उपवासादि करते हुए भी साताका उदय रहता है और निरन्तर भोजन करने वालोंके असाता का उदय रहता है। इसलिए जिस प्रकार बिना इच्छा के विहायोगतिके उदय से विहार होना संभव है वैसे ही बिना इच्छाके केवल सातावेदनीय के ही उदयसे आहारका ग्रहण संभव नहीं है।

प्रश्नः—शास्त्रों में केवली के क्षुधादिक ११ परीषह बतलायी हैं इसलिए उनके क्षुधादिक

का होना संभव है। और आहारादिक के विना क्षुधा उपशांत नहीं हो सकती इसलिए उनके आहारादिक माना जाता है।

उत्तर–कर्म प्रकृतियोंका उदय तीव्र या मन्द होता है। यदि अतिमंद उदय हो तो उससे पैदा होनेवाला कार्य स्पष्ट मालूम नहीं पड़ता। इसलिए मुख्यतया तो उसका अभाव ही कहा जाता है और तारतम्य से सद्भाव कहा जाता है। जैसे नौवें गुणस्थान में वेदादिक का उदय मंद है अतः वहां मैथुनादि क्रिया प्रगट नहीं है इसलिए ब्रह्मचर्य ही कहा है। तारतम्य में मैथुनादिक का सद्भाव कहा जाता है। वैसे ही केवली के असाता का उदय अतिमंद है क्योंकि एक २ कांडक में अनंतवे भाग अनुभाग रहता है ऐसे बहुत से अनुभाग काण्डों द्वारा अथवा गुण संक्रमणादि द्वारा सत्तामें असातावेदनीयका अनुभाग अत्यंत मंद हो जानेके कारण उसके उदयमें ऐसी क्षुधा प्रकट नहीं होती जो शरीर को क्षीण कर दे। तथा मोहके अभावसे क्षुधाजनित दुःख भी नहीं इसलिए क्षुधादिक का अभाव बतलाया गया है। किन्तु तारतम्य से उसका सद्भाव भी कहा है। यदि आहारादि के द्वारा उपशांत होने योग्य क्षुधा लगे तो मंद उदय ही क्या रहा? देव और भोग-भूमिवाले जीवों के कुछ ही मंद उदय होने पर बहुत समय के बाद थोड़ेसे आहारका ग्रहण देखा जाता है। किन्तु केवलीके तो अत्यन्त ही मंद उदय होता है इसलिए केवलीके आहारका अभाव मानना उचित है।

प्रश्न–देव और भोगभूमिवालों का शरीर ही ऐसा है कि बहुत समय बाद उनको थोड़ी भूख लगती है लेकिन केवलीका शरीर कर्मभूमि का औदारिक है इसलिऐ विना आहारके इनका शरीर उत्कृष्टपने से कुछ कम एक करोड़ पूर्व पर्यन्त कैसे रहता है।

उत्तरः–देवादिकका भी वैसा शरीर कर्मके ही निमित्तसे है। यहां केवल ज्ञान होने पर ऐसे ही कर्मका उदय हुआ जिससे ऐसा शरीर हो गया जिससे भूख लगती ही नहीं। जैसे केवल ज्ञानके पहले केश और नख बढ़ते थे किन्तु बाद में नहीं बढ़ते, पहले छाया पड़ती थी वह फिर नहीं पड़ती, शरीर में निगोदिया थे वे नहीं रहे इस तरह जैसे बहुत सी बातोंसे शरीरकी अवस्था बदल गयी वैसे ही आहारके विना भी शरीरके ज्यों के त्यों रहने की अवस्था होगयी। यह तो प्रत्यक्ष ही देखने में आता है कि औरोंका शरीर बुढ़ापेमें शिथिल हो जाता है लेकिन इनका शरीर आयुके अन्त तक शिथिल नहीं होता। इसलिए अन्य मनुष्योंके शरीरसे इनके शरीरकी समानता नहीं हो सकती।

प्रश्नः–देवादिकों का तो आहार ही ऐसा है जिससे बहुत समयकी भूख मिट जाती है परन्तु इनकी भूख किससे मिटती है और शरीर पुष्ट कैसे रहता है?

उत्तरः–असाता का मंद उदय होनेसे इनकी भूख मिट जाती है और समय २ पर औदारिक शरीरके योग्य वर्गाणओंका ग्रहण होता है जिससे भूख वगैरह सालती नहीं शरीर शिथिल नहीं होता उनके नोकर्म आहार बतलाया है।[1] शास्त्रोंमें इसीकी अपेक्षा केवलीके आहार

१—नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार लेप्याहार, ओज आहार, मन आहार। भावसं० गा० ११०।

बतलाया है। और अन्नादिक का आहार तो शरीरकी पुष्टताका मुख्य कारण नहीं है। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कोई थोड़ा आहार ग्रहण करता है और शरीर बहुत पुष्ट होता है, कोई बहुत आहार ग्रहण करता है और शरीर क्षीण रहता है। तथा पवनादिक का साधन करने वाले (प्राणायाम करने वाले) बहुत कालतक आहार नहीं लेते और शरीर पुष्ट रहता है अथवा ऋद्धिधारी मुनियोंका उपवासादि करते हुए भी शरीर पुष्ट बना रहता है तब केवली तो सर्वोत्कृष्ट हैं उनके अन्नादिक के बिना यदि शरीर पुष्ट बना रहता हैं तो क्या आश्चर्य है।

केवलियोंके कवलाहारमें कुछ और भी शंकाएं हैं। वे आहारको कैसे जाते हैं? कैसे याचना करते हैं,? आहार को जब जाते हैं तब समवशरण खाली कैसे रहता है? यदि कोई दूसरा लाता है तो कौन लाता है? उनके मनकी बात कौन जानता है? पहले उपवास, आदि-की जो प्रतिज्ञाएं की थीं उनका निर्वाह कैसे होता है? जिन वस्तुओंके देखने वगैरहसे जीवोंको भोजनमें अन्तराय होता है वे सब झलकती हैं फिर आहार कैसे ग्रहण करते हैं इत्यादि बहुतसी बातें विरुद्ध ही प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहना ठीक नहीं है कि वे आहार तो ग्रहण करते हैं परन्तु किसी को दीखता नहीं है[1]; क्योंकि आहार ग्रहणको जब निंद्य समझा तब उसका न दीखना अतिशयोंमें लिखा, भला जब उनके निंद्यपना रहा ही फिर वह न दीखे तो इससे क्या हुआ। इस तरह सब ही बातें विरुद्ध ठहरती हैं।

केवली द्वारा संबोधन नमस्कारादि क्रियाओं का निषेध

अन्य अविवेकियोंका कहना है कि केवलीके नीहार होता है, रोगादिक होते हैं। कहा जाता है कि किसीने[2] तो तेजोलेश्या छोड़ी उससे वर्द्धमान स्वामीके पेचिश रोग होगया था उससे उन्हें कई बार[3] नीहार होने लगा[4] था भला जब तीर्थङ्कर केवलीके भी इस प्रकार कर्मका उदय रहा और अतिशय नहीं हुआ तब इन्द्रादिकों द्वारा उनका पूज्यपना कैसे शोभित हो सकता है तथा वे नीहार भी क्या कैसे करते होंगे ये कुछ संभव सी बात नहीं बैठती। रागादियुक्त छद्मस्थोंके जो क्रिया होती है वही क्रिया केवलीके बतलाते हैं। वर्द्धमान स्वामीके उपदेशमें

१—वे भगवान सुबह शाम कुछ कम एक प्रहरतक जब तक उनका धर्मोपदेश होता है सिंहासनपर ही बैठे रहते हैं। बाकीका दिन देवच्छंद नामके सुन्दर स्थानमें सुखपूर्वक बिताते हैं। उनके हाथ पर रक्खा हुआ आहार तो चर्मचक्षुओंसे दीखता है परन्तु वे कैसे खाते हैं यह नहीं दीखता क्योंकि सर्वज्ञका आहार नीहार चर्मचक्षुओंके गोचर नहीं है। स्याद्वा० र० पृ० ४६९

२—गोशालकने

३—छः महीने तक

४—सर्वज्ञ होनेके पहले महावीर स्वामीके पास एक गोशाल (संखाली ग्वालेका पुत्र) नामका शिष्य रहता था। उस शिष्यपर जब किसीने तेजोलेश्या (शरीर को भून देने वाली) फेंकी तो महावीरने अपनी शीत लेश्यासे उसे निस्तेज कर दिया। इस पर गोशालकने भगवानसे तेजोलेश्या की विधि पूछ कर उसे सिद्ध कर ली और अपने आपको "जिनेन्द्र" कहता हुआ भगवानसे अलग रहने लगा। एक दिन श्रावस्तीमें जहां गोशाल ठहरा हुआ था महावीर आये। लोगोंने पूछा महाराज यहां दूसरा

उनके द्वारा 'हे गौतम' ऐसा संबोधन करना भी बतलाते हैं[1]. किन्तु उनकी तो स्वाभविक दिव्यध्वनि खिरती है उसमें सर्वसाधारणको उपदेश होता है उसमें गौतमके संबोधनकी बात ठीक नहीं बैठती। केवली द्वारा नमस्कार आदि क्रियाका बतलाना भी[2] अनुचित है क्योंकि अनुरागके विना वन्दना हो नहीं सकती। दूसरे जो गुणोंमें अधिक है उसे वन्दना की जाती है किन्तु गुणोंमें उनसे बड़ा कोई रहा नहीं तब वन्दना किसकी ? तथा हाट (बाजार) में समवशरण का उतरना बतलाते हैं परन्तु इन्द्रकृत समवशरण हाटमें उतर कैसे सकता है ? इतनी रचना वहां आ ही कैसे सकती है ? क्या इन्द्र हाटके समान रचना भी नहीं कर सकता जिससे वह हाटका आश्रय लेता है। इसी तरह केवलीका उपदेश देने जाना भी[3] ठीक नहीं बैठता घर जाकर उपदेश देनेसे अतिरागता आती है जो मुनिके भी संभव नहीं है, केवलीके तो हो ही कैसे सकती है ? इस तरह अनेक उल्टी बातोंका निरूपण किया है। केवली शुद्ध ज्ञानदर्शनमय तथा रागादिरहित होते हैं उनके अघातिया कर्मोंके उदयसे होनेवाली कोई क्रिया होती है। किन्तु मोहादिकका अभाव हो जानेके कारण जो क्रिया उपयोग मिलनेसे हो सकती हैं वह नहीं होती। पाप प्रकृतिका अनुभाग उनके अत्यंत मन्द है ऐसा मन्द अनुभाग और किसीके नहीं होता इसलिए अन्य जीवोंके पापोदयसे जो क्रिया होती है वह केवलीके नहीं होती। इस तरह केवली भगवानके सामान्य मनुष्यों जैसी क्रियाका सद्भाव बतलाकर देवके स्वरूपका अन्यथा प्ररूपण करते हैं।

इसी तरह गुरूके स्वरूपका भी अन्यथा प्ररूपण करते हैं:—मुनिको वस्त्रादिक चौदह

जिनेन्द्र कौन ठहरा हुआ है ? महावीर (जो उस समय सर्वज्ञ हो चुके थे) ने कहा मेरा एक शिष्य गोशाल है जो यों ही अपने आप को जिनेन्द्र कहता है। यह बात कहीं गोशालने सुन ली वह क्रुद्ध हो महावीरके पास आकर दुर्वचन कहने लगा। उस समय सुनक्षत्र और सर्वानुभूति नामक साधुओंने जवाब देकर भगवानके अनादरका प्रतीकार करना चाहा। इसपर गोशालने उन पर तेजोलेश्या चला दी। वे दोनों वहीं भस्म हो गये। तब फिर महावीरने उसकी बातों का जवाब दिया। गोशालने उन पर भी वही तेजोलेश्या छोड़ी। वह लेश्या भगवान को तीन प्रदिक्षणा देकर गोशालके शरीरमें घुस गई और उसे वहीं भस्म कर दिया; परन्तु इस लेश्याके असरसे महावीर भी अछूते नहीं रहे उसकी गर्मीसे उन्हें भी पेचिश रोग होगया अर्थात् छः महीने तक बराबर उन्हें पेचिशके दस्त होते रहे, इत्यादि। देखो विस्तृतकथा भगवती० श० १५ उ० १ पृ० ६५९-६९५, उपासक दशा०, कल्पसुबो० टी०, आचा० चू०।

१—नेरइयाणं भन्ते ! कइविहा पोग्गलो भिज्जंति ? गोयमा ! कम्म दव्व वग्गण महिगिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जति, व्याख्या प्र० सू० १३।

२—आवश्यक० मलय० अ० १ गा० तित्थ पणामं काऊण कहेइ साहारणेण सद्देण, सव्वे सिं सन्नीणं जोयण णीहारिणा भयवं ॥ ५६६ ॥ ननु कृतकृत्यो भगवन् किमिति तीर्थप्रणामं करोति ? उच्यते; तप्पुव्विया अरहंया. पूइय पूया य विणय कम्मं च, कय किच्चो वि जह कहं, कहए नमए तहा तित्थं ॥ ५६७ ॥

३—सद्दाल पुत्र नामक करोड़पति कुम्हारकी भाण्डशालामें केवली भगवान महावीर उपदेश करने गये देखो कथाभाग उपासक दशा अध्य० ७ पत्र ४३–५३।

उपकरण रखना बतलाते हैं[1] । किन्तु प्रश्न यह है कि इधर तो मुनिको निर्ग्रन्थ बतलाया जाता हैं और वे मुनिपद लेते समय नौ प्रकारके संपूर्ण परिग्रहका त्यागकर महाव्रत अङ्गीकार करते हैं उधर तब उनके वस्त्रादिक परिग्रह कहलायेंगे या नहीं । अगर हैं तो त्याग करनेके बाद उन्हें क्यों रखते हैं और यदि नहीं हैं तो गृहस्थोंके वस्त्रादिकोंको भी परिग्रह नहीं कहना चाहिये; केवल सुवर्णादिकोंको ही परिग्रह कहना चाहिये ।

मुनिके वस्त्रादि उपकरणों का निषेध

प्रश्नः—भूखके लिए जैसे आहार ग्रहण किया जाता है वैसे ही शीतादिकके लिए वस्त्रादिकका ग्रहण भी उचित मानना चाहिये ।

उत्तरः—मुनिपद लेते समय परिग्रहका त्याग किया था; न कि आहारका, दूसरे अन्नादिकका संग्रह परिग्रह है; न कि भोजन करने जाय उसका नाम परिग्रह है । वस्त्रादिकका तो संग्रह करना और पहरना सब ही परिग्रह है जो लोक में प्रसिद्ध है ।

प्रश्नः—शरीरकी स्थितिके लिए वस्त्रादिक रखे जाते हैं उनसे ममत्व न होनेसे उन्हें परिग्रह नहीं कहना चाहिये ।

उत्तरः—श्रद्धान से तो जब सम्यग्दृष्टि हुआ तभी सम्पूर्ण परद्रव्योंमें ममत्वका अभाव होगया था । उस अपेक्षासे तो चौथे गुणस्थानको ही परिग्रह रहित कहना चाहिये ।

दूसरे जब प्रवृत्तिमें ममत्व नहीं तब ग्रहण कैसे करता है इसलिए जब वस्त्रादिकोंका लेना और पहरना छूटेगा तभी निःपरिग्रह कहलायेगा ।

प्रश्नः—यदि कोई वस्त्रादिक उठा ले जाये तो मुनिको क्रोध नहीं होता, भूख लगे तो उन्हें बेचते नहीं हैं । न उन्हें पहरकर प्रसन्न होते हैं प्रत्युत परिमाणोंकी स्थिरतासे धर्मका ही साधन करते हैं इसलिए मुनिके वस्त्रमें ममत्व नहीं कहना चाहिये ।

उत्तरः—मुनि क्रोध न भी करे तब भी जिसके ग्रहण करनेमें इष्ट बुद्धि होती है उसके वियोगमें अनिष्ट बुद्धि हो ही जाती है । अगर अनिष्ट बुद्धि न हो तो उसको याचना क्यों करते हैं । उनके न बेचनेका मतलब इतना ही है कि वे धातु रखनेमें अपनी हीनता समझते हैं । किन्तु जैसे धनादिकका रखना है वैसे ही वस्त्रादिकका रखना है । लोकमें परिग्रहके चाहनेवाले जीवोंके दोनों चीजोंकी इच्छा होती है । इसलिए चौरादिकके भयका कारण होने से धन और वस्त्र दोनों ही समान हैं । तथा परिणामोंकी स्थिरताके द्वारा धर्मका साधन करनेसे ही निःपरिग्रहपना नहीं होता । ऐसा होनेसे जिसको बहुत ठंड लगती होगी यदि सोड़ रखकर परिणामोंकी स्थिरता करेगा और धर्म साधेगा तो वह भी निःपरिग्रही कहलायगा । फिर तो गृहस्थ धर्म

१—पात्र १ पात्रबन्ध २ पात्रस्थापन ३ पात्रकेसरिका ४ पटलिकाएँ ५ रजस्त्राण ६ गोच्छक ७ रजोहरण ८ मुखवस्त्रिका ९ दो सूती कपड़े १०, ११ एक ऊनी (ऊर्ण मय) कपड़ा १२ मात्रक १३ चोल पट १४ बृ० कल्पसू० उ० ३ भाष्यगा० ३९६२, ३९६३, ३९६४ तथा ३९३५ ।

और मुनि धर्ममें कोई विशेषता ही नहीं रहेगी। जिसके परीषह सहन करनेकी शक्ति नहीं है वह यदि परिग्रह रखकर धर्म साधन करता है तो वह गृहस्थ है। और जो अपने परिणामोंकी निर्मलताके साथ परीषहोंसे व्याकुल नहीं होता अतः परिग्रह नहीं रखकर धर्मसाधन करता है वह मुनि है इतनी विशेषता है।

प्रश्नः—शीतादिककी परीषह होनेपर भी मुनि व्याकुल क्यों नहीं होता?

उत्तरः—व्याकुलता तो मोहोदयके निमित्तसे होती है, किन्तु मुनिके छठे आदि गुणस्थानोंमें तीन चौकड़ी[१]का उदय नहीं है और संज्वलनके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदय नहीं है देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय है सो उनमें कुछ बल नहीं। जैसे वेदक सम्यग्दृष्टिके सम्यङ्मोहनीयका उदय है वह सम्यक्त्वका घात नहीं कर सकता वैसे ही देशघाती संज्वलनका उदय परिणामोंको व्याकुल नहीं कर सकता, मुनि तथा दूसरोंके परिणाम समान नहीं हैं। तथा और सबोंके सर्वघातियोंका उदय है और मुनिके देशघातिका उदय है। इसलिए जैसे औरोंके परिणाम होते हैं वैसे इनके कभी नहीं होते अतः जिनके सर्वघाती कषायोंका उदय होता है वे गृहस्थ ही रहते हैं और जिनके देशघातीका उदय होता है वे मुनिधर्म अङ्गीकार करते हैं। उनके शीतादिकसे परिणाम व्याकुल नहीं होते इसलिए वस्त्रादिक नहीं रखते। मुनियोंको १४ उपकरण रखनेका उल्लेख जैन शास्त्रोंमें है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह कथन केवल श्वेताम्बर शास्त्रोंमें ही है दिगम्बरशास्त्रोंमें नहीं है। दिगम्बरोंमें तो लंगोट मात्र परिग्रह रहे तब भी वह ग्यारह प्रतिमाका धारक श्रावक बतलाया है। अतः अब देखना यह है कि इन दोनोंमें कल्पित वचन किसके हैं। पहले तो कल्पित रचना कषायी प्राणी ही करते हैं। और जो कषायी होता है वही नीच पदमें उच्चपना प्रकट करता है। यहां दिगम्बरोंमें वस्त्रादि रखनेसे धर्म होता ही नहीं ऐसा तो कहा नहीं है परन्तु उसे श्रावक धर्म बतलाया है। किन्तु श्वेताम्बरोंमें उसे मुनिधर्म बतलाया है। इसलिए यहां जिसने नीची क्रिया होनेपर उच्चपद प्रकट किया है वही कषायी है। इस कल्पित कथनसे वस्त्र रखनेपर भी अपने आपको लोक मुनि मानने लगेंगे यह मान कषाय का पोषण किया है। तथा दूसरोंको सरल क्रिया होते हुए उच्चपदका होना दिखलाया इसलिए बहुतसे लोग मुनि हो गये। जो कल्पित मत हुए हैं वे इसी प्रकार हुए हैं। इसलिए श्वेताम्बरोंमें वस्त्रादि होनेपर जो मुनिपनेका कथन है वह पूर्वोक्त युक्तियों द्वारा विरुद्ध प्रतीत होता है। इसलिए इन सबको कल्पित वचन समझना चाहिये।

प्रश्नः—दिगम्बर शास्त्रोंमें भी तो पीछी आदिको मुनिका उपकरण बतलाया है। इसलिए १४ उपकरण भी स्वीकार करना चाहिये।

[illegible] जिससे उपकार हो उसका नाम उपकरण है किन्तु यहां यदि शीतादिककी [illegible] किसी [illegible] उपकरण ठहराया जायगा तो सम्पूर्ण परिग्रहरूप सामग्री

१—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ।

उपकरण कहलायगी। धर्ममें ऐसे उपकरणोंका क्या प्रयोजन है यह तो पापके उपकरण हैं। धर्ममें तो धर्मका जो उपकारी हो उसीका नाम उपकरण है अतः ज्ञानके लिए शास्त्र और दया के लिए पीछी और शौच के लिए कमण्डलु कारण हैं इसलिए यह धर्मके उपकारी हुए। लेकिन वस्त्रादिक धर्मके उपकारी कैसे हो सकते हैं। वे तो शरीरके सुखके लिए ही पहिरे जाते हैं। हां यदि शास्त्र रखकर अपनी महानता बतावे, पीछीसे बुहारी दे और कमण्डलु से जल आदि पीवे या मैल उतारे तो शास्त्रादिक भी परिग्रह ही हैं। मुनि ऐसे काम नहीं करते इसलिए धर्मके साधनोंको परिग्रह नहीं कहते, भोगके साधनोंको परिग्रह कहते हैं यहां यह कहना ठीक नहीं कि कमण्डलु से तो शरीरका ही मलदूर किया जाता है। मुनि मलदूर करनेकी की इच्छासे कमण्डलु नहीं रखते किन्तु शास्त्रवाचन आदि कार्य करते समय अगर मललिप्त हों तो उनकी अविनय होगी, लोकनिंदा होगी अतः इस धर्मके लिए वे कमण्डलु रखते हैं। इसी तरह पीछी आदिक भी उपकरण हैं किन्तु वस्त्रादिकोंको उपकरण नहीं कह सकते। काम, अरति आदि मोहनीयके उदयसे बाह्यमें विकार प्रकट होते हैं और शीतादिक सहे नहीं जाते इसलिए विकारको ढकने तथा शीतादिक घटानेके लिए वस्त्र रखते हैं। साथ ही मानके उदयसे अपनी महानता भी चाहते हैं अतः कल्पित युक्तियोंसे वस्त्रोंको उपकरण ठहराया गया है। तथा घर २ याचना करके आहार लाना बतलाया गया है[१]। इसमें पूछना यह है कि याचना धर्मका अङ्ग है या पापका अङ्ग है? यदि धर्म का अङ्ग है तो मांगनेवाले सब धर्मात्मा हुए। यदि पापका अङ्ग है तो मुनिके याचना कैसे हो सकती है?

प्रश्नः—लोभसे धनादिका मांगना पाप कहलाता है परन्तु मुनि तो धर्मसाधनके लिए शरीरकी स्थिरता चाहता है।

उत्तरः—आहारादिकसे धर्म नहीं होता किन्तु शरीरका सुख होता है शारीरिक सुखके लिए अतिलोभ होने पर याचना करता है। अगर अतिलोभ न होता तो स्वयं क्यों मांगता, वे ही देते तो देते; न देते तो न सही दूसरे अतिलोभ होने से यहां ही पाप हुआ तो मुनिधर्म भी नष्ट हुआ तब धर्म कहां सधे गा?

प्रश्नः—मनमें आहारकी इच्छा होनेपर भी यदि नहीं मांगता तो माया कषाय हुई और मांगनेमें हीनता झलकती है इसलिए गर्वसे मांगता नहीं अतः मानकषाय भी हुई। इसलिए आहार लेना था सो मांग लिया इसमें अतिलोभ क्या हुआ और इससे मुनिधर्म कैसे नष्ट हुआ?

१—भिक्षु गृहस्थके घरमें घुसकर यदि गृहपति को भोजन करता देखे तो वह पहले ही देखले कि यह घर मालिक है, उसकी स्त्री है अथवा कोई नौकरानी है। इस तरह वहां जो हो उसका नाम लेकर कहे आयुष्मन्! इस आहारके अतिरिक्त क्या अन्य आहार आप मुझे देंगे (अय तत्थकंचि भुंजमाणं पेहाए। जहा— गाहावइय वा० जाव कम्मकरिं वा. से पुव्वामेव आलोएज्जा। आउसो! त्ति वा भइणि! त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं, भोयण जायं..इत्यादि।) इत्यादि। आ०श्रुतस्कं० २ अ० १ उ० ६। अगर भिक्षु घर पर (वसतिकामें) लाकर भोजन करना चाहे तो उसकी विधि यह है कि वसतिकाके

उत्तर:—कल्पना कीजिए किसी व्यापारीकी कमाने की इच्छा मंद है वह दुकानपर तो बैठता है और मनमें व्यापार करनेकी इच्छा भी है परन्तु किसीसे वस्तु लेने देने रूप व्यापारके लिऐ प्रार्थना नहीं करता। स्वयं ही कोई आवे और अपनी विधि मिले तो व्यापार करता है उस व्यापारीके लोभकी मंदता है माया तथा मद नहीं है। माया तथा मान तो तब होता जब छल करनेके लिए या अपनी महत्ता के लिए ऐसा स्वांग करता। किन्तु भले व्यापारीको इससे कुछ मतलब नहीं। इसलिए न उसके मान है न माया। उसी प्रकार मुनियोंके आहारादिककी इच्छा मंद है वे आहार लेने आते हैं और मनमें आहार लेनेकी इच्छा भी है परन्तु आहारके लिए प्रार्थना नहीं करते। स्वतः कोई देता है तो विधि मिलनेपर आहार ले लेते हैं यह उनके लोभकी मंदता है माया या मान नहीं है। माया मान तब होता जब छल करने के लिए या महानताके लिए वे ऐसा स्वांग करते। किन्तु मुनियोंके ऐसा कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिए इनके माया और मान नहीं हैं। और अगर इसीका नाम माया और मान है तो जो मन ही से पाप करते हैं वचनसे और कायसे नहीं करते उन सबके माया कहलायगी और जो उच्चपद के धारक नीचवृत्ति धारण नहीं करते उन सब के मान कहलायेगा इस तरह बड़ा अनर्थ होगा। रही यह चर्चा कि आहार मांगनेमें अति लोभ कैसे होगा ? सो अतिकषाय होनेपर लोकनिंद्य कार्य अंगीकार करके भी मनुष्य अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहता है सो मांगना लोकनिंद्य है ही उसको भी अंगीकार कर आहारकी इच्छा पूर्ण करनेकी चाह हुई इसलिए यह अतिलोभ तो हुआ ही। इसीसे मुनिधर्म भी नष्ट हुआ कहलाया क्यों कि मुनिधर्ममें ऐसी तीव्र कषाय संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त किसी के आहार देनेके परिणाम न थे किन्तु घरमें जाकर जब इसने याचना की उसे संकोच हुआ और न देनेपर लोकनिंदाका भय मालूम दिया। अतः उसने आहार दिया। इसमें उसके अन्तरङ्ग प्राण पीड़न से हिंसा का सद्भाव आया। क्योंकि यदि आप उसके घरमें न जाते उसही के देनेके भाव होते तो देता और उससे उसे हर्ष होता किन्तु यह तो दबा कर कार्य कराना हुआ। तथा अपने कार्यके लिए याचनारूप जो वचन है वह पापवचन है अतः यहां असत्य वचन भी हुआ। उसकी देनेकी इच्छा न थी उसने याचना की अपनी बिना इच्छा के ही संकोचसे दिया। इसलिए अदत्तग्रहण भी हुआ। घरमें गृहस्थकी स्त्रियां जैसी तैसी बैठी हुई थीं इसके वहां चले जानेसे ब्रह्मचर्यकी बाढ़का भी भंग हुआ। आहारका लाना, कुछ समय तक रखना आहारादि रखनेको पात्र रखना आदि बातें परिग्रह भी—

बाहर किसी खड्डे में बैठकर उस आहार का शोधन करे। जब शोधन कर चुके तो हाथ जोड़कर "नमः श्रमा श्रमणेभ्यः" कहता हुआ गुरूके पास ईर्यापथ शुद्धिसे आवे और "इच्छामि पड़िक्कमिश्रं (सिया य भिक्खू इच्छेज्जा सिज्जामागम्म भुत्तुयं, सपिंड पाय मागम्म, उंडयंसे पडिले हिया ॥ ८७ ॥ विणएणं पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी, इरिया वहिय मायाय आगओ य पडिक्कमे ॥ ८८ ॥,) इरिया वहि याए" इत्यादि पाठ पढ़ कर गुरूके समीप कायोत्सर्ग करे। दशवे० ५ उ० १।

सिद्ध हुई इस तरह पंच महाव्रतके भंग होने से मुनिधर्म नष्ट होता है। इसलिए याचनापूर्वक आहार लेना मुनिको उचित नहीं।

प्रश्नः—मुनिकी बाईस परीषहोंमें याचना परीषह भी बतलायी है मांगे विना उस परीषह-का सहन कैसे होगा?

उत्तरः—याचना करनेका नाम याचना परीषह नहीं है, याचना न करनेका नाम याचना परीषह है। क्योंकि जैसे अरति करनेका नाम अरतिपरीषह नहीं है किन्तु अरति न करने का नाम अरतिपरीषह है वैसे ही यहां भी समझना चाहिए। अगर याचना करना ही परीषह हो तो जो प्राणी बहुत याचना करते हैं उनके अधिक धर्म होना चाहिये यदि मान घटानेसे इसको परीषह कहा जायगा तो कोई कषायी अपने कार्य के लिए यदि कोई कषाय छोड़ दे तो वह भी परीषह होता है, जैसे कोई लोभके लिए अपने अपमानको भी नहीं गिनता तो उसकी जो लोभकी तीव्रता है वह उस अपमान सहने की अपेक्षा से भी महापाप है। और स्वयं के इच्छा न होकर फिर कोई अपमान करता है तो यह उसके लिये महाधर्म है। किन्तु यहां तो भोजनके लोभके लिए याचना करके अपमान कराया है इसलिए पाप ही है धर्म नहीं। इसी प्रकार वस्त्रादिकके लिए भी याचना करना कोई धर्मका अंग नहीं है। यह शारीरिक सुखका कारण है, इसलिए पूर्वोक्त प्रकारसे उसका निषेध ही समझना चाहिये। अपने धर्मरूप उच्चपद को याचनासे नीचा करता है इसमें धर्मकी हीनता होती है इत्यादि अनेक प्रकारसे मुनिधर्ममें याचना आदि संभव नहीं है परन्तु इनके यहां ऐसी असंभव क्रियाओं के धारक साधु गुरू बतलाये गये हैं इसलिए गुरूका स्वरूप अन्यथा करते हैं!

इसी प्रकार धर्मका स्वरूप भी अन्यथा बतलाते हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता का नाम मोक्षमार्ग है और वही धर्म है। किन्तु वे इसका स्वरूप भी अन्यथा कहते हैं इसीको आगे बतलाते हैं—

धर्मका अन्यथा-स्वरूप

सम्यग्दर्शन का मतलब है तत्त्वार्थश्रद्धान, उसकी तो प्रधानता नहीं है किन्तु जिस तरह वे अरहंत, देव, साधु, गुरू, और दयाधर्मका निरूपण करते हैं उसके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें पहले तो अरहंतादिका स्वरूप ही अन्यथा है। दूसरे, इतने ही श्रद्धानसे विना तत्त्वश्रद्धान हुए सम्यक्त्व कैसे हो सकता है, इसलिए इसे मिथ्या कहते हैं। तत्त्वके श्रद्धानको सम्यक्त्व तो बतलाते हैं किन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं कहते। गुणस्थान, मार्गणादिरूप जीव का, अणु स्कंधादि अजीवका, पुण्यपापके स्थानोंका, अविरत आदि आश्रवोंका व्रतादिरूप संवरका,

---

१—चार प्रकारकी प्रतिमाओं (अभिग्रह विशेष) द्वारा वस्त्रका अन्वेषण करे—यथा संकल्पित वस्त्रकी याचना करूंगा १ देखे हुए वस्त्र की याचना करूंगा दूसरे की नही २...इत्यादि। सूत्र १४६ आ० चू० १ अ० ५ उ० १, बृ० क० भाष्यगा० ६१५।

तपश्चरणादिरूप निर्जराका, और सिद्ध होनेके योग्य लिंगादिकके भेदसे मोक्षका स्वरूप जैसा उनके शास्त्रोंमें लिखा है वैसा ही मान लीजिये, और केवलीके वचन प्रमाण हैं, ऐसे तत्त्वार्थ श्रद्धानसे सम्यक्त्व हुआ मानते हैं। यहां, प्रश्न यह है कि ग्रैवेयक जानेवाले द्रव्यलिङ्गीके ऐसा श्रद्धान होता है या नहीं ? यदि होता है तो उसे मिथ्यादृष्टि क्यों कहते हैं। और यदि नहीं होता है तो उसने तो जैनलिङ्ग धर्मबुद्धि से धारण किया है उसके देवादिकका श्रद्धान कैसे नहीं हुआ। तथा उसके शास्त्रोंका अभ्यास भी बहुत है फिर वह जीवादिकके भेद कैसे नहीं जानता। और दूसरे मतका लवलेश भी उसके अभिप्राय में नही है तब उसके अरहंत वचनकी कैसे प्रतीति नहीं हुई ? इससे सिद्ध होता है कि उसके श्रद्धान तो हुआ पर सम्यक्त्व नहीं हुआ। तथा नारकी, भोग भूमिके जीव, तिर्यच, आदिके ऐसे श्रद्धान होनेका निमित्त नहीं किन्तु बहुतकाल तक सम्यक्त्व रहता है। इस लिए उसके वैसा श्रद्धान न होते हुए भी सम्यक्त्व हुआ। अतः सम्यग्दर्शन का यह स्वरूप नहीं है, जो सत्य स्वरूप है उसका आगे वर्णन करेंगे।

इसी तरह उनके शास्त्रोंके अभ्यास करने का नाम वे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। किन्तु द्रव्य लिङ्गी मुनिके शास्त्राभ्यास होते हुए भी मिथ्याज्ञान बतलाया है। असंयत सम्यग्दृष्टिके विषयादि रूप जाननेको भी सम्यग्ज्ञान कहा है इसलिए सम्यग्ज्ञान का यह स्वरूप नहीं है किन्तु आगे वर्णन करेंगे। तथा उनके द्वारा निरूपित अणुव्रत महाव्रत रूप जो श्रावक और मुनियों का धर्म है उसके धारण करने से वे सम्यक् चारित्र हुआ मानते हैं। किन्तु पहले तो व्रतादिक का स्वरूप ही उन्होंने अन्यथा बताया है जिसका उल्लेख हम पहले गुरुवर्णन के समय कर आये हैं। दूसरे द्रव्यलिङ्गीके महाव्रत होते हुए भी सम्यग्चारित्र नहीं होता और उनके मतानुसार गृहस्थादकके महाव्रतादिक बिना अङ्गीकार किये भी सम्यक्चारित्र होता है इस लिये सम्यक्चारित्रका यह स्वरूप नहीं है सच्चा स्वरूप आगे कहें।

प्रश्नः—द्रव्य लिङ्गीके अन्तरङ्गमें जो पूर्वोक्त श्रद्धानादिक हुए कहे थे वे वास्तवमें बाह्य में ही हुए थे इसलिए उसके सम्यक्त्व वगैरह नहीं हुआ।

उत्तरः—अन्तरङ्ग में न धारण करके बाह्यमें धारण करना तो कपट करना है और जब कपट है तब ग्रैवेयकको प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उससे तो नरकादिक की प्राप्ति होगी। बंध तो अन्तरङ्ग परिणामों से ही होता है। जब तक अन्तरङ्गमें जिन धर्म रूप परिणाम न होंगे तब तक ग्रैवेयक जाना असंभव है। इसी तरह व्रतादिरूप शुभ उपयोगसे ही देवगतिका बंध मानते हैं और इसीको मोक्षमार्ग मानते हैं इस तरह बन्धमार्गको और मोक्षमार्ग को जो एक कर दिया है वह मिथ्या है। व्यवहार धर्मसे भी बहुत सा विपरीत निरूपण किया है निंदक को मारनेमें पाप नहीं है ऐसा कहते हैं किन्तु तीर्थङ्करोंके निंदक बहुतसे अन्यमती हुए हैं उनको इन्द्रादिकोंने
विणएण, इरिया वहि पाप न होता तो इन्द्रादिक भला क्यों नहीं मारते। इसी तरह प्रतिमा को

आभूषण आदि भी पहनाते हैं। प्रतिबिंब तो वीतराग भाव बढ़ाने को स्थापित किये थे किन्तु आभूषण पहनाने से तो वे अन्यमत की मूर्ति की तरह हो गये। इत्यादिक कहां तक कहा जाय बहुत सी बातों का अन्यथा निरूपण किया है। इस तरह श्वेताम्बर मत कल्पित समझना चाहिये। इसमें सम्यग्दर्शनका जो अन्यथा निरूपण किया है इससे मिथ्यादर्शन की ही पुष्टि होती है इसलिए इसका श्रद्धानादि नहीं करना चाहिये।

ढूंढक पंथका खण्डन

इन श्वेतांबरों से ही ढूंढिया निकले हैं। वे अपने को सच्चा धर्मात्मा मानते हैं यह उनका भ्रम है। क्योंकि कोई तो भेष धर कर साधु कहलाते हैं परन्तु उनके ग्रन्थों के अनुसार भी उनके गुप्ति आदिका साधना प्रतीत नहीं होता। वे मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनाओं से संपूर्ण सावद्य-योगका त्याग करने की प्रतिज्ञा करते हैं। किन्तु पीछे पालन नहीं करते। बालकोंको, अज्ञानियोंको, भोलेंको और शूद्रादिकों ही दीक्षा देते हैं। इस तरह त्याग तो करते हैं परन्तु त्याग करने के बाद कुछ विचार नहीं करते कि मैंने क्या त्याग किया, पीछे पालन भी नहीं करते और उन्हें सब साधु मानते हैं। कहते यह हैं कि जब धर्मबुद्धि हो जायगी तब इसका भला हो जायगा। भला जब दीक्षा देनेवालेने प्रतिज्ञा भंग होती जान कर प्रतिज्ञा भंग करायी और इसने प्रतिज्ञा लेकर फिर उसे भंग की तब पाप किसको लगा। तथा बादमें भी धर्मात्मा होनेका निश्चय क्या इसी प्रकार जो साधुका धर्म अङ्गीकार कर यथार्थ पालन न करे उसको साधु मानना चाहिये या नहीं? अगर मानना चाहिये तो जो साधु नाम से कहे जाते हैं और भ्रष्ट हैं उन सभीको साधु मानना चाहिये। अगर नहीं मानना चहिये तो इनको भी साधुपना नहीं रहा। तथा यह लोग जैसा आचरण होने से साधु मानते हैं उसका भी पालन किसी विरलेके ही पाया जाता है फिर सबको साधु क्यों माना जाता है?

प्रश्नः—जिसका यथार्थ आचरण होगा उसीको साधु माना जायगा। दूसरेको नहीं।

उत्तरः—एक संघमें बहुतसे भेषी हैं उनमें जिसका यथार्थ आचरण है वह दूसरेको साधु मानता है या नहीं। अगर मानता है तो वह तुमसे भी अधिक अश्रद्धानी हुआ उसको

१—शक्ति हो तो रत्न, सोना, मोती, आभरण, श्वेत और लाल फूल आदिके द्वारा तथा चन्द्रोदयादि विचित्र रेशमी वस्त्रों द्वारा-जिन प्रतिमा को सजावे। (सति च सामर्थ्ये रत्न सुवर्ण मुक्ताभरण रौप्य सौवर्ण पुष्पादिभिश्चन्द्रोदयादि विचित्र दुकूलादिवस्त्रैश्चाप्यलंकुर्यात्।) धर्मसंग्रह सटीक—अ० रा० पृ० १२८१।
गंध, माल्यप्रदीप, मज्जन, उपलेपन, अंगराग, बलि, वस्त्र, धूपादिकसे पूजा सत्कार द्वारा अरिहंत भगवान को अभ्यर्चना करते हुए तीर्थोत्थापन करते हैं। (महानिशीथेऽपि तृतीयाध्ययने-अरिहंताणं भगवंताणं गंध मल्लपईव संमज्जणोवलेवण विचित्तबलिवत्थ धूवाइएहिं पूजा सक्कारेहिं पइदिणम भच्चणं पकुव्वाण तित्थुत्थप्पणं करामो त्ति"।) महानिशी० अ० ३

२—नित्य आहार करने वाले साधुको गृहस्थके घर एक बार ही जाना चाहिये दूसरी बार नहीं। किन्तु वैयावृत्य करने वाले आचार्य क्षुल्लक क्षुल्लिकाओंके नीचे दाढ़ीमें तथा बगलमें बाल न आये हों वे भी दो बार भोजन करें तो कोई दोष नहीं है। कल्पसू० अ० ९, अ० रा० पृ० ९७१।

पूज्य कैसे मानते हो? और नहीं मानता तो उनसे साधुका व्यवहार कैसे करता है? तथा स्वयं उनको साधु नहीं मानता किन्तु उन्हें अपने संघमें रखकर औरोंसे साधु मनवाता है उन्हें अश्रद्धानी करता है ऐसा कपट किस लिए करता है? तथा तुम जिसे साधु नहीं मानोगे तब अन्य जीवोंको भी ऐसा ही उपदेश दोगे कि इनको साधु मत मानो यह धर्म-पद्धत्तिमें बुरी बात होगी। और जिसको तुम साधु मानते हो उससे भी तुम्हारी विरुद्धता होगी क्यों कि वह उसे साधु मानता है। और जिसे तुम यथार्थ आचरण मानते हो विचार करनेपर वह भी यथार्थ मुनिधर्म नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि "वे अन्य भेषधारियोंसे बहुत अच्छे हैं इसलिए हम मानते हैं" क्योंकि अन्य मुनियोंमें तो नाना प्रकारका भेष होता है वहां राग भावका निषेध नहीं है लेकिन इस जैनमतमें तो जैसा कहा है वैसा ही होनेपर साधु संज्ञा होती है।

प्रश्नः—वे शील संयमादिका पालन करते हैं, तपश्चरणादि करते हैं इसलिए जितना करे उतना ही अच्छा है।

उत्तरः—यह ठीक है कि धर्म थोड़ा भी पाला हुआ अच्छा है परन्तु प्रतिज्ञा तो बड़े धर्मकी की जाय और पालन थोड़ा किया जाय इससे प्रतिज्ञा भंगका महापाप लगता है। जैसे कोई उपवासकी प्रतिज्ञा करके एक बार भोजन कर ले तो बहुत बार भोजनका संयम होनेपर भी प्रतिज्ञा भंगसे पापी कहा जाता है। उसी प्रकार मुनिधर्मकी प्रतिज्ञा करके कोई थोड़ा सा धर्म न पाले तो वह शील संयमादि होनेपर भी पापी कहलाता है किन्तु एकाशनकी प्रतिज्ञाकर यदि एक ही बार भोजन करे तो धर्मात्मा है। अपना श्रावकपद धारणकर थोड़ा भी धर्मसाधन करे तो धर्मात्मा ही है। यहां तो ऊंचा नाम रखकर नीची क्रिया करनेसे पापीपना होता है यथायोग्य नाम रखकर धर्मक्रिया करनेसे पापीपना नहीं होता है। जितना धर्म साधन करे उतना ही अच्छा है।

प्रश्नः—पंचमकालके अंततक चतुर्विध संघका सद्भाव बतलाया है इनको साधु न माना जायगा तो फिर किसको माना जायगा?

उत्तरः—इस क्षेत्रमें हंसका सद्भाव बतलाया है। किन्तु अगर अपने क्षेत्रमें हंस न दीखे तो औरोंको हंस नहीं माना जा सकता। हंसका सा लक्षण मिलनेपर ही हंस माना जायगा। वैसे ही इस कालमें साधुका सद्भाव है अगर अपने क्षेत्रमें साधु नहीं दीखते तो ओरोंको साधु कैसे मान लिया जायगा। साधुका लक्षण मिलनेपर ही साधु माना जायगा। क्या इनका भी सद्भाव अभी थोड़े ही क्षेत्रमें है उससे अन्य क्षेत्रमें साधुका सद्भाव कैसे माना जायगा? यदि कहोगे कि साधुका लक्षण मिलनेपर अन्य क्षेत्रमें साधु मानेंगे तो यहां भी उसी तरह मानो। अगर विना लक्षणके मानोगे तो बहुतसे कुलिङ्गी हैं उनको भी साधु मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा माननेसे विपरीत होगा इसलिए यह ठीक नहीं है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि इस पंचमकालमें ऐसे ही साधु होंगे क्योंकि ऐसा कहनेवालेको कोई शास्त्रका सिद्धान्त वचन बताना चाहिए। बिना ही शास्त्र वचनके ऐसा माननेवाला पापी है। इस तरह अनेक युक्तियोंसे इनका साधुपद नहीं बनता।

और विना साधुपनके साधु मानना, गुरू मानना मिथ्यादर्शन है, क्योंकि भले साधुको ही गुरू माननेसे सम्यग्दर्शन होता है।

यह लोग श्रावक धर्मकी भी अन्यथा प्रवृत्ति कराते हैं। त्रसकी हिंसा, स्थूल झूंठ आदिके होते हुए भी थोड़ा सा प्रयोजनरहित त्याग करा कर उसको देशव्रती हुआ कहते हैं। किन्तु वे त्रस घातादि जिसमें होते हैं ऐसे काम करते हैं। देशव्रत गुणस्थानमें तो ग्यारह अविरति कहे हैं वहां त्रसघात कैसे संभव है? तथा ग्यारह प्रतिमाभेद श्रावकके हैं उनमें दशमी ग्यारहवीं प्रतिमाधारक कोई श्रावक तो होता नहीं और साधु होते हैं। इसका कारण पूछनेपर उत्तर

प्रतिमाधारी श्रावक न होनेकी मान्यताका निषेध

देते हैं कि 'प्रतिमाधारी श्रावक आजकल हो नहीं सकता।' सोचनेकी बात है कि श्रावक धर्म तो कठिन है और मुनिधर्म सुगम है यह कितना विरुद्ध है। ग्यारह प्रतिमाधारीके थोड़ा परिग्रह और मुनिके अधिक परिग्रह बताते हैं यह भी ठीक नहीं है। तथा यह भी कहना है कि ये प्रतिमा तो थोड़े समय पालन करके छोड़ दी जाती हैं[1]। यदि ये उत्तम हैं तो धर्मात्मा पुरुष क्यों छोड़ता है। और यदि ये नीचे कार्य हैं तो क्यों अंगीकार करता है इसलिए यह भी ठीक नहीं है। इसी प्रकार कुगुरु कुदेवको नमस्कार करते हुए भी श्रावकपना बताते हैं। कहते हैं कि धर्मबुद्धिसे वंदना नहीं करते लौकिक व्यवहार पालते हैं। परन्तु सिद्धान्तमें तो उनकी प्रशंसा और स्तवनको भी सम्यक्त्वका अतिचार बताया है और गृहस्थोंका भला मनानेके लिए उनकी वन्दना करनेमें भी कुछ नहीं कहते। यदि भय लज्जा कुतूहलादिकसे वंदना करता है तो इन कारणोंसे कुशील, आदिके सेवनमें भी पाप नहीं कहना चाहिये। अंतरङ्गमें पाप समझना चाहिये। इस तरह सब आचरणों में विरुद्धता होगी। मिथ्यात्व सरीखे महापापकी प्रवृत्ति छुड़ानेकी तो मुख्यता नहीं है किन्तु वायुकायकी हिंसा बताकर खुले मुखसे बोलना छुड़ाने की मुख्यता है[2] यह क्रमभंग उपदेश है। धर्मके अङ्ग तो बहुत हैं परन्तु उनमें एकमात्र परजीवकी दयाको ही मुख्य बताते हैं। किन्तु इसका भी कुछ विवेक नहीं है। जलका छानना, अन्नका शोधना, सदोष वस्तुका भक्षण न करना, हिंसादिरूप व्यापार न करना, इत्यादि अङ्गोंकी तो मुख्यता नहीं किन्तु मुंहपर पट्टी बांधना,

---

१—'दर्शन प्रतिमा वालेके सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो पहले ही हो चुकी थी किन्तु यहां शङ्कादि दोष तथा राज अभियोग आदि दोष न रहें इस लिए सम्यग्दर्शन रूप आचारके परिपालनकी दृष्टिसे इसको पहली प्रतिमा बताया मालूम पड़ता है अन्यथा पहली प्रतिमा को एक मास, दूसरी को दो मास, ग्यारहवीं को ग्यारह मास पाश पालनकर साढ़े पांच वर्ष पूरे करने का कोई मतलब ही नहीं था'। उपास० उ० १।

२—'बहुतसे उड़ने वाले सूक्ष्म जीव फैले हुए हैं उनकी रक्षाके लिए यह मुखवस्त्रिका है।' उत्त० उ० ३ पृ० ७५।

मुंहपट्टीका निषेध

शौचादिक थोड़ा करना, इत्यादि कार्यो की मुख्यता है। उसमें भी मैलयुक्त पट्टीके साथ थूकका संबंध होनेसे जीव उत्पन्न हो जाते हैं सो उनका तो यत्न नहीं करते और वायुकायकोंकी हिंसाका यत्न बतलाते हैं। परन्तु नासिकासे बहुत सी पवन निकलती है उसका कुछ यत्न ही नहीं करते। यदि शास्त्रके अनुसार बोलनेके समय ही यह यत्न किया है तो सदा पट्टी क्यों रखते हैं, जब बोलें तब बांध लें। यदि भूल जानेकी आशंकासे रखते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब इतनी ही बात याद नहीं रहती तब धर्म साधन कैसे होता होगा। इसी तरह थोड़े शौचादिककी बात है सो मुनि तो योग्य शौच करते ही हैं। गृहस्थको भी अपने योग्य शौच करना चाहिये। स्त्री संगमादिकके बाद शौच किये बिना सामायिकादि क्रिया करनेसे अविनय आदि पाप होता है इस तरह जिन बातोंकी मुख्यता है उनका भी कुछ ठिकाना नहीं है। कोई कोई दयाके अङ्गोंका भी यथा योग्य पालन करते हैं। हरितकाय आदिकका त्याग करते हैं, जल थोड़ा फैलाते हैं इसका हम निषेध नहीं करते। किन्तु इस अहिंसाका एकांत पकड़कर प्रतिमा चैत्यालय पूजनादि क्रियाका भी उच्छेद करते हैं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि उन्हींके शास्त्रोंमें प्रतिमा आदिका निरूपण है। भगवती सूत्रमें ऋद्धिधारी मुनिका निरूपण है।

मूर्तिपूजाके निषेधका खण्डन

उसमें मेरु गिरिपर जाकर "तत्थ चेययाइं वंदई" ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है कि वहांके चैत्योंकी बन्दना करते हैं। चैत्य नाम प्रतिमाका प्रसिद्ध ही है। इसपर भी वे हठसे कहते हैं कि चैत्य शब्दके ज्ञानादिक अनेक अर्थ हैं इसलिये यहाँ चैत्य शब्द का दूसरा अर्थ है, प्रतिमा अर्थ नहीं है। इसपर उनसे प्रश्न यह है कि मेरुगिरि या नंदीश्वर द्वीपपर जा जा कर चैत्य वंदना की, वहां ज्ञानादिक वंदना करनेका अर्थ कैसे संभव हो सकता है। ज्ञानादिककी वंदना तो सभी जगह हो सकती है। वंदना करने योग्य चैत्य वहां ही हों, और जगह न हों, तब तो वहां करने की विशेषता है और ऐसा मतलब प्रतिमासे ही हो सकता है। तथा चैत्य शब्दका मुख्य अर्थ प्रतिमा ही है वह प्रसिद्ध है। इसी अर्थको लेकर चैत्यालय शब्द बना है। इसका लोप क्यों किया जाता है? दूसरे, देव नंदीश्वरमें जाकर पूजन वगैरह करते हैं। इसका व्याख्यान उनके यहां जहां तहां पाया जाता है। तीसरे, लोकमें जहां तहां अकृत्रिम प्रतिमाका निरूपण है, यह रचना अनादि है और न यह भोग कुतूहलादिके लिए है। इन्द्रादिकोंके स्थानोंमें निष्प्रयोजन रचना का होना संभव नहीं है अतः वे उन अकृत्रिम प्रतिमाओंको देख कर करते क्या हैं? या तो वे अपने विमानोंमें निष्प्रयोजन रचना देखकर उदासीन रहते होंगे अतः दुख होता होगा लेकिन यह संभव नहीं है। या अच्छी रचना देखकर विषयोंका पोषण करते होंगे किन्तु अर्हन्त मूर्तिसे सम्यग्दृष्टि अपने विषयोंका पोषण करे यह हो नहीं सकता। इसलिए उनके द्वारा उनकी भक्त्यादि करना ही संभव है। उनके शास्त्रोंमें सूर्यादि देवका व्याख्यान भी है उसमें प्रतिमाजीके पूजनका

विशेष वर्णन है[1] ? इसको छिपानेके लिए कहते हैं कि देवोंका ऐसा ही कर्तव्य है। यद्यपि यह ठीक है फिर भी कर्तव्यका फल तो होता है अतः प्रश्न यह है कि वह धर्म है या पाप है ? अगर धर्म है तो दूसरी जगह पाप होता था यहां धर्म हुआ इसको दूसरेके समान कैसे कहा जाय यह तो योग्य कार्य हुआ। अगर पाप है तो पापके स्थानपर 'णमोत्थुणं' का पाठ क्यों पढ़ा ? दूसरे एक विचार यहां और यह है कि 'णमोत्थुणं' के पाठमें तो अर्हंत भक्ति है और वह प्रतिमाजी के सामने पढ़ी गई। अतः प्रतिमाजीके सामने अरहंतकी भक्तिरूप क्रिया करना ठीक हुआ।

प्रश्न—यह कार्य तो देवोंका है मनुष्योंका नहीं है। मनुष्योंके प्रतिमा आदि बनानेमें हिंसा होती है ?

उत्तर—तुम्हारे शास्त्रोंमें लिखा है कि द्रौपदी रानीने प्रतिमा आदिका पूजन वैसे ही किया जैसे सूर्याभ देवने किया[2]। इसलिए मनुष्यों द्वारा भी ऐसा करना कर्तव्य है। दूसरे अगर चैत्यालय और प्रतिमा बनवानेकी पद्धति न थी तो द्रौपदीने प्रतिमाका पूजन कैसे किया। यदि प्रवृत्ति थी तो बनाने वाले धर्मात्मा थे या पापी थे। यदि धर्मात्मा थे तो गृहस्थोंको ऐसा कार्य करना योग्य हुआ। यदि पापी थे तो भोगादिकका प्रयोजन तो इसमें था ही नहीं फिर बनवाया क्यों ? द्रौपदीने वहां 'णमोत्थुणं' का पाठ पढ़ा तथा पूजनादिक किया क्या यह सब उसका कुतूहल था या धर्म था ? कुतूहल था तो द्रौपदी महापापिनी हुई। धर्ममें कुतूहल कैसा ? और अगर धर्म था तो औरोंको भी प्रतिमाजीकी स्तुति पूजा करना योग्य है।

इस विषयमें वे और भी मिथ्या युक्तियां देते हैं। जैसे इन्द्रकी स्थापनासे इन्द्रके कार्य की सिद्धि नहीं वैसे ही अरहंतकी प्रतिमासे भी कार्य सिद्धि नहीं। परन्तु यह बात तो तब मानी जाय जब अरहंत किसीको भक्त मान कर उसका भला करते हों। लेकिन वे तो वीतराग हैं। यह जीव भक्तिरूप: अपने भावोंसे शुभ फल पाता है। जैसे स्त्रीके आकाररूप काष्ठ या पाषाणकी मूर्तिको देख कर यदि विकार रूप हो अनुराग करे तो उसको पापबंध होता है। वैसे ही अरहंतके आकाररूप धातु काष्ठ या पाषाण की मूर्ति देखकर धर्मबुद्धिसे अनुराग करे तो शुभ की प्राप्ति कैसे नहीं होगी ?

प्रश्न—बिना प्रतिमाके ही हम अरहंतमें अनुराग पैदा कर लेंगे ?

उत्तर—आकार देखनेपर जैसा भाव होता है वैसा परोक्ष स्मरण करनेपर नहीं होता। इसीसे लोकमें भी स्त्रीका अनुरागी स्त्रीका चित्र बनाता है। इसलिये प्रतिमाके अवलम्बनसे विशेष भक्ति होनेके कारण विशेष शुभकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—प्रतिमाके दर्शन करो परन्तु उसके पूजनादिकसे क्या मतलब है ?

१—राय पसेणइय सूत्र कन्डिका १३८, १३९।

२—ज्ञातृकथा अ० १६।

उत्तर–जैसे किसी जीवका आकार बनाकर रूद्रभावोंसे उसका घात कर दिया जाय तो उसके उस जीवकी हिंसा करने जैसा पाप लगता है। अथवा कोई किसीका आकार बनाकर द्वेष बुद्धिसे उसकी बुरी अवस्था करे तो जिसका आकार बनाया उसकी बुरी अवस्था करने जैसा फल लगता है, वैसे ही अरहंतका आकार बनाकर रागबुद्धिसे पूजनादि करे तो अरहंतके पूजनादिक करने जैसा फल होगा। अति अनुराग हो और प्रत्यक्ष दर्शन न हो तो आकार बनाकर पूजनादिक की जाती है। इस धर्मानुरागसे महापुण्य होता है।

प्रश्न–जिसके जिस वस्तुका त्याग है; उस वस्तुका, उसके सामने रखना उसकी हंसी करना है? इस लिये चंदनादिकसे अरहंतका पूजन ठीक नहीं है।

उत्तर–भगवान्ने मुनिपद धारण करते ही सर्वपरिग्रहका त्याग किया बादमें केवल-ज्ञान होनेपर उनके लिए समवशरणादि रचे गये छत्र, चामर, आदि लगाये गये। यह सब हंसी की गयी थी या भक्तिकी गई थी। यदि हंसी की तो इन्द्र महापापी हुआ। यह ठीक नहीं। भक्तिकी तो पूजनादिकमें भी भक्ति ही की जाती है। छद्मस्थके आगे त्याग की हुई वस्तुका रखना हंसी है, इससे उसमें चंचलता हो आती है। केवली या प्रतिमाके आगे अनुरागसे उत्तम वस्तु रखना दोष नहीं। उनके विक्षिप्तता नहीं होती। धर्मानुरागसे जीवोंका ही भला होता है।

प्रश्न–प्रतिमा बनवाने, चैत्यालय निर्माण कराने, पूजा कराने आदिमें हिंसा होती है और धर्म अहिंसा है। अतः हिंसामें धर्म माननेसे महापाप होता है इसीलिए इन कार्योंका निषेध करना पड़ता है।

उत्तर–तुम्हारे शास्त्रोंका ऐसा वचन है—

'सुचा जाणई कल्लाणं सुच्चा जाणई पावगं।
उभयंपि जाणये सुच्चा जं सेयं तं समायर ॥१॥'

यहां कल्याण, पाप और उभय इन तीनों को शास्त्रके द्वारा समझे ऐसा बतलाया है। अतः जिसमें उभय-कल्याण और पाप मिल कर होता है ऐसे कार्यका भी होना ठीक ठहरा। अब प्रश्न यह है कि केवल धर्मसे उभय तो बुरा है ही, किन्तु केवल पापसे उभय बुरा है कि अच्छा है? अगर बुरा है तो इसमें कुछ कल्याणका अंश भी मिला है। पापसे बुरा कैसे हुआ? यदि अच्छा है तो केवल पापको छोड़ ऐसा कार्य करना ठीक हुआ। तथा युक्तिसे भी यही बात ठीक बैठती है। कोई त्यागी होकर मन्दिर आदि नहीं कराता है सामायिकादि निरवद्य कार्योंमें ही प्रवृत्ति करता है उसकी अपेक्षा तो प्रतिमादि कराना, पूजनादि कराना उचित नहीं। परन्तु कोई अपने रहनेके लिये मन्दिर आदि बनवाये, उससे चैत्यालय आदि करानेवाला हीन नहीं है। हिंसा तो हुई परन्तु उसके तो लोभ और पापानुराग की वृद्धि हुई और इसके लोभ छूट कर धर्मानुराग हुआ। कोई व्यापारादि कार्य करे उससे पूजनादिकार्य करना हीन नहीं है। वहां तो हिंसादि बहुत होती है, लोभ बढता है, पाप ही की प्रवृत्ति है। यहां हिंसादिक भी थोड़ी होती है,

लोभादिक घटते हैं, धर्मानुराग भी बढ़ता है। जो ऐसे त्यागी नहीं हैं, अपने धनको पापमें खरचते हैं, उनको चैत्यालय आदि बनवानेका तथा निरवद्य सामायिकादि कार्यों में जो उपयोग नहीं लगा सकें उनको पूजनादि करनेका निषेध नहीं है।

प्रश्न—निरवद्य सामायिकादि कार्य ही उसे क्यों नहीं करना चाहिये? धर्ममें ही अपना समय बिताना उचित है। ऐसा कार्य क्यों करता है?

उत्तर—शरीरके द्वारा पाप छोड़नेसे ही अगर निरवद्यपना होता हो तो ऐसा ही करना उचित है लेकिन ऐसा है नहीं। परिणामोंसे पाप छूटनेपर निरवद्यपना होता है। किन्तु बिना अवलम्बनके सामायिकादिमें जिनके परिणाम नहीं लगते वे पूजन आदिक करके अपना उपयोग लगाते हैं वहां नाना प्रकारके अवलम्बन होनेसे उपयोग लग जाता है। अगर वहां उपयोग न लगावें तो पापकार्योंमें उपयोग लगानेसे बुरा होगा। इसलिये पूजादिकार्योंमें प्रवृत्ति करना युक्त है।

प्रश्न—धर्मके लिए हिंसा करनेसे तो महापाप होता है जब कि अन्यत्र हिंसा करनेसे थोड़ापाप होता है?

उत्तर—पहले तो यह सिद्धान्तका वचन नहीं है। दूसरे, युक्तिसे भी यह बात नहीं बैठती, क्योंकि ऐसा माननेसे तो इन्द्र जन्मकल्याणकमें बहुतसे जलसे भगवानका अभिषेक करता है, समवशरणमें देव पुष्प वृष्टि, चमर ढालना, इत्यादि अनेक कार्य करते हैं। वह सब महापापी कहलाएंगे। यह कहना ठीक नहीं कि उनका ऐसा ही व्यवहार है; क्योंकि क्रियाका फल तो हुए बिना रहता नहीं। वह अगर पाप है तो इन्द्रादिक तो सम्यग्दृष्टि होनेसे ऐसा करेंगे ही क्यों? और धर्म है तो निषेध क्यों करते हो। दूसरे हम तुम्हींसे पूछते हैं कि तीर्थङ्करको वंदनाको राजादिक गये थे, अथवा साधुको वंदनाको दूर दूरसे लोग जाते हैं, शास्त्र सुनने आदि कार्योंके लिये गमन किया ही जाता है। मार्गमें वहां भी हिंसा होती है। इसी प्रकार साधर्मी को जिमाया जाता है, साधुका मरण होनेपर उसका संस्कार करते हैं, साधु होनेपर उत्सव किया जाता है इत्यादि प्रवृत्ति अब भी दिखाई देती है। इन सब कार्यों में हिंसा होती है किन्तु यह सब कार्य धर्म ही के लिए हैं अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। अगर इनमें महापाप होता है तो पहले जो ऐसे कार्य किये हैं उनका निषेध करना चाहिये। और अब भी जो गृहस्थ ऐसा कार्य कर रहे हैं उनका त्याग करनेको कहना चाहिये। और यदि इनमें धर्म होता है तो धर्मके लिए हिंसामें पाप बताकर क्यों भरमाते हो? इसलिए यही मानना ठीक है कि जैसे थोड़ा धन ठगानेपर बहुत धनका लाभ हो तो वह कार्य करना उचित है वैसे ही थोड़े हिंसादिक पाप होनेसे बहुत धर्म हो तो वह कार्य करना उचित है। जो थोड़े धनके लोभसे काम बिगाड़ता है वह मूर्ख है वैसे ही थोड़ी हिंसाके डरसे बड़ा धर्म छोड़े तो वह पापी है। इसी प्रकार जैसे कोई बहुत धन ठगानेपर थोड़ा ही धन प्राप्त करे या न करे तो वह मूर्ख है वैसे ही बहुत हिंसादिकसे बहुत पाप पैदा करने वाला भक्ति आदिक धर्ममें थोड़ी प्रवृत्ति करे

या न करे तो वह पापी है। तथा जैसे बिना ठगाये ही धनका लाभ होते हुए भी यदि ठगा जावे तो वह मूर्ख है। वैसे ही निरवद्य धर्मरूप उपयोग होनेपर सावद्य धर्ममें उपयोग लगाना युक्त नहीं। इस तरह अनेक परिणामों द्वारा अवस्थाको देख कर जो भला हो वह करना चाहिये। एकान्त पक्ष कार्यकारी भी नहीं है। तथा केवल अहिंसा ही धर्मका अङ्ग नहीं है, रागादिकका घटना धर्म का मुख्य अंग है। इसलिए जैसे परिणामोंमें रागादिक घटें वैसे काम करना चाहिये।

तथा गृहस्थोंको अणुव्रतादिकों का साधन किये बिना ही सामायिक, पडिकमण, पोसह आदि क्रियाओंका मुख्य आचरण कराते हैं। किन्तु सामायिक तो रागद्वेष रहित साम्यभाव होनेपर

चारित्र साधनके बिना पडिकमणादि क्रियाओंका निषेध

होती है, पाठमात्र पढ़ने या उठना बैठना करनेसे ही नहीं होती। यद्यपि यह कहना ठीक है कि अन्य कार्य करता था उससे तो यह अच्छा ही है परन्तु सामायिक पाठमें प्रतिज्ञा तो यह की थी कि मन वचन कायसे सावद्य नहीं करूंगा न कराऊंगा। किन्तु मनमें तो विकल्प हुआ ही करते हैं और वचन कायमें भी कभी २ अन्यथा प्रवृत्ति हो जानेसे प्रतिज्ञा भंग होती है। इस प्रतिज्ञा भंग करने से तो न करना अच्छा, क्योंकि प्रतिज्ञा भंगसे महापाप होता है। दूसरे प्रश्न यह है कि कोई प्रतिज्ञा न लेकर भाषापाठ पढ़ता है उसका अर्थ समझ कर उसमें उपयोग रखता है, दूसरा प्रतिज्ञा भी लेता है किन्तु उसका अच्छी तरह पालन नहीं करता केवल प्राकृतादिक पाठ पढ़ता है, उसके भी अर्थका ज्ञान नहीं है और बिना अर्थ जाने वहां उपयोग भी नहीं रहता तब उपयोग दूसरी जगह करता है, इस तरह इन दोनोंमें विशेष धर्मात्मा कौन है? यदि पहलेको कहा जायगा तो वैसा उपदेश ही क्यों नहीं दिया जाता। यदि दूसरेको कहोगे तो प्रतिज्ञा भंगका पाप नहीं हुआ और न परिणामोंके अनुसार धर्मात्मापन ठहरा; पाठादि करनेके अनुसार ठहरा। इसलिए अपना उपयोग जैसे निर्मल हो वैसा कार्य करना चाहिये। जो सध सके वही प्रतिज्ञा करना उचित है। जिसका अर्थ समझमें आजाय वह पाठ पढ़ना चाहिये। पद्धति पूर्वक (रूढ़िपूर्वक) नाम रखनेमें फायदा नहीं है। 'पडिकमणो' का मतलब पूर्व दोषोंके निराकरणसे है किन्तु 'मिच्छामिदुक्कडं' इतना कहनेसे ही तो दुष्कृत मिथ्या न हो जायंगे। मिथ्या होने योग्य परिणाम होनेपर दुष्कृत मिथ्या होंगे। इसलिए केवल पाठ ही कार्यकारी नहीं है। पडिकमणापाठमें ऐसा भी अर्थ है कि[1] बारह व्रतादिकमें जो दुष्कृत लगा हो वह मिथ्या हो। किन्तु व्रतोंके बिना धारण किए ही उनका पडिकमणा कैसे हो सकता है। जिसके उपवास तो न हो और उपवास में लगे हुए दोषोंका निराकरण करे तो यह ठीक नहीं है। इस लिए यह पाठ पढ़ना किसी भी प्रकार ठीक नहीं बनता। तथा पोसहमें भी सामायिकके समान

१—पंचण्हमणुव्वयाणं गुणव्वयाणं च तिण्हमइयारे। सिक्खाणं च चउण्हं पडिक्कमे देसियं सव्वं ॥ ८ ॥
श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्र।

प्रतिज्ञा करके पालन नहीं करते इस लिए पूर्वोक्त ही दोष है। इसके अतिरिक्त पोसह नाम पर्वका है। किन्तु पर्वके दिन भी कुछ समय तक पाप क्रिया करता है फिर पोसहधारी होता है। यद्यपि जितने समय तक बने उतने समय तक साधन करनेमें दोष नहीं है किन्तु उसे पोसहके नामसे करना ठीक नहीं। सम्पूर्ण पर्वमें निरवद्य रहनेपर ही पोसह होता है। अगर थोड़े ही समयसे पोसह नाम होता है तो सामायिकको भी पोसह कहना चाहिये या शास्त्रमें प्रमाण बताना चाहिये। जघन्य पोसह का इतना समय है अतः बड़ा नाम रखकर लोगों को भरमानेकासा प्रयोजन मालूम पड़ता है। तथा आखड़ी लेनेका पाठ तो दूसरा पढ़े और अंगीकार दूसरा करे किन्तु पाठमें तो 'मेरे त्याग है' ऐसा वचन है इसलिए जो त्याग करे उसे ही पाठ पढ़ना चाहिये, यदि पाठ न आवे तो भाषा में ही पढ़ना चाहिए। परन्तु पद्धति (रूढ़ि) वश यह रूढ़ि है।

तथा आपके यहां प्रतिज्ञा ग्रहण करने-कराने की मुख्यता है और यथाविधि पालनेकी शिथिलता है। भाव निर्मल होनेका विवेक नहीं है। बुरे परिणामोंसे अथवा लोभादिकसे भी उपवास करता है उसमें धर्म मानता है। किन्तु फल तो परिणामोंसे होता है। इस प्रकार ढूंढक मतमें अनेक कल्पित बातें कही हैं जो जैनधर्ममें संभव नहीं हैं। इस तरह जैनोंमें श्वेताम्बर मत भी देवादिकोंका, तत्त्वोंका, व मोक्षमार्गादिकका अन्यथा निरूपण करता है। इसलिए मिथ्यादर्शनादिकका पोषक होनेके कारण त्याज्य है। सत्य जिनधर्मका स्वरूप आगे बतलाते हैं। उसके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करना उचित है। उसमें प्रवृत्ति करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा।

इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्रमें अन्यमतका निरूपण
करने वाला पांचवां अधिकार समाप्त हुआ।

अध्याय ६

कुदेव कुगुरु कुधर्मका निषेध

दोहा

मिथ्या देवादिक भजें हो है मिथ्याभाव।
तज तिनको सांचे भजो, यह हित हेत उपाव॥

अनादिकालसे जीवोंके मिथ्यादर्शनादिक भाव पाये जाते हैं। कुदेव, कुगुरु और कुधर्मका सेवन उनकी पुष्टताका कारण है। उनका त्याग होनेपर मोक्ष मार्गमें प्रवृत्ति होती है, इसलिए यहां उनका निरूपण करते हैं—

जो हितकर्ता नहीं हैं उनको हितकर्ता मान कर सेवा करना कुदेव सेवा है। वह सेवा तीन प्रकारके प्रयोजनसे की जाती है। कहीं तो मोक्षका प्रयोजन है, कहीं परलोकका प्रयोजन हैं, कहीं इस लोकका प्रयोजन है। किन्तु इनके सेवनसे यह प्रयोजन सिद्ध नहीं होते प्रत्युत इनसे विशेष हानि ही है, इसलिये इनकी सेवा करना मिथ्याभाव है। यही बात बतलाते हैं—

कुदेव सेवा और उसका निषेध

अन्यमतमें जिनकी सेवासे मुक्ति होना बतलाया है, बहुतसे जीव मोक्षके लिये उन्हीं की सेवा करते हैं। पर मोक्ष होता नहीं है उनका वर्णन पहले अन्य मतके अधिकारमें कर ही चुके हैं। बहुतसे लोग परलोकमें सुख हो, दुख न हो इस प्रयोजनसे अन्यमतके देवोंकी सेवा करते है परन्तु ऐसी सिद्धि तो पुण्य करने और पाप न करने से होती है। हम स्वयं तो पाप करते हैं और कराते हैं तो भी ईश्वर हमारा भला करेंगे; यह तो अन्याय है। ईश्वर किसीको पापका फल दे और किसीको न दे ऐसा नहीं है। मनुष्य जैसे अपने परिणाम करेगा वैसा फल पावेगा। किसीका भला बुरा करने वाला ईश्वर नहीं है, परलोकमें सुख चाहने वाला जीव उन देवोंकी सेवा करते हुए नाम तो उन देवों का करता है और अन्य जीवोंकी हिंसा करता है, भोजन, नृत्यादिकसे अपनी इन्द्रियोंके विषय पोषण करता है, इन परिणामोंका फल उसे लगे विना नहीं रहता। हिंसा, विषय और कषायोंको सब पाप कहते हैं और पापका फल भी सब बुरा अनुभव करते हैं किन्तु कुदेवों की सेवामें केवल हिंसा और विषयादिक का ही अधिकार है, इस लिये कुदेवोंकी सेवासे परलोकमें भला नहीं होता।

पारलौकिक सुखेच्छा से कुदेव सेवा

बहुतसे जीव इस पर्याय संबंधी शत्रुनाशादिक, तीव्र रोगादि मिटाने, धनादिक या पुत्रादिक की प्राप्ति करने, दुःख मेंटने या सुख आदि पानेके प्रयोजनसे कुदेवोंकी सेवा करते हैं। हनूमानादिकका पूजन करते हैं, देवियों की पूजा करते हैं, गनगौर, साझी आदि बनाकर पूजा करते हैं। चौथ, शीतला, दिहाड़ी, आदिका पूजन करते हैं। अऊत, पितर, व्यंतर आदि की पूजन करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, शनि-

ऐहिलौकिक सुखेच्छासे कुदेव सेवा

श्चरादि ज्योतिषियों की पूजा करते हैं, पीर, पैगम्बरादिकों की पूजा करते हैं, गौ, घोड़ा, तिर्यंचादिकों की पूजा करते हैं, अग्नि जलादिकों को पूजते हैं, शस्त्रादिकों की पूजा करते हैं, और तो क्या रोड़ी इत्यादिकों की भी पूजा करते हैं ऐसे कुदेवों की सेवा मिथ्यादृष्टिसे होती है। क्यों कि जिनकी सेवा की जाती है उनमें से कई तो कल्पना मात्र से ही देव है। उनका सेवन कार्यकारी कैसे हो सकता है ? और व्यंतरादिक किसीका भला बुरा करने में समर्थ नहीं हैं। अगर वे समर्थ होते तो वेही कर्ता कहलाते, लेकिन उनका किया कुछ होता दिखाई नहीं देता। प्रसन्न होने पर धनादिक दे नहीं सकते, द्वेषी बनकर बुरा नहीं कर सकते।

प्रश्न—व्यंतरादिक दुख देते हुए तो देखे जाते है और उनके मानने पर वे दुख देना बन्द भी करदेते हैं ?

उत्तर—इस जीवके जब पाप का उदय होता हैं तब उनके (व्यंतरों के) उसप्रकार की कुतूहल बुद्धि होती है और उस कुतूहल बुद्धिसे वे यह चेष्टा करते हैं। चेष्टा करने से यह जीव दुखी होता है। कुतूहल से वे कुछ कहते हैं और यह उनका कहा नहीं करता तब वे अपनी चेष्टा नहीं करते हैं। इसको शिथिल जानकर ही वे चेष्टा करते रहते हैं। अगर इसके पुण्य का उदय हो तो वे कुछ नहीं कर सकते। इसीको आगे स्पष्ट करते हैं:—

कोई जीव उनकी पूजा न करे या निन्दा करे तो वे भी उससे द्वेष करते हैं परन्तु उसको दुख नहीं दे सकते। व्यंतरों को ऐसा भी कहते देखा गया है कि हमको अमुक नहीं मानता इस लिए हमारा उस पर वश नहीं है। इसलिए व्यंतरादिक कुछ करने को समर्थ नहीं है, केवल उसके पुण्य पाप से ही उसे दुख होता है। उनके मानने पूजने से तो उल्टा रोग और लगजाता है कार्य सिद्धि कुछ नहीं होती। तथा ऐसा भी समझना चाहिए कि जो कल्पित देव हैं उनका भी कहीं अतिशय चमत्कार होता देखा गया है वह सब व्यंतरों द्वारा ही किया हुआ होता है। कोई पूर्व पर्याय में इनका सेवक था बाद में मरकर व्यंतर होगया। वहां किसी निमित्त से ऐसी बुद्धि हुई। तब वह लोकमें उनकी सेवाकी प्रवृत्ति चलाने के लिए कोई चमत्कार दिखाकर उस कार्य में लग जाता है। जैसे जिन प्रतिमाओं के जो अतिशय होते, सुने व देखे गए हैं वे जिनकृत नहीं होते किन्तु जैनी व्यंतरादि कृत होते हैं वैसेही कुदेवों का कोई चमत्कार उनके अनुचर व्यंतरादिकों द्वारा किया हुआ होता है।

अन्यमतमें "भक्तों की सहायता परमेश्वरने की अथवा उसने प्रत्यक्ष दर्शन दिए" इत्यादि कहते हैं। उनमें कोई तो यों ही कल्पित बात कहते हैं, कोई उनके अनुचर व्यंतरादिक द्वारा किए हुए कार्योंको परमेश्वर के किए हुए बतलाते हैं किन्तु अगर वे परमेश्वर के किए हुए हों तो परमेश्वर तो त्रिकालज्ञ है, सर्व प्रकार समर्थ है भक्त को दुख होने ही क्यों देता है ? और भी देखा जाता है कि म्लेच्छ आकर भक्तों को उपद्रव करते हैं, धर्म विध्वंस करते हैं, मूर्तियों को

खण्ड २ करते हैं। यदि इन कार्यों का परमेश्वर को ज्ञान नहीं होता तो उसका सर्वज्ञपना नहीं रहता और यदि जानने पर भी सहायता नहीं करता तो भक्त वत्सलता नहीं रही और सामर्थ्य हीन भी हुआ। यदि साक्षीभूत ही रहता है तो पहले भक्तों की सहायता की थी यह कहना झूँठ हुआ। उनकी वृत्ति तो एक सी है। यदि यह कहा जायगा कि वैसी भक्ति नहीं है तो म्लेच्छों से तो भक्त अच्छे ही हैं और मूर्ति आदि तो उन्हीं की स्थापन की हुई थी उसको विघ्न तो नहीं होने देना चाहिए था। दूसरे म्लेच्छ पापियों की उत्पत्ति परमेश्वरने की है या नहीं? यदि की है तो निंदकों को सुखी करना और भक्तों को दुखी करना इसमें भक्त वत्सलता कहाँ रही? यदि परमेश्वर ने नहीं की है तो परमेश्वर सामर्थ्य हीन हुआ। अतः यह परमेश्वरकृत नहीं है। अनुचर व्यंतरादिक ही चमत्कार दिखलाते हैं ऐसा निश्चय करना चाहिए।

व्यंतरबाधाका निरूपण

प्रश्न—कोई व्यंतर अपना प्रभुत्व बताते हैं अप्रत्यक्ष बातें बतादेते हैं, कोई बुरे स्थान में निवास बताकर अपनी हीनता दिखाते हैं, बात पूंछने पर बताते नहीं हैं, भ्रमरूप वचन कहते हैं, दूसरों को अन्यथा परिणमन कराते हैं, दुख देते हैं इस विचित्रता का क्या कारण है?

उत्तर—व्यंतरों में प्रभुत्व की हीनता और अधिकता तो है परन्तु जो बुरे स्थान में निवास बताकर अपनी हीनता दिखाते हैं वह कुतूहल से ऐसा करते हैं। क्यों कि व्यंतर बालकों की तरह कुतूहल करते हैं। जिस प्रकार बालक कुतूहलसे अपने को हीन बताता है चिढ़ाता है, गाली सुनाता है, जोर २ से रोता है फिर हँसने लग जाता है वैसे ही व्यंतर चेष्टा करते हैं। अगर वे बुरे स्थानमें ही रहने वाले हों तो उत्तम स्थान में किसके लाने पर आते हैं। अगर स्वयं ही आते हैं तो इतनी स्वयंकी शक्ति रहते हुए भी बुरे स्थान में क्यों रहते हैं? इनके पैदा होने के स्थान जो पृथ्वीके नीचे और ऊपर है मनोज्ञ है। यों कुतूहल के लिए वे चाहे जो कहें। इसी प्रकार अगर उनको पीड़ा होती है तो रोते २ हँसने कैसे लगते है। इतनी बात अवश्य है कि मंत्रादिक की अचिन्त्य शक्ति है। यदि किसी सच्चे मंत्र के साथ किसी व्यंतरका निमित्त नैमित्तिक संबंध हो तो उसके गमन आदि में रुकावट हो सकती है, दुख हो सकता है या किसी बलवान के मना करने पर वहीं रह सकता है या स्वयंभी रह सकता है इत्यादिक ही मन्त्रकी शक्ति है। परन्तु उसका जलाना आदि नहीं हो सकता! मन्त्रवाले जलाना कहते हैं किन्तु वैक्रयिक शरीर का जलाना आदि संभव नहीं है, हाँ अप्रकट हो सकता है। उनके अवधिज्ञान भी है किन्तु किसी का अवधिज्ञान थोड़े क्षेत्र काल को जानता है किसी का बहुत क्षेत्रकालको जानता है। इसमें भी उसके यदि इच्छा हो और साथही बहुत ज्ञान हो तो अप्रत्यक्ष की बात पूंछने पर भी बता देते हैं यदि उनको थोड़ा ज्ञान है तो अन्य महान् ज्ञानी को पूंछ कर बताते हैं। और यदि थोड़ा ज्ञान है इच्छा भी नहीं है तो पूंछने पर उत्तर नहीं देते ऐसा समझना चाहिए। स्तोक ज्ञानवाले व्यंतरादिकों के उत्पन्न होने से कुछ ही समय पहिले पूर्वजन्म का ज्ञान

हो सकता है। वाद में स्मरण मात्रही रहता है। इसलिए इस जन्म में किसी इच्छासे स्वयं कुछ चेष्टा करें तो करते हैं। तथा पूर्वजन्म की वाते कहते हैं। अगर कोई दूसरी वात पूंछी जाय तो अवधि ज्ञान के थोड़ा होनेपर विना ज्ञान के कैसें वता सकते हैं? अथवा उसका उत्तर स्वयं न दे-सकें और इच्छा न हो तो मान कुतूहलादिक से उत्तर न देंगे या झूठ बोलेंगे ऐसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त देवों में ऐसी शक्ति है जो अपने तथा दूसरों के शरीर को एवं पुद्गल स्कंधों को इच्छानुसार परिणमन कराते हैं इस लिए वे स्वयं भी अनेक आकारादि रूप होते हैं तथा अन्य अनेक चरित्र दिखाते हैं एवं दूसरों के शरीर को भी रोगादियुक्त करते हैं। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि अन्य शरीरों को अथवा पुद्गलस्कंधो को उनमें जितनी शक्ति है उतना ही परिणमन करा सकते हैं क्यों कि सव कार्य करने की उनमें शक्ति नहीं है। तथा दूसरे जीवोंके शरीरादिकों को उनके पुण्य पापानुसार ही परिणमन करा सकते हैं। अगर उसके पुण्यका उदय है तो यह रोगादि रूप परिणमन नहीं करा सकते और यदि पाप का उदय हैं तो उसका इष्ट कार्य नहीं कर सकते इस तरह व्यंतरादिकों की शक्ति समझना चाहिए,

प्रश्न—जिनके इतनी शक्ति है उनके मानने पूजनेमें क्या दोष है?

उत्तर—अपने पापका उदय है तो वे सुख नहीं दे सकते और पुण्यका उदय है तो दुख नहीं दे सकते। उनके पूजनेसे कोई पुण्यबंध नहीं होता। रागादिककी वृद्धि होनेसे पाप ही होता है इस लिए उनका मानना पूजना कुछ भी कार्यकारी नहीं है वल्कि वुरा करनेवाला है। व्यंतरादिक जो मनाना पुजाना आदि कार्य करते हैं वह उनका केवल कुतूहल है, उसका कुछ विशेष प्रयोजन नहीं है। जो मानता पूजता है उससे कुतूहल किया करते हैं। जो मानता पूजता नहीं है उससे कुछ नहीं कहते। अगर उनका कुछ प्रयोजन होता तो न मानने पूजने-वालेको अधिक दुखी करते। परन्तु जिनके न मानने पूजनेका निश्चय है उनको कुछ भी कहते नहीं दीखते। प्रयोजन तो तव होता जव कोई क्षुधादिक पीड़ा उनके होती किन्तु वह तो उनके व्यक्त होती नहीं। अगर होती तो उनके लिए नैवेद्यादिक जो दिए जाते हैं उसको ग्रहण क्यों नहीं करते। दूसरोंको जिमाने आदिकी ही वात क्यों करते हैं, इस लिए उनके कुतूहल मात्र ही क्रिया है। चूंकि वे हमें अपने कुतूहलका स्थान वनाते हैं इस लिए हमें दुख होता है, दीनता होती है अतः उनका मानना पूजना योग्य नहीं है।

प्रश्न—व्यंतरादि कहते हैं कि गया आदि में जाकर पिण्डदान करो तो तुम्हारी अच्छी गति होगी,[१] फिर तुम्हें यहाँ न आना पड़ेगा, यह क्या वात है?

१—गुरु और शुक्रके अस्त होने पर अधिमास* में या जन्मके दिन वुद्धिमान पुरुष सदा गया में जाकर पिण्ड दान करे; वायु० पु० अ० १०५ श्लो० १८

---

* दो अमावस वाला महीना, लोंदका महीना, सूर्यसंक्रान्ति से भिन्न मास, अधिको रविमासात् अतिरिक्तः शुक्लप्रतिपदादि दर्शान्तश्चान्द्रो मासः, प० च० को०।

उत्तर—जीवोंके पूर्वभवका संस्कार तो रहता ही है तथा व्यंतरोंके पूर्वभवके स्मरणादिकसे यह संस्कार और भी विशेष होता है क्योंकि पूर्वभवमें उनकी उसी प्रकार वासना थी कि गयादिकमें पिंडप्रदानादि करनेपर अच्छी गति होती है अतः वे ऐसा कार्य करनेको कहते हैं। मुसलमानादि मरकर जो व्यंतर होते हैं वे ऐसा नहीं कहते। वे अपने संस्कारके अनुरूप ही वचन कहते हैं क्योंकि सब व्यंतरोंकी गति वैसी ही होती हो तो सब समान ही प्रार्थना करें परन्तु यह बात नहीं है इस तरह व्यंतरोंका स्वरूप समझना चाहिए।

सूर्यादि ग्रहोंकी पूजाका निषेध

इसी प्रकार सूर्यचन्द्रमा ग्रहादिक ज्योतिषी देवोंका पूजना[1] भी भ्रम है क्योंकि सूर्यादिकको भी परमेश्वरका अंश मानकर पूजा जाता है[2]। वह भी केवल इस लिए कि उनमें प्रकाशका आधिक्य है किन्तु प्रकाशमान पदार्थ तो अन्य रत्नादिक भी है। दूसरा कोई ऐसा चिन्ह नहीं है जिससे उन्हें परमेश्वरका अंश माना जाय। चन्द्रमादिकको धनादिककी प्राप्तिके लिए भी पूजते हैं। अगर उनके पूजनेसे ही धन हो जाता हो तो सभी दरिद्री इस कामको करने लगें, अतः यह मिथ्याभाव हैं। ज्योतिषके विचारसे जो खोटे ग्राहादिक आते हैं उनका भी पूजनादिक करते हैं, उनके लिए दान देते हैं[3]। परन्तु जैसे हिरणी आदिक स्वयं गमन करते हैं पुरुषोंके दाएँ बाएँ आनेपर आगामी सुख दुखक कारण हैं किन्तु स्वयं सुख दुख देनेको समर्थ नहीं है। किसी को उनका पूजनादि करते हुए भी इष्टकी प्राप्ति नहीं होती किसीको न करते हुए भी इष्ट प्राप्ति होती है इस लिए उनका पूजनादि करना मिथ्याभाव हैं।

प्रश्न—देनेसे तो पुण्य होता है, यह तो अच्छा ही है।

उत्तर—धर्मके लिए देना पुण्य है किन्तु यह तो दुःखके भयसे या सुखके लोभसे

१—हे स्कंद! अब मैं अंगुलियोंकी मुद्रा पूर्वक सूर्यकी पूजा बतलाऊंगा, मैं तेजोमय सूर्य हूँ इस प्रकार ध्यान कर सूर्यको अर्घ्य प्रदान करे...इत्यादि अ० पु० अ० ७३।

२—सूर्य विष्णु भगवानका अतिश्रेष्ठ अंश और विकार रहित अंतर्ज्योति स्वरूप है। ॐकार उसका वाचक है, और वह उन राक्षसोंके वधमें अत्यंत प्रेरित करने वाला है। वि० पु० अ० ८ श्लो० ५६।

३—धनका इच्छुक, शांतिका इच्छुक, वृष्टि तथा आयुकी पुष्टि चाहनेवाला ग्रह पूजन करे। तांबा, स्फटिक मणि, लाल चंदन, सुवर्ण, चांदी, लोहा, सीसासे सूर्य चन्द्रादि नवों ग्रहोंकी मूर्ति बनवावे अथवा चन्दनादिसे उन्हें लिखकर उनके वर्णोंके अनुसार उन्हें वस्त्र और पुष्प चढ़ावे। सुगंध द्रव्य तथा गुरु आदिसे प्रत्येक देवताकी पूजन करे .....। इसके बाद ग्रह क्रमसे गुड़, चावल, खीर, हविष्य, क्षीरयष्टि, दही चावल, हवि, पूए, मांस और विवध प्रकारके अन्नका भोजन ब्राह्मणों को करावे। दक्षिणामें उन्हें गाय, शंख, बैल, सोना, वस्त्र, घोड़ा, श्यामा गाय, लोहा तथा बकरा प्रदान करे। जो ग्रह जिसके लिए दुष्ट हो वह उसी ग्रहकी पूजन करे। राजाओं का उत्थान और पतन जनताका अच्छा और बुरा सब ग्रहों के आधीन है अतः ग्रह सर्वाधिक पूज्य हैं। अग्नि० पु० अ० १६४ पृ० २१६।

दिया जाता है इस लिए पाप ही है इस प्रकार अनेक तरीकोंसे जो ज्योतिषी देवोंकी पूजाकी जाती है वह मिथ्या है।

देवी, दिहाड़ी आदि देवियोंमेंसे कोई तो व्यंतरी है कोई ज्योतिषणी है उनका अन्यथा स्वरूप मानकर पूजनादि किया जाता है। कोई कल्पित है तो उनकी कल्पना करके पूजनादि किया जाता है। इस तरह व्यंतरादिकोंके पूजा आदि का निषेध समझना चाहिए।

क्षेत्रपालादिकी पूजाका निषेध

प्रश्न—क्षेत्रपाल दिहाड़ी पद्मावती आदि देवियां तथा यक्ष यक्षिणी आदि जो जिन मतका अनुसरण करती हैं उनके पूजनादि करनेमें क्या दोष है?

उत्तर—जिन मतमें संयम धारण करनेपर पूज्यपना होता है किन्तु देवोंके संयम होता नहीं है। यदि इनको सम्यक्त्वी मानकर पूजा जाय तो भवनत्रिकमें सम्यक्त्वकी भी मुख्यता नहीं है। और सम्यक्त्वीका ही पूजन करना हो तो सर्वार्थसिद्धिके देव और लौकान्तिक देवोंकी पूजा क्यों न की जाय। यदि यह मान लिया जाय कि इनकी भक्ति अधिक है तो भक्तिकी अधिकता तो सौधर्म इन्द्रके है, वह सम्यग्दृष्टि भी है उसे छोड़कर इनकी पूजा क्योंकी जाय? यदि यह कहा जाय कि जैसे राजाके प्रतीहारादिक हैं वैसे ही तीर्थङ्करके क्षेत्रपालादिक हैं[1] तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समवशरणादिकमें इनका अधिकार नहीं है, यह झूठी मान्यता है। प्रतीहारादिक जैसे राजाओंसे मिला देते हैं[2] वैसे यह तीर्थकरोंसे मिलाते भी नहीं हैं। वहाँ तो जिसके भक्ति है वही तीर्थङ्करोंके दर्शनादिक करता है कोई किसीके आधीन नहीं है। और अज्ञानता देखो कि जिनका आयुधादि लेनेके कारण रौद्ररूप है उनकी गा २ कर भक्ति करते हैं। इससे तो जिनमतमें भी रौद्र रूप पूज्य हो गया फिर यह तो अन्य मत जैसी ही वात हुई।. जिनमतमें ऐसी विपरीत प्रवृत्तिकी मान्यता तीव्र मिथ्यात्वभावसे होती है, अतः क्षेत्रपालादिक का भी पूजना योग्य नहीं है।—

गौ सर्पादिक तिर्यञ्च प्रत्यक्ष ही अपनेसे हीन हैं। इनका तिरस्कारादिक भी किया जा सकता है। इनकी निंद्य दशा सामने दीखती है। वृक्ष, अग्नि, जलादिक स्थावर जीव तिर्यञ्चोंसे भी अधिक हीन अवस्थाको प्राप्त देखे जाते हैं, शास्त्र दावात आदि जो अचेतन पदार्थ हैं वे सब शक्तिसे रहित प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। इनमें उपचारसे भी पूज्यपना संभव नहीं है। इस लिए इनकी पूजा करना यहा मिथ्या भाव है। इनकी पूजा करनेसे प्रत्यक्ष व अनुमानादिकसे भी कुछ फलकी प्राप्ति नहीं दीखती। इस लिए इनका पूजना योग्य नहीं है। इस प्रकार सबही देवोंका पूजना मानना मिथ्याभाव है देखो मिथ्यात्वकी महिमा लोकमें तो अपनेसे नीचेको नमस्कार करनेमें अपनेको निंद्यमानते हैं किन्तु मोहित होकर लोढ़े तकको भी पूजना निंद्य नहीं मानते। लोकमें तो

गौ सर्पादिक की पूजा का निषेध

१—८० क० प्र० टी० पृ० २५

२—८० क० प्र० टी० पृ० २६

जिससे प्रयोजन सिद्ध होना देखते हैं उसीकी सेवा करते हैं किन्तु मोहित होकर 'कुदेवोंसे मेरा प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा' यह विना विचारे ही कुदेवोंकी सेवा करते हैं। और जो कुदेवोंकी सेवा से हजारों विघ्न होते हैं उसे गिनते नहीं है। पुण्य कर्मके उदयसे कोई इष्ट कार्य हो जाता है तो उसको उसके सेवनका फल कहते है। कुदेवोंकी सेवाके विना जो इष्ट कार्य हो उसको तो गिनते नहीं और कोई अनिष्ट हो जाय तो उसको उसके सेवन न करनेका फल बतलाते हैं। इतना नहीं विचारते कि अगर इन्हींके आधीन इष्ट अनिष्ट करना होता तो पूजकोंके तो इष्टसिद्धि होती और अपूजकोंके अनिष्टसिद्धि होती लेकिन ऐसा अनुभवमें नहीं आता। जैसे किसीके शीतलाको बहुत मानने परभी पुत्रादिक मरते देखे जाते हैं, किसीके विना माने भी जीते देखे गए हैं, अतः शीतलाका मानना कुछ कार्यकारी नहीं है।

प्रश्न—कार्यकारी नहीं है तो न सही उनके माननेसे कुछ बिगड़ता भी तो नहीं है।

उत्तर—अगर बिगड़ता न होता तो हम निषेध ही क्यों करते। क्योंकि इनके माननेसे

कुदेवसेवासे मिथ्यात्व और पापबंध

मिथ्यात्वादि दृढ़ होते हैं और उससे मोक्षका मार्ग दुर्लभ हो जाता है यह बड़ा बिगाड़ है। तथा इनसे पापबंध होता है। और पापबंध होनेसे अगामी कालमें दुःख होता है, यह भी बिगाड़ है।

प्रश्न—मिथ्यात्वादि भाव तो अतत्वश्रद्धान होनेपर होते है और पापबंध खोटा कार्य करनेपर होता है, भला उनके माननेसे मिथ्यात्वादि भाव कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—पहले तो पर द्रव्योंको इष्ट अनिष्ट मानना ही मिथ्या है क्योंकि कोई द्रव्य किसीका मित्र या शत्रु नहीं है और जो इष्ट अनिष्ट बुद्धि पाई भी जाती है उसका कारण पुण्य और पाप है, इसलिए जिस प्रकार पुण्यबंध हो पापबंध न हो उस प्रकार उपाय करना चाहिए। अगर पुण्योदयका भी निश्चय न हो और केवल इष्ट अनिष्टके जो बाह्य कारण हैं उनके संयोग वियोगका ही उपाय किया जावे तो कुदेवोंके माननेसे तो इष्ट अनिष्ट बुद्धि दूर होती नहीं उल्टी वृद्धि को ही प्राप्त होती है, और न पुण्यबंध ही होता है। हां पापबंध अवश्य होता है। कुदेवोंमें किसीको धनादिक देते व छीनते भी नहीं देखा है इस लिए यह बाह्य कारण भी नहीं है।

प्रश्न—फिर इनको मानते किस लिए है?

उत्तर—इस जीव के जब अत्यंत भ्रम बुद्धि होती है जीवादिक तत्वों के श्रद्धान और ज्ञान का अंशभी नहीं होता तथा राग और द्वेषकी अति तीव्रता होती है तब जो कारण नहीं है उनको भी यह इष्ट अनिष्ट का कारण मानता है तभी कुदेवों का मानना होता है ऐसे तीव्र मिथ्यात्वादिके होने पर मोक्षमार्ग दुर्लभ होता है आगे कुगुरु के श्रद्धानादिक का निषेध बतलाते हैं:—

कुगुरु सेवा और उसका निषेध

जो जीव विषय कषायादि अधर्म रूप तो परिणमन करते है और मानादिकसे अपने को

धर्मात्मा कहलवाते हैं, धर्मात्माके योग्य नमस्कारादि क्रिया कराते हैं अथवा किंचित् धर्म का कोई अंग धारण कर बड़े धर्मात्मा कहलाते हैं और उसी प्रकार नमस्कारादि क्रिया कराते है ऐसे धर्म के आश्रय से अपने को बड़ा मानने वाले सभी कुगुरू समझना चाहिए। क्यों कि धर्मपरंपरा में विषयकषायादि छूटने पर जैसा धार्मिक आचरण किया जाय उसीके अनुसार अपना पद मानना योग्य है।

कई लोग कुल की अपेक्षा से अपने को गुरू मानते है ऐसे लोगों में एक ब्राह्मण वर्ग भी है जो कहता है कि हमारा कुल ही ऊँचा है अतः हम सब कुलों के गुरू हैं,[1] लेकिन वे यह नहीं जानते कि कुल की उच्चता तो धर्म साधन से हैं। जो उच्च कुलमें पैदा हो कर हीन आचरण करता हैं उसे उच्च कैसे माना जा सकता है। अगर कुल में पैदा होने से ही उच्चपना है तो मांसभक्षणादि करने परभी उनको उच्च समझना चाहिए लेकिन एसा समझना ठीक नहीं। *"भारत" में भी जहाँ अनेक प्रकार के ब्राह्मण बतलाए है वहाँ ब्राह्मण होकर चांडाल का कार्य करने वाले को चांडाल ब्राह्मण कहा है[2]। अगर कुल ही से उच्च पना होता तो उसे ऐसी हीन संज्ञा क्यों दी जाती?

कुल की अपेक्षा गुरुत्व का निषेध

वैष्णव शास्त्रों में यह भी लिखा है कि वेदव्यासादिक मछली आदिकसे पैदा हुए हैं[3]

१—जैसे स्त्रियोंका धर्म उनके पतिके आश्रय है वैसे क्षत्रियोंका धर्म ब्राह्मणके आश्रित है। क्षत्रिय नौ वर्षका हो और ब्राह्मण दस वर्षका हो और वे दोनों पिता पुत्र भी हों तब भी उनमें ब्राह्मण गुरु है। इत्यादि म० भा० अनु० प० अ० ९ श्लो० २०-२१।

२—षड्ङ्ग वेद, सांख्य, पुराण और कुलमें जन्म यह सब बातें आचार हीन द्विजके व्यर्थ है। म० भा० अनु० प० अ० २२ श्लो० १२।

३—किसी जमानेमें चेदि नगरीका राजा वसु आकाशमें बने हुए इन्द्रके स्फटिक प्रासादमें रहता था। एक समय की बात है कि किसी कोलाहल नामके सचेतन पर्वतने चेदि नगरीके पास बहती हुई शुक्तिमती नदीको रोक लिया। यह देखकर राजा वसुने उस पर्वतपर पाद प्रहार किया। नदी पर्वतसे बाहर आ गई। किन्तु पर्वतके संयोगसे नदीसे जुगलिया संतान हुई। राजा वसुने उनमेंसे लड़केको अपना अरिंदम सेनापति बना लिया और लड़कीको गिरिका नामकी अपनी पत्नी बना ली। समयानुसार गिरिका रजस्वला हुई चौथे दिन जब वह स्नान कर चुकी तो वसुको मृगयाके लिये जंगलमें भेज दिया गया। वहाँ लता कुञ्जोंकी शोभा, रंग-बिरंगे फूलोंकी सुगन्धि और मंद सुगंधित पवनके झोंकोंसे वह कामसे व्याकुल हो उठा। अपनी तृप्ति के लिए गिरिकाको न देखकर वह एक सुन्दर अशोक वृक्षके नीचे बैठ गया। वसन्ती हवाने उसे ऐसा विचलित कर दिया कि उसका वहाँ वीर्यपात हो गया। अपनी शक्तिके व्यर्थ अपव्ययके डरसे उसने वीर्यको पत्तेपर रख लिया और उसे एक बाजको बुलाकर अपनी पत्नी गिरिकाको दे आनेको कहा। बाज जब मार्गमें जा रहा था कि दूसरे बाजने उसपर झपट्टा मारा परिणाम यह हुआ कि वीर्य यमुनाके जलमें गिर गया। वहाँ उस वीर्यको एक मछली जो पहले अप्सरा थी और बादमें शाप भ्रष्ट होकर मछली हो गई थी निगल गई। कालान्तरमें वह

यदि ऐसा है तो वहाँ कुलका अनुक्रम कहाँ रहा ? दूसरे सब की मूल उत्पत्ति ब्रह्मासे है अतः सब का एक ही कुल हुआ भिन्न कुल कैसे रहा ? उच्च कुलकी स्त्री का नीच कुल के पुरुष से और नीच कुल की स्त्री का उच्च कुल के पुरुष से संगम होने पर जो संतान होती देखी जाती हैं उसमें कुल प्रमाण कैसे रहेगा ?

प्रश्न–यदि ऐसा है तो उच्चनीच कुलका विभाग ही क्यों माना जाता है ?

उत्तर–यह ठीक है किन्तु असत्यकी प्रवृत्ति लौकिक कार्यो में ही होती है धर्म कार्य में वह प्रवृत्ति संभव नहीं है। इसलिए धर्म पद्धति में कुलकी अपेक्षा महन्तपना मानना ठीक नहीं है, धर्म-साधन से ही महन्तपना होता है। ब्राह्मणादि कुल में जो महन्तता है वह धर्म प्रवृत्तिसे है किन्तु धर्म की प्रवृत्ति छोड़ कर हिंसादिक पाप प्रवृत्ति करने से महन्तपना कैसे रह सकता है। बहुत से लोग कहा करते हैं कि हमारे बड़े (पुरखे) भक्त हुए हैं, सिद्ध हुए हैं अथवा धर्मात्मा हुए हैं। हम उन्ही की संतान में से है इसलिए हम गुरू हैं। उनसे पूछा जाय कि जब उन बडों के बड़े तो वैसे थे नही सिर्फ उनकी संतान को उत्तम कार्य करने से ही आप उत्तम मानते हैं तो उत्तम पुरुषों की संतान को उत्तम कार्य न करने से उत्तम क्यों मानते हैं। शास्त्रों में और लोक में यह प्रसिद्ध है कि पिता शुभ कार्य से उच्च पद पाता है और पुत्र अशुभ कार्य से नीच पद पाता है अथवा पिता अशुभ कार्यसे नीच पद पाता है और पुत्र शुभ कार्य से उच्च पद पाता है इसलिये बडों की अपेक्षा महन्तपना मानना योग्य नहीं है। इस तरह कुलमें गुरू मानना मिथ्याभाव समझना चाहिए। कोई पट्टकी अपेक्षा. गुरूपना मानते हैं अर्थात् पहले कोई महंत पुरुष हुआ था बादमें उसके पट्ट पर जो शिष्य प्रतिशिष्य हुए उनमें भी उन महंत पुरुषों के गुणों के बिना गुरूकी बुद्धि की जाती है। लेकिन इस प्रकार उस पट्टमें परस्त्रीगमनादि महापाप का करने वाला भी धर्मात्मा हो जायगा और सद्गति को प्राप्त होगा, पर यह संभव नहीं है। दूसरे जब वह पापी है तो पाट का अधिकार भी उसे नहीं है अतः जो गुरु पद के योग्य कार्य करे उसे ही गुरु समझना चाहिए।

पट्टपरंपरा से गुरुत्व का निषेध

कुछ ऐसे भी लोग अपने को गुरु मानते हैं जिनके माता पिता पहले स्त्री आदि के त्यागी थे बाद में भ्रष्ट हो विवाहादि पूर्वक गृहस्थ बन कर रहने लगे थे। भला भ्रष्ट होनेके बाद उनमें गुरूपना कहां रहा। वे भी गृहस्थ के समान ही हुए। हां इतनी बात विशेष हुई कि यह

मछली एक मछुएने पकड़ी और दसवें महीनेमें उसके पेटसे एक पुत्र और पुत्री हुए। पुत्रको राजाने ले लिया जो आगे चलकर मत्स्य नामका राजा हुआ और पुत्री उसी मछुएको दे दी गई। मछुए ने उसका नाम सत्यवती रक्खा। पिताके अभावमें एकबार वह नाव चला रही थी कि पाराशर ऋषि वहाँ पहुँचे और कन्याको देखकर मुग्ध हो गए फलतः सत्यवतीका ऋषिके साथ समागम हुआ। दसवें महीनेमें सत्यवतीने वहीं यमुनाकी रेतीमें एक पुत्र प्रसव किया जो बड़ा होकर वेदव्यास नामसे प्रसिद्ध हुआ। म० भा० आदि० प० अ० ६३

भ्रष्ट होकर गृहस्थ हुए, इनको (भ्रष्ट होकर बनने वाले गृहस्थों को) जो मूल से ही गृहस्थधर्म का पालन करने वाला है वह गुरू कैसे मान सकता है ? इसके अतिरिक्त बहुत से लोग अन्य सब पाप करते हुए भी केवल विवाह नहीं करते बस इसी अंगसे वे अपने को गुरू मानते हैं। परन्तु एक अब्रह्म ही पाप नहीं है हिंसा परिग्रहादिक भी पाप हैं उनको करते हुए उसे धर्मात्मा गुरू कैसे माना जा सकता है। दूसरे विवाह आदिका त्याग उसके धर्मबुद्धि से नहीं है किन्तु आजीविका या लज्जा आदि प्रयोजनके कारण ही विवाह नहीं करता। अगर धर्मबुद्धि ही होती तो हिंसादिक ही क्यों बढ़ाता ? जिसके धर्म बुद्धि नहीं हैं उसके शीलकी भी दृढ़ता नहीं रहती और यदि विवाह नहीं करता तो परस्त्रीगमनादि महापाप करता है। ऐसी क्रियाओं के होते हुए गुरूपना मानना महा भ्रमबुद्धि है।

कोई किसी प्रकारका वेष धारण करनेसे ही अपनेको गुरू मानता है किन्तु वेष धारण करनेमें कौनसा धर्म है जिससे उसे धर्मात्मा गुरू माना जाय। वेष रखनेवालोंमें कोई तो टोपी पहनता है, कोई गूदड़ी रखता है, कोई चोला पहनता है, कोई चादर ओढ़ता है, कोई लाल वस्त्र रखता है, कोई श्वेत वस्त्र रखता है कोई भगवा वस्त्र पहनता है, कोई टाट रखता है कोई मृगछाला पहनता है, कोई राख लगाता है, इत्यादि अनेक स्वांग बनाते हैं। भला जब शीत उष्णादिक सहे नहीं जाते थे, लज्जा छूटी नहीं थी तो पाग, जामा आदि वस्त्रादिकका त्याग किस लिए किया था ? और उनको छोड़कर ऐसा स्वांग बनानेमें धर्मका कौन सा अङ्ग हुआ ? ऐसे वेष तो गृहस्थोंके ठगने के लिए होते हैं क्यों कि गृहस्थोचित स्वांग रखने में गृहस्थ ठगाया नहीं जा सकता किन्तु इन्हें इनसे धनादिक तथा मानादिक का प्रयोजन साधना है इस लिए ऐसा स्वांग बनाते हैं। भोला संसार उस स्वांग को देख कर ठगाया जाता है और उसमें धर्म मानता है। कहाभी है:—

वेष धारणसे गुरुत्वका निषेध

जह कुवि वेस्सारत्तो, मुसिज्जमाणो विमण्णए हरिसं
तह मिच्छवेसमुहिया गयं पि ण मुणंति धम्मणिहिं [उ० सि० र० ५]

अर्थ—जैसे कोई वेश्यासक्त पुरुष धनादिक के नष्ट होने पर भी हर्ष मानता है वैसे ही मिथ्या वेष से ठगाए गए जीव धर्मधनके नष्ट होते हुए भी उससे अनभिज्ञ रहते हैं अर्थात् मिथ्या वेषवाले जीवों की सुश्रूषा आदिसे जो इस जीव का धर्मधन नष्ट होता है उसका विषाद वह नहीं करता। उल्टा मिथ्याबुद्धिसे प्रसन्न होता है। इन वेषधारियों में कोई तो मिथ्या शास्त्रों में बताए गए वेषों को धारण करता है। उन शास्त्रों के पापी रचयिताओं का यह दुरभिप्राय रहा है कि यदि सुगम क्रियाके द्वारा उच्च पदका निरूपण किया जायगा तो उनकी मान्यता होगी, अन्य जीव इस मार्ग में बहुत लग जाएँगे। इस मिथ्या उपदेश की प्रवृत्ति देख कर विचार रहित जीव यह नहीं सोचते कि सुगम क्रिया से जो उच्च पद बताया है उसमें धोका अवश्य है और भ्रमसे ही वे इनके इस कहे हुए मार्गमें प्रवृत्ति कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त कई शास्त्रों में मार्ग कठिन निरूपण

किया है अतः उसका साधन तो नहीं होता किन्तु अपना ऊँचानाम रक्खे विना लोगोंमें मान्यता भी नहीं होती केवल इसी अभिप्रायसे यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, सन्यासी, योगी, तपस्वी, नग्न इत्यादि नामतो ऊँचा रखलेते हे और जब इनके आचरणों का साधन नहीं कर सक्ते तो इच्छानुसार नाना वेप बनालेते हैं। तथा कोई अपनी इच्छानुसार नाम ही नवीन रख लेते है तथा वेश भी इच्छानुसार ही बना लेते हैं। इस तरह अनेक वेप धारण करने से गुरुत्व की कल्पना करते हैं यह सब मिथ्या है।

सच्चे झूठे वेप की पहिचान

प्रश्न—वेपतो वहुत प्रकार के हैं उनमें सच्चे सच्चे झूठे वेष की पहिचान कैसे हो?

उत्तर—जिन वेषों में विषय कपाय का कुछ लगाव नही वे सच्चे हे उनके तीन भेद हैं और वाकी के सब वेप मिथ्या हैं। आचार्य कुंदकुंद पट्पाहुड़ में लिखते हैं:—

एगं जिणस्य रूवं वीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि ॥ १८ ॥ [दर्शनप्राभृत]

अर्थ—एक तो जिन का स्वरूप निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिलिंग है, दूसरा दसवीं ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक का श्रावक लिंग हे तीसरा आर्यकाओं का स्त्रीलिंग है। यह तीन लिंग तो श्रद्धान पूर्वक है, चौथा लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है। अर्थात् इन तीन लिङ्गों के सिवाय जो अन्य लिङ्गों को मानता है वह श्रद्धानी नही किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

इन वेपधारियों में कोई कोई वेषी अपने वेपकी प्रतीति कराने के लिए कुछ धर्म का अंगभी पालन करते हैं। जैसे खोटा रुपया चलाने वाला उसमें कुछ चांदी का अंश भी रखता है वे भी धर्मका कोई अंग दिखाकर अपने उच्च पद का प्रदर्शन करते हैं

प्रश्न—धर्मका जो साधन किया है उसका तो कुछ फल लगेगाही?

उत्तर—जैसे उपवास का नाम रखकर कणमात्र भी भक्षण करनेवाला पापी है और एकन्त (एकाशन) नाम रखकर कुछ—भोजन करे तो भी धर्मात्मा है। वैसे ही उच्च पदवीका नाम रखकर थोड़ी भी अन्यथा प्रवृत्ति करनेवाला महापापी है और नीची पदवीका धारक कुछभी धर्म साधन करे तो धर्मात्मा हे इसलिए धर्म साधन तो जितना हो सके उतना करना चाहिए उसमें कुछ दोप नहीं हे। परन्तु धर्मात्माका ऊँचा नाम रखकर नीची क्रिया करनेपर महापापी ही होता है। आचार्य कुंदकुंदने भी पट्पाहुड़ में यही लिखा है।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गिहदि हत्थेसु
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥१८॥ [सू० प्रा०]

अर्थ—मुनिपद यथा जातरूप समान है अर्थात् जन्म होते समय जैसा था वैसा नग्न हे अतः वह मुनि तिलतुपमात्र भी धन वस्त्रादिक ग्रहण नहीं करता, अगर कभी थोड़ा वहुत

ग्रहण करता है तो निगोद जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि कोई गृहस्थ अवस्थामें बहुत परिग्रह रखकर कुछ प्रमाण (मर्यादा) करलेता है तो भी स्वर्ग मोक्षका अधिकारी होता है और मुनि अवस्थामें थोड़ा सा परिग्रह अंगीकार करने पर ही निगोद का अधिकारी बनजाता है। इसलिए ऊँचा नाम रखकर नीची प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है।

इस हुंडावसर्पिणी कालमें यह कलिकाल चल रहा है उसके दोषसे इस जिनमतमें भी मुनिका जैसा स्वरूप है कि बाह्य अभ्यंतर परिग्रहका लगाव न हो केवल अपनी आत्मामें ही अपने मनका अनुभव करके शुभाशुभ भावोंसे उदासीन रहाजाय उसे छोड़कर अब विषयकषायासक्त जीव मुनिपद तो धारण करते हैं, सर्व सावद्यका परित्याग कर पंच महाव्रतादि भी अंगीकार करते हैं, परन्तु श्वेतरक्तादि वस्त्रों को रखते हैं, भोजनादिक में लोलुपी रहते हैं, अपनी परिपाटी बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं तथा कोई धनादिक भी रखते हैं, हिंसादिक भी करते हैं नाना आरंभ करते हैं। भला जहाँ थोड़े परिग्रह ग्रहण करनेका फल निगोद कहा है वहाँ ऐसे पापोंका फल तो अनंत संसार होगा ही होगा। लोगों की अज्ञानता भी कैसी है कि किसी एक छोटी सी प्रतिज्ञा के भंग करनेवाले को तो पापी कहते हैं और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञाभंग करते देखते हुए भी उनको गुरु मानते हैं, मुनिके समान उनका मान आदि करते हैं। शास्त्रों में कृत कारित अनुमोदना का फल कहा है वैसा ही फल इन्हें लगता है। मुनिपद ग्रहण करने का क्रम तो यह है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, पीछे उदासीन परिणाम हों, परीषहादि सहने की शक्ति हो, साथ ही स्वयं मुनि होना चाहे तब बाद में श्री गुरु उसे मुनिधर्म अङ्गीकार कराते हैं। यह कैसी विपरीत बात है कि तत्त्वज्ञान रहित विषयासक्तजीवों को छलसे या लोभ दिखा कर मुनिपद दिया जाय और फिर अन्यथा प्रवृत्ति कराई जाय यह तो बड़ा अन्याय है। ऐसे कुगुरु तथा उनकी सेवाका निषेध किया गया है। इस कथन की पुष्टिके लिए यहाँ कुछ प्रमाण दिए जाते हैं:—उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला में लिखा है:—

गुरुसेवा के निषेधमें अन्य ग्रन्थोंके प्रमाण

"गुरुणो भट्टा जाया सद्दे थुणिऊण लिंत दाणाइं।
दोण्णवि अमुणि असारा, दूसमसमयम्मि बुड्ढंति [३१]

काल दोषसे गुरु भाट हो गए क्योंकि भाटके समान शब्दोंसे दाता की स्तुति करके दान लेते हैं। इस तरह दाता और पात्र दोनों ही इस दुखमाकालमें संसारमें डूबते हैं।

उसीमें आगे लिखा है:—

सप्पे दिट्ठे णासइ लोओ णहि कोवि किंपि अक्खेई।
जो चयइ कुगुरु सप्पं हा मूढा भणइ तं दुट्ठं [३६]

सर्पको देखकर कोई भागता है तो लोग उससे कुछ भी नहीं कहते लेकिन कुगुरु रूप सर्पको कोई छोड़ता है तो मूढ़ लोग उसको बुरा कहते हैं।

सप्पो इक्कं मरणं कुगुरु अणंताइ देइ मरणाइं
तो वर सप्पं गहियं मा कुगुरु सेवणं भद्द ।। [उ० सि० र० ३७]

सर्पसे तो एक बार ही मरण होता है और कुगुरु अनंतवार मरण कराता है। इस लिए हे भद्र सांपका ग्रहण तो अच्छा किन्तु कुगुरु का सेवन अच्छा नहीं।

संघपट्टमें भी इस प्रकार का उल्लेख है:—

क्षुत्क्षामः किल कोपि रंकशिशुकः प्रवृज्य चैत्ये क्वचित्
कृत्वा किंचन पक्षमक्षतकलिः प्राप्तस्तदाचार्यकम्।
चित्रं चैत्यगृहे गृहीयति निजे गच्छे कुटुम्बीयति।
स्वं शक्रीयति बालशयिति बुधान् विश्वं वराकीयति ॥

अर्थ—क्षुधासे कृश कोई रंक बालक कहीं चैत्यालयमें दीक्षा धारण कर किसी पक्षमें पड़जानके कारण निष्पाप न होने पर भी आचार्य बन गया। अब वह उस चैत्यालयमें अपने घर के समान प्रवृत्ति करता है, अपने गच्छमें कुटुम्बके समान रहता है, अपने को इन्द्रतुल्य समझता है, ज्ञानियों को बालकों की तरह अज्ञानी मानता है और संसार को रंक मानता है यह बड़ा आश्चर्य है।

इसी प्रकार **"यैर्जातो न च वर्द्धितो नच नच क्रीतो"** इत्यादि एक और काव्य है जिसका अर्थ है "जिनसे इसका न जन्म हुआ, न जिन्होंने इसका पालन किया न मोल लिया और न जिनका यह देनदार हुआ, इस प्रकार जिनसे कोई सबंध नही है उन्हें यह बैलकी तरह हांकता है, और हटपूर्वक उनसे दानादि लेता है। दुःख है कि इस जगत का कोई राजा नहीं है और न कोई न्याय का पूंछने वाला है।

प्रश्न—यह उपदेश तो श्वेतांबर रचित है उसकी साक्षि से यहाँ क्या मतलब है?

उत्तर—जैसे नीच पुरुष जिसका निषेध करें तो उत्तम पुरुषोंके उसका निषेध स्वतः होजाता है, वैसे ही जो वस्त्रादि उपकरण धारण करते हैं वे जिनका निषेध करें तो दिगम्बर धर्म में तो ऐसी विपरीतताका स्वतः ही निषेध हो जाता है। तथा दिगम्बर धर्म में भी इस श्रद्धानके पोषक वचन है, कुंदकुंद आचार्यकृत षट्पाहुड़में लिखा है:—

दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण स कण्णे दसणहीणो ण वंदिव्वो ।। २ ।।

"जिनेन्द्रने सम्यग्दर्शनमूलक धर्मका उपदेश दिया हैं उसे अपने कानमें सुनकर सम्यग्दर्शन रहित जीवकी वन्दना नहीं करना चाहिए"। जो स्वयं ही कुगुरु है उसके श्रद्धानसे सम्यक्त्वी कैसे बना जा सकता है?

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य।
एते भट्टवि भट्टा सेसंपि जणं विणासंति ॥ ८ ॥ [दर्शन प्रा०]

जो दर्शन, ज्ञान और चरित्रसे भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टसे भी भ्रष्ट हैं। अन्य जीव जो उनका उपदेश मानते हैं उनका भी वे विनाश करते हैं—बुरा करते हैं।

जे दंसणेसु भट्टा पाए *पाडंति दंसणधराणं।
ते हुंति लुल्लमूया बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥ [द० प्रा०]

जो स्वयं सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हैं और सम्यग्दृष्टियोंको अपने पैरों पड़ाना चाहते हैं वे लूले गूंगे होते हैं, स्थावर होते हैं उनको ज्ञानकी प्राप्ति महा दुर्लभ है।

जेवि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारव भएण।
तेसिंपि णत्थि बोही पावं अणमोयमाणणं ॥ १३ ॥ [द० प्रा०]

जो जानता हुआ भी लज्जा और गारवके भयसे उनके पैरों पड़ता है उनके भी सम्यक्त्व नहीं है। वे पापकी ही अनुमोदना करते हैं अर्थात् पापियोंका सन्मानादि करनेपर उस पापकी अनुमोदनाका फल लगता है।

"जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥ १९ ॥ [सू० प्रा०]

जिस लिंग (वेष) में थोड़ा बहुत परिग्रहका ग्रहण है, जिनवाणीमें वह निंद्यायोग्य है। क्योंकि परिग्रह रहित ही अनगार होता है।

"धम्मम्मि णिप्पिवासो दोसावासो य उच्छु फुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥ [भा० प्रा०]

जो धर्ममें निरुद्यमी है दोषोंका घर है, ईखके फूलके समान निष्फल है, गुणों के आचरणोंसे रहित है वह श्रमण नग्नरूप धारी नट है अर्थात् भांडके समान वेषधारी है। उसके नग्न होनेपर भांडका ही दृष्टांत ठीक बैठता है किन्तु अगर वह परिग्रह रखता हो तो यह दृष्टांत भी ठीक नहीं है।

मोक्षपाहुड़में लिखा है:—

जो पावमोहियमई लिंगं घत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्ख मग्गम्मि ॥ ७८ ॥

पापसे मोहित बुद्धिवाले जो जीव जिनलिंग धारण कर पाप करते हैं उन पाप मूर्तियोंको मोक्षमार्गमें भ्रष्ट समझना चाहिए। और भी लिखा है:—

---

* "पाए ण पडंति" मु० प्रति में पाठ है।

"जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मिरया ते चत्ता मोक्ख मग्गम्मि ॥ ७९ ॥ [मो० पा०]

जो पांच प्रकारके वस्त्रोंमें आसक्त हैं, परिग्रह ग्रहण करनेवाले हैं, याचना करते रहते हैं, अधः कर्म आदि दोषोंमें रत हैं वे मोक्ष मार्गमें भ्रष्ट समझना चाहिए।

कुंदकुंदाचार्यकृत लिङ्गपाहुड़ में मुनिलिङ्ग धारण कर जो हिंसा, आरंभ, यन्त्र, मन्त्रादि करते हैं उनका बहुत निषेध किया है।

गुणभद्राचार्यकृत आत्मानुशासनमें लिखा है:—

इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावर्यां यथा मृगाः
वनाद्वसंत्युपग्रामं, कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

यह खेदकी बात है कि कलिकाल में तपस्वीजन मृगों के समान इधर उधर से भयभीत होकर नगर के पास आकर वसने लगे हैं। यहाँ जब नगर के पास रहने का निषेध किया है तब नगर में रहना तो निषिद्ध है ही।

"वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः
सुस्त्रीकटाक्षलुण्टाकलुप्तवैराग्यसंपदः ॥ २०० ॥ [आ० शा०]

स्त्री कटाक्षरूपी लुटेरोंसे जिसकी वैराग्यरूप संपत्ति लूट ली गई है अत एव जो अनंत संसारका कारण है ऐसे तपसे गृहस्थ आश्रम ही श्रेष्ठ है।

योगीन्द्रदेवकृत परमात्मप्रकाश में लिखा है:—

चिल्ली चिल्ली पुत्थयहिं, तूसइ मूढ़ णिभंतु
एयहिं लज्जइ णाणयउ बंधहहेउ मुणंतु ॥ २१४ ॥

चेला चेली और पुस्तकों से ही यह मूढ़ संतुष्ट होता है, किन्तु ज्ञानी इन्हें बंधका कारण जानता हुआ इन से लज्जित होता है।

केणवि अप्पा वंचियउ सिर लुंचिवि छारेण
सयल वि संग ण परिहरिय, जिणवरलिंगधरेण ॥ २१६ ॥ [पर० प्र०]

जो जिन लिंग धारण कर और सिरका केश लुंचन कर परिग्रह नहीं छोड़ता ऐसा जीव अपनी आत्माको ठगता है।

"जे जिण लिंग धरेवि मुणि इट्ठ परिग्गह लिंति
छद्दि करेवि णु तेवि जिय सो पुण छद्दि गिलंति ॥ २१७ ॥ [प० प्र०]

हे जीव! जो मुनि जिन लिंग धारण कर इष्ट परिग्रहका ग्रहण करते हैं वे वमन कर उसी वमनका फिर भक्षण करते हैं, अर्थात् यह निंदनीय है, इत्यादि वहाँ वतलाया है।

इस प्रकार शास्त्रोंमें कुगुरुका उनके आचरण व उनकी सेवा करनेका निषेध किया है। तथा जहां मुनिके आहारादिकमें धात्री दूत आदि छयालीस दोष लिखे हैं वहाँ गृहस्थोंके बालकों को प्रसन्न करना, समाचार कहना, मन्त्र, औषधि, ज्योतिष आदि बताना कृत कारित या अनुमोदित भोजन लेना इत्यादि क्रियाओंका निषेध किया है। किन्तु अब काल दोषसे इन्हीं दोषोंको लगाकर आहारादि ग्रहण करते हैं

इसी प्रकार पार्श्वस्थ, कुशीलादि भ्रष्टाचारी मुनियोंका निषेध किया है। उन्हीं जैसे लक्षण उनके भी हैं। विशेष इतना है कि वे द्रव्यसे नग्न रहते हैं और ये नाना प्रकारका परिग्रह रखते हैं। उनमें मुनियोंके भ्रामरी आदि आहार लेनेकी विधि कही है ये आसक्त होकर दातार के प्राण पीड़ित कर आहारादि ग्रहण करते हैं। गृहस्थ धर्ममें भी जो अनुचित है ऐसे अन्याय और लोकनिंद्य पापरूप कार्योंको करते हैं। तथा जिन बिंब शास्त्रादिक जो सर्वोत्कृष्ट पूज्य हैं उनका तो अविनय करते हैं और स्वयं उनसे भी अधिक महंतता रखकर उच्चासन पर बैठना आदि प्रवृत्ति करते हैं। इत्यादि अनेक विपरीतताएं प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं तो भी अपने को मुनि मानते हैं और मूलगुणादिकके धारक कहलाते हैं। इसी तरह अपनी महिमा कराते हैं और भोले गृहस्थ उनकी प्रशंसादिकसे ठगाए जाकर धर्मका विचार तक नहीं करते। उनकी भक्तिमें तत्पर रहते हैं। यों बड़े पापको जहाँ बड़ा धर्म समझा जाय उसका फल अनंत संसार क्यों नहीं होगा? एक जिन वचन को अन्यथा मानने वाला भी शास्त्रमें महापापी बतलाया है यहाँ तो जिन वचन की कुछ बात ही नहीं रक्खी इसके समान और कौन सा पाप है?

पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियों को पूजा का निषेध

अब यहाँ जो कुयुक्तियों से उन कुगुरुओं को सिद्ध करते हैं उनका निराकरण करते हैं:—

कुगुरुओंको गुरु सिद्ध करने वाली युक्तियों का निषेध

प्रश्न—गुरु के बिना मनुष्य निगुरा कहलाता है और वैसे गुरु इस समय पाए नहीं जाते इस लिए उन्हीं को गुरु मानना ठीक है।

उत्तर—निगुरा तो उसे कहते हैं जो गुरु को नहीं मानता। लेकिन जो गुरु को तो माने किन्तु इस क्षेत्र में गुरुका लक्षण न देखकर किसी को गुरु न माने तो इस श्रद्धान से निगुरा नहीं होता। जैसे नास्तिक उसका नाम है जो परमेश्वर को नहीं मानता परन्तु जो परमेश्वर तो मानता हो पर इस क्षेत्र में परमेश्वर के लक्षण न पाकर किसी को परमेश्वर न माने तो वह नास्तिक नहीं है वैसे ही यहां समझना चाहिए।

प्रश्न—जैन शास्त्रोंमें इस समय केवली का अभाव बतलाया है मुनियों का तो अभाव बतलाया नहीं।

उत्तर—ऐसा भी तो नहीं कहा है कि इन देशोंमें मुनियोंका सद्भाव रहेगा। भरत-क्षेत्रमें कहा है परन्तु भरतक्षेत्रका विस्तार तो बहुत बड़ा है।

प्रश्न–कहीं सद्भाव होगा इस लिए अभाव नहीं बतलाया ?

उत्तर–ठीक है लेकिन-जहाँ हम रह रहे हैं अगर इसी जगह सद्भाव माना जायगा-तो जहाँ ऐसे भी मुनि न मिलेंगे वहाँ किसको गुरु माना जायगा ? जैसे इस समय हंसों का सद्भाव होते हुए भी हंस दिखाई नहीं देते तो अन्य पक्षियोंको हंस नहीं माना जा सकता वैसे ही मुनियोंका सद्भाव होते हुए भी यदि कोई मुनि दिखाई नहीं देता तो औरोंको मुनि नहीं माना जा सकता।

प्रश्न—एक अक्षरके दाताको गुरू माना जाता है। तो जो शास्त्र सुनाते तथा सिखाते हैं उनको गुरु कैसे न माना जाय ?

उत्तर—गुरुका मतलब बड़ेसे है, जिस प्रकारकी महानता जिसमें है उसप्रकार की उसको गुरु संज्ञा है। जैसे कुलकी अपेक्षा मातापिता गुरु कहलाते हैं, विद्याकी अपेक्षा पढ़ानेवाले गुरु कहलाते हैं उसी प्रकार यहाँ धर्मका अधिकार है अतः धर्मकी अपेक्षासे जिसमें महानता हो वही गुरु समझना चाहिए। और धर्म का अर्थ है चारित्र **"चारित्तं खलु धम्मो"** यह शास्त्र का उल्लेख है। इसलिए चारित्रका धारकही गुरु कहलाता है। जैसे भूतादिकका नाम भी देव है तो भी देवके श्रद्धानमें यहाँ अरहंतदेवका ही ग्रहण होता है वैसे ही औरोंका नाम गुरु है परन्तु यहाँ श्रद्धानमें निर्ग्रंथका ही ग्रहण किया है। जिनधर्ममें 'अरहंतदेव निर्ग्रंथ गुरू है' ऐसा प्रसिद्ध वचन है।

प्रश्न—निर्ग्रन्थके विना और किसीको गुरु नहीं मानना चाहिए इसका कारण क्या है ?

उत्तर—निग्रन्थके विना अन्यजीवोंमें सब प्रकारकी महानता नहीं होती। जैसे लोभी शास्त्र का व्याख्याता शास्त्र सुनानेके कारण महान है, और श्रोता धन वस्त्रादि देने के कारण महान है। यद्यपि बाह्यमें शास्त्र सुनानेवाला महान है तो भी अंतरंगमें लोभी होनेके कारण वह दातार को उच्च मानता है और दातार उसे लोभी समझ नीचा मानता है इसलिए उसके सर्वथा महानता नहीं हुई।

प्रश्न—निर्ग्रन्थ भी तो आहार लेता है ?

उत्तर—लोभी होकर दातार की सेवा सुश्रूषा करके आहार नहीं लेता, इस लिए आहार लेनेसे उसकी महानता कम नहीं होती। लोभी मनुष्य ही हीनता प्रकट करता है, ऐसा ही अन्य जीवोंके विषयमें समझना चाहिए। इसलिए निर्ग्रन्थ ही सबप्रकारकी महानतासे युक्त है। निर्ग्रन्थ को छोड़कर दूसरे जीव सर्वथा गुणवान नहीं हैं। इस लिए जब गुणोंकी अपेक्षा महानता और दोषोंकी अपेक्षा हीनता प्रतीत होती है तभी निःशङ्क स्तुतिकी जाती है अन्यथा नहीं। निर्ग्रन्थके सिवा अन्यजीव जैसा धर्म साधन करते हैं वैसा व उससे अधिक धर्म साधन गृहस्थ भी कर सकता है। फिर गुरु संज्ञा किसे दी जाय ? अतः बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि ही गुरु हैं।

प्रश्न—ऐसे गुरुओंका तो इस समय अभाव है इसलिए जैसे अरहंतकी स्थापनारूप प्रतिमा है वैसे ही गुरुओंकी स्थापनारूप ये भेषधारी गुरु हैं।

उत्तर—जैसे राजाकी स्थापना चित्र आदिमें की जाय तो वह विपरीत बात नहीं है किन्तु सामान्य मनुष्य ही अपनेको राजा मानने लग जाय तो यह बात उस राजाके विरुद्ध है वैसे ही अरहंतादिकी पाषाणमें स्थापना करना विपरीत बात नहीं है किन्तु कोई साधारण मनुष्य अपनेको मुनि माने तो वह मुनित्वसे विपरीत है। अगर इसीका नाम स्थापना है तो अरहंत की भी अपनेमें स्थापना कर लेनी चाहिए। और अगर मुनियोंकी स्थापना भी हो तो बाह्य स्वरूपमें तो कमसे कम समानता चाहिए, यह कैसे हो सकता है कि वे निर्ग्रन्थ हों और ये परिग्रह के धारी बने रहें।

प्रश्न—इस समय श्रावक भी तो जैसे चाहिए वैसे नहीं हैं अतः जैसे श्रावक वैसे मुनि।

उत्तर—श्रावक संज्ञा तो शास्त्रमें सभी गृहस्थ जैनोंकी है। श्रेणिक भी असंयमी था उसको उत्तम पुराण में श्रावकोत्तम बतलाया है। बारह सभाओंमें श्रावक भी गिनाए हैं किन्तु वे सब व्रतधारी ही नहीं थे। अगर सभी व्रतधारी होते तो असंयत मनुष्योंकी अलग ही संख्या बतलाते किन्तु ऐसा नहीं बतलाया इस लिए गृहस्थ जैनी मात्र श्रावक कहलाता है। किन्तु मुनि संज्ञा विना निर्ग्रंथताके नहीं होती। श्रावकको जो आठ मूल गुण पालन करना बतलाया है उसमें मद्य मांस मधु और पंच उदुम्बर फलोंके भक्षणका त्याग हो ही जाता है अतः किसी प्रकार तो श्रावकपना संभव ही है किन्तु मुनियोंके अट्ठाईस मूल गुण वेषधारियोंमें नहीं होते इसलिए उनमें मुनिपना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। गृहस्थ अवस्थामें तो जम्बूकुमारादिक द्वारा बहुत से हिंसादिकके काम किए सुने गए हैं, लेकिन मुनि होकर किसीने हिंसादि कार्य नहीं किए, न परिग्रह ही रक्खा है। इस लिए ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है। आदिनाथ भगवान के साथ ४००० राजा दीक्षा लेकर जब भ्रष्ट हो गए तब वहाँ देवोंने उनसे कहा है कि यदि जिन-लिंग धारण करके वे अन्यथा प्रवृत्ति करेंगे तो उन्हें दण्ड दिया जायगा। जिनलिंग छोड़कर उनकी जो इच्छा हो सो करें। इसलिए जिनलिंगी कहलाकर अन्यथा प्रवृत्ति करने वाला जब दण्ड देने योग्य है तब वन्दना योग्य कैसे हो सकता है? अधिक कहनेसे क्या जो जिनमतमें कुभेष धारण करते हैं वे महापाप कमाते हैं। उनकी सेवा आदि करने वाले अन्यजीव भी पापी कहलाते हैं [पद्म पुराणमें एक कथा है जिसमें लिखा है कि एक सेठने धर्मात्मा चारण मुनिको भ्रमसे भ्रष्ट जान कर आहार नहीं दिया तो जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हैं उन्हें दानादिक देना कैसे सम्भव हो सकता है?]

प्रश्न—हमारे अंतरंगमें श्रद्धान तो ठीक है परन्तु बाह्यमें लज्जादिकसे शिष्टाचार करें तो क्या बुराई है? फल तो अंतरंगका ही लगेगा।

उत्तर—षट्पाहुड़में लज्जा आदिकसे वंदना करनेका निषेध किया है यह हम पहले ही

कह चुके हैं। दूसरे कोई बल पूर्वक मस्तक नवाकर हाथ जुड़वाता है तब तो यह संभव भी है कि हमारा अंतरंग नहीं था किन्तु यदि स्वयं ही नमस्कार करता है तो उसका अंतरङ्ग कैसे नहीं माना जाय ? जैसे कोई अंतरंगमें तो मांस को बुरा समझता है किन्तु राजादिकका भला बनने के लिए मांस भक्षण करता है तो उसको व्रती नहीं माना जा सकता। वैसे ही अंतरंगमें तो कुगुरु सेवा-को बुरा समझता है किन्तु उनका तथा लोगोंका भला बननेके लिए उनकी सेवा करता है तो श्रद्धानी नहीं माना जासकता।

प्रश्न—तत्वश्रद्धानीके कुगुरुसेवासे मिथ्यात्व कैसे हुआ ?

उत्तर—जैसे शीलवती स्त्री पतिकी तरह पर पुरुष के साथ सर्वथा रमण क्रिया नहीं करती वैसे ही तत्वश्रद्धानी पुरुष सुगुरुके समान कुगुरुके साथ नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं करता। क्यों कि यह जीवादि तत्वोंका श्रद्धानी है अतः 'रागादिक निषिद्ध हैं, ऐसा उसे श्रद्धान है और वीतराग भावोंको वह श्रेष्ठ मानता है अतः जब उसके स्वयं वीतरागता पाई जाती है तब वह वैसे ही गुरुओंको नमस्कारादि करता है। जिनके रागादि पाए जाते हैं उनको निषिद्ध जान नमस्कारादि नहीं करता।

प्रश्न—राजादिककी तरह कोई उनको भी नमस्कार करे तो क्या हानि है ?

उत्तर—राजादिक धर्म पद्धतिमें नहीं है गुरूका सेवन धार्मिक पद्धति में है। राजादिकका सेवन तो लोभादिकसे होता है अतः वहाँ चारित्रमोहनीयका उदय है किन्तु गुरुओं की जगह कुगुरुओंकी सेवा करनेका अर्थ है तत्वश्रद्धानके कारण जो गुरू हैं उनसे प्रतिकूल होना, अतः जब लज्जादिकसे तत्व श्रद्धानके कारणोंमें विपरीतता पैदा की तब उसके कार्यभूत तत्वश्रद्धानमें दृढ़ता कैसे संभव हो सकती है ? इस लिए यहाँ दर्शनमोहका उदय ही समझना चाहिए। इस तरह कुगुरुओंका निरूपण किया। अब कुधर्मका निरूपण करते हैं:—

कुधर्म सेवा और उसका निषेध

जहाँ हिंसादिक कषाय पैदा हों, विषय कषायोंकी वृद्धि हो वहां धर्म मानना कुधर्म है। यज्ञादि क्रियाओंमें महा हिंसादिक होती है, बड़ेजीवोंका घात होता है, इन्द्रियोंके विषयोंका पोषण किया जाता है। उन जीवोंमें दुष्ट बुद्धि रख कर रौद्रध्यानी बनना और तीव्र लोभसे ओरोंका बुरा कर अपना कोई प्रयोजन साधनेकी इच्छा करना तथा ऐसे कार्यमें धर्म मानना कुधर्म है। [१]तीर्थोंमें अथवा दूसरी जगह स्नानादि कार्य करना जिसमें छोटे बड़े अनेक जीवोंकी हिंसा होती हो, शरीरको आराम पहुचे, उससे विषय पोषण होता हो, विषय पोषणसे कामादिक बढ़ते हों, तथा कुतूहलादिकसे जहाँ कषाएँ बढ़ती हों उसे धर्म मानना सो सब

१—"उत्तर मान सरोवरसे दक्षिण मान सरोवर जाए, उत्तरके तीर्थ औदीच्य तीर्थ कहलाते हैं। यहाँ स्नान करने पर मनुष्य शरीर सहित स्वर्ग जाता है" ॥ ६ ॥ तीन लोकके बीचमें विख्यात कनखल तीर्थ है वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥ ७ ॥ वायुपु० अ० १११

अधर्म है। [1]संक्रान्ति, ग्रहण, व्यतीपात (श्राद्ध) आदिकमें तथा खोटे ग्रहोंकी शान्तिके लिए जो दान दिया जाता है, लोभी पुरुषोंको पात्र समझ कर जो दान दिया जाता है, दानमें सोना हाथी घोड़ा तिल आदि वस्तुओंका जो दान होता है वह सब अधर्म है। क्यों कि यह संक्रान्ति आदिक पर्व धर्म रूप नहीं है, ज्योतिषी आदिके गमनादि से संक्रान्ति आदि होती है। दुष्ट ग्रहादिकके लिए देनेका मतलब है लोभादिककी अधिकता, इस लिए वहां दान देनेमें धर्म नहीं है। लोभी पुरुष देने योग्य पात्र नहीं है क्यों कि लोभी अनेक असत्य युक्तियोंसे ठगता है, उससे कुछ भला नहीं होता भला तो तब हो जब उसके दानकी सहायता से वह धर्म साधन करे किन्तु वह तो उल्टा पाप रूप प्रवृत्ति करता है। पापके सहायकका भला कैसे हो सकता है ?

रयणसार में भी यही कहा है:—

> सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणां फलाण सोहं वा
> लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह [र० सा० २६]

अर्थात् सत्पुरुषोंको दान देना कल्पवृक्षोंके फलों की शोभासमान है तथा सुखदायक है। और लोभी पुरुषको दान देना शवकी अर्थीकी शोभा के समान है, अर्थात् शोभा तो है पर धनीको परम दुखदायक है इस लिए लोभी को दान देने में धर्म नहीं है। द्रव्य ऐसा देना चाहिए जिससे पात्र का धर्म बढ़े। [1]सुवर्ण हस्ती आदिके दान से तो हिंसादि पैदा होती हैं व मान लोभादि बढ़ते हैं और उससे महापाप होता है। ऐसी वस्तुओंके देनेवाले को पुण्य कैसे हो सकता है। बहुतसे विषयासक्त जीव रतिदान आदिकमें पुण्य बतलाते हैं भला जहां कुशीलादि पाप प्रत्यक्ष मौजूद हैं वहां पुण्य कैसे होसकता है ? उसमें युक्ति दी जाती है कि इससे स्त्रीको सुख होता है। स्त्री तो विषय सेवनसे सुख पाती ही है फिर शीलका उपदेश किस लिए दिया गया है ? 'रतिके समयके बिना भी यदि उसके मनोरथ के अनुसार प्रवृत्ति न की जाय तो वह दुख पाती है' ऐसी असत् युक्तियों से वे विषय पोषण का उपदेश देते है इसी प्रकार दया दान तथा पात्र दानके बिना अन्य दान देने में धर्म मानना सब कुधर्म है।

मिथ्या व्रत, भक्ति, तपादिकका निषेध

बहुत से लोग व्रत करके भी हिंसादि तथा विषयकषायादि बढ़ाते हैं जब कि व्रतादिक उनके घटाने के लिए किए जाते हैं। व्रतोंमें भी अन्नका तो त्याग कर देते हैं किन्तु कंदमूलादिक का भक्षण करते हैं। उसमें और भी अधिक हिंसा होती है और स्वाद आदि विषयों की विशेष पुष्टि होती है। उसी प्रकार दिन में भोजन न कर रात में भोजन करते हैं सो प्रत्यक्ष ही दिन की अपेक्षा रात्रिमें अधिक हिंसा प्रतीत होती है। प्रमाद विशेष होता है। व्रतादि करके अनेक श्रृङ्गार करते हैं। कुतूहल करते हैं

१—ग्रहोपरागे संक्रान्त्यामयने विषुवे तथा। युगादिषु षडशीत्यां व्यतीपाते दिनक्षयं ॥ १० ॥ आषाढ्यां चैव कार्तिक्यां माघ्यां वान्ये शुभेदिने। ये तत्रदानं विप्रेभ्यः प्रयच्छन्ति सुमेधसः ॥ ११ ॥ फलं सहस्रगुणितं अन्यतीर्थाल्लभंति ते ॥ १२ ॥ ब्रह्मपु० १२

जूआ आदि खेलते हैं इत्यादि पाप क्रिया करते हैं। तथा व्रतादिकका फल लौकिक इष्ट फल की प्राप्ति और अनिष्टका विनाश चाहते हैं जिसमें कषायोंकी तीव्रता विशेष होती है। ऐसे व्रतादिकों का आचरण कर धर्म मानना सब कुधर्म है।

इसी प्रकारभक्ति आदि कार्योंमें हिंसादि पापोंको बढ़ाते हैं गीत नृत्यादि, इष्ट भोजनादिक तथा अन्य सामग्रियोंसे विषयोंका पोषण करते हैं और कुतूहल प्रमादादिरूप प्रवृत्ति करते हैं इनमें पाप तो बहुत होता है पर धर्मका साधन कुछ नहीं होता अतः इनको धर्म मानना सो सब कुधर्म है।

कोई शरीरको क्लेश पैदा करते हैं और साथमें हिंसादि पाप कमाते हैं, कषायादि रूप प्रवृत्ति करते हैं, जैसे पंचाग्नि तपसे अग्नि द्वारा छोटे बड़े जीव जल जाते हैं हिंसा बढ़ती है इसमें कौनसा धर्म हुआ। नीचा मुख करके झूलना, हाथ ऊपर रखना इत्यादि साधनों में वहां क्लेश ही होता है कुछ यह धर्मके अङ्ग नहीं है। पवन साधन (प्राणायाम) आदि करने में भी नेति धोती आदि कार्योंमें जलादिकसे हिंसा होती है। कोई चमत्कार आदिक पैदा होते हैं तो उससे मानादिक ही बढ़ते हैं। कुछ धर्म साधन नहीं होता, इत्यादि क्लेश ही करते हैं। विषयकषाय घटानेका कोई उपाय नही करते। अंतरङ्ग में क्रोध मान माया लोभ आदिका अभिप्राय रहता है क्लेशसे वृथा धर्म मानता है यह सब कुधर्म है।

बहुतसे इस लोकमें दुख न सह सकनेके कारण तथा पर लोकमें इष्ट की इच्छा एवं अपनी पूजा बढ़ानेके लिए क्रोध आदिक से अपघात करते हैं जैसे पतिवियोग में अग्निमें जल कर सती कहलाना, हिमालयमें गलना, काशी करोत लेना, जीवित मारी लेना आदि बातोंमें धर्म समझना। भला अपघात करना तो बड़ा पाप है। यदि शरीरसे अनुराग कम हुआ था तो तपश्चरणादि करना चाहिए था मरजानेमें कौनसा धर्मका अङ्ग हुआ अतः अपघात करना कुधर्म है। ऐसे और भी बहुत से कुधर्मके अङ्ग हैं। अधिक क्या, जिसमें विषय कषाय बढ़ते हों उसमें धर्म मानना सो कुधर्म है।

आत्मघात से धर्म का निषेध

और तो क्या काल दोषसे जैनधर्ममें भी कुधर्मकी प्रवृत्ति हो गई है। जैनमतमें जो धर्म पर्व बतलाए हैं उनमें विषय कषाय छोड़ कर संयमरूप प्रवृत्तिकरना योग्य है उसका तो पालन नहीं करते, केवल व्रत नाम रखकर नाना प्रकारका श्रृङ्गार करते हैं, गरिष्ट भोजन करते हैं, कुतूहलादिक करते हैं कषाय बढ़ानेके कार्य करते हैं जूआ इत्यादिक महापाप रूप प्रवृत्ति करते हैं। पूजा आदि कार्योंमें उपदेश तो यह था कि "सावद्य लेशो बहुपुण्यराशौ दोषाय नालं (स्वयंभू स्तोत्र) अर्थात् बहुत पुण्यमें पापका अंश दोषके लिए नहीं होता, किन्तु इस छलसे पूजा प्रभावनादि कार्योंमें रात्रिमें दीपा

जैनधर्ममें कुधर्म प्रवृत्ति और उसका निषेध

दिक जलाकर अथवा अनंत कायादिकका संग्रह कर अथवा अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति कर हिंसादि रूप पाप तो बहुत कमाया जाता है किन्तु स्तुति भक्ति आदि शुभ परिणामोंमें प्रवृत्ति नहीं की जाती अथवा थोड़े समय प्रवृत्ति की जाती है अतः टोटा बहुत और नफा कम होती है अथवा नफा कुछ भी नहीं होता प्रत्युत ऐसा कार्य करनेमें तो बुरा ही देखा जाता है।

जिनमंदिर तो धर्म का स्थान है वहां नाना कुकथाएँ करना, सोना आदि प्रमादरूप प्रवृत्ति करना, बाग बाड़ी इत्यादि बनाकर विषय कषायोंका पोषण करना लोभी पुरुषोंको दानादिक देना अथवा उनकी असत्य स्तुति कर उनका महंतपना स्वीकार करना आदि अनेक प्रकारसे विषय कषायोंको बढ़ाते हैं और उसमें धर्म मानते हैं परन्तु जिनधर्म तो वीतरागभाव रूप है उसमें ऐसी प्रवृत्ति कालदोषसे ही हो सकती है। इस प्रकार कुधर्म सेवनका निषेध किया। अब इस कुधर्म सेवनमें मिथ्यात्वभाव कैसे हुए यह बतलाते हैं:—

तत्वश्रद्धानमें प्रयोजनभूत है रागादिक का छोड़ना इसी भावको धर्म कहा है। जो रागादिक भावोंको बढ़ा कर धर्म मानता है उसके तत्वश्रद्धान नहीं रह सकता दूसरे यह जिन आज्ञाके भी प्रतिकूल है। रागादिकभाव तो पाप हैं उनको धर्म मानना यह झूठा श्रद्धान है अतः कुधर्म सेवनमें मिथ्यात्वभाव है। इस प्रकार कुदेव कुगुरु और कुशास्त्रके सेवनमें मिथ्यात्व भावकी पुष्टी होती देखकर उसका निरूपण किया है। वही षट्पाहुड़में लिखा है—

कुधर्म सेवन से मिथ्यात्व की प्रवृत्ति

कुच्छिय देवं धम्मं कुच्छिय लिंगं च वंदए जोई
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो दु ॥ [मो० पा० ९२]

"जो लज्जासे भयसे, या बड़ाईसे कुत्सित देव, कुत्सित धर्म, और कुत्सित लिंग (वेश) की वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि है" इसलिए जो मिथ्यात्वका त्याग करना चाहता है वह पहले कुदेव कुगुरु और कुधर्मका त्याग करता है। सम्यक्त्व के २५ मलोंके त्यागमें और अमूढ़ दृष्टि व षड् अनायतन में भी इन्हीका त्याग कराया है इसलिए इनको अवश्य त्याग करना चाहिए। कुदेवादिककी सेवासे जो मिथ्यात्वभाव होते हैं वह हिंसादिक पापोंसे भी महापाप हैं इसके फलसे निगोद नरकादि पर्यायें प्राप्त होती हैं वहाँ अनंत कालतक महा संकटका ही सामना करना पड़ता है सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति महादुर्लभ हो जाती है यही बात षट्पाहुड़में भी लिखी है।

"कुच्छिय धम्मम्मिरओ कुच्छिय पासंडि भक्ति संजुत्तो
कुच्छिय तवं कुणंतो कुच्छिय गइभायणो होइ ॥ [भा० प्रा० १३८]

जो कुत्सित धर्ममें रत है, कुत्सित पाखण्डकी भक्ति करता है कुत्सित तप करता है वह जीव खोटी गतिका पात्र होता है। इसलिए भव्य प्राणियोंको चाहिए कि जरासे लोभ

अथवा भयसे कुदेवादिकका आराधन करके ऐसा मिथ्यात्वभाव उत्पन्न करना योग्य नहीं हैं जिससे अनंतकाल पर्यंत महादुःख सहना पड़े। जिनधर्ममें तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाना चाहिए अतः इस मिथ्यात्वको सप्त व्यसनादिकसे भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है इसलिए जो पापसे डरते हैं अपनी आत्माको दुःखसमुद्रमें नहीं डुबाना चाहते उन जीवोंको यह मिथ्यात्व अवश्य छोड़ देना चाहिए।

निंदादिभयसे मिथ्यात्व सेवनका निषेध

निंदा प्रशंसादिक के विचार से भी उसमें शिथिल होना योग्य नहीं है क्यों कि नीतिमें भी लिखा है कि:—

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ [नी० श० ८४]

कोई निन्दा करे या स्तुति करे, लक्ष्मी आजाय या चली जाय, आज ही मरण हो या युगों तक जीवित रहे किन्तु धीर वीर पुरुष न्याय मार्गसे एक पैर भी पीछे नहीं हटते।

इस तरह न्यायका विचार करके निन्दा प्रशंसादिकके भयसे या लोभादिकसे अन्याय रूप मिथ्यात्वका सेवन करना ठीक नहीं है। देवगुरू धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं इनके आधार ही धर्म है इनमें शिथिलता रखनेसे अन्यधर्म कैसे हो सकते हैं। इस लिए अधिक कहनेसे क्या, सर्वथा कुदेव कुगुरु और कुधर्मका त्यागी होना योग्य है। कुदेवादिकका त्याग न करनेसे मिथ्यात्वादिक भाव बहुत पुष्ट होते हैं और इस समय यहाँ इनकी प्रवृत्ति विशेष पाई जाती है इसलिए इनका निषेध किया है। उसे समझकर मिथ्यात्व भावको दूर कर अपना आत्मकल्याण करना चाहिए।

इस प्रकार मोक्षमार्ग-प्रकाश नामक शास्त्रमें कुदेव कुगुरु
और कुधर्मका निषेध वर्णन करनेवाला
छठा अधिकार समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अध्याय ७

जैन मिथ्यादृष्टि का निरूपण

इस भव तरुको मूल इक जानहु मिथ्याभाव।
ताकों करि निरमूल अब करिए मोक्ष उपाव ॥

जो जीव जैनी हैं और जिनआज्ञाको मानते है उनके भी मिथ्यात्व रहता है इसका वर्णन करते हैं—क्योंकि इस मिथ्यात्व वैरीका अंश भी बुरा है इसलिए सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है। जिनागममें निश्चय और व्यवहाररूप वर्णन मिलता है, उनमें यथार्थका नाम निश्चय है और उपचारका नाम व्यवहार है। इनके स्वरूप को विना जाने ही जीव उल्टी प्रवृत्ति करते हैं वही बतलाते हैं।

एकान्त निश्चयावलम्बी जैनाभास

बहुतसे जीव निश्चयको विना जाने निश्चयाभासके श्रद्धानी बनकर अपनेको मोक्षमार्गी मानते हैं, अपनी आत्माको सिद्ध समान अनुभव करते हैं। जो प्रत्यक्ष संसारी है किन्तु भ्रम से अपनेको सिद्ध समान मानता है वही मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रोंमें जो सिद्ध समान आत्माको कहा है वह द्रव्यदृष्टिसे कहा है पर्याय दृष्टिसे नहीं कहा। जैसे राजा और रंक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान हैं राजापन रंकपन की अपेक्षा समान नहीं है वैसे ही सिद्ध और संसारी जीवपनेकी अपेक्षा समान हैं सिद्धपन संसारीपनकी अपेक्षा समान नहीं हैं, परन्तु यह (निश्चयावलम्बी श्रद्धानी) सिद्धोंके समान ही अपने को शुद्ध मानता है, भला शुद्ध और अशुद्ध अवस्था पर्याय है इस पर्याय की अपेक्षा समानता मानने वाला मिथ्या दृष्टि है। इसी तरह अपने के ज्ञानादिका सद्भाव मानता है किन्तु है क्षयोपशमरूप मति श्रुत ज्ञानका सद्भाव ही है और भाव तो कर्मके क्षय होनेपर होते हैं पर यह भ्रमसे कर्मके क्षय विना ही क्षायिक भ... कर्मसे भ्रम है इसलिए यह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रोंमें जो सब जीवोंको केवलज्ञान स्वभाव क... शुद्ध मान शक्तिकी अपेक्षा कहा है। अर्थात् सब जीवोंके केवलज्ञानादि रूप होने की शक्ति रागादिकको मान व्यक्तता तो व्यक्त होनेपर ही बतलाई है। ...नेका भय

कोई ऐसा भी मानते हैं कि आत्माके प्रदेशोंमें तो केवलज्ञान ही है ऊपर आ... होनेसे वह प्रकट नहीं होता, परन्तु यह भ्रम है अगर केवल ज्ञान होता तो वज्रपटलादि...

आत्माके प्रदेशों में केवलज्ञानका निषेध

आड़े होते हुए भी वह पदार्थको जानता। कर्म के आड़े आने पर तो अटकता ही कैसे? इसलिए कर्मके निमित्तसे केवल ज्ञानका अभाव ही है। अगर इसका सदा सद्भाव रहता तो इसको पारिणामिक भाव कहते लेकिन यह तो क्षायिक भाव हैं। सम्पूर्ण भेद जिसमें गर्भित हैं ऐसा चैतन्य भाव पारिणामिक हैं, इसकी अनेक अवस्थाएँ मतिज्ञानादि रूप अथवा केवलज्ञानादि रूप हैं अतः केवलज्ञान पारिणामिक भाव नहीं है इसलिए इसका सर्वदा सद्भाव नही मानना चाहिए। शास्त्रों में जो सूर्यका दृष्टांत दिया है उसका इतना ही भाव समझना चाहिए कि जैसे मेघपटलके होते हुए सूर्यप्रकाश प्रकट नहीं होता वैसे ही कर्मका उदय होते हुए केवलज्ञान नहीं होता। यह भाव नहीं है कि जैसे सूर्यमें प्रकाश रहता हैं वैसे ही आत्मामें केवलज्ञान रहता है, क्योंकि दृष्टांत सब तरहसे नहीं मिलता। जैसे पुद्गलमें वर्ण नामका गुण है। उसकी हरित पीतादिक अवस्थाएं है, वर्तमान में किसी एक अवस्थाके होनेपर अन्य अवस्थाओंका अभाव ही है। वैसे ही आत्मामें चैतन्य गुण है उसकी मतिज्ञानादि रूप अवस्थाएं है वर्तमान में एक अवस्थाके रहने पर अन्य अवस्थाओंका अभाव ही है।

ोवित **प्रश्न**—आवरणका मतलब तो वस्तुका आच्छादन है जब केवलज्ञानका सद्भाव नहीं तब केवलज्ञानावरण क्यों कहा है?

उत्तर—शक्ति है उसको व्यक्त नहीं होने देता इस अपेक्षासे आवरण कहा है। जैसे देश चारित्रका अभाव होनेपर भी शक्तिको घातने की अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरण कहा है। दूसरे यों भी समझना चाहिए कि वस्तुमें जो परनिमित्तसे भाव होता है वह औपाधिक भाव कहलाता है और परनिमित्तके बिना जो भाव होता है उसका नाम स्वभाव है। जैसे अग्निका निमित्त होनेपर जलमें उष्णपना होता है वहां शीतलताका अभाव ही है परन्तु अग्निका निमित्त न रहने र उसमें फिर शीतलता आजाती है इसलिए जलका स्वभाव सदा ही शीतल कहा जाता है योंकि उसमें ऐसी शक्ति सदा पाई जाती है। उस शक्ति के व्यक्त होनेपर स्वभाव व्यक्त ा कहलाता है। वैसे ही कर्मका निमित्त होनेके कारण आत्मा अन्यरूप हुआ है उसमें का अभाव है परन्तु कर्मका निमित्त मिटने पर सर्वदा केवलज्ञान रहता है क्योंकि सदा पाई जाती है, व्यक्त होनेपर स्वभाव व्यक्त हुआ कहलाता है। तथा जिस उष्णजल को शीतल मानकर पीया जाय तो उससे जलन ही होती है वैसे ही केवल ावसे अशुद्ध आत्माको यदि शुद्ध अनुभव किया जाय तो दुःख ही होगा। इस केवलज्ञानादि रूप आत्माका अनुभव करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

श्री क्षर प्रत्यक्ष में रागादि भावोंके होते हुए भी जो भ्रमसे आत्माको रागादि रहित यह बताना चाहिए कि यह रागादिक जो देखे जाते हैं वह किस द्रव्यके

रागादिकके सद्भावमें आत्माको राग-रहित माननेका निषेध

अस्तित्वमें देखे जाते हैं ? अगर शरीर या कर्म पुद्गलके अस्तित्वमें देखे जाते हैं तो वे भाव अचेतन तथा मूर्तिक होने चाहियें, किन्तु ये रागादिक प्रत्यक्ष चेतनता लिए हुए अमूर्तिक भावरूप प्रतीत होते हैं, इसलिए यह भाव आत्मा ही के हैं। समयसारके कलशमें भी इसी का समर्थन किया है—

'कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो—
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यनुभवाभावान्नचेयं कृतिः॥
नैकस्याः प्रकृतेरचित्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो।
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न वै पुद्गलः'॥ [सर्वविशुद्ध ज्ञा० ११]

"यह रागादिकरूप भावकर्म किसीके द्वारा किया हुआ नहीं है, यह बात नहीं है क्योंकि वह कार्य है। जीव और प्रकृति इन दोनोंका भी यह कार्य नहीं है क्योंकि अगर ऐसा हो तो अचेतन कर्म प्रकृतिको भी उस भाव कर्म का फल सुख दुःख भोगना चाहिए, लेकिन यह असम्भव है। तथा अकेली कर्मप्रकृतिका भी यह कार्य नहीं है क्योंकि उसका अचेतनपना स्पष्ट है, इसलिए रागादिकका जीव ही कर्ता है और वह (रागादिक) जीवहीका कर्म है क्योंकि भावकर्म चेतनानुसारी है अर्थात् चेतनाके विना नहीं होता और पुद्गल ज्ञाता है नहीं।"

इसलिए रागादिकभाव जीवके अस्तित्वमें है। जो रागादि भावोंका निमित्त कर्म ही को मानकर स्वयंको रागादिकका अकर्ता मानता है वह कर्ता तो स्वयं है किन्तु स्वयंको निरुद्यमी होकर प्रमादी बनाकर कर्मका ही दोष ठहराता है यह दुःखदायक भ्रम है, यही समयसार कलशमें भी लिखा है—

'रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः॥ [सर्ववि० ज्ञा० २८]

"जो जीव रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्यहीको निमित्त मानते हैं वे शुद्धज्ञानहीन अन्धबुद्धि मोह नदी को पार नहीं सकते।"

तथा समयसारके सर्वविशुद्ध अधिकारमें जो जैन आत्माको अकर्ता मानता है और कहता है कि कर्म ही जगाता सुलाता है, परघात कर्मसे हिंसा होती है, वेद कर्मसे ब्रह्म ...लिए कर्म ही कर्ता है उसको सांख्यमती कहा है। जैसे सांख्यमती आत्माको शुद्ध मान ...द होता है वैसे ही यह भी हुआ। इस श्रद्धानसे एक दोष यह भी हुआ कि रागादिकको ...ने नहीं जानता और न अपनेको उनका कर्ता मानता है इसलिए रागादिक होनेका भय

...स्याः' पाठ है, प्र० गु०। २—'स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः' पाठ है, प्र० गु०। ३—'वत्' है प्र० गु०।

नहीं रहा अतएव उसके मिटानेका उपाय भी नहीं करता केवल स्वच्छन्द हो खोटे कर्मोका वंध कर अनन्त संसारमें रुलता है।

प्रश्न—समयसार ही में तो ऐसा लिखा है—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंसः [जीवा जीवाधि० ५]

अर्थ—सब वर्णादिक व रागादिकभाव इससे भिन्न हैं।

तथा वहाँ ही रागादिकको पुद्गलमय कहा है। अन्यशास्त्रोंमे भी रागादिकको आत्मासे भिन्न वतलाया है सो क्यों वतलाया है?

उत्तर—रागादिकभाव परद्रव्यके निमित्तसे औपाधिकभाव कहलाते हैं और जीव उनको स्वभाव समझता है। स्वभावको बुरा कैसे माना जाय? और जब बुरा नहीं तो उसके विनाशका उपाय भी क्यों करे? लेकिन यह श्रद्धान विपरीत है अत. उसको छुड़ानेके लिए स्वभावकी अपेक्षा रागादिकको भिन्न वतलाया है और निमित्तकी अपेक्षासे पुद्गलमय कहा है। जैसे रोग मिटानेका इच्छुक वैद्य शीतका आधिक्य देखता है तो उष्ण औषधि वतलाता है और आतपकी अधिकता देखता है तो शीत औषधि देता है। वैसे ही श्रीगुरु रागादिको छुड़ाना चाहते हैं, जो रागादिकको पर मानकर स्वच्छन्द और निरुद्यमी हैं उसको उपादान कारणकी मुख्यतासे रागादिक आत्माका है ऐसा श्रद्धान कराते हैं। और जो रागादिकको अपना स्वभाव मानकर उनके विनाशका उद्यम नहीं करते उनको निमित्त कारणकी मुख्यतासे 'रागादिक परभाव है' ऐसा श्रद्धान कराते हैं। दोनों विपरीत श्रद्धानोंसे रहित होनेपर जव सत्यश्रद्धान होता है तव ऐसा मानता है कि यह रागादिक भाव आत्माके स्वभाव तो नहीं हैं कर्मके निमित्तसे आत्माके अस्तित्वमें विभाव पर्याय रूपसे पैदा हुए हैं। निमित्त हटनेपर इनका नाश होते ही स्वाभाविक भाव रह जाते हैं इसलिए इनके नाशका उद्यम करना चाहिए।

प्रश्न—अगर यह कर्मके निमित्तसे होते हैं तो कर्मका उदय रहनेतक विभाव दूर कैसे हो सकता है? इसलिए इनके विनाशका उद्यम करना निरर्थक है।

उत्तर—एक कार्यके होनेमें अनेक कारण आवश्यक होते हैं उनमें बुद्धिपूर्वक होनेवाले कारणोंको तो प्रयत्न कर मिलाता है और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले कारण स्वयं ही मिलें तव कार्य सिद्धि होती है। जैसे पुत्र होनेका कारण बुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है और अबुद्धिपूर्वक भवितव्य है। वहाँ पुत्रार्थी विवाहादिकका तो प्रयत्न करे और भवितव्य स्वयं हो तो पुत्र होता है। वैसे ही विभाव दूर करनेके बुद्धिपूर्वक कारण तो तत्व विचारादिक है और अबुद्धिपूर्वक कारण मोहकर्मका उपशमादिक है इसलिए उसका इच्छुक तत्व विचारादिकका तो उद्यम करे और मोहकर्मका उपशमादिक स्वयंमेव हो तव रागादिक दूर होते हैं।

१—तेनैवान्तस्तत्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् इति शेषः।

प्रश्न—जैसे विवाहादिक भी भवितव्यके आधीन हैं वैसे तत्त्व विचारादिक भी कर्मके क्षयोपशमादिकके आधीन समझना चाहिए अतः उद्यम करना निरर्थक रहा।

उत्तर—तत्वविचारादि करने योग्य ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो है ही इसीलिए उस उपयोगको यहाँ लगानेका प्रयत्न किया गया है। असंज्ञी जीवके उतना क्षयोपशम नहीं है इसलिए उनको उपदेश भी नहीं दिया है।

प्रश्न—होनहार हो तो उपदेश भी लगता है विना होनहारके उपदेश भी कैसे लग सकता है?

उत्तर—अगर ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र किसी कार्यके लिए उद्यम करना ही नहीं चाहिए। खान पान व्यापारादिकका तो उद्यम किया जाता है और यहां होनहार बताया जाता है इसका तो अर्थ यह है कि यहाँ (तत्वविचारादि उपयोगमें) अनुराग नहीं है। वास्तवमें मानादिकसे ऐसी झूठी वातें बनाई जाती है। इस प्रकार जो रागादिक होते हुए भी आत्माको उनसे हीन मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

इसीतरह कर्म नोकर्मका संबंध होते हुए भी आत्माको (कोई जैन) अबद्ध मानते हैं किन्तु कर्म नोकर्मका वन्धन प्रत्यक्ष दीखता है। ज्ञानावरणसे ज्ञानादिकका घात देखा जाता है, शरीरसे उसीके अनुसार अनेक अवस्थाएँ होती देखी जाती हैं फिर वंधन क्यों नहीं मानना चाहिए और वंधन न हो तो मोक्षमार्गी इनके नाशका उपाय क्यों करते हैं?

आत्माको कर्म नोकर्मसे अबद्ध माननेका निषेध

प्रश्न—शास्त्रोंमें आत्माको कर्म नोकर्मसे भिन्न, अबद्ध और अस्पृष्ट कैसे कहा है?

उत्तर—संबंध अनेक प्रकारका है यहां तादात्म्य संबंधकी अपेक्षा आत्माको कर्म नोकर्मसे भिन्न बतलाया है, तथा दोनों द्रव्य वदलकर एक नहीं हो जाते इस अपेक्षासे अबद्ध, अस्पृष्ट कहा है। नित्य नैमित्तिक संबंधकी अपेक्षा वंधन तो है ही। आत्मा कर्म नोकर्मके निमित्तसे अनेक अवस्थाएँ धारण करता है इसलिए सर्वथा अपनेको वन्धरहित मानना मिथ्या दर्शन है।

प्रश्न—बंध और मुक्तिका विकल्प हमें नहीं करना चाहिए? क्यों कि शास्त्रमें ऐसा लिखा है—

'जो बंधउ मुक्कउ मुणइ सो बंधइ णं भंति (बेंति)?

अर्थात् जो जीव बंध होना और मुक्त होना मानता है वह निःसन्देह बँधता है।

उत्तर—जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होकर वंध मुक्त अवस्था ही को मानते हैं द्रव्यस्वभावका ग्रहण नहीं करते उनको ही यह उपदेश दिया है कि द्रव्यस्वभावको विना ही जाने

जीवको बद्ध मुक्त जानना बंधका कारण है अगर सर्वथा ही बंधसे मुक्त न होता हो तो उसे बद्ध ही फिर क्यों कहना चाहिए तथा बंधका विनाश और मुक्त होनेका प्रयत्न ही क्यों करना चाहिए इसलिए द्रव्यदृष्टिसे एक ही दशा है पर्यायदृष्टिसे अनेक अवस्थाएँ होती हैं ऐसा मानना ठीक है। इस तरह केवल निश्चयनयके अभिप्रायसे अनेक प्रकारसे विरुद्ध श्रद्धान करता है।

जिनवाणीमें तो अनेक प्रकारकी अपेक्षा बतलाई है, कहीं किसी प्रकार और कहीं किसी प्रकार निरूपण किया है। किन्तु यह (जैनी मिथ्यादृष्टि) निश्चय नयकी मुख्यतासे जो कथन किया गया है उसीको अपने अभिप्रायसे ग्रहण कर मिथ्यात्वका धारण करता है। जिनवाणीमें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी एकताको मोक्षमार्ग बतलाया है अतः इसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें सात तत्वोंका श्रद्धान व ज्ञान होना चाहिए लेकिन उनका विचार कुछ नहीं करता, और चारित्र में रागादिक दूर करना चाहिए उनके लिए कुछ प्रयत्न नहीं करता एक अपनी आत्माको शुद्ध अनुभव करना बस इसीको मोक्षमार्ग मानकर संतुष्ट रहता है और उसीका अभ्यास करने के लिए अंतरंगमें ऐसा विचार करना चाहता है 'मैं सिद्धसमान शुद्ध हूं केवलज्ञानादि सहित हूं द्रव्यकर्म नोकर्म रहित हूं, परमानन्दमय हूं, जन्म मरणादि दुःख मेरे नहीं हैं, इत्यादि'। यहाँ यह प्रश्न होता है कि यह चिंतन द्रव्यदृष्टिपूर्वक है या पर्यायदृष्टिपूर्वक यदि द्रव्यदृष्टि पूर्वक है तो द्रव्य तो शुद्ध अशुद्ध सभी पर्यायोंका संग्रह है तुम शुद्धही क्यों अनुभव करते हो और यदि पर्यायदृष्टिपूर्वक है तो तुम्हारी वर्तमान पर्याय अशुद्ध है, अपनेको शुद्ध कैसे मानते हो। यदि शक्ति अपेक्षा शुद्धमानते हो तो 'मैं ऐसा होने योग्य हूं' ऐसा मानना चाहिए अतः अपनेको शुद्धरूप चिंतन करना भ्रम है क्योंकि अपनेको सिद्ध समान माननेपर यह संसार अवस्था किसकी कहलायगी और जब तुम्हारे केवलज्ञानादिक मौजूद हैं तब यह मतिज्ञानादिक किसके कहलाँयगे तथा यदि तुम द्रव्यकर्म और नो कर्मसे रहित हो तो ज्ञानादिकका प्रकटपना क्यों नहीं ? परम आनंदमय हो तो अब कर्तव्य ही क्या रहा, जन्म मरणादि दुःख ही नहीं तो दुखी क्यों हो ? अतः अन्य अवस्थामें अन्य अवस्था मानना भ्रम है।

अपेक्षा न समझनेसे मिथ्या प्रवृत्ति

प्रश्न—यदि यह भ्रम है तो शास्त्रोंमें शुद्ध चिंतवनका उपदेशही क्यों दिया है ?

उत्तर—एकतो द्रव्यकी अपेक्षा शुद्धता है एक पर्यायकी अपेक्षा शुद्धता है। द्रव्यकी अपेक्षा तो परभावोंसे भिन्नता और अपने भावोंसे अभिन्नताका नाम शुद्धता है और पर्यायकी अपेक्षा औपाधिकभावोंका अभाव होना उसका नाम शुद्धता है। यहाँ शुद्ध चिंतनमें द्रव्यकी अपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है। समयसारमें भी यही लिखा है:—

"एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्योभिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिधीयते"

अर्थ—जो आत्मा प्रमत्त अप्रमत्त नहीं है वही समस्त परद्रव्योंके भावोंसे भिन्नरूपसे उपासना करने पर शुद्ध कहलाता है। वहीं यह भी लिखा है :—

"समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः

अर्थ—सम्पूर्ण कर्ता कर्म आदि कारकोंके समूहकी प्रक्रियासे रहित जो निर्मल अनुभूति यानी अभेद ज्ञान-तन्मात्र यह आत्मा है इस कारण से वह शुद्ध है।

यह शुद्ध शब्दका अर्थ समझना चाहिए। इसी प्रकार केवल शब्दका अर्थ समझना चाहिए जो परभावोंसे भिन्न केवल आप है उसका नाम केवल है। इसी तरह अन्य यथार्थ अर्थको समझना चाहिए। पर्यायकी अपेक्षा शुद्धता मानना अथवा अपनेको केवली मानना महान विपरीतता है। अतः स्वयंको द्रव्य पर्यायरूप देखना चाहिए। द्रव्यसे अपने समान्यरूपका अवलोकन करना चाहिये और पर्यायसे अवस्था विशेपका निश्चय करना चाहिये ऐसे चिंतवनसे ही सम्यग्दृष्टि होता है। क्योंकि विना सत्य अवलोकनके सम्यग्दृष्टि नाम कैसे पासकता है ? मोक्ष मार्गमें तो रागादिको मिटानेका श्रद्धान ज्ञान और आचरण करना है। उसका तो कुछ विचार है नहीं स्वयं के शुद्ध अनुभवसेही अपनेआपको सम्यग्दृष्टि मानकर अन्य साधनोंका निपेध करता है। शास्त्राभ्यासको निरर्थक बतलाता है द्रव्यादिकका, गुणस्थान मार्गणा त्रिलोकादिकके विचारको विकल्प बतलाता हैं तपश्चरणको वृथा और कायक्लेशरूप मानता हैं व्रतादिक करनेको बन्धनमें पड़ना मानता है पूजन आदि सर्व कार्योंको शुभाश्रवका कारण जान हेय बतलाता है।

शास्त्राभ्यासकी निरर्थकताका निपेध

इत्यादि सर्वसाधनोंको हटाकर प्रमादी होता है। किन्तु यदि शास्त्राभ्यास निरर्थक हो तो मुनियोंके भी तो ध्यान अध्ययन दो ही कार्य मुख्य है वे ध्यानमें उपयोग न लगने पर अध्ययनमें ही तो उपयोग को लगाते हैं। बीचमें उपयोग लगाने योग्य अन्य ठिकाना उनके नहीं है। शास्त्रोंसे तत्त्वोंका विशेपज्ञान होनेपर सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। जबतक वहां उपयोग रहता है तब तक कपाय मंद रहती हैं तथा आगामी वीतरागभावोंकी वृद्धि होती है ऐसे कार्यको निरर्थक कैसे माना जाय दूसरे कुछ लोगोंका कहना है कि जिनशास्त्रोंमें अध्यात्मका उपदेश हो उनका ही अध्ययन करना चाहिए अन्यशास्त्रोंके अभ्याससे कुछ नहीं है। उसके उत्तरमें कहना है कि अगर तेरी सत्य दृष्टि है तो सबही जैनशास्त्र उपकारी है। अध्यात्मशास्त्रोंमें तो मुख्यतासे आत्मस्वरूप का कथन है, किन्तु सम्यग्दृष्टि होने पर आत्मस्वरूपका तो निर्णय हो चुकता है तब तो ज्ञानकी निर्मलताके लिए उपयोगको मन्द कपायरूप रखनेके लिए अन्यशास्त्रोंका अभ्यास मुख्य होना चाहिए। और जो आत्म-स्वरूपका निर्णय हुआ है उसको निर्मल रखनेके लिए आध्यात्मिकशास्त्रोंका भी अभ्यास होना चाहिये। परन्तु अन्यशास्त्रोंमें अरुचि नहीं होनी चाहिए। जिसकी अन्य शास्त्रोंमें अरुचि है उसके अध्यात्मकी रुचि सत्य नहीं है। जैसे विपयासक्त जीव विपयासक्त पुरुपोंकी कथा भी रुचिसे सुनता है, विपयके विशेपको भी जानता है, विपयके साधनों

को हितरूप जानता है, विषयके स्वरूपको भी पहचानता है। उसी प्रकार जिसकी आत्मरुचि हुई हो वह आत्मरुचिके धारक तीर्थंकरादिकोंके पुराणोंको भी जानता है, तथा आत्माको विशेष समझने के लिए गुणस्थानादिकोंको भी जानता है तथा आत्माचरणमें व्रतादिक साधनोंको भी हितरूप मानता है। आत्माके स्वरूपको भी पहचानता है। अतः चारों ही अनुयोग कार्यकारी हैं। उनका भी अच्छा ज्ञान होनेके लिए शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्रादिकको भी जानना चाहिए। अतः शक्तिके अनुसार थोड़ा बहुत अभ्यास करना योग्य है।

प्रश्न—"पद्मनन्दि पचीसी" में तो लिखा है कि आत्मास्वरूपसे हटकर बाह्य शास्त्रोंमें जो बुद्धि विचरती है वह व्यभिचारिणी है।

उत्तर—यह सत्य कहा है—बुद्धि तो आत्माकी है उसको छोड़कर परद्रव्य परशास्त्रोंमें वह अनुरागिणी हुई अतः वह व्यभिचारिणी ही कही जायगी। परन्तु जैसे स्त्री शीलवती है तो ठीक ही है और यदि उससे न रहा जाय और वह उत्तम पुरुषको छोड़कर नीच चाण्डालादिकका सेवन करे तो अत्यन्त निन्दनीय होती है। वैसे ही बुद्धि आत्मस्वरूपमें प्रवृत्ति करे तो ठीक ही है और यदि न करे तो प्रशस्त शास्त्रादि परद्रव्यको छोड़कर अप्रशस्त विषयादिकमें लगे तो अत्यन्त निन्दनीय कहलायेगी। किन्तु जब मुनियोंकी भी बुद्धि बहुत कालतक आत्मस्वरूपमें नहीं लगती तब उसकी बुद्धि कैसे लग सकती है? इसलिए शास्त्राभ्यासमें बुद्धि लगाना उपयुक्त है।

इसी तरह द्रव्यादिक अथवा गुणस्थानादिकके विचारको जो विकल्प बतलाया गया है, वह विकल्प तो है परन्तु निर्विकल्प उपयोग रहता भी तो नहीं है। अतः जब यह विकल्प नहीं करेगा तब दूसरे विकल्प होंगे और वे बहुत रागादिक युक्त होंगे। तथा निर्विकल्प दशा सदा तो रहती नहीं क्योंकि छद्मस्थका एकरूप उपयोग उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। यदि यह कहा जाय कि मैं आत्मस्वरूप का ही चिन्तन अनेक प्रकार किया करूँगा तो सामान्य चिन्तन तो अनेक प्रकार होता नहीं। और यदि विशेष चिन्तन करेगा तो द्रव्य, गुण, पर्याय, गुणस्थान, मार्गणा, शुद्ध अशुद्ध अवस्था इत्यादि का अवश्य विचार होगा। दूसरे केवल आत्मज्ञान होते हुए तो मोक्ष मार्ग होता नहीं है। सात तत्वोंका श्रद्धान तथा ज्ञान होनेपर तथा रागादिकको दूर करनेपर ही मोक्षमार्ग होता है अतः सात तत्वोंका विशेष रूप समझनेके लिए जीव अजीवका व कर्मके आश्रव बंधादिकका विशेष ज्ञान होना आवश्यक है। उसीसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उसके बाद रागादिकको दूर करनेके लिये रागादिक बढ़ानेके जो कारण हैं उनको छोड़कर रागादिकको घटाने के कारणों में उपयोगको लगाना चाहिए। सो द्रव्यादिक वा गुणस्थानादिकका विचार रागादि घटानेका कारण है। इनमें कोई रागादिकका निमित्त नहीं है, इसलिए सम्यग्दृष्टि होनेके बाद भी इनमें ही उपयोग लगाना चाहिए।

द्रव्यादिकका विचार विकल्प नहीं है

प्रश्न—रागादिक मिटानेके कारणोंमें उपयोग लगाना तो ठीक है परन्तु त्रिलोकवर्ती

जीवोंकी गति आदिका विचार करना, कर्मके बन्ध और सत्ता आदिके विषयमें अधिक जानना, त्रिलोकका आकार प्रमाणादिक जानना इनसे क्या मतलब है ?

उत्तर—इनके विचारसे भी रागादिक बढ़ते नहीं हैं क्योंकि यह ज्ञेय इसको इष्ट या अनिष्ट रूप नहीं है। इसलिए वर्तमानमें रागादिकका कारण भी नहीं है। इनके विशेष ज्ञानसे तत्वज्ञान निर्मल होता है इसलिए आगामी रागादिक घटानेके ही कारण हैं अतः कार्यकारी है।

प्रश्न—स्वर्ग नरक आदिकके ज्ञानसे तो राग-द्वेष होता है।

उत्तर—ज्ञानीकी इस प्रकारकी बुद्धि नहीं होती अज्ञानीके ही होती है। जहाँ पापको छोड़कर पुण्यकार्यमें लगना हो वहाँ रागादिक कुछ घटते ही हैं।

प्रश्न—शास्त्रका उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है ? अतः विकल्प ही क्यों किया जाय ?

उत्तर—जो जीव अन्य बहुत जानते हैं परन्तु प्रयोजनभूत नहीं समझते अथवा जिनकी बहुत जाननेकी शक्ति नहीं उनको यह उपदेश दिया है। परन्तु जिनकी जाननेकी शक्ति बहुत है उनको तो यह कहा नहीं कि बहुत जाननेसे बुरा होगा। जितना बहुत जानेगा उतना ही प्रयोजन-भूत पदार्थोंका ज्ञान निर्मल होगा क्योंकि शास्त्रमें भी ऐसा कहा हैः—

'सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।' [ ]

अर्थ—सामान्य शास्त्रसे विशेष बलवान् होता है। विशेषहीसे अच्छी तरह निर्णय होता है, अतः विशेष जानना योग्य है।

तपश्चरण वृथा क्लेश नहीं है

इसी तरह तपश्चरणको वृथा क्लेश कहना ठीक नहीं है क्योंकि मोक्षमार्ग होनेपर तो संसारी जीवोंसे उल्टी परिणति होनी ही चाहिए। संसारी जीवोंके इष्ट अनिष्ट सामग्रीसे राग-द्वेष होता है परन्तु इसके तो रागद्वेष नहीं होने चाहिए। अतः राग छोड़नेके लिए इष्ट सामग्री भोजनादिकका त्यागी होता है और द्वेष छोड़नेके लिए अनिष्ट सामग्री अनशनादिकको अङ्गीकार करता है। स्वाधीनतासे ऐसा साधन हो तो पराधीनतासे इष्ट अनिष्ट सामग्रीके मिलनेपर भी राग-द्वेष नहीं होता। अतः कर्तव्य तो यही है किन्तु इसको अनशनादिकसे द्वेष हुआ इसलिए उन्हें क्लेशरूप बतलाता है। जब अनशन क्लेशरूप हुआ तब भोजन करना अपने आप सुखरूप ठहरा उससे राग हुआ। ऐसी परिणति तो संसारियोंके पाई ही जाती है। इसने मोक्षमार्गी होकर क्या किया ? यदि कहा जाय कोई कोई सम्यग्दृष्टि भी तप नहीं करते तो इसका उत्तर यह है कि उनके कारणविशेषसे तप नहीं हो सकता परन्तु वे श्रद्धानमें तो तपको अच्छा समझते हैं उसके साधनका प्रयत्न नहीं करते हैं, लेकिन इसके तो यह श्रद्धान है कि तप करना क्लेश है और यह तपके लिए प्रयत्न करता है अतः इसकी दृष्टि सम्यक् कैसे हो सकती है ?

प्रश्न—शास्त्रमें तो ऐसा लिखा हैं कि तप आदिका क्लेश उठाता है तो उठाये, किन्तु ज्ञानके विना सिद्धि नहीं होती ?

उत्तर—जो जीव तत्वज्ञानसे पराङ्मुख है और तपहीसे मोक्ष मानते हैं उनको ऐसा उपदेश दिया है। तत्वज्ञानके विना केवल तपसे ही मोक्ष नहीं होता। तत्वज्ञानके होनेपर रागादिक मिटानेके लिए तपका निषेध नहीं किया है। अगर निषेध होता तो गणधरादिक तप क्यों करते ? इसलिए अपनी शक्तिके अनुसार तप करना योग्य है। किन्तु वह तपादिकको बन्धन मानता है जो ठीक नहीं है क्योंकि स्वच्छन्द वृत्ति तो अज्ञान अवस्थामें ही थी। ज्ञान पानेपर तो परिणतिको रोकता ही है। और उस परिणतिको रोकनेके लिए वाह्य हिंसादिक कारणोंका त्याग अवश्य होना चाहिये।

प्रश्न—हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं हम वाह्य त्याग नहीं करते तो न सही। इसमें क्या है ?

उत्तर—अगर यह हिंसादिक कार्य तुम्हारे परिणाम विना स्वयं ही होते हों तब तो हम तुम्हारा यह कथन मान सकते हैं। और यदि तुम अपने परिणामसे कार्य कर रहे हो तो तुम्हारे परिणाम शुद्ध कैसे कहे जा सकते हैं ? विषय सेवनादि क्रिया अथवा प्रमादगमनादि क्रिया परिणाम विना कैसे हो सकती है ? क्रिया तो तुम स्वयं उद्यमी होकर करते हो किन्तु उसमें होनेवाली हिंसाको नहीं मानते तथा परिणामोंकी शुद्धि मानते हो। इस तरह माननेसे तो परिणाम अशुद्ध ही ठहरेंगे।

प्रतिज्ञा न लेने का निषेध

प्रश्न—परिणामोंको रोक कर ही इन वाह्य हिंसादिकों को घटाना चाहिए। परन्तु प्रतिज्ञा करनेमें बंध होता है। इस लिए प्रतिज्ञा रूप व्रत अङ्गीकार नहीं करना चाहिए।

उत्तर—जिस कार्यके करनेकी आशा होती है उसकी प्रतिज्ञा नहीं ली जाती। और जिसकी आशा रहती है उसमें राग रहता है। अतः उस रागभावसे, कार्य न करने पर भी अविरतिजन्य बंध होता है। अतः प्रतिज्ञा अवश्य करनी चाहिए। दूसरे जब तक कोई बन्धन नहीं होगा तबतक परिणाम कैसे रुकेंगे। प्रयोजन पड़नेपर उसरूप परिणाम होते ही हैं, अथवा विना प्रयोजनके भी उसकी आशा रहती है इसलिए प्रतिज्ञा करना ही युक्त है।

प्रश्न—न जाने कब कैसा उदय आये और प्रतिज्ञा भंग हो जाय तो महापाप लगेगा। अतः प्रारब्ध के अनुसार कार्य हो सो हो उसके लिए प्रतिज्ञा करना ठीक नहीं है ?

उत्तर—प्रतिज्ञा ग्रहण करते समय जिसका निर्वाह होता न समझें उसकी प्रतिज्ञा तो न करे। प्रतिज्ञा लेते समय अगर यह अभिप्राय रहे कि काम पड़नेपर छोड़ दूंगा तो वह प्रतिज्ञा क्या कार्यकारी हुई ? और यदि यह परिणाम रहे कि मरणांत होनेपर भी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ूंगा तो ऐसी प्रतिज्ञा करना ठीक है। विना प्रतिज्ञा किए अविरत संबंधी बंध नहीं मिटता। आगाम

उदयके डरसे यदि प्रतिज्ञा न ली जाय तो उदयके विचारसे तो सभी कर्तव्यका नाश हो जायगा जैसे अपनेको जितना पच सके उतना भोजन करे, लेकिन अजीर्णके डरसे यदि भोजनही छोड़ दे तो मरण ही होगा। इसलिए जितनेसे अपना निर्वाह होता हो उतना ही प्रतिज्ञा करे। यदि अल्पपनेके डरसे प्रतिज्ञा ही छोड़ देगा तो असंयमी ही होगा। अतः जो बने उतनी प्रतिज्ञा लेना ठीक है। रही प्रारब्धकी बात सो प्रारब्धके अनुसार तो कार्य बनता ही है फिर उद्यमी होकर भोजनादिक क्यों किया जाता है। और यदि वहाँ उद्यम होता है तो त्याग करनेमें भी उद्यम होना चाहिए। जब तेरी दशा प्रतिमाके समान होगी तब हम उसे प्रारब्ध ही मानेंगे। तेरा कर्तव्य न मानेंगे। अतः स्वच्छंद होनेकी युक्तिसे कोई मतलब नहीं है। जितना बने उतनी प्रतिज्ञा करके व्रत धारण करना योग्य ही है। पूजनादि कार्योंको शुभाश्रवका कारण जानकर उनको हेय मानना यद्यपि ठीक है परन्तु वह तभी ठीक है जब कि शुद्धोपयोग रूप प्रवृत्ति करता है। और यदि विषय कषायरूप अशुभ प्रवृत्ति करता है तब तो इससे उसका बुरा ही होगा। शुभोपयोगसे स्वर्गादि मिलते हैं तथा अच्छी वासनासे या अच्छे निमित्तसे कर्मका स्थिति अनुभाग घट जानेपर सम्यक्त्वादिककी भी प्राप्ति हो जाती है। अशुभोपयोगसे नरक निगोदादि मिलते हैं अथवा बुरी वासना या बुरे निमित्तसे कर्मका स्थिति अनुभाग बढ़ जाय तो सम्यक्त्वादिक महादुर्लभ हो जाते हैं। शुभोपयोग ही से कषाय मंद होती है अशुभोपयोगसे तीव्र होती है। अतः मन्द कषायके कारणको छोड़ कर तीव्र कषायके कारणको अपनाना ऐसाही है जैसे कड़वी वस्तुको न खाकर विष खाया जाय। परन्तु है यह अज्ञानता।

शुभपयोग सर्वथा हेय नहीं है

प्रश्न—शास्त्रमें तो शुभ अशुभ दोनोंको समान बतलाया है इसलिए इनमें भेद करना ठीक नहीं है।

उत्तर—जो जीव शुभ उपयोग को मोक्षका कारण मानकर उपादेय मानते हैं और शुद्धोपयोगको नहीं पहचानते उनको अशुद्धता की अपेक्षा अथवा बंधके कारण की अपेक्षा शुभ अशुभको समान बतलाया है। यों शुभअशुभका विचार करने पर शुभभावोंसे कषाय मंद होती है। अतः बन्ध कम होता है। अशुभभावोंसे कषाय तीव्र होती है अतः बन्ध बहुत होता है। इस तरह सिद्धान्तमें अशुभकी अपेक्षा शुभको अच्छा बतलाया है। जैसे रोग थोड़ा हो या बहुत बुरा ही है परन्तु बहुत रोगकी अपेक्षा थोड़े रोगको अच्छा बतलाया है। इसलिए शुभ उपयोगके अभावमें अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवृत्ति करना ठीक है। शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है।

प्रश्न—कामादिक अथवा क्षुधादिकको मिटानेके लिए अशुभरूप प्रवृत्ति तो हुए बिना रहती नहीं और शुभ प्रवृत्ति इच्छापूर्वक करनी पड़ती है। किन्तु ज्ञानीके इच्छा होनी चाहिए नहीं। इसलिए शुभका उद्यम नहीं करना चाहिये।

उत्तर—शुभ प्रवृत्तिमें उपयोग लगानेसे अथवा उसके निमित्तसे विरागता बढ़ने से कामादिक घट जाते हैं और क्षुधादिक लगने पर भी थोड़ा सङ्क्लेश होता है। इसलिए शुभोपयोग का अभ्यास करना चाहिए। प्रयत्न करने पर भी यदि कामादिक अथवा क्षुधादिक रहते हैं तो उसको शान्तकरनेके लिए जिसप्रकार थोड़ा पाप लगे वैसा करना चाहिये परन्तु शुभोपयोग को छोड़ कर निःशङ्कः पापरूप प्रवृत्ति करना तो ठीक नही है। और यह जो कहा है कि ज्ञानीके इच्छा नहीं होनी चाहिए और शुभोपयोग इच्छा विना होता नहीं सो इसका समाधान यह है कि जैसे पुरुष थोड़ा भी अपना धन देना नहीं चाहता परन्तु बहुत सा धन जाता हुआ देखकर इच्छापूर्वक भी थोड़ा द्रव्य देनेका उपाय करता है। उसी प्रकार ज्ञानी थोड़ासा भी कषायरूप कार्य करना नहीं चाहता परन्तु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभकार्य होता देखता है वहाँ इच्छापूर्वक थोड़ी कषायरूप शुभकार्य करने का प्रयत्न करता है। इस तरह यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ शुद्धोपयोग होता हो वहाँ शुभकार्यका निषेध ही है और जहाँ अशुभोपयोग होता जाने वहाँ उपायपूर्वक शुभको अंगीकार करना ठीक है इस तरह व्यवहारधर्मके अनेक कार्योंको हटाकर जो स्वच्छंदपने का स्थापन करते हैं उनका निषेध किया। अब उसही केवल निश्चयावलंबी जीवकी प्रवृत्ति बतलाते हैं—

एक शुद्धात्माको जानकर ज्ञानी होता है—अन्य कुछ चाहिए नहीं ऐसा जानकर कभी एकान्तमें ध्यान लगाकर मैं सब कर्मउपाधि रहित सिद्ध समान आत्मा हूँ इत्यादि विचारकर सन्तुष्ट होता है। परन्तु यह विशेषण सम्भव कैसे हो सकता है। और इनकी असम्भवताका उसे विचार नहीं है। अथवा अचल, अखंडित, अनुपम आदि विशेषणोंसे आत्माका ध्यान करता है। परन्तु यह विशेषण अन्य-द्रव्योंमें भी सम्भव है। तथा यह विशेषण किस अपेक्षासे है इसका भी कुछ विचार नहीं है। कभी सोता बैठता हुआ जिस तिस अवस्थामें ऐसे विचारोंसे अपनेको ज्ञानी मानता है। तथा ज्ञानीके आश्रवबंध नहीं ऐसा आगममें लिखा है ऐसा समझकर कभी विषय कषायरूप होता है। बंध होनेका भय नहीं अतः स्वच्छन्द हुआ रागादिक रूप प्रवृत्ति करता है। परन्तु स्वपरको जाननेका चिन्ह तो वैराग्यभाव है। वहीं समयसार में कहा है:—

केवल निश्चयावलम्वी जीवकी प्रवृत्ति

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः"। [सं० प्रकरण ४]

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके निश्चयसे ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है और भी कहा है:—

"सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरन्तु।
आलम्ब्यन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः
आत्मानात्मावगतविरहात्सन्ति सम्यक्त्वशून्याः॥" [निर्जरा प्र० श्लो० ५]

अर्थ—स्वयं ही मैं सम्यग्दृष्टि हूं, मेरे कर्मबन्ध नहीं है। इस तरह खुशीसे प्रफुल्ल-

मुख रागी वैराग्यशक्तिसे रहित होकर आचरण करते हैं तो करें। पंच समितिकी सावधानी रखते हैं तो रखें। किन्तु ज्ञानशक्तिके विना वे आज भी पापी हैं। तथा आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेके कारण वे सम्यक्त्वशून्य ही हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ पूछना यह है कि परको पर जाना तो परद्रव्यमें रागादि करनेका प्रयोजन क्या है। यदि कहा जाय कि मोहके उदयसे रागादि होते हैं क्योंकि भरतादि ज्ञानी थे फिर भी उनके विषयकषायरूप कार्य हुआ सुना जाता है तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञानीके मोहके उदयसे रागादि होते तो हैं, परन्तु बुद्धिपूर्वक नहीं होते। इसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। तथा जिनको रागादि होनेका कुछ भी खेद नहीं, वे रागादिके नाशका उपाय भी नहीं करते तथा उसके "रागादिक बुरे हैं" ऐसा श्रद्धान भी सम्भव नहीं है। ऐसे श्रद्धानके विना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है। जीवाजीवादि तत्वोंके श्रद्धान करनेका प्रयोजन तो ऐसा श्रद्धान ही है। भरतादि सम्यग्दृष्टियोंके विषयकषायोंकी प्रवृत्ति जिस प्रकार होती है वह भी आगे विशेष कहेंगे। इनके उदाहरणसे यदि तुम स्वच्छन्द होगे तो तुम्हारे तीव्र आश्रव और बन्ध होंगे। वही कहा है—

"[1]मग्ना ज्ञाननयैषिणोपि यदि ते स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।"

अर्थ—'ज्ञाननयके अवलोकन करनेवाले भी जो स्वच्छन्द और उद्यम करनेमें मन्द होते हैं वे संसारमें डूबते हैं। और भी—"ज्ञानिनः कर्म न जातु कर्तुमुचितं" इत्यादि कलशा में अथवा "तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनः" इत्यादि कलशामें स्वच्छन्द होनेका निषेध किया है। विना इच्छाके जो कार्य होता है वह कर्मबन्धका कारण नहीं होता। कार्य तो जानबूझकर करे और ज्ञाता बना रहे यह तो बनता नहीं, इत्यादि निरूपण किया है। इसलिए रागादिकोंको बुरे तथा अहितकारी जानकर उनके नाशका प्रयत्न करना चाहिए। वहाँ भी पहले अनुक्रमसे तीव्र रागादि छोड़नेके लिए अनेक अशुभ कार्योंको छोड़कर शुभकार्यमें लगना चाहिए। पीछे मन्द रागादि भी छोड़नेके लिये शुभको छोड़कर शुद्धोपयोगरूप होना चाहिए। कोई जीव व्यापारादि कार्य व स्त्री सेवनादि कार्यको भी घटाते हैं परन्तु शुभको हेय जान शास्त्राभ्यासादि कार्यमें प्रवृत्ति नहीं करते और इधर वीतराग भावरूप शुद्धोपयोगको प्राप्त हुए नहीं वे जीव अर्थ, काम, धर्म और मोक्षरूप पुरुषार्थसे रहित होकर आलसी और निरुद्यमी रहते हैं उनकी निन्दा पंचास्तिकायकी व्याख्यामें की है। उनको दृष्टांत भी दिया है—जैसे बहुत खीर खाँड खाकर पुरुष आलसी होता है, अथवा जैसे वृक्ष निरुद्यमी है वैसे वे जीव आलसी और निरुद्यमी हैं[2]।

१—मग्नाःकर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये मग्नाः ज्ञाननयैषिणोपि यदितेस्वच्छन्दमन्दोद्यमा। विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानंभवन्तः स्वयं। ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च [सं० सा० पुण्य पापा० श्लो० १२]

२—जो केवल निश्चयका ही सहारा लेते है तथा सम्पूर्ण क्रिया और कर्मकाण्डके आडम्बरसे विरक्त हैं अलसाई हुई आखोंसे पडे हुए हैं। अपनी बुद्धिके अनुसार चाहे जिस सुखकी कल्पना किए हुए

दूसरे इनसे यह पूंछना चाहिए कि इन्होंने वाह्यमें तो शुभ अशुभ कार्योंको घटाया परन्तु उपयोग तो आलम्बनके विना रहता नहीं अतः इनका उपयोग कहाँ रहता है ? यदि कहा जाय कि आत्माका चिंतन करते है तो शास्त्रादिकसे अनेक प्रकारके आत्माके विचारको तो इन्होंने विकल्प वता दिया और किसी आत्माके विशेषणको जाननेके लिये बहुत काल लगता नहीं, वार २ एकरूप चिंतन करने में छद्मस्थका उपयोग लगता नहीं है। गणधरादिकका भी उपयोग इस प्रकार नहीं रह सकता अतः वे भी शास्त्रादि कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं। इनका उपयोग गणधरादिकसे भी शुद्ध कैसे माना जाय ? इसलिए इनका कहना प्रमाण नहीं हैं। जैसे कोई व्यापारादिमें निरुद्यमी बनकर बेकार हो जैसे तैसे काल विताता है वैसे यह पर धर्ममें निरुद्यमी होकर प्रमादी बन काल गमाता है। कभी कुछ चिंतनसा करता है, कभी वातें बनाता है, कभी भोजनादिक करता है, अपना उपयोग निर्मल करनेके लिये शास्त्राभ्यास, तपश्चरण, भक्ति आदि कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं करता। सूना सा होकर प्रमादी होने का नाम शुद्धोपयोग बतलाता है। वहाँ क्लेश कम होने से जैसे आलसी पड़ा रहनेमें ही सुख मानता है वैसे आनन्द मानता है। अथवा जैसे स्वप्नमें अपनेको राजा मानकर सुखी होता है वैसे अपनेको भ्रमसे सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनंदित होता है। अथवा जैसे कहीं रति मानकर सुखी होता है वैसे ही कुछ विचार करनेमें रति मानकर सुखी होता है उसको अनुभवजनित आनन्द कहता है ? तथा जैसे कहीं अरति मानकर उदास होता है वैसे व्यापारादिक पुत्रादिकों को खेदका कारण जान उनसे उदास रहता है उसीको वैराग्य कहता है। भला ऐसा ज्ञान वैराग्य तो कषायगर्भित है। जो वीतरागरूप उदासीन दशामें निराकुलता होती है वही सच्चा आनन्द, ज्ञान और वैराग्य है, जो कि जीवोंके चारित्र मोहनीय की हीनता होने पर होता है। तथा वह व्यापारादि क्लेश छोड़ यथेष्ट भोजनादि कर सुखी रहता है अपनेको कषायरहित मानता है लेकिन इसप्रकार आनन्दरूप होने से तो रौद्रध्यान होता है। जहाँ सुख सामग्रीको छोड़कर दुख सामग्रीका संयोग होने पर संक्लेश न हो, रागद्वेष पैदा न हों, वहाँ निःकषायभाव होता है। इसप्रकार उनकी प्रवृत्तिभ्रमरूप पाई जाती है। इसप्रकार जो जीव केवल निश्चयाभास के अवलंबी है उन्हे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। जैसे वेदान्ती या सांख्यमत वाले जीव केवल शुद्धात्माके श्रद्धानी

है, भिन्न साध्य साधन रूप व्यवहार को जो स्वीकार नहीं करते और अभिन्न साध्य साधन रूप निश्चयकी जिन्हे प्राप्ति नहीं हुई है। अतः बीच में ही जो शराब पीकर उन्मत्त की तरह मानों मूर्च्छित हो रहे हैं। अथवा बहुत सी घी मिश्री खीर खाकर आलस्यमें जैसे सो रहे हैं। अथवा खूब भारी हो जाने से मानो जड़ होगए हैं, अथवा रुद्र परगामी हो जाने से मानों मूढ़ हो गए हैं अथवा जैसे मन्द चेतनावाले वृक्ष है तथा पुण्य बंधके भयसे मुनियोंके उचित कर्म चेतनाको प्राप्त नही होते अतएवं निष्कर्प रूप चेतना भी जिनके हाथ नहीं लगी है फलत उन्हें शीघ्र ही कर्म फल चेतना मिलती है अतः उस कर्मफल चेतना वाले वृक्षों की तरह वे सिर्फ पापका ही बन्ध करते हैं।

पञ्चा० का० पृ० २५०, २५१

हैं, वैसे ही इन्हें भी समझना चाहिए। इसलिए श्रद्धानकी समानता होने से उनका उपदेश इनको इष्ट लगता है। इनका उपदेश उनको इष्ट लगता है।

स्वद्रव्य और परद्रव्य के चिन्तन से निर्जरा और बंध का निषेध

तथा उन जीवोंके-ऐसा श्रद्धान है कि केवल शुद्धात्माके चिंतनसे तो संवर और निर्जरा होते हैं अथवा मुक्तात्मा के सुखका अंश प्रगट होता है। तथा जीवके गुणस्थानादि अशुद्ध भावोंका अथवा आपके सिवा अन्य जीव पुद्गलादिकके चिंतन करनेसे आश्रव और बंध होता है। इसलिए अन्य के विचारसे पराङ्मुख रहता है। लेकिन यह भी सत्य श्रद्धान नहीं। क्योंकि शुद्ध स्वद्रव्यका चिंतन किया जाय या अन्यद्रव्यका चिंतन किया जाय यदि वीतराग भाव होंगे तो संवर निर्जरा ही है और यदि रागादिरूपभाव होंगे तो आश्रव बंध है। अगर पर द्रव्यके जाननेसे ही आश्रव बंध हों तो केवली तो समस्त परद्रव्यको, जानते हैं उनके भी आश्रव बंध होगा। यदि यह कहा जाय कि छद्मस्थके परद्रव्यके चिंतनसे आश्रव होता है सो यह भी ठीक नहीं क्यों कि मुनियोंके शुद्ध ध्यानमें भी छहों द्रव्योंके गुण पर्यायोंका चिंतन होना बतलाया है। तथा अवधि मनः पर्ययादिक ज्ञानमें पर द्रव्यके जानने की विशेषता होती है। तथा चौथे गुणस्थानमें कोई अपने स्वरूपका चिंतन करता है किन्तु उसके भी आश्रव बंध अधिक है और गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है। पंचम षष्टम गुणस्थानमें आहार विहारादि क्रिया होते हुए तथा परद्रव्यका चिंतन होते हुए भी आश्रव बंध थोड़ा होता है और गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है अतः स्वद्रव्य और परद्रव्यके चिन्तनसे निर्जरा और बंध नहीं होते किन्तु रागादि घटने से निर्जरा होती है और रागादि होने पर बंध होता है। इसको रागादिके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिए अन्यथा मानता है।

निर्विकल्पदशा का स्पष्टीकरण

प्रश्न—यदि यह बात है तो निर्विकल्पदशामें नय प्रमाण निक्षेपादिका अथवा दर्शन ज्ञानादिकका भी विकल्प करनेका निषेध क्यों किया है?

उत्तर—जो जीव इन्हीं विकल्पोंमें लग रहे हैं अभेदरूप एक आपका अनुभव नहीं करते उनको यह उपदेश दिया है कि ये सब विकल्प वस्तुके निश्चय करनेके कारण हैं। वस्तुका निश्चय होनेपर इनका कुछ प्रयोजन नहीं रहता इसलिए इन विकल्पोंको भी छोड़ अभेद-रूप एक आत्माका अनुभव करना चाहिए। इनके विचाररूप विकल्पमें ही फँसे रहना ठीक नहीं। तथा वस्तुका निश्चय होने के बाद भी ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्यका ही चिंतन बना रहता है स्वद्रव्य व परद्रव्यका सामान्यरूप व विशेषरूप ज्ञान हो और वह वीतरागता लेकर हो तो उसी का नाम निर्विकल्प दशा है।

प्रश्न—ऐसे ज्ञानमें तो बहुत विकल्प होंगे तब निर्विकल्प दशा कैसे संभव है?

उत्तर—निर्विचार होने का नाम निर्विकल्प नहीं है क्योंकि छद्मस्थका ज्ञानविचार पूर्वक ही होता है उसका अभाव मानने पर ज्ञानका अभाव होगा तब जड़पना आजायगा लेकिन आत्मा जड़ नहीं है इसलिए विचार तो रहता ही है। यदि कहा जाय कि सामान्यका ही विचार रहता है विशेपका नहीं तो सामान्यका विचार तो बहुत समयतक रहता नहीं और विशेपके बिना सामान्यका प्रतिभास नहीं होता। यह भी कहना ठीक नहीं है कि निर्विकल्प दशामें अपना ही विचार रहता है परका नहीं, क्योंकि परमें बुद्धि हुए बिना आपमें निजबुद्धि कैसे हो सकती है?

प्रश्न—समयसारमें ऐसा कहा है—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमिच्छन्नधारया।
तावद्यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥ [संवर प्र० श्लो० ६]

अर्थ—यह भेदविज्ञान तब तक निरन्तर मानना चाहिए जबतक परसे छूटकर ज्ञानकी ज्ञानमें ही स्थिति हो अतः भेद विज्ञान छूटनेपर परका ज्ञान नहीं होता। केवल अपने आपको ही जाना करता है।

उत्तर—इसमें तो यह बतलाया है कि पहले यह अपनेको और परको एक जानता था बादमें अलग जाननेके लिए भेद विज्ञानको तब तक भावे जब तक ज्ञान पर रूपको भिन्न जान कर अपने ज्ञानरूपमें ही स्थित न हो जाय क्यों कि फिर भेद विज्ञानका प्रयोजनही नहीं रहता स्वयं ही परको पररूप अपनेको आपरूप जाना करता है। यह बात नहीं है कि पर द्रव्यका जानना ही मिट जाता है क्योंकि परद्रव्यका जानना या स्वद्रव्यके विशेष जाननेका नाम विकल्प नहीं है। विकल्प क्या है? यह हम बतलाते हैं रागद्वेषके वशसे किसी ज्ञेयके जानने में उपयोग लगाना और बार २ उस उपयोगको भ्रमाना उसका नाम विकल्प है। तथा वीतराग होकर जिसको जानता है उसको यथार्थ जानता है, भिन्न ज्ञेयोंको जाननेके लिए उपयोग को नहीं भ्रमाना इसका नाम निर्विकल्प दशा है।

प्रश्न—छद्मस्थका उपयोग तो अनेक ज्ञेयोंमें घूमता ही है वहां निर्विकल्पकता कैसे संभव हो सकती है?

उत्तर—जबतक एक ज्ञेय रहता है तबतक निर्विकल्पकता रहती है। सिद्धान्तमें ध्यानका लक्षण ऐसा ही किया है। 'एकाग्र चिंतानिरोधो ध्यानम्'[1] [त० सू० ९।२७] अर्थात् एकका मुख्य चिंतन हो और अन्यचिंता न हो इसका नाम ध्यान है। सर्वार्थसिद्धिके सूत्रोंकी टीकामें यह विशेष बतलाया है— अगर सब चिन्ता रुकनेका नाम ध्यान हो तो जड़ता आ-जायगी तथा ऐसी भी विवक्षा है कि संतान की अपेक्षा नाना ज्ञेयों का भी ज्ञाता होता है। लेकिन

१—"उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्"——

जब तक वीतरागता रहती है रागादिकसे अपने उपयोगको नहीं भ्रमाता तब तक निर्विकल्पक दशा कहलाती है।

प्रश्न—अगर यह बात है तो परद्रव्यसे हटाकर स्वरूपमें उपयोग लगानेका उपदेश क्यों किया—

उत्तर—शुभ अशुभ भावोंके कारणभूत पर द्रव्यमें उपयोग लगानेसे जिनके रागद्वेष होता है और स्वरूपका चिन्तन करनेसे रागद्वेष घटता है ऐसी नीची अवस्थावाले जीवोंके लिए उपयुक्त उपदेश है। जैसे कोई स्त्री विकारभावोंसे किसीके घर जाती है तो उसे पर घर जानेसे मने किया जाता है किन्तु निर्विकार भावोंसे जाने वालीको कोई नहीं रोकता उसी प्रकार रागद्वेष भावोंसे द्रव्यमें प्रवृत्ति करनेवाली उपयोग परिणतिको रोका जाता है कि परद्रव्यमें प्रवृत्ति न करे स्वरूपमें ही मग्न रहे किन्तु यदि उपयोग रूप परिणति वीतराग भावोंसे परद्रव्यमें प्रवृत्ति करती है तो कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो महामुनि परिग्रहादिकके चिन्तनका त्याग क्यों करते हैं?

उत्तर—जैसे विकार रहित स्त्री कुशीलके कारणरूप पर घरोंका त्याग करती है वैसे ही वीतराग परिणति रागद्वेषके कारणभूत परद्रव्योंका त्याग करती है। तथा जैसे जो पर घर व्यभिचारके कारण नहीं है उनमें जानेका त्याग नहीं करती वैसे ही जो परद्रव्य राग-द्वेषके कारण नहीं है उनके जाननेका त्याग नहीं है।

प्रश्न—जैसे स्त्रीको भी यदि प्रयोजनवश पिता आदिके घर जाना हो तो जाए किन्तु विना प्रयोजन चाहे जिसके घर जाना योग्य नहीं। वैसे ही प्रयोजन पूर्वक सप्ततत्वोंका विचार करना तो युक्त है किन्तु विना प्रयोजन गुणस्थानादिका विचार करना ठीक नहीं है।

उत्तर—जैसे स्त्री प्रयोजनवश पितादिक व मित्रादिकके भी घर जाती है वैसे ही उपयोग रूप परिणति तत्त्वोंको विशेष जाननेके लिए गुणस्थानादिक व कर्मोंको भी जानती है। तथा यहाँ यह भी समझना चाहिए कि जिस प्रकार शीलवती स्त्री प्रयत्न पूर्वक तो विट पुरुषोंके स्थान पर घर नहीं जाती यदि पर घर वह पहुँच जाती है तो कुशीलका सेवन नहीं करती अतः स्त्री तो शीलवती ही है वैसे ही वीतराग परिणति उपाय पूर्वक तो रागादिकके कारण परद्रव्योंमें नहीं लगती, किन्तु स्वयं ही यदि उनका जानना हो जाता है और उनमें रागादिक नहीं करती तो परिणति शुद्ध ही है। स्त्री आदिकी परीषह मुनिके होती है उसके लिए यह कहना कि वे उसे जानते नहीं अपने स्वरूपमें ही लीन रहते हैं मिथ्या है। वास्तविकता यह है वे उसे जानते तो हैं पर रागादिक नहीं करते। इस तरह परद्रव्योंको जानते हुए भी वीतरागभाव हो सकते हैं ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो शास्त्रमें ऐसा कैसे कहा है कि आत्माका श्रद्धान ज्ञान और आचरण ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं?

उत्तर—अनादिकालसे परद्रव्यमें जो अपना श्रद्धान ज्ञान और आचरण था उसके छुड़ाने के लिए यह उपदेश है। अपनेहीमें अपना श्रद्धान ज्ञान और आचरण होनेपर परद्रव्यमें रागद्वेष परिणतिका श्रद्धान ज्ञान व आचरण मिट जाता है—तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं। अगर परद्रव्यका परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करनेसे सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवलीके भी उनका अभाव हो जायगा। जो परद्रव्यको बुरा और निज द्रव्यको अच्छा समझता हो उसके तो राग-द्वेष अपने आप ही सिद्ध हैं। वह अपनेको आपरूप और परको पररूपसे यथार्थ जानकर जब उसी प्रकारके श्रद्धानादिरूप प्रवृत्ति करता है तब ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं ऐसा समझना चाहिए। इसलिए अब बहुत क्या कहा जाय जिस तरह भी रागादि मिटानेका श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तथा जिस तरह भी रागादि मिटानेका ज्ञान हो उसका नाम सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि मिटानेवाले आचरणका नाम ही सम्यक्‌चारित्र है। इस तरह निश्चयनयको पकड़नेवाले एकान्त पक्षके धारी जैनाभासोंके मिथ्यात्वका निरूपण किया। अब व्यवहाराभास पक्षके अनुयायी जैनाभासोंके मिथ्यात्वका निरूपण करते हैं।

एकान्त व्यवहारावलम्बी जैनाभास

जिनागममें जहाँ व्यवहारकी मुख्यतासे उपदेश है उसको मानकर जो बाह्यसाधनादिकका ही श्रद्धान करता है उसके सब धर्मोंके अंग अन्यथारूप होकर मिथ्यात्वभावको प्राप्त होते हैं। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि व्यवहार धर्मकी प्रवृत्तिसे पुण्यबन्ध होता है इसलिए पापप्रवृत्तिकी अपेक्षा तो इसका निषेध नहीं है परन्तु जो जीव व्यवहारकी प्रवृत्तिसे ही सन्तुष्ट रहते हैं सच्चे मोक्षमार्गमें उद्यमी नहीं रहते उनको मोक्षमार्गमें लगानेके लिए उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्तिके भी निषेधका कथन करते हैं। किन्तु इसको सुनकर शुभ प्रवृत्ति छोड़ यदि तुम अशुभमें प्रवृत्ति करोगे तो तुम्हारा बुरा होगा और जो यथार्थ श्रद्धानसे मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगे तो तुम्हारा भला होगा। जैसे कोई रोगी निर्गुण औषधिका निषेध सुनकर औषधिको छोड़ कुपथ्य करेगा तो मरेगा वैद्यका कुछ दोष नहीं है। वैसे ही कोई संसारी पुण्यरूप धर्मका निषेध सुनकर धर्मसाधन छोड़ विषय-कषायरूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादिकमें दुःख पावेगा। इसमें उपदेशदाताका दोष नहीं है। उपदेश देनेवालेका अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादिसे छुड़ाकर मोक्षमार्गमें लगानेका है इसी अभिप्रायसे यहाँ निरूपण किया है।

यहाँ कई जीव तो कुलक्रमसे ही जैनी हैं, जैन धर्मका स्वरूप जानते नहीं हैं। जैसे अन्यमती अपने कुलधर्ममें प्रवृत्ति करता है वैसे ही ये भी प्रवृत्ति करते हैं। अगर कुलक्रमसे ही धर्म हो तो मुसलमान आदि सब ही धर्मात्मा कहलाएँगे तब जैनधर्मकी विशेषता क्या रही? कहा भी है—

कुलक्रम धर्मकी समीचीनताका कारण नहीं है

> लोयम्मि रायणीइ णायं ण कुलकम्मि कइयावि
> किं पुण तिलोयपहुणो जिणंद धम्माहिगारम्मि
>
> [उ० सि० र० गाथा ७ [

लोक में यह राजनीति है कि कुलक्रमसे कभी भी न्याय नहीं होता। जिसका कुल चोर हो उसको चोर कह कर पकड़ा जाय तो कुलक्रम जान कर उसको छोड़ा नहीं जाता किन्तु दण्ड ही दिया जाता है तब त्रिलोकीनाथ जिनेंद्रदेवके धर्मके अधिकारमें क्या कुलक्रमसे न्याय संभव हो सकता है। जहाँ पिता दरिद्री हो और आप स्वयं धनवान हो वहाँ तो कुल क्रमका विचार कर आप दरिद्री नहीं रहता है। धर्ममें कुलका प्रयोजन भी क्या है? पिता नरक जाता है पुत्र मोक्ष जाता है वहां कुलक्रम कहां रहा। अगर कुलके ऊपर दृष्टि होती तो पुत्र भी नरकगामी होता इसलिए धर्ममें कुलक्रमका कोई प्रयोजन नहीं है। शास्त्रोंका अर्थ विचार कर कालदोषसे जिनधर्ममें भी पापी पुरुषों द्वारा कुदेव कुगुरु और कुधर्मके सेवनादिरूप अथवा विषय कषायके पोषणादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई हो तो उसका त्याग कर जिनआज्ञानुसार प्रवृत्ति करना ठीक है।

प्रश्न—कुलपरंपरा छोड़कर नवीनमार्ग में प्रवृत्ति करना ठीक नहीं?

उत्तर—अगर अपनी बुद्धिसे नवीन मार्गमें प्रवृत्ति करे तो ठीक नहीं परंपरा से अनादि-निधन जैनधर्मका स्वरूप शास्त्रोंमें लिखा है उसकी प्रवृत्ति मिटाकर या पापी पुरुषों द्वारा चलाई हुई अन्यथा प्रवृत्तिको परंपरा मार्ग कैसे कहा जाय। तथा उसको छोड़कर पुरातन जैन-शास्त्रोंमें जैसा धर्म लिखा था वैसी प्रवृत्ति करे तो उसे नवीनमार्ग कैसे कह सकते हैं। तथा कुलमें जिनदेवकी आज्ञानुसार जैसी धर्मकी प्रवृत्ति है उसप्रकार स्वयंको भी प्रवृत्ति करना योग्य है परन्तु उसको कुलाचरण जानना चाहिए और धर्म जानकर उसके स्वरूप फलादिकका निश्चय कर उसे स्वीकार करना चाहिए। अगर धर्म सत्य भी हो किन्तु कुलाचारमात्र जानकर उसमें प्रवृत्ति करता है तो उसको धर्मात्मा नहीं कहा जा सकता क्यों कि यदि सब कुलके आदमी उस आचरणको छोड़ दें तो आपभी छोड़ देगा। वह जो आचरण कर रहा है कुलके भयसे कर रहा है, कुछ धर्मबुद्धिसे नहीं कर रहा इसलिए वह धर्मात्मा नहीं है। ऐसे विवाह आदि कुल संबंधी कार्योंमें तो कुलक्रमका विचार करना चाहिए किन्तु धर्म संबंधी कार्योंमें कुलक्रमका विचार नहीं करना चाहिए। धर्ममार्गमें जिस रूपसे सत्य हो उसी प्रकार प्रवृत्ति करना योग्य है

परीक्षारहित आज्ञानुसारी जैनत्व का निषेध

तथा कुछ आज्ञानुसारी जैनी होते हैं वे जैसी शास्त्रोंमें आज्ञा है वैसा मानते हैं परन्तु आज्ञाकी परीक्षा नहीं करते। अगर आज्ञा माननाही धर्म हो तो सबही मतवाले अपने २ धर्मकी आज्ञा मान कर धर्मात्मा हो जाएँगे। इसलिए परीक्षा कर जिन वचनोंकी सत्यता पहचानकर जिनआज्ञाको मानना चाहिए। बिना परीक्षाके सत्य असत्यका निर्णय कैसे हो और बिना निर्णय किए जैसे अन्यमती अपने २ शास्त्रोंकी आज्ञा मानते हैं वैसेही जैनशास्त्रोंकी आज्ञा मानना हुआ अतः यह तो पक्षसे आज्ञा मानना कहलाया।

प्रश्न—शास्त्रोंमें दश प्रकारके सम्यक्त्वका कथन करते हुए आज्ञा सम्यक्त्व बतलाया

हैं तथा आज्ञाविचयको धर्म ध्यानका भेद बतलाया है तथा निःशङ्कित अंगमें जिनवचनोंमें संशय करनेका निषेध किया है यह कैसे ?

उत्तर—शास्त्रोंमें कोई कथन तो ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष और अनुमान किया जा सकता है और कोई कथन ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष और अनुमानके विषय नहीं हैं इसलिए आज्ञासे ही प्रमाण माने जाते हैं। अनेक शास्त्रोंमें जो कथन समान हो उसकी परीक्षा करनेसे तो कोई मतलब नहीं है किन्तु जो कथन परस्पर विरुद्ध हैं उनमेंसे जो कथन प्रत्यक्ष अनुमानादि गोचर हो उसकी परीक्षा तो करनी ही चाहिए। परीक्षा करने पर जिन शास्त्रोंके कथन प्रामाणिक ठहरें उन शास्त्रोंमें जो विषय प्रत्यक्ष और अनुमानके गोचर नहीं हैं उनकी प्रमाणिकता स्वीकार करनी चाहिए। तथा जिन शास्त्रोंका कथन प्रामाणिक सिद्ध न हो उनके सवही कथन को अप्रमाण स्वीकार करना चाहिए।

प्रश्न—परीक्षा करने के वाद शास्त्रमें यदि कोई कथन प्रमाण मालूम दे और कोई कथन अप्रमाण मालूम दे तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर—जो आप्तके कहे हुए शास्त्र हैं उनमें कोई कथनप्रमाणविरुद्ध नहीं होता क्योंकि जिनको या तो ज्ञानही नहीं होता या रागद्वेष होता है वे असत्य कहते हैं किन्तु आप्त ऐसे नहीं होते अतः उनकी परीक्षा अच्छी तरह नहीं की इसी लिए भ्रम है।

प्रश्न—छद्मस्थ यदि अन्यथा परीक्षा कर बैठे तो क्या किया जाए ?

उत्तर—सच्ची और झूठी दोनों वस्तुओंको यदि कसा जाय तथा प्रमाद छोड़ परीक्षा की जाय तो सत्य ही परीक्षा होगी। जहां पक्षपातसे अच्छी तरह परीक्षा नहीं की जाती वहां ही अन्यथा परीक्षा होती है।

प्रश्न—शास्त्रोंमें विरुद्ध कथन तो बहुत है किस २ की परीक्षा की जायगी ?

उत्तर—मोक्षमार्गमें देव गुरू धर्म, जीवादितत्व तथा बंध मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं इनकी परीक्षा कर लेना चाहिए। जिनशास्त्रोंमें इनका सत्य विवेचन हो उनकी आज्ञा माननी चाहिए। जिनमें इनका अन्यथा प्ररूपण है उनकी आज्ञा नहीं माननी चाहिए। जैसे लोकमें जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्योंमें झूंठ नहीं बोलता वह प्रयोजन रहित कार्योंमें झूंठ कैसे बोलेगा। उसी प्रकार जिन शास्त्रोंमें प्रयोजनभूत देवादिकका स्वरूप अन्यथा नहीं बतलाया उनमें प्रयोजनरहित द्वीप समुद्रादिकका कथन अन्यथा क्यों होगा ? क्यों कि देवादिकका अन्यथा कथन करने पर वक्ताके विषय कषाय पुष्ट होते हैं।

प्रश्न—अन्य शास्त्रोंमें देवादिकका कथन तो विषयकषायसे अन्यथा किया किन्तु अन्य कथन अन्यथा क्यों किया है ?

उत्तर—जो एक ही कथन अन्यथा कहता है उसका अन्यथापन शीघ्रही प्रकट होता है अलग पद्धति छिपती नही किन्तु अनेक कथन अन्यथा करनेसे अलग पद्धति छिप जाती है।

वहां तुच्छ बुद्धि भ्रममें पड़ जाता है और समझता है कि यह भी एक मत है अतः प्रयोजनभूतमें अन्यथापन मिलनेके लिए अप्रयोजनभूतका भी अन्यथा कथन बहुत किया है तथा विश्वास करानेके लिए कोई २ कथन सत्य भीं किया हैं परन्तु समझदार भ्रममें नहीं पड़ता अतः प्रयोजन भूत कथनकी परीक्षा कर जो सत्य प्रतीत हो उस मतकी सब आज्ञा मानना चाहिए अतः परीक्षा करने पर जैनमत ही सत्य प्रतीत होता है क्यों कि जिसका वक्ता सर्वज्ञ वीतराग है वह झूंठ क्यों कहेगा ? इस प्रकार जिन आज्ञाको मानने वाला जो सत्य श्रद्धानी होता है उसका नाम आज्ञासम्यक्त्व है तथा जहां एकाग्र चिंतवन हो उसका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है। अगर ऐसा न माना जाय और विना परीक्षा किए ही आज्ञा मानने पर सम्यक्त्व और धर्म ध्यान हो जाय तो द्रव्यलिङ्गी जो आज्ञा मानकर मुनि होता है और आज्ञानुसार धर्मका साधन कर ग्रैवेयक पर्यंत जाता है उसके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा अतः कुछ परीक्षा कर आज्ञामाननेपर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होते हैं। लोकमें भी किसी प्रकार परीक्षा करने पर ही पुरुपकी प्रतीति की जाती है। यह कहना कि जिनवचनोंमें शंका करने से सम्यक्त्वमें शंका नामका दोप लगेगा अभिप्रायका नहीं समझना है। क्यों कि शंका दोप तब लगता है जब 'न जाने यह कैसे है' ऐसा मान कर निर्णय नहीं किया जाता अगर निर्णय करने के लिए विचार करते ही सम्यक्त्वमें दोप लगता है तो अष्टसहस्रीमें आज्ञा प्रधानतासे परीक्षा प्रधानताको उत्तम क्यों बतलाया है ? पृच्छना आदि स्वाध्यायके अङ्ग[1] क्यों बतलाए ? प्रमाण नयसे पदार्थोंके निर्णय करनेका उपदेश क्यों दिया[2] ? इसलिए परीक्षा कर आज्ञा मानना योग्य है। तथा बहुत से पापी पुरुपोंने अपना कल्पित कथन किया है और उनको जिनवचन बतलाते हैं उनको जैनमतका शास्त्र समझ कर प्रमाण नहीं मानना चाहिए बल्कि वहां भी प्रमाणादिकसे परीक्षा कर तथा परस्पर शास्त्रोंसे विधि मिलाकर एवं ऐसा संभव है या नहीं इस प्रकार सोचकर विरुद्ध अर्थको मिथ्या ही जानना चाहिए। जैसे ठग स्वयं पत्र लिखकर उसमें लिखनेवालेका नाम साहूकार रक्खे वहां नामके भ्रमसे यदि कोई धनको ठगाएगा तो दरिद्री ही होगा वैसे ही पापी स्वयं ग्रन्थ बनाकर उसके कर्ताका नाम जिन गणधर आचार्य रक्खे उस नामके भ्रमसे झूंठा श्रद्धान करने वाला मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रश्न—गोम्मटसारमें तो ऐसा लिखा है कि सम्यक्त्वी जीव अज्ञानी गुरुके निमित्तसे झूठा भी श्रद्धान करे तो आज्ञा माननेसे सम्यग्दृष्टि ही होता है भला यह कैसे[3] ?

उत्तर—जो पदार्थ प्रत्यक्ष अनुमानादिकके विपय नहीं हैं तथा सूक्ष्म होनेसे जिनका निर्णय नहीं हो सकता उनकी अपेक्षा यह कथन है। मूलभूत देव गुरु धर्मादि तथा तत्वादिकका अन्यथा श्रद्धान होनेपर तो सम्यक्त्व सर्वथा रहता ही नहीं यही निश्चय करना योग्य है। इसलिए विना

१—'वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः' त० सू० ९,२५। २—'प्रमाणनयैरधिगमः त, सू० १,६
३—गो० जी० गा० १८

परीक्षा किए केवल आज्ञासे ही जो जैनी हैं वे भी मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

बहुतसे परीक्षा करके भी जैनी होते हैं परन्तु मूल परीक्षा नहीं करते। दया, शील, तप, संयमादि क्रियाओंसे अथवा पूजा, प्रभावनादि कार्योंसे तथा अतिशय चमत्कार आदिसे या जिन धर्मसे इष्ट प्राप्ति होनेपर जिन धर्मको उत्तम समझ प्रेमसे जैनी होते हैं अन्यमतमें भी ये कार्य होते हैं इसलिए इन लक्षणोंमें अतिव्याप्ति है।

प्रश्न—जैसे जिन धर्ममें ये कार्य होते हैं वैसे अन्यमतमें नहीं होते तब अतिव्याप्ति क्यों होगी?

उत्तर—यह तो सत्य है पर जैसे हम दयादिक मानते हैं वैसे वे भी निरूपण करते हैं। जीवोंकी रक्षाके लिए जैसे हम दया करना बतलाते हैं वैसे ही वे भी कहते हैं इसी प्रकार अन्य बातें भी समझना चाहिए।

प्रश्न—उनमें यह बात नहीं है, वे कभी दया बताते हैं कभी हिंसा?

उत्तर—दयादिकका अंशमात्र तो फिर भी हुआ इसलिए अतिव्याप्तिपना इन लक्षणोंसे पाया ही जाता है इनसे सत्य परीक्षा नहीं होती। सत्य परीक्षा कैसे होती है यह बतलाते हैं—

जैनधर्ममें सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग बतलाया है सच्चे देवादिक व जीवादिकमें श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व, जाननेको सम्यग्ज्ञान, तथा वास्तविक रागादि मिटानेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। इनका स्वरूप जैसा जैनमतमें निरूपण किया है वैसा कहीं नहीं किया अथवा जैनीके सिवा अन्यमती ऐसा कार्य नहीं कर सकते इसलिए यह जैनमतका सत्य लक्षण है। इस लक्षणको पहचानकर जो परीक्षा करते हैं वे ही श्रद्धानी हैं। इसके बिना अन्य प्रकारसे जो परीक्षा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

तथा कोई सङ्गतिसे जैनधर्म धारण करते हैं, कोई महान पुरुषको जिन धर्मका पालन करते हुए देखकर स्वयं भी पालन करते हैं। कोई देखा-देखी जैनधर्मकी शुद्ध व अशुद्ध क्रियाओंमें प्रवृत्ति करते हैं, इत्यादि अनेक प्रकारसे जो जीव स्वयं विचार कर जैनधर्मका रहस्य नहीं पहचानते और जैनी कहलाते हैं वे सब मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिये। इतना अवश्य है कि जैनधर्ममें पापकी प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती और पुण्यके निमित्त बहुत हैं तथा सत्य मोक्षमार्गके कारण भी वहाँ मिलते रहते हैं, इसलिए जो कुलादिकसे भी जैनी हैं वे औरोंसे अच्छे हैं।

तथा जो जीव कपटसे आजीविकाके लिए अथवा बड़ाईके लिए अथवा किसी विषय कषाय सम्बन्धी प्रयोजनसे जैनी होता है वे पापी ही हैं। अत्यन्त तीव्र कषाय होनेपर ऐसी बुद्धि होती है उनका सुलझना कठिन है।

संसार प्रयोजनके लिए धर्म साधनका निषेध

जैनधर्म तो संसार परिभ्रमणके नाशके लिए सेवन किया जाता है। उससे जो संसारका प्रयोजन साधना चाहता है वह अन्याय करता है, इसलिए ऐसे जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं।

प्रश्न—हिंसादिकसे जिन कार्योंको सिद्ध किया जाता है वे कार्य यदि धर्मसाधनसे सिद्ध किए जायँ तो इसमें बुरा किया है ? इससे तो दोनों ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

उत्तर—एकहीसे पापकार्य और धर्मकार्यका साधन करनेपर पाप ही पाप होता है। जैसे कोई धर्मका साधन चैत्यालय बनवावे और उसीसे स्त्री-सेवनादिका पापोंका भी साधन करे तो पाप ही होता है। हिंसादिकसे भोगादिकके लिए अलग मन्दिर बनवाना तो दूसरी बात है परन्तु चैत्यालयमें भोगादि करना युक्त नहीं है। वैसे ही धर्मका साधन पूजा शास्त्रादि कार्य है उन्हींको आजीविका आदि पापका साधन बनाता है तो उससे पाप ही होगा। हिंसादिकसे आजीविकादिके लिए व्यापारादि करना दूसरी बात है परन्तु पूजा आदि कार्योंसे आजीविका आदिका प्रयोजन साधना ठीक नहीं है।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो मुनि भी धर्म साधनकर पर घरमें भोजन करते हैं तथा सहधर्मी सहधर्मीका उपकार करते कराते हैं, यह कैसे बनेगा ?

उत्तर—वे स्वयं आजीविका आदिके प्रयोजनसे धर्मसाधन नहीं करते। उन्हें धर्मात्मा जान कोई स्वयं ही भोजन कराते हैं तो कुछ दोष नहीं है अगर वे स्वयं ही भोजनादिकका प्रयोजन विचारकर धर्मसाधन करते हैं तो पापी हैं। जो विरागी होकर मुनिपना अंगीकार करते हैं उनके भोजनादिकका प्रयोजन नहीं होता, शरीरकी स्थितिके लिए कोई स्वयमेव ही भोजनादिक दे तो लेते हैं, नहीं तो समता रखते हैं। संक्लेश नही करते। तथा वे अपने हितके लिए धर्मका साधन करते हैं उपकार करानेका उनका अभिप्राय नहीं है। उनके जिसका त्याग नहीं है ऐसा उपकार कराते हैं। कोई सहधर्मी स्वयमेव उपकार करता है तो करे और नहीं करता तो उनके कुछ संक्लेश नहीं होता, अतः यह तो ठीक है किन्तु जब कोई स्वयं ही आजीविका आदिका प्रयोजन विचारकर बाह्यधर्मका साधन करता है और कोई भोजन नहीं देता तो संक्लेश करता है, याचना करता है, उपाय करता है अथवा धर्मसाधनमें शिथिल हो जाता है, उसे पापी ही समझना चाहिए।

इस तरह सांसारिक प्रयोजनसे जो धर्मका साधन करते हैं वे पापी ही कहलाते हैं और साथ ही मिथ्यादृष्टि भी। इस प्रकार जैनमतवाले को भी मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

अब इनके धर्मका साधन कैसा पाया जाता है यह दिखाते हैं—

परम्परा आदिसे धर्म-सेवन करनेवालोंकी प्रवृत्ति

जो जीव कुल प्रवृत्तिसे या देखा-देखी लोभादिकके अभिप्रायसे धर्मसाधन करते हैं उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है। अगर भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है और दृष्टि कहीं फिरा करती है किन्तु मुखसे पाठ आदि या नमस्कार आदि किया करते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस लिए स्तुति करता हूँ, पाठका क्या अर्थ है इत्यादि बातोंका कुछ पता नहीं। तथा कभी कुदेवादिककी भी सेवा करने लग जाता है। सच्चे देव गुरु शास्त्रा-

दिककी भी विशेष पहचान नहीं। दान भी पात्र अपात्रका विचार किए विना अपनी प्रशंसाके लिए देता है। तप भी करता है तो भूखा रहकर महन्तपनेके लिए करता है। परिणामोंकी पहचान नहीं है। व्रतादिक भी करता है तो वाह्य-क्रियापर दृष्टि रहती है, उसमें भी कोई सच्ची क्रिया करता है कोई झूठी करता है। और अन्तरंगमें जो रागादिक भाव पाए जाते हैं उनका विचार नहीं है अथवा वाह्यमें भी रागादि पोषणका साधन करता है। पूजा प्रभावनादि कार्योंमें भी लोकमें वड़ाई व विषय कषाय पोषणादिकका भाव रखता है। तथा वहुत हिंसादिक भी करते हैं। यह काम तो अपने तथा अन्य जीवोंके परिणामोंके सुधारनेके लिए वतलाते हैं अगर वहाँ थोड़ी हिंसादिक भी होती है तो जहाँ थोड़ा अपराध हो और लाभ वहुत हो तो ऐसा कार्य करना वतलाया है लेकिन परिणामोंकी पहचान नहीं है। यहाँ अपराध कितना है और गुण कितना इस नफा टोटेका ज्ञान नहीं है। विधि अविधिका ज्ञान नहीं। शास्त्राभ्यास करता है तो परम्परानुसार प्रवृत्ति करता है। वाँचता है तो दूसरेको सुना देता है। पढ़ता है तो स्वयं पढ़ जाता है। सुनता है तो जो कुछ कहा सो सुन लेता है। शास्त्राभ्यासके प्रयोजनको नहीं समझता। इत्यादि धर्म कार्योंमें धर्मको नहीं समझता। कोई तो कुलमें जैसे वड़ोंने प्रवृत्ति की वैसे हम भीं करें अथवा और करते हैं वैसे हमें भी करना चाहिए या ऐसा करनेसे हमारे लोभादिककी सिद्धि होगी, इत्यादि विचारोंको लेकर व्यवहार धर्मका साधन करते हैं तथा कोई जीव ऐसे हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप वुद्धि है कुछ धर्मवुद्धि भी है इसलिए पूर्वोक्त प्रकार भी धर्मका साधन करते हैं और कुछ आगे वतलाते हैं उस प्रकार अपने परिणामोंको सुधारते हैं यों उनके मिश्रपना पाया जाता है। तथा कोई धर्मवुद्धिसे धर्मका साधन करते हैं परन्तु निश्चय धर्मको नहीं समझते इसलिए व्यवहार धर्मका साधन करते हैं, व्यवहारसम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग समझकर साधन करते हैं। शास्त्रमें तो देव, गुरु और धर्मकी प्रतीतिको लेकर सम्यक्त्व होना वतलाया है, इस आज्ञाको मानकर अरहंत देव निर्ग्रन्थ-गुरु तथा जैनशास्त्रोंके सिवा औरोंको नमस्कारादि करनेका त्याग किया है परन्तु उनके गुण अव-गुणोंकी परीक्षा नहीं करते, वाह्य लक्षणोंसे ही परीक्षा करते हैं। इस प्रकार विश्वाससे देवगुरु-शास्त्रकी भक्तिमें प्रवृत्ति करते हैं।

अरहंत भक्ति रूप अन्यथा प्रवृत्ति

अरहंत देव इन्द्रादिकोंसे पूज्य हैं, अनेक अतिशय सहित हैं, क्षुधादि दोषरहित हैं, शरीरकी सुंदरता धारण करते हैं, स्त्री संगमादिसे रहित हैं, दिव्य ध्वनिके द्वारा उपदेश देते हैं, केवल ज्ञानसे लोकालोक जानते हैं, काम क्रोधादिके नष्ट करनेवाले हैं, इत्यादि विशेषण अरहंतके वतलाते हैं। इनमें कौनसे विशेषण पुद्गलके आश्रयसे हैं और कौनसे जीवके आश्रयसे हैं इनको भिन्न २ नहीं पहचानता। जैसे असमान जातीय मनुष्यादि पर्यायोंमें भिन्नता न पहिचान कर मिथ्यादृष्टि धारण करता है वैसे ही यह असमान जातीय अरहंत पर्यायमें जीव पुद्गलके विशेषणोंको भिन्न न जानकर

मिथ्यादृष्टिपन धारण करता है। बाह्य विशेषणोंको जानकर उनसे अरहंतदेवकी विशेष महत्ता मानना है और जो जीवके विशेषण हैं उनको यथावत् न जान कर उनसे अरहंतदेवका महंतपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है क्यों कि जीवका विशेषण यथावत् जानने पर मिथ्यादृष्टि नहीं रहता। तथा उन अरहंतोको स्वर्ग मोक्षका दाता दीनदयाल; अधम-उद्धारक पतितपावन मानता है। अर्थात् अन्यमती कर्तृत्व बुद्धिसे ईश्वरको जैसा मानता है वैसे ही यह अरहंतको मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामोंका ही लगता है अरहंततो निमित्त हैं इसलिए उपचारसे वे विशेषण संभव है। अपने परिणामोंके शुद्ध हुए विना अरहंत भी स्वर्ग मोक्ष आदिके दाता नहीं है। इसी प्रकार अरहंतके नामादिकसे कुत्ते आदिने स्वर्ग पाया[1] उसमें नामादिकका ही अतिशय मानता है। विना परिणामके नाम लेनेवालोंको भी स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती तो सुनने वालोंको कैसे हो सकती है? नाम सुनने आदिके निमित्तसे कुत्ते आदि जीवोंके मन्द कषायरूप भाव हुए थे उसीका फल उसे स्वर्ग मिला, उपचारसे नामकी ही मुख्यता है। तथा अरहंतादिकका नाम जपने व पूजनादिक करनेसे अनिष्ट सामग्रीका नाश और इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति मानकर रागादि मिटानेके लिए अथवा धनादिककी प्राप्तिके लिए नाम लेता है पूजनादिक करता है, लेकिन इष्ट अनिष्टका कारण तो पूर्व कर्मका उदय है, अरहंत तो कर्ता है नहीं। अरहंतादिकी भक्तिरूप शुभोपयोगके परिणामोंसे पूर्व पापका संक्रमणादिक हो जाता है इसलिए उपचारसे अनिष्टके नाश और इष्टकी प्राप्तिके लिए अरहंतादिकी भक्ति बतलाई है। और जो जीव पहलेही सांसारिक प्रयोजनको लेकर भक्ति करता है उसके तो पापही का अभिप्राय है। कांक्षारूप भावोंसे पूर्वपापका संक्रमणादिक कैसे हो सकता है अतः उनका कार्य सिद्ध नहीं होता।

कोई जीव भक्तिको मुक्तिका कारण जानकर अत्यंत अनुरागी हो प्रवृत्ति करते हैं; सो अन्यमती जैसे भक्तिको मुक्तिका कारण मानते हैं वैसेही इनके भी श्रद्धान कहलाया। किन्तु भक्तितो रागद्वेषरूप है और रागसे बंध होता है अतः वह मोक्षका (साक्षात्) कारण नहीं है। रागका उदय होने पर यदि भक्ति नहीं की जाती तो पापानुराग होता है इसलिए अशुभ राग छोड़नेके लिए ज्ञानी भक्तिमें प्रवर्तित होते हैं; अथवा मोक्षमार्गके लिए उसे बाह्य निमित्त भी मानते हैं परन्तु इसेही उपादेय मानकर संतुष्ट नहीं होते शुद्धोपयोगके लिए उद्यमी रहते हैं; पंचास्तिकायकी व्याख्यामें भी यही कहा है—

"इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वरविनोदार्थ मस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोऽपि भवति'[2] [पृ० २००]

१—धर्मसे कुत्ता देव हो जाता है और पापसे देव कुत्ता हो जाता है अतः धर्मको छोड़ कर दूसरी कोई संपत्ति नहीं है। र० श्रा०

२—अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्या-स्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवति। गा० १३६ की व्याख्या

अर्थात् यह भक्ति केवल भक्तिप्रधान अज्ञानी जीवोंके ही होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटानेके लिए या अयोग्य स्थानमें रागके निषेधके लिए कभी २ ज्ञानीके भी होती है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो ज्ञानीसे अज्ञानीके भक्ति विशेष होती होगी

उत्तर—यथार्थसे तो ज्ञानीकी ही सच्ची भक्ति है अज्ञानीके नहीं है। और रागभावकी अपेक्षा अज्ञानी भक्तिको ही मुक्तिका कारण जानता है इसलिए उसका वैसा अनुराग नहीं है। वाह्यमें कभी ज्ञानीके अनुराग अधिक होता है कभी अज्ञानीके होता है। इस तरह देवभक्तिका स्वरूप वतलाया। अव गुरुभक्ति उसके कैसे होती है यह वतलाते हैं।

गुरुभक्तिरूप अन्यथा प्रवृत्ति

जो जीव अज्ञानुसारी हैं वे तो यह जैन साधु हैं, हमारे गुरु भक्तिरूप गुरु हैं, इसलिए इनकी भक्ति करना चाहिए ऐसा विचार कर उनकी भक्ति करते हैं। कोई जीव परीक्षा भी करते हैं तो यह सोचकर कि यह मुनि दया पालते हैं; शीलका पालन करते हैं, धनादि नहीं रखते उपवासादि करते हैं क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसीसे क्रोधादि नहीं करते उपदेश देकर औरोंको धर्ममें लगाते हैं इत्यादि गुण विचारकर उनमें भक्ति-भाव करते हैं। किन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादिक परम-तियोंमें अथवा जैनी मिथ्यादृष्टियोंमें भी पाए जाते हैं इसलिए इनमें अतिव्याप्तिपना है। इनसे सत्य परीक्षा नहीं होती। तथा जिन गुणोंको विचारता है उनमें कोई जीवाश्रित हैं कोई पुद्गलाश्रित हैं उनका भेद नहीं समझता। असमानजातीय मुनि पर्यायमें एकत्वबुद्धिसे मिथ्या-दृष्टि ही रहता है। मुनियोंका सच्चा लक्षण सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग है उसको पहचानता नहीं क्यों कि यह पहचान होनेपर मिथ्या दृष्टि नहीं रह सकती। ऐसे मुनियोंका सच्चा स्वरूप ही नहीं जानता तो सच्ची भक्ति कैसे हो सकती है। पुण्यबंधके कारणभूत शुभ क्रियारूप गुरुको पहचान कर उनकी सेवासे अपना भला होना जानकर उनमें अनुरागी होकर भक्ति करता है। इस तरह गुरुभक्तिका स्वरूप वतलाया। अव इनकी शास्त्र भक्तिका स्वरूप वतलाते हैं।

शास्त्रभक्तिरूप अन्यथा प्रवृत्ति

कोई जीवतो यह केवली भगवानकी वाणी है इसलिए केवलीकी पूज्यतासे यह भी पूज्य है ऐसा समझकर भक्ति करते हैं। तथा कोई इस तरह परीक्षा करते हैं इन शास्त्रोंमें विरागता दया शील संतोषादिकका निरूपण है इसलिए उत्कृष्ट है ऐसा जान भक्ति करते हैं। लेकिन ऐसा कथन तो अन्यशास्त्र वेदान्ता-दियोंमें भी पाया जाता है। तथा इन शास्त्रोंमें त्रिलोकादिकका गंभीर निरूपण है इसलिए उत्कृष्टता जान भक्ति करते हैं। किन्तु यहाँ अनुमानादिक तो प्रवेश नहीं। यहाँ तो अनेकान्तरूप सत्य जीवादि तत्वोंका निरूपण है और सत्य रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग वताया है उससे ही जैनशास्त्रोंकी उत्कृष्टता है इसको यह नहीं पहचानता। क्योंकि इसके पहचाननेसे मिथ्या-दृष्टि नहीं रहती। इस तरह शास्त्रभक्तिका स्वरूप वतलाया।

इस तरह इस जीवके देव गुरु शास्त्रकी प्रतीति होनेसे व्यवहार सम्यक्त्व मानता है। परन्तु उनका सत्स्वरूप मालूम नहीं हुआ इसलिए प्रतीति भी सत्य नहीं हुई। और प्रतीतिके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती इसलिए मिथ्यादृष्टि रहता है। तथा शास्त्रमें "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" [त० सू० १।२] ऐसा वचन कहा है, इसलिए जिसप्रकार शास्त्रोंमें जीवादि तत्त्व लिखे हैं वैसेही आप सीख लेता है। उनमें ही उपयोग लगाता है, औरोंको उपदेश देता है परन्तु उनका भाव भासित नहीं होता। और यहाँ उस वस्तुके भावका ही नाम तत्त्व बतलाया है। सो भाव भासे बिना तत्त्वार्थश्रद्धान कैसे हो सकता है? भाव भासनेका मतलब यहाँ बतलाते हैं।

जैसे कोई पुरुष चतुर होने के लिए शास्त्रसे स्वर ग्राम मूर्च्छना रागोंका स्वरूप और ताल तानोंके भेदको तो सीखता है परन्तु स्वरादिकका स्वरूप नहीं पहचानता। स्वरूपकी पहचान हुए बिना अन्य स्वरादिकोंको अन्य स्वरादिरूप मानता है। अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णयपूर्वक नहीं मानता। इसलिए उसके चतुरपना नहीं होता। वैसे ही कोई जीव सम्यक्त्वी होनेके लिये शास्त्रसे जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप तो सीखता है, परन्तु उनके स्वरूपको नहीं पहचानता। स्वरूप पहचाने बिना अन्य तत्त्वोंको अन्यरूप मान लेता है। अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय पूर्वक नहीं मानता। इसलिए उसके सम्यक्त्व नहीं होता। तथा जैसे कोई शास्त्रादि पढ़ा हो या न पढ़ा हो किन्तु स्वरादिकके स्वरूपको पहचानता है तो चतुर ही है। वैसे ही शास्त्र पढ़ा हो या न पढ़ा हो जो जीवादिका स्वरूप पहचानते हैं वे सम्यग्दृष्टि ही हैं। जैसे हिरण रागादिकका नाम नहीं जानते किन्तु उसके स्वरूपको पहचानते हैं। वैसे ही तुच्छ बुद्धि जीवादिकका नाम नहीं जानते, किन्तु उनके स्वरूपको पहचानते हैं 'यह मैं हूं, यह पर है, यह भाव बुरे हैं, यह भले हैं' इस प्रकार स्वरूपके पहचाननेका नाम भावभासना है। शिवभूति मुनि जीवादिकका नाम नहीं

तत्वश्रद्धानका अन्यथा रूप

जानता था और तुषमासभिन्न ऐसा उच्चारण करता था यह सिद्धान्तका शब्द नहीं था परन्तु उसने अपने परका भावरूप ध्यान किया इसलिए केवली हुआ[1]। और ग्यारह अंगका पाठी जीवादि तत्त्वोंका विशेष भेद जानता है, परन्तु उसे भासित नहीं है तो मिथ्यादृष्टि ही है। अब इसके तत्वश्रद्धान किस प्रकार होता है वह बतलाते हैं—

जैनशास्त्रोंमें कहे जीवोंके त्रस स्थावरादिरूप व गुणस्थान मार्गणादिरूप भेदोंको जानता है और जीव तथा पुद्गलादिके भेदोंको अथवा उनके वर्णादि विशेषोंको जानता है, परन्तु अध्यात्मशास्त्रोंमें भेद विज्ञानका कारणभूत अथवा वीतरागदशा होनेका कारणभूत जो निरूपण किया है उसे नहीं जानता। यदि किसी प्रसंगानुसार वैसे भी जानता हो तो शास्त्रानुसार जान लेता है। परन्तु आपको आप जानकर परका अंश भी नहीं मिलाना और आपका अंश भी परमें नहीं मिलाना ऐसा

१—जिसके भाव विशुद्ध थे ऐसा महान मनस्वी शिवभूति तुषमासभिन्न (शरीर और आत्मा तुषमास की तरह भिन्न है) रटता हुआ केवली होगया। देखो परिशिष्ट० । प० प्रा० भा०गा० ५३

सत्यश्रद्धान नहीं करता। जैसे मिथ्यादृष्टि निश्चयके बिना पर्याय बुद्धिसे ज्ञानमें अथवा वर्णादिकमें अहंबुद्धि धारण करता है वैसे ही आत्माश्रित ज्ञानादिमें अथवा शरीराश्रित उपदेश उपवासादि क्रियाओंमें आपा मानता है। तथा शास्त्रके अनुसार कभी सच्ची बात भी बनाता है, परन्तु अन्तरङ्गमें निश्चयरूप श्रद्धान नहीं। इसलिए जैसे मतवाला माताको माता भी कहता है तो सयाना नहीं है वैसे ही इसको सम्यक्त्वी नहीं कहा जा सकता। तथा जैसे कोई और ही की बातें करता हो वैसा आत्माका कथन करता है परन्तु यह आत्मा मैं हूं ऐसा भाव नहीं भासता। तथा जैसे कोई और को और से भिन्न बताता है वैसी ही आत्मा शरीरकी भिन्नता बतलाता है। परन्तु मैं इस शरीरादिकसे भिन्न हूं ऐसा भाव प्रतिभासित नहीं होता। तथा पर्यायमें जीव पुद्गलके परस्परके निमित्तसे अनेक क्रियायें होती हैं उनको दो द्रव्यके मिलापसे उत्पन्न हुआ जानता है। यह जीवकी क्रिया है उसका निमित्त पुद्गल है। यह पुद्गलकी क्रिया है इसका निमित्त जीव है ऐसा भिन्न २ भाव भासित नहीं होता। इत्यादि भाव भासे बिना जीव अजीवका सच्चा श्रद्धानी नहीं कहलाता। इसलिए जीव और अजीव को जाननेका तो यह ही प्रयोजन था सो हुआ नहीं।

तथा आश्रव तत्वमें जो हिंसादिरूप पापाश्रव हैं उनको हेय जानता है अहिंसादिरूप पुण्याश्रवको उपादेय मानता है। किन्तु यह दोनों ही कर्मबन्धके कारण हैं इनमें उपादेयपना मानना ही मिथ्यात्व है। यही समयसारके बन्ध अधिकारमें बतलाया है।

सब जीवोंके जीवन-मरण सुख-दुःख अपने कर्मके निमित्तसे होते हैं। किन्तु अन्य जीवोंके इन कार्योंका कर्त्ता अन्य जीव होता है यही मिथ्याध्यवसाय है जो बन्धका कारण है। सो अन्य जीवोंको जिलानेका या सुखी करनेका भाव हो तो वह पुण्यबन्धका कारण है और मारने का अथवा दुःखी करनेका भाव हो तो वह पापबन्धका कारण है। इसी प्रकार अहिंसाकी तरह सत्यादिक तो पुण्यबन्धके कारण हैं और हिंसाकी तरह असत्यादिक पापबन्धके कारण हैं। यह सब मिथ्याध्यवसाय त्याज्य हैं। इसलिए हिंसादिककी तरह अहिंसादिकको भी बन्धका कारण मानकर हेय समझना चाहिए। हिंसामें दूसरेको मारनेकी बुद्धि होती है परन्तु आयु पूरी हुए बिना कोई मरता नहीं। अपनी द्वेष परिणतिसे स्वयं ही पाप बाँधता है। अहिंसामें रक्षा करनेकी बुद्धि होती है, किन्तु आयु अवशेष हुए बिना कोई जीता नहीं। अपनी प्रशस्त रागपरिणतिसे आप ही पुण्यबन्ध करता है। इस तरह यह दोनों बँधते हैं। किन्तु जहाँ वीतराग होकर दृष्टा ज्ञाता रहे वहाँ बन्ध नहीं वह उपादेय है इसलिए जबतक ऐसी दशा न हो तबतक प्रशस्त रागरूप प्रवृत्ति करना चाहिए। लेकिन श्रद्धान तो ऐसा रखना चाहिए कि यह भी बन्धका कारण हेय है। श्रद्धानमें इसको मोक्षमार्ग मानना मिथ्तात्व ही है।

तथा मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग यह आश्रव के भेद हैं इनको बाह्यरूपसे तो मानता है किन्तु अन्तरङ्गमें इन भावोंकी जातिको पहचानता नहीं है। वहाँ भी अन्य देवादिकोंके से बने रूप गृहीतमिथ्यात्वको तो मिथ्यात्व जानता है किन्तु अनादिगृहीतमिथ्यात्वको नहीं पहचानता। तथा

वाह्यत्रस स्थावरकी हिंसा अथवा इन्द्रिय मनके विषयोंमें प्रवृत्तिको अविरत समझता है। किन्तु हिंसाका मूल कारण प्रमादपरिणति है और विषय सेवनका मूल अभिलाषा है उसको नहीं देखता। वाह्यमें क्रोधादिकको तो कषाय समझता है किन्तु अन्तरङ्गमें जो रागद्वेष हैं उनको नहीं पहचानता। वाह्य चेष्टाको योग समझता है किन्तु शक्तिभूत योगको नहीं जानता। इस प्रकार आश्रवभाव है उनका तो नाश करनेकी चिन्ता नहीं किन्तु वाह्यक्रिया और वाह्य निमित्त मिटानेका उपाय करता है परन्तु उनके मिटानेसे आश्रव मिटता नहीं। द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिककी सेवा नहीं करता, हिंसा अथवा विषय कषायोंमें प्रवृत्ति नहीं करता, क्रोधादि नहीं करता मन, वचन, कायको रोकता है तो भी उसके मिथ्यात्वादि चारों आश्रव पाए जाते हैं। तथा कपटसे भी यह कार्य नहीं करता। यदि कपटसे करता होता तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचता ? इसलिए अन्तरङ्गमें मिथ्यात्वादि भावोंका नाम ही आश्रव है। उसको न पहचाननेसे इसके आश्रवतत्वका भी श्रद्धान नहीं है।

बंधतत्वमें भी अशुभ भावोंसे जो नरकादिरूप पापबंध होता है उसको बुरा जानता है और शुभभावरूप पापवंधको अच्छा समझता है किन्तु सबही जीवोंके दुःखसामाग्रीसे द्वेष और सुखसामग्रीसे राग पाया जाता है वैसे ही इसको भी रागद्वेष करनेका श्रद्धान है। जैसा इस पर्याय-संबंधी सुखदुःख सामग्रीमें रागद्वेष करना है वैसा ही आगामी पर्यायसंबंधी सुखदुःख सामग्रीमें रागद्वेष करना है। दूसरे शुभ अशुभ भावोंसे पुण्य पापका भेद तो अघातिया कर्मोंमें होता है लेकिन अघातिया कर्म आत्मगुणोंके घातक नहीं हैं और घातिया कर्मोंका शुभ तथा अशुभ भावोंसे निरंतर बंध होता है। वे सब पापरूप ही हैं और वे ही आत्मगुणके घातक हैं, इसलिए अशुद्ध भावोंसे कर्मबंधमें भला बुरा जानना ही मिथ्या श्रद्धान है इस प्रकार बंधका भी उसके सत्यश्रद्धान नहीं है।

संवरतत्वमें भी अहिंसादिरूप शुभाश्रवके कारण भावोंको संवर जानता है किन्तु एक कारणसे पुण्यबंध और संवरका मानना ठीक नहीं है।

प्रश्न—मुनियोंके एकही समयमें ये भाव होते हैं वहां उनके बन्ध भी होता है और संवर निर्जरा भी होते हैं सो कैसे ?

उत्तर—वह भाव मिश्ररूप हैं। कुछ वीतरागरूप हैं कुछ सरागरूप हैं वीतराग अंशोंसे संवर होता है और सराग अंशोंसे बंध होता है। एक भावसे तो दो कार्य बनते हैं परन्तु एक प्रशस्तरागहीसे पुण्याश्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना भ्रम है। मिश्रभावमें भी यह सरागता है और यह वीतरागता है ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है, इसलिए वह अवशेष सरागको हेयरूप श्रद्धान करता है। मिथ्यादृष्टिके ऐसी पहचान नहीं होती इसलिए वह सराग भावमें संवरके भ्रमसे प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेय समझता है। सिद्धान्तमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इनसे संवर होना बतलाया है इनका भी वह यथार्थ श्रद्धान नहीं करता वही बतलाते हैं—

वाह्यमें मन वचन कायकी चेष्टा न करना, पापका चिंतवन न करना, मौन रखना, गमनादि न करना उसको वह गुप्ति मानता हैं, किन्तु यहां तो मनमें भक्ति आदि प्रशस्त रागादिरूप नाना विकल्प होते हैं। मन वचन कायकी चेष्टा रोक रखनेमें तो शुभ प्रवृत्ति है और प्रवृत्तिमें गुप्तिपना बनता नहीं इसलिये वीतरागभाव होने पर जहां मनवचन कायकी चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।

अन्य जीवोंकी रक्षाके लिए यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिको समिति मानता है। यहां यदि हिंसाके परिणामोंसे पाप होता है और रक्षाके परिणामोंसे संवर होता है तो पुण्यवंधका कारण क्या होगा। दूसरे एषणासमिति में जो दोष टाले जाते हैं वे रक्षाके लिए ही नहीं टाले जाते, इसलिए रक्षाके लिए ही समिति नहीं है। किन्तु समिति इसलिए है कि मुनियोंके कुछ राग होनेपर गमनादि क्रिया होती है वहां इन क्रियाओंमें अति आसक्ति यदि न हो तो प्रमादरूप प्रवृत्ति न हो। तथा और जीवोंको दुखी कर मुनि अपना गमनादि नहीं करता इसलिए स्वयंही दया पलती है। इस प्रकार यह सच्ची समिति है।

तथा कोई वंधादिकके भयसे अथवा स्वर्ग मोक्षकी चाहसे क्रोधादि नहीं करता है, लेकिन क्रोधादि करनेका अभिप्राय उसका गया नहीं है। जैसे कोई राजादिकके भयसे अथवा महंतपनेके लोभसे परस्त्रीसेवन नहीं करता तो उसको उसका त्यागी नहीं कहा जा सकता, वैसे ही यह क्रोधादिकका त्यागी नहीं तो इसे त्यागी कैसे कहा जा सकता है? जव पदार्थ इष्ट, अनिष्ट लगते हैं तभी क्रोधादि होते हैं। जब तत्वज्ञानके अभ्याससे कोई इष्ट, अनिष्ट नहीं मालूम पड़ता तब स्वयमेव ही क्रोधादिक पैदा नहीं होते। तभी सच्चा धर्म होता है।

तथा अनित्यादि भावनाओंके चिंतनसे शरीरादिको बुरा जानकर हितकारी न समझकर उनसे उदास होना उसका नाम अनुप्रेक्षा है। जैसे किसी मित्रमें पहले तो अनुराग था पीछेसे अवगुण देखकर उससे उदासीनता हो गई। वैसे ही शरीरादिकसे पहले तो अनुराग था, पीछे अनित्यत्वादि अवगुण देखकर उदासीनता हो गई। इस प्रकारकी उदासीनता तो द्वेष रूप है। जैसा अपना व शरीरादिकका स्वभाव है वैसा पहचानकर भ्रम छोड़ उसे अच्छा समझकर राग नहीं करना और बुरा समझ कर द्वेष नही करना यही सच्ची उदासीनता है, और उसके लिए यथार्थ अनित्यादिक का चिंतन करना यही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

क्षुधादिक होने पर उनके नाशका उपाय न करना इसको परीषह सहना कहते है। लेकिन उपाय तो नहीं किया परन्तु क्षुधादिक अनिष्ट सामग्रीके मिलनेपर अंतरंगमें दुखी होना और रति आदिक कारण मिलनेपर सुखी होनारूप जो सुखदुःखरूप परिणाम हैं इसीका नाम आर्तध्यान और रौद्रध्यान है। ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो सकता है। इसलिए दुखका कारण मिलनेपर दुखी न होना और सुखका कारण मिलने पर सुखी न होना ज्ञेयरूपसे केवल उनके जानने वाला ही बने रहना यही सच्चा परीषह का सहना हैं।

हिंसादि सावद्य योगके त्यागको चारित्र मानता है उसमें महाव्रतादिरूप शुभ योगको उपादेयपनेसे ग्रहण करता है लेकिन तत्वार्थसूत्रमें आश्रव पदार्थका निरूपण करते हुए महाव्रत अणुव्रतको भी आश्रवरूप कहा है अतः यह उपादेय कैसे हो सकते हैं ? आश्रव तो बंधका साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है इसलिए महाव्रतादिरूप आश्रवभावोंको चारित्रपना संभव नहीं है। सकल कषाय रहित उदासीन भावका नाम चारित्र है। चारित्रमोहके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे जो महामंद प्रशस्तराग होता है वह चारित्रका मल है। इसको छूटता हुआ न जानकर इसका तो त्याग नहीं करता केवल सावद्ययोगका ही त्याग करता है। परन्तु जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि बहुत दोषवाले हरितकाय का त्याग करता है और कोई हरित कायको खाते हैं परन्तु उसको धर्म नहीं मानते। वैसे ही मुनि हिंसादि तीव्र कषाय रूप भावों का त्याग करते हैं और कोई मंदकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं परन्तु उसको मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्न—अगर यह बात है तो चारित्रके तेरह भेदों में महाव्रतादि क्यों गिनाया है ?

उत्तर—यह व्यवहारचारित्र बतलाया है और व्यवहार नाम उपचारका है क्योंकि महाव्रतादिक होनेपर ही वीतरागचारित्र होता है ऐसा संबंध जानकर महाव्रतादिकमें चारित्र का उपचार किया है। निश्चयनयसे कषाय रहित भावों का नामही निश्चय चरित्र है। इसप्रकार संवरके कारणों को अन्यथा जानते हुए सच्चा श्रद्धानी नहीं होसकता।

तथा यह अनशनादि तपसे निर्जरा मानता है लेकिन केवल बाह्य तपसे तो निर्जरा होती नहीं। बाह्य तपतो शुद्धोपयोग बढ़ाने के लिए किया जाता है। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है इसलिए उपचारसे तप को भी निर्जरा का कारण कहा है। अगर बाह्य दुख सहना ही निर्जरा का कारण होता तो तिर्यंचादिक भी भूख तृषादिक सहते हैं उनके भी निर्जरा होनी चाहिए।

प्रश्न—जो स्वाधीनता पूर्वक धर्मबुद्धिसे उपवासादिरूप तप करता है उसके निर्जरा होती है।

उत्तर—धर्मबुद्धिसे बाह्य उपवासादि तो किए जायें लेकिन वहां उपयोग अशुभ शुभ या शुद्धरूप जैसे होता हो वैसे होने दिया जाय और अधिक उपवाससे अधिक निर्जरा और थोड़े उपवाससे थोड़ी निर्जरा ऐसा नियमहो तो उपवास ही निर्जराका मुख्य कारण ठहरेगा। पर यह बनता नहीं। परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादिक से निर्जरा कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि जैसा अशुभ शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमन करता है उसके अनुसार बन्ध निर्जरा होती है तो उपवासादि तप मुख्य निर्जरा के कारण कैसे रहे ? किन्तु अशुभ और शुभ परिणाम बंधके कारण हुए और शुद्ध परिणाम निर्जरा के कारण हुए।

प्रश्न—तो फिर तत्वार्थसूत्रमें "तपसानिर्जराच" [९।२] यह कैसे कहा है ?

उत्तर—शास्त्रमें "इच्छा निरोधस्तपः" ऐसा बतलाया है। इच्छाके रोकने का नाम तप

है अतः शुभ अशुभ इच्छा मिटने पर उपयोग शुद्ध होता है तब निर्जरा होती है इसलिए तपसे निर्जरा बतलाई है ।

प्रश्न—आहारादिरूप अशुभ इच्छाके तो दूर होनेपर ही तप होता है परन्तु उपवासादि या प्रायःश्चित्तादिरूप शुभकार्यों की तो इच्छा रहती ही है ?

उत्तर—ज्ञानीजनोंके उपवासादिककी भी इच्छा नहीं होती केवल एक शुद्धोपयोगकी ही इच्छा होती है। उपवासादि करनेसे शुद्धोपयोग बढ़ता है इसलिए उपवासादि करते हैं। तथा अगर उपवासादिकसे शरीरकी या परिणामोंकी शिथिलता होनेपर शुद्धोपयोगको शिथिल होता हुआ देखते हैं तो आहारादि ग्रहण करते हैं। अगर उपवासादिकसे ही सिद्धि होती तो अजितनाथादिक तेईस तीर्थङ्कर दीक्षा लेकर दो ही उपवास क्यों करते। उनकी तो शक्ति भी बहुत थी। परन्तु जैसें परिणाम हुए वैसे बाह्य साधनोंसे एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

प्रश्न—अगर यह बात है तो अनशनादिकको तप कैसे बतलाया ?

उत्तर—इनको बाह्यतप बतलाया है। बाह्यका अर्थ है जो औरोंको दीखे कि यह तपस्वी है परन्तु वह फल तो अन्तरङ्गके अनुसार ही पावेगा। क्योंकि परिणामशून्य शरीरकी क्रिया फलदाता नहीं होती।

प्रश्न—शास्त्रमें अकाम निर्जरा बतलाई है उसमें अनिच्छा पूर्वक भूख प्यास आदिको सहन करनेसे निर्जरा होती है तो उपवासादि कष्ट सहन करनेसे निर्जरा क्यों न होगी ?

उत्तर—अकाम निर्जरामें भी बाह्य निमित्त तो अनिच्छा पूर्वक भूख तृष्णाका सहन है किन्तु यदि वहाँ मद कषायरूप भाव हों तो पापोंकी निर्जरा होती है और देवादि पुण्यका बन्ध होता है। यदि तीव्र कषाय होनेपर भी कष्ट सहनेसे पुण्यबन्ध होता है तो सब तीर्यंचादिकोंको मरकर देव ही होना चाहिए। लेकिन होते नहीं। वैसे ही इच्छा पूर्वक उपवासादि करने में जो भूख, तृषा आदि कष्ट सहन किये जाते हैं वह बाह्य निमित्त है। यहाँ जैसा परिणाम होता है वैसा फल पाता है, जैसे अन्नको प्राण कहा है। इस प्रकार बाह्य साधन होनेपर अन्तरङ्ग तपकी वृद्धि होती है इसलिए उपचारसे इनको तप कहा है। और जो बाह्यतप तो करे किन्तु अन्तरंग तप न करे तो उपचारसे भी उसे तप संज्ञा नहीं है वही कहा है—

"कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥"

"जहाँ कषाय विषयरूपी आहारका त्याग किया जाता है उसका नाम उपवास है। शेष को श्रीगुरुने लंघन कहा है।"

प्रश्न—अगर ऐसा है तो उपवासादि नहीं करना चाहिए ?

उत्तर—उपदेश तो ऊँचा चढ़नेको दिया जाता है यदि कोई इसके विपरीत नीचे गिरे तो उसके लिए क्या उपाय है। अगर कोई मानादिकसे उपवास करता है तो वह करे या न करे

उससे कुछ सिद्धि नहीं। और जो धर्मबुद्धिसे आहारादिकका अनुराग छोड़ता है तो जितना राग छूटा उतना छूटा। परन्तु इसीको तप समझकर इससे निर्जरा मान संतुष्ट नहीं होना चाहिए। अंतरंग तपोंमें प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग, ध्यान रूप क्रियाओंमें बाह्यप्रवृत्ति करनेको बाह्यतप रूप ही जानना चाहिए। जैसे अनशनादि बाह्य क्रियायें हैं वैसे ही यह भी बाह्य क्रियाएँ हैं। इस लिए प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन अंतरंग तप नहीं हैं। इस प्रकार बाह्य प्रवर्त्तन होनेपर जो अन्तरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है वहाँ तो निर्जरा ही है बन्ध नहीं है। और अगर थोड़ी शुद्धताका भी अंश रहता है तो जितनी शुद्धता हुई उसमें तो निर्जरा है और जितना शुभभाव है उससे बन्ध है इस तरह जहाँ मिश्रभाव है वहाँ बन्ध व निर्जरा दोनों होते हैं।

प्रश्न—आप ऐसा क्यों नहीं कहते कि शुभ भावोंसे पापकी निर्जरा और पुण्यका बन्ध होता है तथा शुद्ध भावोंसे दोनोंकी निर्जरा होती है।

उत्तर—मोक्षमार्गमें स्थिति तो सब ही प्रकृतियोंकी घटती है वहाँ पुण्य पापमें कोई भेद नहीं है। किन्तु पुण्य प्रकृतियोंके अनुभागका घटना शुद्धोपयोगसे भी नहीं होता। ऊपर २ पुण्य प्रकृतियोंके अनुभागका तीव्र उदय होता है। और पाप प्रकृतिके परमाणु पलटकर जिसमें शुभ प्रकृतिरूप हों ऐसा संक्रमण शुभ और शुद्ध दोनों भावोंसे होता है इसलिए पूर्वोक्त नियम सम्भव नहीं है। विशुद्धताके ही अनुसार नियम सम्भव है। देखो चतुर्थ गुणस्थानवाला शास्त्राभ्यास आत्मचिन्तनादिक कार्य करता है किन्तु निर्जरा और बन्ध भी बहुत होता है। तथा पंचम गुणस्थानवाला जप उपवासादि व प्रायश्चित्तादि तप करता है उस कालमें भी उसके निर्जरा थोड़ी है। और छठा गुणस्थानवाला आहार विहारादि क्रिया करता है उस कालमें भी उसके निर्जरा बहुत है और उससे भी बन्ध थोड़ा है। इसलिए बाह्य प्रकृतिके अनुसार निर्जरा नहीं है अन्तरङ्गमें कषायशक्तिके घटनेपर विशुद्धता होनेसे निर्जरा होती है इसका प्रकट स्वरूप आगे निरूपण करेंगे वहाँसे समझना चाहिए। इस प्रकार अनशनादि क्रियाको तप संज्ञा उपचारसे समझना चाहिए। इसीसे इनको व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचारका एक अर्थ है। तथा इस प्रकारके साधनसे जो वीतराग भावरूप विशुद्धता होती है वह सच्चा तप है और उसे निर्जराका कारण समझना चाहिए। दृष्टान्तके लिए जैसे धनको या अन्नको प्राण कहा है। धनसे अन्न लाकर भक्षण करनेसे प्राणोंका पोषण होता है इसलिए धन या अन्नको प्राण कहा है। किन्तु कोई इन्द्रियादिक प्राणोंको तो न समझे और इन्हें ही प्राण समझकर इनका ही संग्रह करने लग जाय तो मरण ही पायेगा। वैसे ही अनशनादिकको या प्रायश्चित्तादिकको तप बतलाया है परन्तु अनशनादि करनेसे व प्रायश्चित्तादि रूप प्रवृत्ति करनेसे वीतराग भावरूप सत्य तपका पोषण होता है इसलिए उपचारसे अनशनादिकको व प्रायश्चित्तादिको तप बतलाया है। कोई वीतरागभावरूप तपको न समझे और इन्हींको तप जान संग्रह करे तो संसारमें ही भ्रमण करेगा। बहुत क्या इतना ही समझ लेना चाहिये कि निश्चयधर्म तो वीतराग भावरूप है। धर्मके अन्य नाना भेद बाह्य साधनकी अपेक्षा उपचारसे

किए हैं। उनको व्यवहारधर्म मात्र जानना चाहिए। जो इस रहस्यको नहीं जानता उसके निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।

इसी तरह सिद्ध होनेको मोक्ष मानता है। जन्म जरा मरण रोग क्लेशादि दुख दूर होनेपर अनंतज्ञानसे लोकालोक का ज्ञाता हुआ त्रिलोक का पूज्य हुआ इत्यादिरूपसे मोक्षकी महिमा जानता है। सो सभी जीवोंके दुख दूरकरनेकी, सभी ज्ञेयोंको जानने की और पूज्य होने की चाह है। इसीके लिए मोक्षकी इच्छा करता है तो इसके और जीवोंके श्रद्धानमें क्या विशेपता रही ? दूसरे इसके ऐसाभी अभिप्राय है– स्वर्गमें सुख है उससे अनंतगुणा मोक्ष में सुख है। इस गुणाकारमें स्वर्ग और मोक्षसुखकी एकजाति मानता है ? किन्तु स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री-जनित सुखहोता है उसकी जाति तो इसको मालूम है किन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री नहीं है अतः वहाँ की सुख की जातिका इसको पता तो नहीं है किन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते है इसलिए यह भी उत्तम समझता है। जैसे कोई गायन का स्वरूप तो नहीं जानता किन्तु सभाके लोग सराहना करने लगें तो आप भी सराहना करने लगजाता हैं वैसे ही यह मोक्षको उत्तम मानता है।

प्रश्न–शास्त्रमें भी तो इन्द्रादिक से अनंतगुणा सुख सिद्धों के बतलाया है ?

उत्तर–जैसे तीर्थंकरके शरीर की प्रभाको सूर्यकी प्रभासे करोड़ों गुणी अधिक बतलाई है किन्तु उनकी एक जाति नहीं है। परन्तु लोकमें सूर्यकी प्रभाकी महिमा है अतः उससे भी बहुत अधिक महिमा बताने के लिए उपमालंकारसे काम लिया है। वैसे ही सिद्धसुखको इन्द्रादि सुखसे अनंतगुणा कहा है किन्तु दोनोंकी एक जाति नहीं है। लोकमें इन्द्रादि सुखकी महिमा है उससे भी बहुत महिमा बतानेके लिए उपमालंकार से काम लिया है।

प्रश्न–सिद्धसुख और इन्द्रादि सुखकी वह एकही जाति मानता है यह आपने कैसे निश्चय किया ?

उत्तर–जिस धर्मसाधन का फल स्वर्ग मानता है उसही धर्म साधनका फल मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद पाता है कोई मोक्ष पाता है। इन दोनों को एक जातिरूप धर्म का फल हुआ ऐसा मानता है। यहतो मानता है कि जिसके साधन थोड़ा हो वह इन्द्रादि पदपाता है। जिसके सम्पूर्ण साधन हो वह मोक्षपाता है। परन्तु उसमें धर्मकी जाति एक मानता है। जो कारण की एक जाति मानता है उसके कार्यकी भी एक जातिका श्रद्धान अवश्य होगा। क्यों कि कारणविशेष होनेपर ही कार्यविशेष होता है। इसलिये हमने यह निश्चय किया कि उसके अभिप्रायमें इन्द्रादि सुख और सिद्ध सुखकी एक जाति होनेका श्रद्धान है। कर्मनिमित्त से आत्माके औपाधिक भाव थे उनके अभावसे शुद्ध स्वभावरूप केवल आत्मा स्वयं हुआ। जैसे परमाणु स्कंधसे बिछुड़नेपर शुद्ध होते है वैसे है कर्मादिक से भिन्न होने पर यह आत्मा शुद्ध होता है। विशेप इतना है कि परमाणुतो दोनों अवस्था में दुखी सुखी नहीं है। किन्तु आत्मा अशुद्ध

अवस्थामें दुखी था अब उसके अभाव होनेसे निराकुलतारूप अनंत सुखकी प्राप्ति हुई। इन्द्रादिकों के जो सुख है वह कषाय भावोंसे आकुलतारूप है अतः इन्द्र परमार्थ से दुखी ही हैं; इसलिए उसकी और इसकी एक जाति नहीं है। तथा स्वर्ग सुखका कारण प्रशस्त राग है और मोक्ष सुखका कारण वीतराग भाव है इसलिए दोनों के कारणों में भी विशेषता है किन्तु वह भाव उसे प्रतिभासित नहीं होता इसलिए मोक्षका भी इसके सच्चा श्रद्धान नहीं है। इस प्रकार इसके सत्य श्रद्धान नहीं है। इसही कारण समयसारमें लिखा है 'अभव्यके तत्वश्रद्धान होनेपर भी मिथ्या दर्शन ही रहता है'[1]।

प्रवचनसार में लिखा है कि आत्मज्ञानशून्य तत्वार्थश्रद्धान कार्यकारी नहीं है[2]।

तथा वह व्यवहारदृष्टिसे सम्यग्दर्शनके आठ अंग पालता है, पच्चीस दोषों को टालता है संवेगादिक गुणों को धारण करता है। परन्तु जैसे बीज बोए बिना खेत की सावधानी करने पर भी अन्न नहीं होता वैसे ही सच्चा तत्त्वश्रद्धान हुए बिना सम्यक्त्व ही नहीं होता। पंचास्तिकाय की व्याख्यामें जहाँ अंतमें व्यावहाराभासवाले का वर्णन किया है वहाँ ऐसा ही कथन किया है। इस प्रकार इसके सम्यग्दर्शन का साधन करते हुए भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

सम्यग्ज्ञान का अन्यथा रूप

शास्त्रमें शास्त्राभ्यास करने पर सम्यग्ज्ञानका होना बतलाया है इसलिए जो शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहते हैं उनके पास सीखना सिखाना याद करना बांचना पढ़ना आदि क्रियाओंमें तो यह उपयोग को रमाता है परन्तु उसके प्रयोजनके ऊपर दृष्टि नहीं रखता। इस उपदेश में मेरे लिये लाभदायक क्या है यह अभिप्राय नहीं है। स्वयं शास्त्राभ्यास करके औरों को उपदेश देने का अभिप्राय रखता है। अनेक जीव उसका उपदेश मानते हैं तो वह संतुष्ट होता है। लेकिन ज्ञानाभ्यास तो अपने अर्थ किया जाता है और प्रसङ्ग पाकर दूसरे का भी भला किया जाता है। यदि कोई उपदेश नहीं सुनता है तो न सुने, आप स्वयं क्यों विषाद करता है। शास्त्रार्थ का भाव समझ कर अपना ही भला करना चाहिए। शास्त्राभ्यासमें भी कोई तो व्याकरण न्याय काव्य आदि शास्त्रों का बहुत अभ्यास करते हैं जो लोक में पाण्डित्य प्रकट करने के लिए है इनमें आत्महित का निरूपण तो होता नहीं। इनका तो प्रयोजन इतना ही है। अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा बहुत इनका अभ्यास कर पीछे आत्महित के साधन शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए। यह ठीक नहीं कि व्याकरणादिक का ही अभ्यास करते २ आयु पूरी हो जाय और तत्वज्ञानकी प्राप्ति न हो।

प्रश्न—तो फिर व्याकरणादिक का अभ्यास नहीं करना चाहिए

१—सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खय णिमित्तं ॥ २७५ ॥

२—प्र० सा० अ० ३ गा० ३९।

उत्तर–उनके अभ्यासके विना महान ग्रन्थों का अर्थ नहीं खुलता। इस लिए उनका भी अभ्यास करना योग्य है।

प्रश्न–महान ग्रन्थ ऐसे क्यों लिखे जिनका अर्थ व्याकरणादि विना नहीं खुलता। भाषाके द्वारा सुगम उपदेश क्यों नहीं लिखा। कुछ ग्रन्थकारों का अन्य प्रयोजन तो था नहीं।

उत्तर–भाषामें भी प्राकृत संस्कृतादिके ही शब्द हैं परन्तु अपभ्रंश रूप हैं। दूसरे अनेक देशोंमें भाषा भिन्न २ प्रकार है। अतः महान पुरुष शास्त्रोंमें अपभ्रंश शब्द कैसे लिखें। वालक तोतला वोलता है तो वड़े तो नहीं वोलते। तीसरे एक देश की भाषा का शास्त्र यदि दूसरे देशमें जाय तो वहाँ उसका अर्थ कैसे मालूम हो। न्यायके विना लक्षण परीक्षा आदि यथावत् नहीं हो सकते इत्यादि प्रकार वस्तुके स्वरूप का निर्णय व्याकरणादि विना अच्छी तरह न होता जान कर व्याकरणादिकके अनुसार कथन किया है भाषा में भी व्याकरणादि की थोड़ी वहुत परंपरा लेकर ही उपदेश हो सकता है किन्तु उनकी परम्परा का वहुत अनुसरण करने से अच्छी तरह उपदेश हो सकता है।

प्रश्न–यदि ऐसा है तो आप अव भाषारूप ग्रन्थ क्यों वनाते हैं?

उत्तर–कालदोषसे जीवोंकी मंदवुद्धि जानकर किन्हीं जीवोंके जितना ज्ञान होगा उतना ही होगा। ऐसा अभिप्राय विचारकर भाषा ग्रंथ वनाया है। अतः जो जीव व्याकरणादिकका अभ्यास न कर सकें उनको ऐसे ग्रन्थोंका ही अभ्यास करना चाहिए। तथा जो जीव नाना युक्तिके द्वारा शब्दोंका अर्थ करनेके लिये ही व्याकरणका अवलोकन करते हैं, वादादिक करके महंत होनेके लिए न्याय पढ़ते हैं। चतुरपना प्रकट करनेके लिए काव्यका आलोडन करते हैं। इत्यादिक लौकिक प्रयोजनको लेकर जो इनका अभ्यास करते हैं वे धर्मात्मा नहीं है। जितना वने उतना इनका थोड़ा वहुत अभ्यास करके आत्महितके लिये लिए जो तत्वादिकका निर्णय करते हैं वेही धर्मात्मा पंडित हैं। तथा कोई जीव पुण्यपापादिकके फलके निरूपक पुराण, पुण्य पाप क्रियाके प्ररूपक आचारादि शास्त्र, अथवा गुणस्थान मार्गण त्रिलोकादिकके निरूपक करणानुयोगके शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं। किन्तु उसका प्रयोजन नहीं विचारते तो यह तोतोंका सा हीं पढ़ना हुआ। तथा जो इनका प्रयोजन विचारते हैं, पापको वुरा और पुण्यको अच्छा समझते हैं, गुणस्थानादिक का स्वरूप जान लेते है इनके अभ्यास करनेसे हमारा भला होगा इत्यादि प्रयोजन सोचते हैं उससे नरकादिकका छेद और स्वर्गादिक की प्राप्त तो होगी परन्तु मोक्षमार्गकी प्राप्त नहीं होगी। पहले सचा तत्वज्ञान हो फिर पुण्य पापके फलको ही संसार जाने तथा शुद्धोपयोगसे मोक्ष माने जीवको गुणस्थानादि रूप व्यवहारनिरूपण जाने। इस प्रकार जैसे का तैसा श्रद्धान करता हुआ यदि इनका अभ्यास करता है तो सम्यग्ज्ञान होता है।

तथा तत्वज्ञानका कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग शास्त्र है कोई जीव उन शास्त्रोंका भी

अभ्यास करते हैं परन्तु जहाँ जैसे लिखा है वैसे स्वयं निर्णयकर आपको आपरूप, परको पररूप, आश्रवादिको आश्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुखसे तो यथावत् ऐसा निरूपण करता है जिसके उपदेशसे और जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं परन्तु जैसे लड़का स्त्रीका स्वांग बनाकर गाना गाता है और उससे अन्य पुरुष कामासक्त हो जाते हैं परन्तु वह जैसा सीखा है वैसा ही कहता है उसके कुछ भी स्त्रीका भाव नहीं समाता। इसलिए वह स्वयं कामासक्त नहीं होता। वैसे ही यह भी जैसा लिखा देखता है वैसा ही उपदेश देता है परन्तु आप अनुभव नहीं करता अगर उसके श्रद्धान हुआ होता तो और तत्वोंका अंश और तत्वोंमें नहीं मिलाता। इसलिये इसे अनुभव ही नहीं है अतः सम्यज्ञान नहीं होता। इस तरह ग्यारह अङ्ग तक पढ़ने पर भी सिद्धि नहीं होती, वही समयसारादिमें लिखा है कि मिथ्यादृष्टिके ग्यारह अंगका ज्ञान होता है।

प्रश्न—इतना ज्ञान होनेपर भी अभव्यसेनकी तरह श्रद्धानरहित ज्ञान हुआ होगा।

उत्तर—अभव्यसेन तो हिंसादिक पापके भयसे रहित पापी था[1]। परन्तु जो ग्रैवेयकादिमें जाते हैं उनके ऐसा श्रद्धानरहित ज्ञान नहीं होता। उसके तो ऐसा ही श्रद्धान है कि यह ग्रंथ सच्चे हैं। परन्तु तत्वश्रद्धान सच्चा नहीं हुआ है। समयसारमें एक ही जीवके धर्मका श्रद्धान एकादशांगका ज्ञान, महाव्रतादिकका पालन लिखा है। प्रवचनसारमें ऐसा लिखा है—आगम ज्ञानसे सब पदार्थोंको हस्तामलक जानता है और यह भी जानता है कि मैं इसका जाननेवाला मैं हूँ परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ इस प्रकार स्वयंको परद्रव्यसे भिन्न केवल चेतनद्रव्यरूप अनुभव नहीं करता इसलिऐ आत्मज्ञान शून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है[2]। इस प्रकार सम्यक्ज्ञानके लिए जैन शास्त्रोंका अभ्यास करता है तो भी इसके सम्यज्ञान नहीं है।

अब इनकी सम्यक्चारित्रके लिए कैसी प्रवृत्ति है यह बतलाते हैं। बाह्यक्रियाके ऊपर तो इनकी दृष्टि है किन्तु परिणाम सुधरने बिगड़नेका विचार नहीं है। अगर परिणामोंका भी विचार होता तो जैसे अपने परिणाम होते दीखते उन्हींके ऊपर दृष्टि रखता। उन परिणामोंकी परंपरा तो विचारता है किन्तु अभिप्रायमें जो वासना है उसे नहीं विचारता। फल भी अभिप्राय में जैसी लगन होती है वैसा ही लगता है। इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप अच्छी तरह अवगत होगा। इस तरह बिना पहचानके बाह्य आचरणका ही प्रयत्न करता है। उसमें कोई जीव तो कुलक्रमसे देखा देखी व क्रोध मान माया लोभादिकसे चारित्रका आचरण करते हैं। इनके धर्म बुद्धि तो है ही नहीं तब सम्यक्चरित्र कहाँसे हो। इनमें भी कोई जीव तो भोले हैं कोई कषायी है। अतः अज्ञान भाव व कषाय होते हुए सम्यक् चारित्र नहीं होता। बहुतसे जीवोंकी यह मान्यता है कि जाननेमें क्या है और माननेमें क्या है

सम्यक्चारित्रका अन्यथा रूप

१—बारह अङ्ग चौदहपूर्वरूप सकल श्रुतको पढ़कर भी भव्यसेन भाव मुनि नहीं बन सका॥ ष० प्रा० भा० गा० ५२ कथा देखो परिशिष्ट २—प्र० सा० अ० ३ गा० ३९

कुछ करेगा तो फल लगेगा। ऐसा विचार कर वे व्रत तप आदि क्रिया ही का उद्यम करते है और तत्वज्ञानका उपाय नहीं करते। लेकिन तत्वज्ञानके विना महाव्रतादिकका आचरण भी मिथ्या-चरित्र ही नाम पाता है और तत्वज्ञान होनेपर कुछ भी व्रतादिक नहीं है तो भी असंयत सम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिए पहले तत्वज्ञानका उपाय करना चाहिए फिर कषाय घटानेका बाह्य साधन करना चाहिए। योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचारमें भी वही लिखा है:—

दंसणभूमि वाहिरा जिय वयरुक्ख ण होंति 'अर्थात् इस सम्यग्दर्शनरूपी भूमिकेविना हे जीव व्रतरूपी वृक्षनहीं होता।' भावार्थ-जिन जीवोंकेतत्वज्ञान नहीं वे यथार्थ आचरण नहीं करते वही विशेष वताते हैं:—

कोई जीव पहले तो वड़ी प्रतिज्ञा कर लेते है किन्तु अंतरंगमें उनके कषाय वासना मिटती नहीं है तव जिस तिसप्रकार प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते है। उस प्रतिज्ञासे परिणाम दुखी होते हैं। जैसे वहुत उपवासकरले वादमें पीड़ासे दुखीहुआ रोगीके समान काल व्यतीत करे और धर्म साधन करे। अतः पहले जितनी सधती देखे उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न करे? दुखी होनेसे जो आर्तध्यान होगा उसका फल अच्छा कैसे लगेगा? अथवा उस प्रतिज्ञा का दुख सहा नहीं जाता तव उसकी एवजमें विषय पोषणके लिए अन्य उपाय करता है। जैसे प्यास लगने पर पानी न पीवे और अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकारके करे। अथवा घीको छोड़ और अन्य स्निग्ध वस्तुको प्रयत्न करके खावे। इस ही प्रकार औरभी समझना चाहिए। लेकिन जव परीषह नहीं सही जाती थी और विषयवासनाएँ नहीं छूटी थी तो ऐसी प्रतिज्ञा ही क्यों की गई। सुगम विषयों को छोड़ जिसमें विषम विषयों का उपाय करना पड़े ऐसा कार्य ही क्यों कियाजाय इसमें तो उल्टा रागभाव तीव्र होता है। अथवा जव प्रतिज्ञा से दुख होता है तव परिणाम लगाने को कोई आलंवन विचारता है जैसे उपवासके वाद कोई क्रीड़ा करे अथवा कोइ पापी जूआ आदि कुव्य-सनोंमें लगे या सोता रहना चाहे अर्थात् यह समझे कि किसी प्रकार काल पूरा करना है। इसी प्रकार अन्य प्रतिज्ञाओंमें भी समझना चाहिए। अथवा कोई पापी ऐसे भी है जो पहले प्रतिज्ञा करते हैं वादमें दुखी होकर प्रतिज्ञा को छोड़ वैठते हैं। प्रतिज्ञा लेना छोड़ना उनके लिए एक तमाशा है किन्तु प्रतिज्ञा भंग करने का महापाप है। इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही अच्छा है इस तरह पहले तो विचाररहित होकर प्रतिज्ञा करते है फिर ऐसी इच्छा होती है। लेकिन जैन धर्ममें प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं। जैनधर्ममें तो यह उपदेश है कि पहले तो तत्वज्ञानी हो पीछे जिसका त्याग करे उसका दोष पहिचाने त्याग करने से जो गुण होता है उसको समझे। तथा अपने परिणामों को ठीक करे। वर्तमान परिणामों के ही भरोसे ही प्रतिज्ञा करके न वैठे। आगामी निर्वाह होता देखे तो प्रतिज्ञा करे। शरीर की शक्ति अथवा द्रव्य क्षेत्र काल भावा-

१—समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः सागारध०

दिक का विचारकरे। ऐसा विचारने के बाद फिर प्रतिज्ञा करना चाहिए। वह भी इस प्रकार कि जिससे फिर प्रतिज्ञामें निरादरपना न हो। परिणाम चढ़ते रहे। यह जैनधर्म की आम्नाय है।

प्रश्न—प्रतिज्ञा तो चांडालादिकोंने[१] भी की है लेकिन इतना विचार उनके कहां होता है?

उत्तर—मरण पर्यंत कष्ट हो तो हो परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना चाहिए इस प्रकार विचार करके उन्होंने प्रतिज्ञा की हो तो प्रतिज्ञामें किसीप्रकार निरादरपना नहीं है। और सम्यग्दृष्टी जो प्रतिज्ञा करता है वह तत्वज्ञानपूर्वक ही करता है। तथा जो अन्तरङ्ग विरक्ति के विना वाह्यमें प्रतिज्ञा धारण करते हैं वे प्रतिज्ञाके पहले या पीछे जिसकी प्रतिज्ञा करते है उसमें अत्यंत आसक्त होकर लगते है। जैसे उपवासकी धारणा और पारणाके समय भोजनमें अत्यंत लोभी होकर गरिष्ठादि भोजन करते है तथा जल्दी जल्दी भोजन करते है। जिस प्रकार बन्द किया हुआ जल-छूटने पर बहुत अधिक प्रवाह से बहता है उसी प्रकार प्रतिज्ञा के द्वारा विषय प्रवृत्ति बन्द करने पर अन्तरङ्ग आसक्ति बढ़ती जाती है प्रतिज्ञा पूरी होते ही विषयप्रवृत्ति होने लगती है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिज्ञा के समय विषय वासना मिटी नहीं थी। आगे पीछे उसके बदले अधिक राग किया लेकिन फल तो रागभाव मिटने पर होगा। इसलिए जितनी विरक्ति हुई हो उतनी ही प्रतिज्ञा करना चाहिए। महामुनि भी थोड़ी प्रतिज्ञा करते हैं बादमें आहारादि में उछटि (?) करते है और जो बड़ी प्रतिज्ञा करते है वह अपनी शक्ति देखकरही करते है। जैसे परिणाम चढ़ते हैं वैसा करते है। प्रमाद भी न हो और आकुलता भी पैदा न हो ऐसी प्रवृत्ति ही कार्यकारी जानना चाहिए। तथा जिनकी धर्मके ऊपर दृष्टि नहीं है वे कभी तो बड़े धर्मका आचरण करते हैं कभी स्वच्छन्द होकर प्रवृत्ति करते है। जैसे कोई किसी धार्मिक पर्वमें बहुत उपवास करता है और किसीमें बार २ भोजन करता है। अगर धर्म बुद्धि हो तो सब धर्मपर्वों में यथायोग्य संयमादि धारण करे। तथा कभी तो धर्म कार्योंमें बहुतसा धन व्यय करता है कभी कोइ धर्मकार्य अचानक आजाये तो वहाँ थोड़ा भी धन खर्च नहीं करता। अगर धर्मबुद्धि होती तो यथाशक्ति यथायोग्य सभी धर्म कार्योंमें धन खर्च करता। इसी प्रकार और भी समझना चाहिए। तथा जिनके सच्चे धर्मका साधन नहीं है वे कोई क्रिया तो बहुत बड़ी करते है और कोई हीन-क्रिया करते है। जैसे धनादिक का तो त्याग करदेते है किन्तु अच्छा भोजन अच्छा वस्त्र आदि विषयों में विशेष प्रवृत्ति करते है। कोई जामा पहरना स्त्री सेवन करना आदि कार्यों का त्याग कर तो धर्मात्मापन प्रकट करते है और बादमें खोटे व्यापारादि कार्य करते हैं और फिर लोक-निंद्य पापक्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगते हैं। इसी प्रकार कोई क्रिया अत्यंत ऊँची और कोई क्रिया अत्यंत नीची करते है। लोकनिंद्य बनकर धर्मकी हंसी कराते है कि देखो अमुक धर्मात्मा ऐसा काम करता है। जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र तो अच्छा पहरे और दूसरा वस्त्र खराब पहरे तो हंसी

१—यमपाल चांडाल, देखो परिशि० पृ०

होगी ही उसी प्रकार इसकी हंसी होती है। सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है जितना अपना रागादि दूर हुआ हो उसीके अनुसार जिस पदमें जो क्रिया संभव है उस सबको अंगीकार करना चाहिए। अगर थोड़े ही रागादि मिटे हों तो नीचे पदमें ही रहना चाहिए। लेकिन ऊँचा पद धारण करके नीची क्रिया नहीं करना चाहिए।

प्रश्न– स्त्री सेवनादिक का त्याग ऊपर की प्रतिमामें बतलाया है। तब नीची अवस्थावाला उनका त्याग करे या नहीं?

उत्तर–नीची अवस्थावाला सर्वथा उनका त्याग नहीं कर सकता। कोई न कोई दोष लगता है इसलिए ऊपर भी प्रतिमामें त्याग कहा है नीची अवस्थामें जितना त्याग संभव है उतना उस अवस्थामें भी करता है। परन्तु जिस नीची अवस्थामें जो कार्य संभव नहीं उसका करना कषाय भावों से ही होता है। जैसे कोई सप्त व्यसनका सेवन करने वाला स्वस्त्रीका त्याग करना चाहे तो कैसे कर सकता है। यद्यपि स्वस्त्री का त्याग करना धर्म है तोभी सप्तव्यसनका त्याग करने के बाद ही स्वस्त्रीका त्याग करना योग्य है। इसी प्रकार अन्य भी समझना चाहिए। तथा धर्मोंको पूरी तरहसे न जाननेवाला जीव धर्म के किसी अंगको मुख्यकर अन्य धर्म को गौण करता है। जैसे कोई जीवदया धर्मको मुख्य कर पूजा प्रभावनादि धर्मको गौण करता है। कोई प्रभावनादि धर्मको मुख्यकर हिंसादिक का भय नहीं मानते। कोई तपको मुख्यता देकर आर्तध्यानादि करके भी उपवासादि करते हैं। अपने को तपस्वी मान निःशंक क्रोधादि करते हैं। कोई दानको मुख्यमान बहुत पाप करके भी धन पैदा कर दान देता है। कोई आरंभत्यागको मुख्य मानकर याचना करने लगजाता है। कोई हिंसाकी मुख्यतासे स्नान शौचादि नहीं करते किन्तु लौकिक कार्य आनेपर धर्म छोड़ उसमें लगजाते है। इत्यादि प्रकारसे किसी धर्मको मुख्यकर अन्यधर्मको नही गिनते। अथवा उसके सहारे पापाचरण करते है। लेकिन उनका यह कार्य ऐसा ही है जैसे कोई अविवेकी व्यापारी किसी अन्य व्यापारके नफेके लिए अन्य प्रकारसे अधिक टोटा उठाता है। विवेकी व्यापारीका प्रयोजन तो नफा है। सब विचार कर जिस प्रकार नफा अधिक हो उस प्रकार कार्य करता है। वैसे ही ज्ञानीका प्रयोजन वीतराग भाव है सब विचार कर जैसे वीतराग भाव अधिक हो वैसा कार्य करना चाहिए। क्योंकि मूलधर्म वीतराग भाव है। किन्तु अविवेकी जीव धर्म को अन्यरूपसे अङ्गीकार करता है। उसके तो सम्यक्चारित्रका आभास भी नहीं होता।

कोई अणुव्रत महाव्रतादि रूप यथार्थ आचरण करता है और आचरणके अनुसार हीं उसके परिणाम है। कोई माया लोभादिकका अभिप्राय नही है। इनको धर्म समझ कर मोक्षके-लिए इनका साधन करता है। स्वर्गादिक भोगने की इच्छा नहीं रखता परन्तु तत्वज्ञान न होनेसे स्वयं तो समझता है कि मोक्ष का साधन करता हूं लेकिन मोक्षके साधन को जानता भी नहीं केवल स्वर्गादिकका ही साधन करता है। मिश्री को अमृत समझ कर खाता है लेकिन

अनृत का गुण तो उसमें नहीं होता। अपनी प्रतीतिके अनुसार उसका फल नहीं होता, फलतो साधनके अनुसार होता है। शास्त्रमें ऐसा लिखा है—चारित्रके साथ जो सम्यक् पद है वह अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति लिए हैं[१]। इस लिए तत्वज्ञान होने पर जो चारित्र होता है वह सम्यकचारित्र कहलाता है। जैसे कोई किसान बीज तो बोवे नही और अन्य कार्य करे तो अन्न की प्राप्ति कैसे होगी घास फूस ही होगा। वैसे ही यदि अज्ञानी तत्वज्ञान का अभ्यास न करे और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्त कैसे होगा देवादिक ही पद मिलेंगें। उसमें भी बहुत से जीव तो ऐसे हैं जो तत्वादिकका अच्छी तरह नाम भी नहीं जानते केवल व्रतादिक ही पालते है। कोई जीव पूर्वोक्त प्रकारसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानका अयथार्थ साधन कर व्रतादिक पालते है। वे यद्यपि व्रतादिक का यथार्थ आचरण करते है तो भी यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ ज्ञानके विना सव आचरण मिथ्याचारित्र ही है। वही समयसारके कलश में कहा है।

"क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुर्धरतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः।
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्॥
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं।
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि" ॥१॥ [निर्जरा क० श्लो० १०]

अर्थ—मोक्षसे पराङ्मुख अत्यंत दुस्तर पंचाग्नि तपन आदि कार्योंसे यह जीव आप ही क्लेशित होता है तो होवे। अथवा कोई जीव महाव्रत और तपके भारसे चिरकालपर्यंत क्षीण होते हुए क्लेश करता है तो करे। परन्तु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रोगरहित ज्ञानस्वभाव जो पद स्वयं अनुभवमें आता है वह ज्ञानगुणके विना अन्य किसी प्रकारसे उसे प्राप्त करनेमें वे किसी भी तरह समर्थ नहीं है।

पंचास्तिकायके अन्तमें व्यवहाराभासवालों का कथन किया है वहाँ तेरह प्रकारका चरित्र होते हुए भी मोक्षमार्गमें उसका निषेध किया है[३]। तथा प्रवचनसारमें आत्मज्ञानसे शून्य संयम को निष्फल वतलाया है। इन ही ग्रन्थोंमें तथा परमात्मप्रकाश आदि अन्य ग्रन्थों में इसी बातको लेकर जहां तहां निरूपण किया है। इस लिए तत्वज्ञान होने पर ही आचरण कार्यकारी है।

यहाँ कोई समझेगा कि वाह्यमें तो अणुव्रत महाव्रतादि साधन करता है किन्तु अंतरंग में वैसे परिणाम नहीं, अथवा स्वर्गादिक की वाञ्छासे अणुव्रतादिकका साधन करता है लेकिन ऐसे साधनसे तो पापबंध होता है। द्रव्यलिंगी मुनि ऊपर

१—स० सि० पृ० ३.पं० ३। २—'दुष्करतरैं' मूल प्रतिमें पाठ है। ३—पं० का० पृ० २४९। ४—अ० ३ गा० ३९

ग्रैवेयक पर्यंत जाता है। परावर्तनामें इक्तीस सागर तक की देवायुकी प्राप्ति अनंतवार होना लिखा है। लेकिन ऐसा ऊंचापद तो तभी पाता है जब अंतरंग परिणामपूर्वक महाव्रत पालता है, मंदकषायी होता है, इसलोक और परलोकके भोगादिक की चाह नहीं होती, केवल धर्मबुद्धि से मोक्षका अभिलाषी हो उनका साधन करता है इसलिए द्रव्यलिङ्गीके स्थूल अन्यथापन तो नहीं है सूक्ष्मअन्यथापन है उसका प्रतिभास सम्यक्दृष्टि को होता है। अब यह जीव कैसा धर्मसाधन करते हैं और उसमें अन्यथापन किसप्रकार है सो बतलाते हैं—

पहले तो यह जीव संसार में नरकादिक का दुख जानकर और स्वर्गादिक में भी जन्म मरणादिक का दुख जानकार संसार से उदासीन हो मोक्ष को चाहता है। इन दुःखो को तो सब ही दुःख मानते हैं। किन्तु इन्द्र अहमिन्द्रादिक विषयानुराग से जो इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं उसको भी दुःख जानकर जो निराकुल सुख अवस्था को पहचान कर उसमें मोक्ष जानते हैं वेही सम्यग्दृष्टि हैं तथा विषय सुखादिक का फल नरकादिक है,शरीर अशुचि विनाशीक है, पोषण योग्य नहीं हैं, कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं इत्यादि परद्रव्योंका दोष विचारकर उनका तो न्याय करता है। व्रतादिक का फल स्वर्ग मोक्ष है तपश्चरणादि पवित्र फल के दाता हैं उनके द्वारा शरीरको कृशकरना योग्य ही है, देव गुरू शास्त्रादि हितकारी है, इत्यादि परद्रव्यों का गुण विचार उन्हें ही अंगीकार करता है। इस प्रकारसे किसी परद्रव्यको बुरा जान उसे अनिष्ट मानता है। और किसी परद्रव्यको अच्छा समझ कर उसे इष्ट श्रद्धान करता है। लेकिन परद्रव्य में इष्ट अनिष्टका श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। ऐसा श्रद्धान करनेसे इसको जो उदासीनता भी होती है वह द्वेषबुद्धिरूप होती है। क्यों कि किसी को बुरा समझने का नाम ही तो द्वेष है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानकर परद्रव्यका त्याग करता है।

उत्तर—सम्यग्दृष्टि परद्रव्यको बुरा नही जानता अपने रागभावको बुरा जानता है। वह अपने रागभाव को छोड़ता हैं अतः रागके कारण पदार्थ का भी उसके त्याग होता हैं वस्तु के स्वरूपको विचारनेपर तो कोई परद्रव्य भला व बुरा नहीं है।

प्रश्न—भला वा बुरा न सही उसका निमित्त तो है!

उत्तर—परद्रव्य बलपूर्वक तो कुछ विगाड़ नहीं करता अपने भाव विगड़नेपर वह भी वाह्य निमित्त हैं और उसका निमित्त न भी हो तब भी भाव विगड़ते हैं इसलिये परद्रव्य नियमसे निमित्त भी नहीं है।

इसप्रकार परद्रव्यका दोष देखना तो मिथ्या है। वास्तवमें तो रागदिभाव ही बुरे हैं किन्तु यह इसकी समझमें नहीं आता। यह परद्रव्यों का दोष देखकर उनमें द्वेष रूप उदासीनता करता है। सच्ची उदासीनता तो वह है कि किसी परद्रव्य का गुण या दोष भासित न हो इसलिए किसी को भला या बुरा न माने। आपको आप समझे और पर को पर जाने। परसे

मेरा कुछभी प्रयोजन नहीं है ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे। किन्तु ऐसी उदासीनता ज्ञानी के ही होती है।

तथा यह उदासीन होकर शास्त्रमें कहे हुए अणुव्रत महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र को अङ्गीकार करता है। एक देश व सर्वदेशसे हिंसादि पापों को छोड़ता है। उनकी जगह अहिंसादि रूप पुण्यकार्योंमें प्रवृत्ति करता है। तथा जैसे पहले पर्यायाश्रित पाप कार्योंमें अपने को कर्ता मानता था वैसे ही अब पर्यायाश्रित पुण्यकार्योंमें आपको कर्ता मानता है। इस तरह पर्यायाश्रित कार्योंमें अहंबुद्धि मानना तो समान ही रहा। जैसे मैं जीवको मारता हूँ, मैं परिग्रहधारी हूँ इत्यादिरूप मानता था, वैसे ही अब मैं जीवोंकी रक्षा करता हूँ, मैं नग्न परिग्रह रहित हूँ' ऐसा मानने लगा। यह पर्यायाश्रित कार्यमें जो अहंबुद्धि है वही मिथ्या दृष्टि है। वही समयसारमें कहा है।

"ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षतां ॥१॥" [सर्व विशु० ज्ञा० श्लो० ७]

अर्थ—जो जीव मिथ्यांधकारसे व्याप्त होकर अपनेको पर्यायाश्रित क्रियाका कर्ता मानते हैं वे जीव मोक्षाभिलाषी होते हुए भी अन्यमती सामान्य मनुष्योंकी तरह मोक्षके अधिकारी नहीं हैं क्योंकि कर्तापनेके श्रद्धानकी दोनों जगह समानता है।'

तथा इस प्रकार आप कर्ता होकर श्रावक धर्म अथवा मुनि धर्मकी क्रियामें मन वचन काय की प्रवृत्ति निरन्तर रखता है उन क्रियाओंमें भंग न हो उस प्रकार प्रवृत्ति करता है, परन्तु यह भाव तो सराग है। और चारित्र तो वीतरागभावरूप है। इसलिए ऐसे साधनको मोक्षका मार्ग मानना मिथ्या बुद्धि है।

प्रश्न—सराग और वीतरागके भेदसे जो दो प्रकारका चारित्र आपने बतलाया है उसका क्या मतलब है?

उत्तर—जैसे चावलके दो भेद हैं एक तुषसहित और दूसरा तुषरहित। लेकिन तुष चावलका स्वरूप नहीं है चावलका दोष है। कोई बुद्धिमान तुषसहित चावलका संग्रह करता है उसे देखकर कोई भोला तुषोंको ही चावल मान उनका ही संग्रह करने लगे तो वृथा ही खेदखिन्न होगा। उसी प्रकार चारित्र दो प्रकार का है एक सराग दूसरा वीतराग लेकिन राग चारित्रका स्वरूप नहीं है चारित्रका दोष है। और कोई ज्ञानी प्रशस्त रागसहित चारित्र धारण करता हो उसको देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्तरागहीको चारित्रमान उसकाही संग्रह करेगा तो वृथा ही खेदखिन्न होगा।

प्रश्न—पाप क्रिया करनेसे तीव्ररागादिक होते थे अब इन क्रियाओंके करनेसे मंदराग हुआ। इसलिए जितने अंशोंमें रागभाव कम हुआ उतने अंशोंमें तो चारित्र कहना

चाहिये। और जितने अंशोंमें राग है उतने अंशोंमें राग कहना चाहिये। इस तरह इसके सराग चारित्र है।

उत्तर—अगर तत्वज्ञानपूर्वक यह बात है तो जैसा कहते हैं वैसा ही है किन्तु तत्व-ज्ञानके विना उत्कृष्ट आचरण होते हुए भी उसका असंयम ही नाम होता है क्योंकि रागभावका अभिप्राय नहीं मिटता। वही वतलाते हैं:—

द्रव्यलिंगी मुनि राज आदिकको छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है, अट्ठाईस मूल गुणोंका पालन करता है, उग्र से उग्र अनशनादिक महातप करता है, क्षुधादिक बाईस परीसह सहता है, शरीरके खंड २ होनेपर भी व्यग्र नहीं होता, व्रतभङ्गके अनेकों कारण मिलनेपर भी दृढ़ रहता है, किसीपर क्रोध नहीं करता, न इस तपस्याका मान करता है और न ऐसे साधनमें उसका कोई कपट व्यवहार ही होता है, इससे इस लोक या परलोकका विषमसुख भी वह नहीं चाहता। ऐसी उसकी अवस्था होती है अगर ऐसी अवस्था न हो तो वह ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे। परन्तु शास्त्रोंमें उसे मिथ्यादृष्टि और असंयम ही लिखा है। इसका कारण यह है कि इसको तत्वोंका सच्चा श्रद्धान और ज्ञान नहीं हुआ है। पहले जिस प्रकार वर्णन किया है उस प्रकार तत्वोंका श्रद्धान ज्ञान हुआ है। उसहीके अभिप्रायसे सब साधन करता है विचार करनेपर इन साधनों में कषायोंका ही अभिप्राय प्रतीत होता है। वही बतलाते हैं:—

यह पापके कारण रागादिकको तो हेय जानकर छोड़ता है परन्तु पुण्यके कारण प्रशस्त रागको उपादेय मानता है उसके बढ़ानेका उपाय करता है। लेकिन प्रशस्तराग भी तो कषाय है। कषायको उपादेय माननेका मतलब तो कषाय करनेका ही श्रद्धान रहा अप्रशस्त परद्रव्योंसे द्वेषकर प्रशस्त परद्रव्योंमें राग करनेका अभिप्राय हुआ। परद्रव्योंमें साम्यभावरूप अभिप्राय तो नहीं हुआ।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि भी तो प्रशस्तरागके कार्य करता है?

उत्तर—जैसे कोई बहुत दण्डके बदले थोड़े दण्डका उपाय करता है और थोड़ा दण्ड मिलनेपर हर्ष भी मानता है लेकिन श्रद्धान उसका यही है कि दण्ड होना अनिष्ट है वैसे ही सम्यग्दृष्टि पापरूप बहुत कषायके बदले पुण्यरूप थोड़े कषाय का उपाय करता है और थोड़ी कषाय होनेपर हर्ष भी मानता है लेकिन श्रद्धान इसका यही है कि कषाय हेय है। तथा जैसे कोई कमाईका कारण जानकर व्यापारादिकको अपनाता है अपनानेपर हर्ष मानता है वैसे ही द्रव्यलिंगी मोक्षका कारण जानकर प्रशस्तरागको अपनाता है अपनानेपर हर्ष भी मानता है। इस तरह प्रशस्तरागके उपाय व हर्षमें समानता होते हुए भी सम्यग्दृष्टीके तो दंडके समान और मिथ्या-दृष्टिके व्यापारके समान श्रद्धान पाया जाता है इसलिए दोनोंके अभिप्रायमें अन्तर हुआ। तथा द्रव्यलिंगी परीषह तपश्चरणादिकके निमित्तसे जो दुख होता है उसका इलाज तो नहीं करता परन्तु दुःखका अनुभव करता है। यह दुखका अनुभव करना कषाय ही है। जहां वीतरागता होती है

वहाँ जैसे अन्य ज्ञेयको जानता है वैसे ही दुःखके कारण ज्ञेयको भी जानता है परन्तु यह दशा इसकी नहीं होती। उनको सहता भी कषायके अभिप्रायरूप विचारसे है। वह इस तरह विचार करता है—पराधीनतासे नरकगतिमें जो दुःख सहे थे ये परीषहादिक दुख तो उससे अल्प हैं इसको स्वाधीन होकर सहनेमें स्वर्गमोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। इनको न सहकर विषयसुख सेवन करनेसे तो नरकादिककी प्राप्ति होती है वहाँ बहुत दुःख होता है। इत्यादि विचारोंमें परीषहोंके अन्दर अनिष्ट बुद्धि रहती है। केवल नरकादिकके भयसे या सुखके लोभसे उनको सहता है। लेकिन यह सब कषायभाव ही हैं। तथा इसप्रकार विचार करता है—बांधे हुए कर्म भोगे बिना छूटते नहीं हैं इसलिए ये मुझको सहने पड़ते हैं। इस विचारसे वह कर्मफलचेतनारूप प्रवृत्ति करता है तथा पर्याय दृष्टिसे जो परीषहादि रूप अवस्था होती है उसको अपने हुई मानता है। द्रव्यदृष्टिसे अपनी व शरीरादिककी अवस्थाको भिन्न नहीं पहचानता। इसी तरह नाना प्रकारके व्यावहारिक विचारोंसे परीषहादिकको सहता है। तथा इसने राज्यादि विषय सामिग्रीका त्याग किया है एवं इष्टजनादिकका भी त्याग किया करता है। सो जैसे कोई दाहज्वरवाला वाय होनेके भयसे शीतल वस्तुका त्याग करता है परन्तु शीतल वस्तुका सेवन जब तक उसको रुचता है तब तक उसके दाहका अभाव नहीं कहा जाता। वैसे ही राग सहित जीव नरकादिकके भयसे विषयसेवनका त्याग करता है परन्तु जब तक विषय सेवनमें रुचि है तब तक उसके रागका अभाव नहीं कहा जाता। तथा जैसे अमृतके आस्वादी देवको अन्य भोजन स्वयं ही अच्छा नहीं लगता वैसे ही स्वरसके आस्वादनसे विषयसेवनकी रुचि इसके नहीं होती। इस प्रकार स्वर्ग फलादिककी अपेक्षा परीषह सहनादिकको सुखका कारण मानता है और विषय सेवनादिकको दुःखका कारण जानता है तथा तत्काल परीषह सहनादिकसे दुःख होना मानता है और विषय सेवनादिकसे सुख होना मानता है। तथा जिनमें सुख दुख होना माना जाता है उनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धिसे राग द्वेष रूप अभिप्रायका अभाव नहीं होता। और जहाँ रागद्वेष है वहां चारित्र नहीं होता। इस लिए यह द्रव्यलिङ्गी विषय सेवन छोड़कर तपश्चरणादिक करता है तो भी असंयमी है। सिद्धान्तमें असंयत देशसंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसको हीन बतलाया है। इसलिए उनके चौथा पाँचवां गुणस्थान होता है और इसके पहला ही गुणस्थान होता है।

प्रश्न—असंयत और देश संयत सम्यग्दृष्टिके कषायोंकी प्रवृत्ति विशेष है और द्रव्य लिंगी मुनिके थोड़ी है क्योंकि उक्त दोनों सम्यग्दृष्टि तो सोलह स्वर्गतक ही जाते हैं और द्रव्यलिंगी ऊपर ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है। इसलिए भावलिङ्गी मुनिसे द्रव्यलिङ्गी मुनिको हीन कहना तो ठीक है लेकिन उक्त दोनों सम्यग्दृष्टियों से हीन उसको कैसे बतलाया?

उत्तर—दोनों सम्यग्दृष्टियोंके कषायोंकी प्रवृत्ति तो है परन्तु श्रद्धानमें किसी कषायके

करने का अभिप्राय नहीं है। लेकिन द्रव्यलिंगीके शुभ कषाय करनेका अभिप्राय पाया जाता है, श्रद्धानमें उनको अच्छा समझता है इसलिए श्रद्धानकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिसे भी इसके अधिक कषाय है। तथा द्रव्यलिङ्गीके योगोंकी शुभरूप प्रवृत्ति अधिक होती है और अघातिया कर्मोंमें पुण्य पाप बंधका विशेष शुभ अशुभ योगोंके अनुसार है इसलिए अंतिम ग्रैवेयक तक पहुँचता है पर कुछ कार्यकारी नहीं क्योंकि अघातिया कर्म आत्मगुणके घातक नहीं हैं इनके उदयसे ऊँचा नीचा पद पाया तो क्या हुआ। यह तो बाह्य संयोगमात्र संसार दशाके स्वांग है। आप तो आत्मा है इसलिए आत्मगुणके घातक कर्मोंका हीन होना ही कार्यकारी है। लेकिन घातिया कर्मोंका बंध बाह्यप्रवृत्तिके अनुसार नहीं है अंतरंग कषाय शक्तिके अनुसार है। इसी कारण द्रव्यलिङ्गीसे असंयत और देशसंयत सम्यग्दृष्टिके घातिया कार्मोंका थोड़ा बंध होता है। द्रव्यलिङ्गीके तो सब घातिया कर्मोंका बंध बहुत स्थिति और बहुत अनुभाग लेकर होता है। और असंयत तथा देश संयत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व अनंतानुबंधी आदि कर्मोंका तो बंध ही नहीं है बाकी बचे हुओं का बंध होता है सो थोड़ी स्थिति और थोड़े अनुभागको लेकर होता है। तथा द्रव्यलिङ्गीके कभी गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती किन्तु सम्यग्दृष्टिके कदाचिद् गुणश्रेणी निर्जरा होती है और देश संयम या सकल संयमके होनेपर यह निरंतर होती है इसीसे यह मोक्षमार्ग है। अतः द्रव्यलिंगी मुनिको असंयत और देश संयत सम्यग्दृष्टिसे हीन बतलाया है। यह हीनपना समयसारकी गाथा व टीका कलशोंमें भी बतलाया है[1]। तथा पंचास्तिकायकी टीकामें जहाँ केवल व्यवहारावलंबीका कथन किया है वहाँ व्यवहारसे पंचाचार होते हुए भी उसको हीन बतलाया है[2]। प्रवचनसारमें द्रव्यलिंङ्गी को संसारतत्व कहा है परमात्मप्रकाशादि अन्य शास्त्रोंमें भी इस व्याख्यान को स्पष्ट किया है। इन शास्त्रोंमे द्रव्यलिंगीके जप तप शील संयमादि क्रियाओं को भी अकार्य कारी बतलाया है सो वहाँसे देख लेना। यहाँ ग्रंथ बढ़नेके भयसे नहीं लिखा है। इस तरह केवल व्यवहाराभासके अवलंबी मिथ्यग्दृष्टियोंका निरूपण किया।

निश्चय व्यवहारावलम्बी जैनाभास—

अब निश्चय व व्यवहार दोनों नयोंके आभासको अवलंबन करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण करते है—

जो जीव ऐसा मानते है कि जिनमतमें निश्चय व्यवहार दोनों नय बतलाए हैं अतः हमको दोनों ही अंगीकार करने चाहिए इस तरह विचार कर जैसे केवल निश्चयाभासके अवलंबियों का कथन किया था वैसे तो निश्चयका अंगीकार करते है और जैसे केवल व्यवहाराभासके अवलंबियों का कथन किया था वैसे व्यवहार को अंगीकार करते हैं। यद्यपि ऐसे अंगीकार करनेमें दोनों नयोंमें परस्पर विरोध है। तो भी विचारे करें क्या? दोनों नयोंका सच्चा स्वरूप तो उन्हें

१—पृ० २४८-२५०। २—अ० २ गा० ७१

मालूम नहीं और जिनमतमें दोनों नय बतलाये हैं इसलिए उनसे किसीको छोड़ा भी नहीं जाता। अतः भ्रम पूर्वक दोनोंका साधन करते हैं सो मिथ्यादृष्टि हैं।

अब इनकी प्रवृत्ति विशेषरूपसे बतलाते है अंतरङ्ग में स्वयं निर्धारण करके यथावत् निश्चय व व्यवहार रूप दोनों प्रकारके मोक्षमार्ग को मानता है। किन्तु मोक्षमार्ग दो नहीं हैं मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग बतलाया है वह तो निश्चय मोक्षमार्ग है[1] और जहाँ मोक्षमार्गके निमित्त या सहचारी को उपचारसे मोक्षमार्ग बतलाया है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय व्यवहारका सब जगह ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण निश्चय है और उपचार निरूपण व्यवहार है। अतः निरूपण की अपेक्षा दो प्रकार का मोक्षमार्ग समझना चाहिये। एक निश्चय मोक्षमार्ग है दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग है। इस तरह दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। तथा निश्चय व्यवहार दोनोंको उपादेय मानना भी भ्रम है। क्योंकि निश्चय और व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है समयसारमें ऐसा लिखा है—

मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं है

निश्चय व्यवहार दोनों एक रूपसे उपादेय नहीं हैं

व्यवहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिऊण सुद्धणओ ॥

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है। सत्य स्वरूपको निरूपण नहीं करता किसी अपेक्षा उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है तथा शुद्धनय जो निश्चय है वह भूतार्थ है जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा निरूपण करता है। इस तरह इन दोनोंका स्वरूप परस्पर विरुद्ध है। और तू ऐसा मानता है कि सिद्ध समान शुद्ध आत्माका जो अनुभव है वह तो निश्चय है और व्रतशील संयमादिरूप प्रवृत्ति व्यवहार है। लेकिन तेरा यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि किसी द्रव्यभावका नाम निश्चय है और किसीका नाम व्यवहार है। ऐसी बात नहीं है एक ही द्रव्यके भावका उसरूप ही निरूपण करना वह निश्चय नय है। उपचारसे उस द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यके भावरूप निरूपण करना वह व्यवहार नय है। जैसे मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका घड़ा कहना निश्चय है और घृतसंयोगके उपचारसे उसको घीका घड़ा कहना वह व्यवहार है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। अतः तू किसीको निश्चय मानता है किसीको व्यवहार मानता है यह भ्रम है। दूसरे निश्चय व्यवहारके तेरे माने हुए स्वरूपमें परस्पर विरोध आता है। यदि तू अपनेको सिद्ध-समान शुद्ध मानता है तो व्रतादिक क्यों करता है? अगर व्रतादिकके साधनसे सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमानमें शुद्ध आत्माका अनुभवन मिथ्या हुआ। इस तरह दोनों नयोंमें परस्पर विरोध है। इसलिए दोनों नयोंका उपादेयपन नहीं बनता।

प्रश्न—समयसारादिमें शुद्ध आत्माके अनुभवको निश्चय बतलाया है और व्रत, तप, संयमादिको व्यवहार बतलाया है ऐसी ही हमारी मान्यता है। इसमें क्या दोष है?

उत्तर—शुद्ध आत्माका अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है इसलिए उसको निश्चय बतलाया है।

यहाँ शुद्ध शब्दका अर्थ स्वभावसे अभिन्न और परभावसे भिन्न समझना चाहिए। संसारीको सिद्ध समझना शुद्ध शब्दका ऐसा भ्रमरूप अर्थ नहीं है। तथा व्रत, तपादि मोक्षमार्ग नहीं है निमित्तादिककी अपेक्षा उपचारसे इनको मोक्षमार्ग कहा है अतः इनको व्यवहार बतलाया इस तरह भूतार्थ अभूतार्थ मोक्षमार्गपनेसे इनको निश्चय व व्यवहार कहा है ऐसे ही मानना चाहिए। तथा यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं ? इन दोनोंको उपादेय मानना चाहिए यह मिथ्या बुद्धि ही है। यदि यह कहा जाय कि हम श्रद्धान तो निश्चयपर रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार रखते हैं। इस तरह हम दोनोंको ही अंगीकार करते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं क्योंकि निश्चयका निश्चयरूप और व्यवहारका व्यवहाररूप श्रद्धान करना युक्त है। एक नयका श्रद्धान होनेसे तो एकान्तमिथ्यात्व होता है तथा प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति है। जहाँ जिस द्रव्यकी प्रवृत्ति हो वहाँ उसीका निरूपण करना तो निश्चयनय है और उसीको अन्य द्रव्यकी बतलाना वह व्यवहार है। इस अभिप्रायके अनुसार प्ररूपण करनेसे उस प्रवृत्तिमें दोनों नय बनते हैं। केवल प्रवृत्ति ही तो नयरूप नहीं है। इसलिए इस प्रकार भी दोनों नयोंका ग्रहण करना तो मिथ्या है। तब क्या करना चाहिए यह बतलाते हैं—

निश्चय नयसे निरूपित वस्तुको तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए। और व्यवहार नयसे निरूपण किए हुएको असत्यार्थ मानकर श्रद्धान नहीं करना चाहिए। समयसारमें भी यही लिखा है—

"सर्वत्राध्यवसायमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै ।
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोप्यन्याश्रयस्त्याजितः ॥
सम्यग्निश्चयमेकमेव परमं निष्कम्प्यमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥" [निर्ज० प्र० श्लो० ११]

अर्थ—क्योंकि सब ही हिंसा व अहिंसादिमें जो अध्यवसाय है उसको जिनेन्द्रदेवने त्याज्य बतलाया है। इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ जो पराश्रित व्यवहार है वह सभी उन्होंने छुड़ाया है। तब सन्त पुरुष एक निश्चय हीको अच्छी तरह निश्चयरूपसे अंगीकारकर शुद्धज्ञानघनरूप अपनी महिमामें स्थिति क्यों नहीं करता ?

भावार्थ—यहाँ व्यवहारका तो त्याग करा दिया है। अतः निश्चयको अंगीकारकर निज महिमारूप प्रवृत्ति करना युक्त है। षट्पाहुड़में लिखा है—

"जो सुत्तो ववहारे सो जोई जागदे सकज्जम्मि ।
जो जागदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥" [मो० प्र० गा० ३१]

अर्थ—जो व्यवहारमें सोता है वह जोगी अपने कार्यमें जागता है और जो व्यवहारमें जागता है वह अपने कार्यमें सोता है। इसलिए व्यवहारनयका श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करना योग्य है।

व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यको अथवा उनके भावोंको अथवा कारण कार्यादिकोंमेंसे किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है ऐसे श्रद्धानसे मिथ्यात्व होता है इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। तथा निश्चयनय उन्हींका यथावत् निरूपण करता है किसीको किसीमें नहीं मिलाता। ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिए इसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न—अगर यह बात है तो जिनमतमें दोनों नयोंको ग्रहण करना बतलाया है यह कैसे?

उत्तर—जिनमतमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यताको लेकर व्याख्यान है उसको तो "सत्यार्थ इसी प्रकार है" ऐसा समझना चाहिए। तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यताको लेकर व्याख्यान है उसका "ऐसे नहीं है निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है" ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। दोनों नयोंके व्याख्यानोंको समान सत्यार्थ जानकर "ऐसे भी हैं, ऐसे भी हैं" इस प्रकार भ्रमरूप प्रवृत्ति पूर्वक तो दोनों नयोंका ग्रहण करना बतलाया नहीं है।

व्यवहारनयके उपदेश का प्रयोजन

प्रश्न—अगर व्यवहारनय असत्यार्थ है तो इसका उपदेश जिनमार्गमें क्यों दिया। एक निश्चयनयका ही निरूपण करना था?

उत्तर—इसी तर्कका उत्तर समयसारमें इस तरह दिया है—

"जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विना परमत्थुवएसणमसक्कं॥ १००॥"

जैसे अनार्य अर्थात् म्लेच्छको म्लेच्छभाषाके बिना अर्थका ज्ञान नहीं कराया जा सकता वैसे ही व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश नहीं दिया जा सकता। इसलिए व्यवहारका उपदेश है। तथा इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है **"व्यवहार नयो नानुसर्त्तव्यः"** अर्थात् निश्चयके स्वीकार करानेको व्यवहारका उपदेश दिया है किन्तु व्यवहारनय स्वीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न—व्यवहारके बिना निश्चयका उपदेश क्यों नहीं होता? तथा व्यवहारनयको कैसे स्वीकार करना चाहिए?

उत्तर—निश्चयनयसे तो आत्मा परद्रव्यसे भिन्न स्वभावसे अभिन्न स्वयं सिद्ध वस्तु है। उसको जो नहीं पहचानते उनसे यदि यही कहा जाता रहे तो वे आत्माको समझ नहीं सकते। इसलिए उनको समझानेके लिये व्यवहारनयसे शरीरादिक परद्रव्यकी अपेक्षासे नर नारक पृथ्वी कायादिरूप जीवके भेद बतलाए तब मनुष्य जीव है नारकी जीव है इत्यादि भेदोंसे उसे जीवकी पहचान हुई। अथवा अभेद वस्तुमें भेद पैदाकर ज्ञान, दर्शनादि गुण पर्यायरूप जीवके भेद किए। तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है इत्यादि भेदोंसे उसको जीवकी पहचान हुई। तथा निश्चयनयसे वीतरागभाव मोक्षका मार्ग है उसको नहीं पहचाननेवालोंको यदि यही कहा जाय तो समझेंगे नहीं। इसलिए उनको व्यवहारनयसे तत्वश्रद्धान ज्ञानपूर्वक परद्रव्यका निमित्त मिटानेकी अपेक्षासे वीतराग भावके व्रत शील संयमादि विशेष बतलाये। तब उसको वीतराग भावोंकी पहचान

हुई। इस ही प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारके विना निश्चयका उपदेश नहीं होता ऐसा समझना चाहिए। यहाँ व्यवहारसे नर नारकादि पर्यायको ही जीव कहा। परन्तु पर्यायको ही जीव नहीं मान लेना चाहिए। पर्याय तो जीव पुद्गलका संयोगरूप है। लेकिन निश्चय नयसे जीव द्रव्य अलग है उसको ही जीव समझना चाहिए। जीवके संयोगसे शरीरादिकको भी उपचारसे जीव ही कहा है वह सिर्फ कहना मात्र ही है। परमार्थसे शरीरादिक जीव नहीं होते। अतः ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिए। तथा अभेद रूप आत्मामें जो ज्ञान दर्शनादिक भेद किए हैं उनको भेदरूप ही नहीं मान लेना चाहिए। भेद तो समझानेके लिए हैं निश्चयसे आत्मा अभेद ही है। उसहीको जीव मानना चाहिए। संज्ञा संख्यादिकसे भेद तो कहने मात्रहीके लिए हैं। परमार्थसे वे अलग नहीं हैं। अतः ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिए। तथा पर द्रव्यके निमित्तको मिटानेकी अपेक्षा व्रतशील संयमादिकको मोक्षका मार्ग बतलाया है। किन्तु इन्हींको मोक्षमार्ग नहीं मान चाहिए क्योंकि यदि परद्रव्यका ग्रहण और त्याग आत्मा करता है तो आत्मा परद्रव्यका कर्ता हर्ता हो जायगा। लेकिन कोई द्रव्य किसी द्रव्यके आधीन नहीं है इसीलिए आत्मा अपने रागादिक भावोंको छोड़कर वीतरागी होता है। अतः निश्चयसे वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावों और व्रतादिकोंमें कदाचित् कार्यकारण भाव पाया जाता है इसलिए व्रतादिकोंको मोक्षमार्ग कहना केवल कहना मात्र ही है। परमार्थसे बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है अतः ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार नयको समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—व्यवहारनय दूसरेको समझानेमें ही सहायता करता है या कुछ अपना भी प्रयोजन साधता है ?

उत्तर—स्वयं भी जीव जबतक निश्चय नयसे प्ररूपित वस्तुको नहीं पहचानता तबतक व्यवहारमार्गसे ही वस्तुका निश्चय करता है इसलिए नीची दशामें स्वयंको भी व्यवहारनय कार्यकारी है परन्तु व्यवहारको उपचारमात्र मानकर यदि उसके द्वारा वस्तुका निश्चय करे तभी कार्यकारी है। और यदि निश्चयके समान व्यवहारको भी सत्यभूत मानकर "वस्तु ऐसे ही है" इस प्रकार श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जायगा। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी यही कहा है—

"अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

अर्थ—मुनिराज आज्ञानीको समझानेके लिए असत्यार्थ अर्थात् व्यवहारनयका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहार ही को जानता है उसे उपदेश देना योग्य नहीं

है। तथा जिस प्रकार वास्तविक सिंहको नहीं समझनेवालेके लिए विलाव हो सिंह है उसी प्रकार निश्चयको न जाननेवाले पुरुषके लिये व्यवहार ही निश्चय बन जाता है।'

यहाँ किसी निर्विचार पुरुषका कहना है कि यदि व्यवहारको तुम असत्यार्थ कहकर हेय बतलाते हो तो हमें व्रतशील संयमादिकका व्यवहार क्यों करना चाहिए? उसको यह उत्तर है कि कुछ व्रत शील संयमादिकका नाम व्यवहार नहीं है इनको मोक्षमार्ग माननेका नाम व्यवहार है उसे छोड़ देना चाहिये तथा ऐसा श्रद्धान करना चाहिये कि व्रतादिको बाह्य सहकारी जानकर उपचारसे मोक्षमार्ग बतलाया है। ये तो परद्रव्याश्रित हैं। सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतराग-भाव है वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहारको असत्यार्थ जानकर हेय समझना चाहिए। व्रतादिकोंके छोड़ने मात्रसे तो व्यवहार हेय नहीं ठहरता। दूसरा प्रश्न यह है कि व्रतादिको यदि छोड़ दे तो क्या काम करेगा? अगर हिंसादिरूप प्रवृत्ति करेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्गका उपचार भी सम्भव नहीं है। हिंसादि करनेसे नरकादिक पानेके सिवाय और क्या भला होगा। इसलिए ऐसा करना तो नासमझी है। हाँ अगर व्रतादिरूप परिणतिको छोड़कर केवल वीतराग उदासीन भावरूप हो सके तो अच्छा ही है। लेकिन नीची दशामें यह हो नहीं सकता। इसलिए व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना ठीक नहीं। इस प्रकार श्रद्धानमें निश्चयको और प्रवृत्तिमें व्यवहारको उपादेय मानना भी मिथ्याभाव ही है।

तथा यह जीव दोनों नयोंको अंगीकार करनेके लिए कदाचित् अपनेको मैं शुद्ध सिद्ध-समान रागादि रहित केवल ज्ञानादि सहित आत्मा हूँ ऐसा अनुभव करता है। ध्यान मुद्रा धारण-

दोनों नयोंका आपेक्षिक व्यवहार

कर ऐसा विचार करता है, लेकिन स्वयं आप ऐसा नहीं है भ्रमसे मैं ऐसा ही हूँ ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। कभी वचनों द्वारा ऐसा ही निरूपण भी करता है। किन्तु निश्चय तो यथावत् वस्तुका निरूपण करता है। प्रत्यक्षमें आप जैसा नहीं है वैसा मानना वह निश्चय कैसे कहा जा सकता है? जिस प्रकार केवल निश्चयाभासवाले जीवके पहले अयथार्थपना बतलाया था वैसे ही इसे समझना चाहिये। अथवा यह इस प्रकार भी मानता है कि इस नयसे आत्मा इस प्रकार है और इस नयसे इस प्रकार है। लेकिन आत्मा तो जैसा है वैसा ही है उसमें नय द्वारा निरूपण करनेका जो अभिप्राय है उसको वह नहीं पहचानता। जैसे आत्मा निश्चयसे तो सिद्ध समान केवल ज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मसे रहित है और व्यवहारसे संसारी मतिज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म नोकर्म एवं भावकर्मसे सहित है। इस प्रकार वह मानता है, लेकिन इस तरह एक आत्माके दो स्वरूप नहीं होते। जिस भावसे सहित है उसी भावसे रहित है यह एक वस्तुमें कैसे सम्भव हो सकता है? अतः ऐसा मानना भ्रम है। किन्तु यों मानना चाहिए, जैसे राजा और रंक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान हैं वैसे ही सिद्ध और संसारी जीवपनेकी अपेक्षा समान हैं, केवल ज्ञानादिकी अपेक्षा समानता मानना उचित नहीं है। संसारीके निश्चयसे मतिज्ञानादिक ही हैं और सिद्धोंके

केवलज्ञान हैं। इतना अन्तर है कि संसारीके मतिज्ञानादिक कर्मके निमित्तसे है इसलिये स्वभावकी अपेक्षा संसारीके केवलज्ञानकी शक्ति कहा जाय तो कोई दोष नहीं है। जैसे रंक मनुष्यके राजा होनेकी शक्ति पाई जाती है वैसे ही यह शक्ति भी समझना चाहिए। तथा द्रव्य-कर्म नोकर्म पुद्गलोंसे पैदा होते हैं इसलिए निश्चयसे संसारी इनसे भिन्न ही हैं। परंतु सिद्धोंके समान इनका कारण कार्य सम्बन्ध भी न मानना भ्रम ही है। तथा भावकर्म आत्माका भाव है, वह भाव निश्चयसे आत्मा ही का है। किन्तु कर्मके निमित्तसे होता है इसलिए व्यवहारसे कर्मका कहा जाता है। तथा सिद्धोंके समान संसारीके भी रागादिक न मानना भ्रम है। इसी प्रकारसे नयद्वारा एक ही वस्तुको एक भावकी अपेक्षा वैसा भी मानना और वैसा भी मानना मिथ्याबुद्धि ही है। विभिन्न भावोंकी अपेक्षासे नयोंका कथन है ऐसा मानकर यथा सम्भव वस्तुको मानना यह सच्चा श्रद्धान है। इसलिए मिथ्यादृष्टि अनेकांत रूप वस्तुको तो मानता है परन्तु यथार्थभावोंको पहचान-कर नहीं मानता ऐसा समझना चाहिए।

यह जीव व्रतशील संयमादिक भी स्वीकार करता है। और उन्हें व्यवहारसे मोक्षका कारण मानकर उपादेय मानता है परन्तु जिस प्रकार केवल व्यवहारावलंबी जीवके पहले अयथार्थ-पना कहा था वैसे ही इसके भी अयथार्थपना समझना चाहिए। तथा इसका यह भी कहना है कि यथायोग्य व्रतादि क्रिया करना तो योग्य है परन्तु इनमें ममत्व न करना चाहिए। लेकिन जिसका स्वयं कर्ता है उसमें ममत्व कैसे न होगा? यदि स्वयं कर्ता नहीं है तो मुझे करना योग्य है यह भाव कैसे हुआ? और यदि कर्ता हैं तो वह अपना कर्म हुआ तब कर्ता कर्म संबंध अपने आप ही आ गया। अतः ऐसी मान्यताको भ्रम समझकर यों मानना चाहिए—बाह्य व्रतादिक तो शरीरादि परद्रव्यके आश्रित है परद्रव्यका यह स्वयं कर्ता नहीं है इसलिए उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना चाहिए और न ममत्व ही। व्रतादिकमें ग्रहण त्यागरूप जो अपना शुभोपयोग होता है वह अपने आश्रित है उसका यह स्वयं कर्ता है इसलिए उसमें कर्तृत्व बुद्धि और ममत्व दोनों ही करना उचित है। किन्तु इस शुभोपयोगको बंधका ही कारण समझना चाहिए मोक्षका कारण न जानना चाहिए। चूंकि बंध और मोक्षमें विपक्षीपना है इसलिये एक ही भावको पुण्य-बंध और मोक्षका कारण मानना भ्रम है। इसलिए व्रत अव्रत दोनों विकल्पोंसे रहित जहाँपर द्रव्यके ग्रहण या त्यागसे कुछ मतलब नहीं ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग ही मोक्षका मार्ग है।

शुभ और शुद्ध उपयोगमें औपचारिक कार्य कारणता

तथा नीची दशामें किन्हीं जीवोंके शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनों साथ २ पाए जाते हैं, इसलिए उपचारसे व्रतादिक शुभोपयोगको मोक्षमार्ग वतलाया है वस्तु विचारसे तो शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है। अतः (किसी अपेक्षासे) जो मोक्षका कारण है वही मोक्षका घातक भी है ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। और शुद्धोपयोगको ही उपादेय मानकर उसका ही उपाय करना चाहिए।

शुभोपयोग और अशुभोपयोगको हेय जानकर उनके त्यागका उपाय करना चाहिए। जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ अशुभोपयोगको छोड़कर शुभमें ही प्रवृत्ति करना चाहिए, क्योंकि शुभोपयोगसे अशुभोपयोगमें अधिक अशुद्धता है। शुद्धोपयोग होनेपर तो जीव परद्रव्यका साक्षी भूत ही रहता है। वहाँ तो परद्रव्यका कुछ प्रयोजन ही नहीं है। शुभोपयोग होनेपर वाह्य व्रतादिककी प्रवृत्ति होती है और अशुभोपयोग होनेपर वाह्य अव्रतादिककी प्रवृत्ति होती है क्योंकि अशुभोपयोग और परद्रव्यकी प्रवृत्तिमें निमित्त नैमित्तिक संबंध पाया जाता है। तथा पहले अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है वादमें शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है, इस ही प्रकार क्रम परिपाटी है। किसीकी मान्यता ऐसी भी है कि शुभोयोग शुद्धोपयोगका कारण है लेकिन जैसे अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है वैसे ही शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है यदि इस प्रकार कार्यकारणपना माना जायेगा तो शुभोपयोगका कारण अशुभोपयोग हो जायगा। अथवा द्रव्यलिङ्गीके शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है किन्तु शुद्धोपयोग नहीं होता। इसलिए परमार्थतः इनमें कार्य कारणपना नहीं है। जैसे रोगीके पहले वहुत रोग थे फिर कम रोग हुआ तो वह कमरोग नीरोग होनेका कारण नहीं है किन्तु कमरोग होनेपर यदि नीरोग होनेका उपाय करता है तो नीरोग हो जाता है। किन्तु अगर कम रोगको ही अच्छा समझकर उसके रखनेका यत्न करे तो वह नीरोग कैसे होगा? उसी प्रकार कषायीके तीव्र कषायरूप अशुभोपयोग था पीछे मन्दकषायरूप शुभोपयोग हुआ तो वह शुभोपयोग कषायरहित शुद्धोपयोग होनेका कारण नहीं है इतना है कि शुभोपयोग होनेपर यदि शुद्धोपयोगका यत्न करता है तो वह हो जाता है। किन्तु अगर शुभोपयोगको ही भला जानकर उसका साधन करता रहेगा तो शुद्धोपयोग कैसे होगा? इसलिए मिथ्यादृष्टिका शुभोपयोग तो शुद्धोपयोगका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोग होनेपर निकट भविष्यमें शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होती है इस मुख्यतासे कहीं शुभोपयोगको शुद्धोपयोगका कारण भी कह दिया है, ऐसा समझना चाहिए।

यह जीव स्वयंको निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्गका साधक भी मानता है। उसमें पूर्वोक्त प्रकार आत्माको शुद्ध मानना तो उसके सम्यग्दर्शन हुआ और वैसे ही जानना सम्यग्ज्ञान हुआ तथा उसी प्रकार विचारोंमें प्रवर्तन करना यह सम्यक्चारित्र हुआ। इस तरह तो अपने निश्चय रत्नत्रय हुआ मानता है। तथा मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध हूँ अपनेको शुद्ध कैसे मानता जानता या विचारता हूँ, इत्यादि विवेकसे रहित होकर भ्रमसे संतुष्ट होता है। तथा अरहंतादि बिना अन्य देवादिकको नहीं मानता। अथवा जैनशास्त्रानुसार जीवादिकके जो भेद सीख लिए है उन्हींको मानता है औरको नहीं मानता यह तो सम्यग्दर्शन हुआ। तथा जैन शास्त्रोंके अभ्यासमें वहुत प्रवृत्ति करता है यह सम्यग्ज्ञान हुआ। तथा व्रतादिरूप क्रियाओंमें प्रवृत्ति करता है यह सम्यक्चारित्र हुआ। इस तरह अपने व्यवहाररत्नत्रय हुआ मानता है। लेकिन व्यवहार तो

निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्गके साधन का भ्रम

उपचारका नाम है। उपचार भी तब बनता है जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रयका कारणादिक हो। जैसे निश्चयरत्नत्रय सधे वैसे ही इनको साधे तो व्यवहारपना भी संभव है। लेकिन इसके तो सत्यभूतरत्नत्रयकी पहचान ही नहीं हुई है यह ऐसे कैसे साधनकर सकता है? आज्ञानुसारी होकर देखा-देखी साधन करता है। इसलिए इसके निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हुआ। आगे चलकर जो निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्गका निरूपण किया जायगा उसका साधन करने पर ही मोक्षमार्ग हो सक्ता है। इस तरह यह जीव निश्चयाभासको जानता और मानता है। परन्तु व्यवहारके साधनेको भी अच्छा मानता है इसलिए स्वच्छंद होकर अशुभरूप प्रवृत्ति नहीं करता शुभोपयोगरूप व्रतादिकोंमें प्रवृत्ति करता है इसलिए मरकर अतिमग्रैवेयक पर्यन्त जाता है। यदि निश्चयाभासकी प्रबलतासे अशुभरूप प्रवृत्ति हो जाये तो कुगतिमें भी गमन करता है। इस प्रकार परिणामोंके अनुसार फल पाता है। परन्तु संसारका ही भोक्ता रहता है। सच्चा मोक्षमार्ग पाए विना सिद्धपदको नहीं पा सकता। इस तरह निश्चयाभास और व्यवहाराभास दोनोंके अवलम्बी मिथ्या दृष्टियोंका वर्णन किया।

सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टिका निरूपण

अब सम्यक्त्वके सन्मुख जो मिथ्यादृष्टि है उसका निरूपण करते हैं—

किसीके कोई मन्द कषायादिक कारणको पाकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम होता है। उससे तत्त्वविचार करनेकी शक्ति होती है। और मोह मंद हो जानेसे तत्त्वविचारमें प्रयत्नशील होता है। तथा बाह्य निमित्त देव शास्त्र गुरू आदिकका लाभ होनेसे सत्य उपदेशका लाभ होता है। तब अपने प्रयोजन भूत मोक्षमार्ग, देव गुरू धर्मादिक, जीवादितत्त्व, अपने पर अथवा अपने हितकारी अहितकारी भावों आदिके उपदेशोंसे सावधान होकर इस प्रकार विचार करता है—"अरे मुझे तो इन वातोंकी खबर ही नहीं थी, मैं भ्रमसे भूलकर पर्याय में ही तन्मय हुआ था। किन्तु इस पर्यायकी स्थिति भी थोड़े ही कालकी है। यहाँ मुझे सब निमित्त मिले हैं अतः मुझे इन सबको ठीक २ समझना चाहिए। क्योंकि इनमें तो मेरा ही लाभ मालूम होता है। इस तरह विचारकर जो उपदेश सुना था उसके निर्द्धारणका प्रयत्न करता है। निर्द्धारण भी उद्देश, लक्षण निर्देश और परीक्षाके द्वारा होता है, इसलिए पहले तो उनके नाम सीखे फिर उनके लक्षण समझे फिर इस प्रकार संभव है या नहीं ऐसे विचारोंको लेकर परीक्षा करे। उसमें भी नाम सीख लेना और लक्षण समझ लेना यह दोनों तो उपदेशके अनुसार होते हैं। जैसा उपदेश दिया वैसा याद कर लिया। किन्तु परीक्षा करनेमें अपने विवेककी आवश्यकता है अतः विवेकसे एकान्तमें अपने मनमें सोचे कि उपदेश जैसा दिया है वैसा ही है या अन्यथा है। अनुमानादिक प्रमाणोंसे भी उसका निश्चय करे कि उपदेश तो इस प्रकार है यदि ऐसे न मान जायगा तो ऐसा हो जायगा। इनमें प्रबल युक्ति कौनसी है और निर्बलयुक्ति कौनसी है? जो प्रबलयुक्ति मालूम हो उसे सत्य समझे, और यदि उपदेशसे अन्यथा सत्य मालूम हो या सन्देह रहे या निर्द्धारण न हो सके तो फिर जो विशेष ज्ञानी हों उनसे पूछें। वे जो उत्तर दें उसको विचारे।

इस तरह जब तक निर्द्धारण न हो तबतक प्रश्न उत्तर करे। अथवा समान बुद्धि के धारकोंसे अपना जैसा विचार हुआ हो वैसा कहे। प्रश्नोत्तर पूर्वक परस्पर चर्चा करे। प्रश्नोत्तर में निरूपित पदार्थको एकान्तमें विचारे। इस प्रकार अपने अन्तरङ्गमें उपदेशके अनुसार निर्णय होकर जबतक वस्तुस्वरूप प्रतिभासित न हो तब तक इसी प्रकार प्रयत्न करे। और यदि अन्य-मतियों द्वारा कल्पित तत्त्वोंके उपदेशसे जैन उपदेश अन्यथा भासित हो, उसमें संदेह हो, तो भी पहले की ही तरह प्रयत्न करे। इस तरह प्रयत्न करनेपर जो जिनदेव का उपदेश है वही सच्चा है मुझको भी ऐसा ही भासित होता है इस प्रकार निर्णय होता है। क्योंकि जिनदेव अन्यथा वादी नहीं है।

प्रश्न—यदि जिनदेव अन्यथावादी नहीं है तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान कर लेना चाहिए फिर परीक्षा क्यों की जाय ?

उत्तर—परीक्षा विना किए ही यह तो मानना ठीक है कि जिनदेव ने ऐसा कहा है सो सत्य है। परन्तु उनका भाव स्वयंको भासित नहीं होता और भाव भासे विना निर्मल श्रद्धान नहीं होता। जिस बातकी प्रतीति किसीके वचनोंसे की जाती है उस बातकी अन्यके वचनोंसे अन्यथा प्रतीति हो सकती है। अतः शक्तिकी ? (भक्तिकी) अपेक्षा वचनोंसे की गई प्रतीति अप्रतीति के समान है। लेकिन जिसका भाव भासित हो चुका हो उसे फिर अन्यथा नहीं मान सकता। इसलिए भाव भासित होनेपर जो प्रतीति होती है वही सच्ची प्रतीति है। यदि यह कहा जायगा कि पुरुषकी प्रमाणतासे वचन प्रमाण माने जाते है तो पुरुषकी प्रामाणिकता भी स्वयं नहीं होती उसके किन्हीं वचनोंकी परीक्षा पहले कर ली जाती हैं तब पुरुषकी प्रामाणिकता होती है।

प्रश्न—उपदेश तो अनेक प्रकार है किस किसकी परीक्षा की जायगी।

उत्तर—उपदेशमें कोई उपादेय और कोई हेय तत्व निरूपित किया जाता है। इन उपा-देय और हेय तत्वोंकी तो परीक्षा कर लेना चाहिए। क्योंकि इनमें अन्यथापन होनेपर अपना अकल्याण होता है। उपादेयको हेय और हेयको उपादेय मान लेनेपर बुरा होता है।

प्रश्न—स्वयं परीक्षा न करके भी यदि जिन वचनों के आधारसे ही उपादेय को उपादेय और हेय को हेय माने तो क्या बुराई है ?

उत्तर—अर्थ का भाव मालूम हुऐ विना वचनका अभिप्राय नहीं जाना जाता। यह तो मान सकता है कि मैं जिनवचनानुसार ही मानता हूं परन्तु पदार्थ की प्रतीति न होनेपर उसमें विपरीतता हो जाती है। लोक में भी नौकरको किसी कामके लिए भेजिए यदि उस कामका वह भाव जानता है तो कार्यको सुधारकर कर लायगा अन्यथा कहीं चूक ही जायगा। इसलिए भावकी प्रतीतिके लिए हेय और उपादेय तत्त्वों की परीक्षा अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न—यदि परीक्षा अन्यथा हो जाय तो क्या करना चाहिए।

उत्तर—जिन वचन और अपनी परीक्षा इनकी समानता हो जाय तब तो परीक्षा को सत्य समझना चाहिए और जबतक यह बात न हो तबतक जैसे कोई लेखा करने वाला जब तक विधि नहीं मिलती तब तक अपनी चूक ही ढूंढ़ता है उसी प्रकार यह अपनी परीक्षा में विचार ही किया करता है। तथा जो ज्ञेय तत्व है उनकी परीक्षा हो सकती है तो करे अन्यथा यह अनुमान करना चाहिए कि जब हेय उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे तब ज्ञेय तत्व अन्यथा क्यों कहेंगे। जैसे कोई प्रयोजन रूप कार्यों में झूठ नहीं बोलता तो अप्रयोजन में झूठ क्यों बोलेगा। इसलिए ज्ञेय तत्वोंका स्वरूप परीक्षासे तथा आज्ञासे भी समझना चाहिए। उनका यथार्थ स्वरूप यदि प्रतिभासित न हो तब भी दोष नहीं है। इसलिए जैन शास्त्रोंमें जहाँ तत्वादिकका निरूपण किया है वहाँ तो हेतु युक्ति आदिसे जिस प्रकार इसके प्रतीत हो वैसे कथन किया है। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणा, पुराणादिकका कथन आज्ञानुसार किया है। इसलिए हेयोपादेय तत्वोंकी परीक्षा करना योग्य है। उस परीक्षासे जीवादिक द्रव्य और तत्वों को पहचानना चाहिए त्यागने योग्य मिथ्यात्व रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिकों का स्वरूप पहचानना चाहिए। निमित्ति नैमित्तकादिकोंको यथावत् पहचानना चाहिए। इस प्रकार जिनके जाननेसे मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति हो उसे अवश्य जानना चाहिए। अतः इनकी तो परीक्षा करना ही चाहिए। सामान्य रूपसे तो हेतु और युक्तिके द्वारा इनको जानना चाहिये तथा विशेषरूपसे प्रमाण नय निर्देश स्वामित्वादि तथा सत् संख्यादि द्वारा जानना चाहिए। अपनी बुद्धि और निमित्त मिलनेके अनुसार इनको सामान्य और विशेष रूपसे जानना चाहिए। तथा इस जाननेमें सहायक गुण-स्थान मार्गणादिक, पुराणादिक, व्रतादिक क्रियाओंको भी जानना योग्य है। यदि परीक्षा हो सके तो उनकी परीक्षा भी करना चाहिए, न हो सके तो आज्ञानुसार ही मानना चाहिए। इस तरह इस ज्ञानके लिए कभी स्वयं ही विचार करता है कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी अभ्यास करता है, कभी सुनता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है। अपने कार्य करनेका उसे बहुत हर्ष है इसलिए अन्तरङ्ग प्रीतिसे उसका समाधान करता है। इस प्रकार साधन करते हुए जबतक सच्चा तत्व श्रद्धान नहीं होता, यह इसी प्रकार है इस प्रकारके विश्वासके साथ जीवादि तत्वोंका स्वरूप स्वयं भासित नहीं होता, पर्यायमें अहंबुद्धिकी तरह केवल आत्मामें अहंबुद्धि नहीं होती, हित अहित रूप अपने भाव नहीं पहचानता, तबतक वह सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। थोड़े ही समयमें वह सम्यक्त्वको प्राप्त होगा। इस ही भव या अन्यपर्यायमें सम्यक्त्वको पावेगा। इस भवमें अभ्यास करके परलोकमें यदि तिर्यञ्चादि गतिमें भी जाये तो वहाँ संस्कारके बलसे देवगुरू और शास्त्रका निमित्त न मिलनेपर भी सम्यक्त्व हो जाता है। क्योंकि ऐसे अभ्यासके बलसे मिथ्यात्व कर्मका अनुभाग हीन हो जाता है। और जहाँ उसका उदय नहीं वहीं सम्यक्त्व हो जाता है। मूल कारण यही है। देवादिक तो बाह्य निमित्त हैं। इस तरह

मुख्यतासे तो इनहीके निमित्तसे सम्यक्त्व होता है। किन्तु तारतम्यसे वर्तमानमें इनका निमित्त न भी हो तो भी पूर्व अभ्यास और संस्कारसे सम्यक्त्व हो सकता है। सिद्धान्तमें ऐसा सूत्र कहा है:—

"तन्निसर्गादधिगमाद्वा" [त० सू० १।२]

यह सम्यग्दर्शन निसर्ग तथा अधिगमसे होता है। देव शास्त्र और वाह्य निमित्तके विना जो होता है वह निसर्गसे हुआ कहलाता है। और जो देवादिकके निमित्तसे होता है वह अधिगमसे हुआ कहलाता है। तत्वविचारकी महिमा देखो कि तत्वविचाररहित जीव देवादिककी प्रतीति करे, वहुत शास्त्रोंका अभ्यास करे, व्रतादिक तपश्चरणादि करे उसके तो सम्यक्त्व होनेका अधिकार नहीं और तत्वविचारवाला इनके बिना ही सम्यक्त्वका अधिकारी हो जाता है। तथा कोई जींव तत्वविचारके पहले ही किसी कारणसे देवादिककी प्रतीति करता है व्रत तप अङ्गीकार करता है और वादमें तत्वविचार करता है। परन्तु सम्यक्त्वका अधिकारी तत्वविचारके होनेपर ही होता है। तथा किसीके तत्वविचार होनेपर भी तत्वप्रतीति न होनेसे सम्यक्त्व तो नहीं होता किन्तु व्यवहारधर्मकी रुचि प्रतीति होनेसे देवादिककी प्रतीति हो जाती है अथवा व्रत तप अङ्गीकार करता है किसीके देवादिककी प्रतीति और सम्यक्त्व साथ साथ होते हैं। और व्रत तप सम्यक्त्व के साथ भी होते हैं या नहीं भी होते है। किन्तु देवादिककी प्रतीतिका तो नियम है इसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता। व्रतादिकका नियम नहीं है। बहुतसे जीव तो पहले सम्यक्त्व होनेके बाद फिर व्रतादि धारण करते हैं किसीके साथ २ भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह तत्वविचारवाला जीव सम्यक्त्वका अधिकारी है। लेकिन इसके सम्यक्त्व होता ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि शास्त्रमें सम्यक्त्व होनेसे पहले निम्नलिखित पंचलब्धियोंका होना बतलाया है क्षयोपशम,

पांच लब्धियोंका स्वरूप

विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, और करण.। जिसके होनेपर तत्वविचार हो सके ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षयोपशम होता है। उदयकालको प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकोंके निषेकोंका उदयाभावी क्षय और अनागत कालमें उदय आने योग्य उन्हीं कर्मोका सत्तामें रहना रूप उपशम और देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय ऐसी कर्मकी अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं और उसकी प्राप्तिका नाम क्षयोपशमलब्धि है। मोहके मन्द उदय होने से मन्द कषाय रूप जो भाव हों जिनके होनेपर तत्वविचार होसके यह विशुद्धि लब्धि है। जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट तत्वका धारण करना विचार करना यह देशनालब्धि है। जहाँ नर-कादिमें उपदेशका निमित्त नहीं होता वहाँ पूर्व संस्कारसे होता है। कर्मोकी पूर्वसत्ता घटकर अन्तः-कोटाकोटी सागर प्रमाण रह जाय और नवीन बंध अन्तःकोटाकोटी प्रमाणके संख्यातवें भाग हो, वह भी उस लब्धिकालसे लगाकर क्रमसे घटता हुआ हो कितनी ही पाप प्रकृतियोंका बंध क्रमसे मिटता जाय इत्यादि योग्य अवस्थाका होना प्रायोग्यलब्धि है। यह चारों लब्धि भव्य और अभव्य दोनोंके होती है। इन चारों लब्धियोंके होनेपर सम्यक्त्व होता है तो होता है नहीं तो

नहीं भी होता। इस प्रकार लब्धिसारमें[1] बतलाया है। इसलिए तत्वविचारवालेके सम्यक्त्व होनेका नियम नहीं है। जैसे किसीको हितकी शिक्षा दी गई। उसको वह समझकर विचार करता है कि 'यह शिक्षा दी है सो किस प्रकार है' बादमें विचारते हुए उसको "ऐसे ही है" यह प्रतीति हो जाती है अथवा अन्यथा विचार हो जाता है तथा अन्य विचारमें लगकर उस शिक्षाका निर्धारण न करे तो प्रतीति भी नहीं होती। उसी प्रकार श्री गुरूने तत्वोपदेश दिया। उसको समझकर विचार करता है कि यह उपदेश दिया है सो किस प्रकार है? फिर बादमें विचार करनेसे उसको "ऐसे ही है" ऐसी प्रतीति हो जाती है। अथवा अन्यथा विचार होता है तथा अन्य विचारमें लगकर उस उपदेशका निर्धारण नहीं होता तो प्रतीति नहीं होती ऐसा नियम है। इसका प्रयत्न तो तत्वविचार करना मात्र ही है।

तथा पांचवी करण लब्धि होनेपर सम्यक्त्व होता ही है ऐसा नियम है। अतः जो पहले चार लब्धि कही थीं वे तो होती ही हैं और अन्तर्मुहूर्तमें जिसके सम्यक्त्व होनेवाला हो उस ही जीवके करणलब्धि होती है। इस करणलब्धिवालेके बुद्धिपूर्वक इतना ही प्रयत्न होता है कि जिस तत्व विचारमें उपयोगको तद्रूप होकर रमाता है उससे समय २ पर परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे किसीको उपदेशका विचार ऐसा निर्मल होने लगा जिससे शीघ्र ही उसको प्रतीति उसपर हो जायगी। उसी प्रकार तत्वोपदेश ऐसा निर्मल होने लगा जिससे इसके शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जायगी। तथा कारणलब्धिमें होनेवाले परिणामोंका तारतम्य केवल ज्ञान ही जानता है करणानुयोगमें उसका निरूपण किया है।

इस करणलब्धिके तीन भेद हैं अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इसका विशेष व्याख्यान तो लब्धिसारसे जानना चाहिये यहाँ तो संक्षेपसे बतलाते हैं।

त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण करणलब्धिवाले जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा यह तीन नाम हैं। यहाँ करण नाम परिणामका है। जहाँ पहले और पिछले समयोंके परिणाम समान हो वह अधः-करण है। जैसे किसी जीवके परिणाम उस करणके पहले समयमें अल्पविशुद्धताको लेकर हुए, बादमें समय २ अनंत गुणी विशुद्धतासे बढ़ते गए। तथा उसके जैसे द्वितीय तृतीयादि समयमें परिणाम हों वैसे परिणाम किन्हीं अन्य जीवोंके प्रथम समयमें हो। और उससे समय २ अनंतगुणी विशुद्धता बढ़ते हुए हों। इस प्रकार अधःप्रवृत्त करण समझना चाहिए।

तथा जिससे पहले और पिछले समयोंके परिणाम समान न हो अपूर्व ही हों। अधः-करणकी तरह जैसे पहले समयमें हो वैसे द्वितीयादि किसी भी समयमें न हो, बढ़ते ही हो। इस करणमें जिन जीवोंके पहला समय ही हो उन अनेक जीवोंके परिणाम परस्पर समान भी होते हैं और अधिक हीन विशुद्धताको लिए हुए भी होते हैं। परन्तु यहाँ इतना विशेष है

१—गा० ३

कि प्रथम समयवर्ती जीवके उत्कृष्ट परिणामोंसे भी द्वितीयादि समयवाले जीवोंके जघन्य परिणाम भी अनंतगुणी विशुद्धताको लिए हुए होते हैं। इसी प्रकार जिनको करण माड़े हुए द्वितीयादि समय हुआ हो उनके उस समयवालोंके तो परिणाम परस्पर समान और असमान होते हैं। परन्तु ऊपरके समयवालोंके परिणाम उनके समान सर्वथा नहीं होते। अपूर्व ही होते हैं। यह अपूर्व करण समझना चाहिए।

जिसमें समान समयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही हों निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेदसे रहित हो। जैसे इस करणके पहले समयमें सब जीवोंके परिणाम परस्पर समान ही होते हैं ऐसे ही द्वितीयादि समयोंमें परस्पर समानता समझना चाहिए। किन्तु प्रथमादिवालोंसे द्वितीयादि समयवालोंके परिणाम अनंतगुणी विशुद्धता लेकर होते हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण समझना चाहिए इस तरह यह तीन करण हुए।

इन तीन करणोंमें पहले अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त अधःकरण होता है उसमें चार आवश्यक होते हैं। (१) समय २ अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। (२) एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त नवीन बन्धकी स्थिति घटती जाती है। यह स्थितिबन्धापसरण है। (३) प्रति समय प्रशस्त प्रकृतियोंका अनन्तगुणा अनुभाग बढ़ता है। (४) प्रतिसमय अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध अनन्तवें भाग होता है। इस तरह चार आवश्यक होते हैं। उसके बाद अपूर्वकरण होता है। उसका काल अधःकरण कालके संख्यातवेंभाग है उसमें यह आवश्यक और होते हैं। सत्तामें स्थित कर्मकी स्थितिको एक अन्तर्मुहूर्तके द्वारा घटाता है उसे स्थितिकांडकघात कहते हैं। उससे छोटे एक अन्तर्मुहूर्तके द्वारा पूर्वकर्मका अनुभाग घटता है यह अनुभागकांडकघात है, गुणश्रेणीके कालमें क्रमसे असंख्यातगुणे २ कर्मोंको निर्जरा योग्य करना यह गुणश्रेणी निर्जरा है। गुण संक्रमण यहाँ होता नहीं है। अन्यत्र जहाँ अपूर्वकरण होता है वहाँ होता है इस तरह अपूर्वकरण होनेके बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरणके संख्यातवें भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही समय जानेके बाद अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरणके कालके बाद उदय आने योग्य मिथ्यात्व कर्मके मुहूर्तमात्र निषेकोंका अभाव करता है। अर्थात् उन परमाणुओंको अन्य स्थितिरूप परिणमाता है। यह अन्तरकरण कहलाता है। अन्तरकरणके बाद उपशमकरण करता है। अर्थात् अन्तरकरणके द्वारा जिन निषेकोंका अभाव किया गया था उनके ऊपर जो मिथ्यात्वके निषेक हैं उनको उदय न आने योग्य करता है। इत्यादि क्रियासे अनिवृत्तिकरणके अन्त समयके अनन्तर जिन निषेकोंका अभाव किया था जब उनका उदयकाल आया तो निषेकोंके न होनेसे मिथ्यात्वका उदय नहीं हुआ अतः प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्वमोहनीय मिश्रमोहनीयकी सत्ता नहीं है इसलिए वह एक मिथ्यात्वकर्म कोही उपशमाकर उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तथा कोई जीव सम्यक्त्व पाकर पीछे भ्रष्ट होता है उसकी भी दशा अनादि मिथ्यादृष्टिकीसी हो जाती है।

प्रश्न–परीक्षा करके जो तत्वश्रद्धान किया था उसका अभाव कैसे हो जाता है ?

उत्तर–जैसे किसीने किसी पुरुषको शिक्षा दी, उसकी परीक्षाकर "ऐसे ही है" उसको ऐसा विश्वास भी हुआ था फिर किसी प्रकारसे उसका विचार बदल गया। अतः उस शिक्षामें उसे सन्देह हो गया कि "इस तरह है" या "इस तरह है।" अथवा "न जाने किस तरह है।" अथवा उस शिक्षाको झूठ समझकर उसके विरुद्ध हो गया तव उसको यह विश्वास न रहा। अथवा पहले तो अन्यथा विश्वास था ही बीचमें शिक्षाके प्रभावसे यथार्थ प्रतीत हुई थी। अब उस शिक्षापर विचार किए हुए बहुत काल हो गया। तब उसको जिस प्रकार पहले अन्यथा प्रतीति थी वैसे ही स्वयमेव हो गई, तब उस शिक्षाकी प्रतीतिका अभाव हुआ। अथवा पहले तो यथार्थ प्रतीति की पीछे न तो कुछ अन्यथा विचार किया, न बहुत काल हुआ परन्तु वैसे ही कर्मोदयसे होनहारके अनुसार स्वयं ही उस प्रतीतिका अभाव होकर अन्यथापन हो गया। इस तरह अनेक प्रकारसे उस शिक्षाकी यथार्थ प्रतीतिका अभाव होता है। उसी प्रकार जिनदेवका तत्वादिरूप उपदेश हुआ उसकी परीक्षासे उसके ऐसा ही है।" ऐसा श्रद्धान हुआ। बादमें पहले कहे अनुसार अनेक प्रकारसे उस पदार्थ श्रद्धानका अभाव होता है। यह कथन स्थूलतासे दिखाया है। तारतम्यसे केवलज्ञानमें प्रतिभासित होता है कि इस समय श्रद्धान है और इस समय नहीं है। क्योंकि यहाँ मूल कारण मिथ्यात्वकर्म है। उसका उदय होनेपर अन्य विचारादिक कारण मिलें या न मिलें सम्यक्श्रद्धानका अभाव स्वयं ही होता है और यदि उसका उदय न हो तो अन्य कारण मिले या न मिले सम्यक्श्रद्धान स्वयं ही हो जाता है। लेकिन इस अन्तरंग सूक्ष्मदशाका ज्ञान छद्मस्थको नहीं होता। इसलिए अपनी मिथ्या या सम्यक्रूप अवस्थाके तारतम्यका निश्चय उसे नहीं होता। वह तो केवलज्ञानमें ही झलकता है। इसी अपेक्षा गुणस्थानोंका पलटना शास्त्रोंमें बताया है इस प्रकार सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होनेवालेको सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके भी पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर पूर्वोक्त पांच लब्धियाँ होती हैं। इतना विशेष है कि किसी जीवके दर्शन-मोहकी तीन प्रकृतियोंकी सत्ता होती है उनका उपशमन कर प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होता है अथवा किसीके सम्यक्त्व मोहनीयका उदय होता है दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता तो वह क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है। इसके गुणश्रेणि आदि क्रिया तथा अनिवृत्तिकरण नहीं होते। यदि किसीके मिश्रमोहनीयका उदय होता है शेष दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता तो वह मिश्रगुणस्थानको प्राप्त होता है। इसके तीन करण नहीं होते। इस तरह मिथ्यात्व छूटनेपर सादि-मिथ्यादृष्टिकी दशा होती हैं। क्षायिक सम्यक्त्वको वेदकसम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करता है। इसलिए इसका कथन यहाँ नहीं किया है। इस प्रकार सादि मिथ्यादृष्टिका जघन्य काल तो मध्य अन्तर्मुहूर्तमात्र है और उत्कृष्ट काल ढाई पुद्गलपरावर्तन मात्र है। परिणामोंकी विचित्रता देखो कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्र प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् उन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन कालतक संसारमें घूमता हैं। और कोई नित्यनिगोदसे निकलकर मनुष्य होकर मिथ्यात्वसे छूटनेके

बाद अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञानको प्राप्त करते है। इस तरह समझकर अपने परिणामों के बिग-ड़नेका भय रखना चाहिए और उनके सुधार का उपाय करना चाहिए।

इस सादि मिथ्यादृष्टिके थोड़े समय तक मिथ्यात्व का उदय रहता है तो इसका बाह्य जैनीपना नष्ट नहीं होता तथा तत्त्वोंका अश्रद्धान भी व्यक्त नहीं होता। और बिना विचार किए ही या थोड़े ही विचारसे सम्यक्त्व की पुनः प्राप्ति हो जाती है। यदि बहुतकाल तक मिथ्यात्व का उदय रहता है तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टिकी दशा होती है वैसी इसकी दशा होती है। गृहीतमिथ्यात्वको भी ग्रहण करता है। निगोदादिकमें भी सड़ता है। उसकी कुछ मर्यादा नहीं रहती है।

कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर सासादन होता है वहाँ वह जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे छः आवली प्रमाण कालतक रहता है। इसके परिणामोंकी दशा वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती। अल्पकालमें इस प्रकारके परिणाम होते हैं जो केवलज्ञानगम्य है। सासादनमें अनंतानुबंधीका तो उदय होता है किन्तु मिथ्यात्वका उदय नहीं होता अतः आगम प्रमाणसे इसका स्वरूप समझना चाहिए।

कोई जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिश्रगुणस्थानको प्राप्त होता है वहाँ मिश्र मोहनीयका उदय होता है। इसका काल मध्य अन्तर्मुहूर्तमात्र है। इसका भी समय थोड़ा है। अतः इसके परिणाम भी केवलज्ञानगम्य है। यहाँ इतना ही मालूम होता है कि जैसे किसीको दी हुई शिक्षा एक ही समय सत्य-असत्यरूप मालूम होती है वैसे ही एकही समय में तत्वोंका श्रद्धान और अश्रद्धान भी होता है यह मिश्र दशा है। हमको तो जिनेन्द्र तथा अन्य देव दोनों ही वंदना योग्य है इत्यादि मिश्र श्रद्धानको मिश्रगुणस्थान कहते हैं। लेकिन यह तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्व दशा है। व्यवहाररूप देवादिकका श्रद्धान होनेपर भी मिथ्यात्व रहता है तो इसके तो देव कुदेवका कुछ निश्चय नहीं है। इसके तो यह प्रकट रूपमें विनय मिथ्यात्व है। इस तरह सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्या दृष्टियोंका कथन किया तथा जैनमत वाले मिथ्या दृष्टियोंका वर्णन किया। यहाँ अनेक प्रकारके मिथ्यादृष्टियोंका जो वर्णन किया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि इन प्रकारोंको पहचानकर यदि अपनेमें कोई ऐसा दोष हो तो उसको दूरकर सम्यक् श्रद्धानी होना चाहिए। औरोंके ऐसे दोष देखकर कषायी न होना चाहिए क्योंकि अपना भला बुरा तो अपने परिणामोंसे होता है, यदि औरोंकी रुचि देखे तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करे अतः अपने परिणाम सुधारनेका उपाय करना चाहिए। इस तरह सब प्रकारके मिथ्यात्व भावको छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है। क्यों कि संसारका मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके समान अन्य पाप नहीं है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनंतानुबंधीका अभाव होनेपर इकतालीस प्रकृ-

तियोंका तो वंध ही मिट जाता है। स्थिती अन्तः कोटाकोटी सागरकी रह जाती है। अनुभाग थोड़ा ही रह जाता है। वह शीघ्र ही मोक्षपदको पाता है। लेकिन मिथ्यात्वका सद्भाव रहनेपर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता इसलिए जैसे वने वैसे सर्वप्रकार मिथ्यात्वका नाश करना योग्य है।

इसप्रकार मोक्षमार्ग प्रकाश नामक शास्त्रमें जैनी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण करने वाला सातवां अधिकार समाप्त हुआ·

अध्याय ८

उपदेशका स्वरूप

मिथ्यादृष्टि जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर गण धरादिक भी ऐसा ही उपकार करते हैं, इसलिए इस शास्त्रमें भी उन्हींके उपदेशके अनुसार उपदेश दिया जायगा अतः उपदेशका स्वरूप जाननेके लिए यहां उसका कुछ व्याख्यान करते हैं। क्योंकि उपदेशको यथावत् न जानकर अन्यथा माननेसे विपरीत प्रवृत्ति होती है अतः अब उपदेशका स्वरूप कहा जाता है—

चारों अनुयोग और उनका प्रयोजन

जैनमतमें चार अनुयोगोंका उपदेश दियागया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये चार अनुयोग है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महान पुरुषोंके चरित्र जिसमें निरूपण किए जांय वह प्रथमानुयोग है। गुणस्थान मार्गणादिकरूप जीवका, कर्मोंका तथा त्रिलोकादिकका जिसमें निरूपण किया जाय वह करणानुयोग है। गृहस्थ, मुनिके धर्माचरणका जिसमें निरूपण किया जाय वह चरणानुयोग है। द्रव्य, सात तत्व व स्वपर भेद विज्ञानादिकका जिसमें निरूपण हो वह द्रव्यानुयोग है। अब इनका प्रयोजन बतलाते हैं—

प्रथमानुयोग का प्रयोजन

प्रथयानुयोगमें तो संसारकी विचित्रता, पुण्य पापका फल, महान पुरुषोंकी प्रवृत्ति आदिके निरूपणसे जीवोंको धर्ममें लगाया जाता है। तुच्छ बुद्धिवाले जीव भी इससे धर्मके सन्मुख होते हैं, क्योंकि वे जीव सूक्ष्म वातोंको नहीं पहचानते। लौकिक वातोंको जानते हैं उसीमें उनका मन लगता है। प्रथयानुयोगमें लौकिक प्रवृत्तिका निरूपण होता है। उसको वे अच्छी तरह समझ सकते हैं। लोकमें तो राजादिककी कथाओंमें पापका व पुण्यका पोषण होता है। उन महान पुरुष राजादिककी कथाओंको लोग सुनते हैं। परन्तु प्रयोजन सब जगह पापको छोड़कर धर्ममें लगानेका है, इसलिए वे जीव कथाओंके लालचसे तो उनको वांचते हैं, सुनते हैं, वादमें पापको बुरा और धर्मको अच्छा समझकर धर्ममें रुचि करने लगते हैं। इसलिए तुच्छ दृष्टियोंके समझानेके लिए यह अनुयोग है 'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्या दृष्टियोंके लिए' जो अनुयोग है वह प्रथमानुयोग है,[1] ऐसा

१—प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः। जी० प्र० टी० गा० ३६१-३६२

अर्थ गोम्मटसारकी टीकामें किया है। तथा जिन जीवोंको तत्वज्ञान हो चुका है पीछे वे इस प्रथमानुयोगको पढ़ते सुनते हैं तो यह उनको उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे जीव अनादि-निधन है शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं इस बातको वह जानता था, फिर पुराणोंमें जीवोंके पढ़े तो वे उस ज्ञानके उदाहरण हुए। तथा शुभ अशुभ शुद्धोपयोग एवं उसके फलको जानता था फिर पुराणोंमें उन उपयोगोंकी प्रवृत्ति और उनका फल जीवोंके देखा यही उस जाननेका उदाहरण हुआ। इसी प्रकार अन्य भी समझना चाहिए। यहाँ उदाहरणका मतलब यह है कि वह जिस प्रकार जानता था उसी प्रकार किसी जीवकी अवस्था हुई यही उस जाननेकी साक्षि हुई। तथा जिस प्रकार कोई सुभट सुभटोंकी प्रशंसा और कायरोंकी निन्दा करनेवाले पुण्य पुरुषकी कथा सुननेसे सुभटपनेमें अति उत्साहवान होते हैं। वैसे ही धर्मात्मा धर्मात्माओंकी प्रशंसा और पापियोंकी निन्दा करनेवाले पुण्य पुरुषोंकी कथा सुनकर उत्साहित होते हैं। इस तरह प्रथमानुयोगका प्रयोजन समझना चाहिए।

करणानुयोगमें जीवोंकी व कर्मोंकी विशेषता तथा त्रिलोकादिककी रचनाका निरूपणकर जीवोंको धर्ममें लगाया गया है। जो जीव धर्ममें उपयोग लगाना चाहते हैं वे जीवोंके गुणस्थान मार्गणा आदि विशेषोंको कर्मोंके कारण किस २ की कैसी अवस्था हुई है आदि विशेषोंको और त्रिलोकमें नरक स्वर्गादिके ठिकानोंको पहचान कर पापसे विमुख हो धर्ममें लगते हैं तथा ऐसे विचारोंमें मनके रम जानेपर पापप्रवृत्ति छूट जाती है और स्वयमेव तत्काल धर्म पैदा होता है उससे तत्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जैनमतमें ही है अन्यत्र नहीं है, ऐसी महिमा जानकर जैनमतका श्रद्धानी होता है। तथा जो जीव तत्वज्ञानी होकर इस करणानुयोगका अभ्यास करते हैं उनको यह उसका विशेषण रूप प्रतीत होता है। जो जीवादिक तत्त्व स्वयं जानता है उन्हींका विशेष निरूपण करणानुयोगमें किया है। उसमें कितने ही विशेषण तो यथावत् निश्चय रूप हैं। कितने ही उपचारको लिए हुए व्यवहाररूप हैं। कितने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावादिक रूप हैं। कितने ही निमित्त आश्रयादि अपेक्षाको लेकर हैं, इत्यादि अनेक प्रकारके विशेषण कहे हैं उनको जैसा का तैसा मानता हुआ उस करणानुयोगका अभ्यास करता है। अभ्याससे तत्वज्ञान निर्मल होता है। जैसे कोई यह तो जानता था कि यह रत्न है, परन्तु उस रत्नके विशेष अधिक जाननेसे निर्मल रत्नका पारखी होता है। वैसे ही तत्त्वोंको जानता तो था कि यह जीवा-दिक है परन्तु उन तत्त्वोंके बहुतसे विशेषोंको समझनेसे तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। तत्त्वज्ञान निर्मल होनेपर स्वयं ही विशेष धर्मात्मा हो जाता है। यदि अन्य जगह उपयोगको लगाया जाय तो रागादिककी वृद्धि होगी, और छद्मस्थका निरन्तर एकाग्र उपयोग नहीं रहता। इसलिए ज्ञानी इस करणानुयोगके अभ्यासमें उपयोगको लगाता है। उससे इसके केवलज्ञानके द्वारा जाने गए पदार्थोंका ज्ञान होता है। भेद केवल प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षका ही है ज्ञानमें कोई विरोध नहीं है।

करणानुयोग का प्रयोजन

इस तरह यह करणानुयोगका प्रयोजन समझना चाहिए। 'करण' का मतलब है गणितका सूत्र, उसका जिसमें अनुयोग अर्थात् अधिकार हो वह करणानुयोग है। इसमें गणितके वर्णनकी मुख्यता है ऐसा समझना चाहिए।

चरणानुयोग का प्रयोजन

चरणानुयोगमें धर्मके नाना साधनों को बतलाकर जीवों को धर्ममें लगाया गया है। जो जीव हिताहित को नहीं समझते हिंसादि कार्योंमें तत्पर रहते हैं उनको जिस प्रकार वे पाप कार्योंको छोड़ कर धर्म कार्योंमें लगें उस प्रकार उपदेश दिया है। उस जैन-धर्म का आचरण करने के सन्मुख हुआ जीव गृहस्थ धर्म का विधान सुनकर अपनेसे जैसा धर्म सधै वैसे धर्मके साधनमें लगते हैं इससे कषाय मंद होती है, उसके फलसे इतना तो होता है कि कुगतिका दुःख नहीं उठाता और सुगति का सुख पाता है तथा इससे जैनधर्म का निमित्त मिलता रहता है। अगर तत्वज्ञान की प्राप्ति होनी होती है तो हो जाती है। जो जीव तत्वके ज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं उनको यह सब आचरण अपने वीतराग भावके अनुसार ही भासित होते हैं कि एकदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा और सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी मुनिदशा होती है, क्यों कि इनके निमित्त नैमित्तिकपना पाया जाता है, ऐसा जानकर तथा श्रावक व मुनि धर्मको विशेषरूपसे पहचान कर अपने वीतराग भावोंके अनुसार अपने योग्य धर्म का साधन करता है। वहां जितना अंश वीतरागता का हो उतना कार्यकारी समझता है और जितने अंशोंमें राग रहता है उसे हेय जानता है। सम्पूर्ण वीतरागताको ही परम धर्म मानता है यह चरणानुयोग का प्रयोजन है।

द्रव्यानुयोग का प्रयोजन

द्रव्यानुयोगमें द्रव्यों का तथा तत्वोंका निरूपणकर जीवों को धर्ममें लगाया गया है। जो जीवादि द्रव्यों को नहीं पहचानते, अपने परको भिन्न नहीं जानते उनको हेतु दृष्टांत युक्तिसे तथा प्रमाणनयादिसे उनका स्वरूप इस प्रकार दर्शायागया है जिससे इसको उनकी प्रतीति हो जाती है अर्थात् उनके भावाभ्याससे अनादि कालकी अज्ञानता दूर हो जाती है। अन्यमतोंके कल्पित तत्व झूंठ लगने लगते हैं तब इसको जैन धर्मकी प्रतीति होती है। तथा जिनके तत्वज्ञान होगया है वे जीव यदि द्रव्यानुयोगका अभ्यास करें तो उनको अपने श्रद्धानके अनुसार वह सब कथन भासित होता है। जैसे किसीने किसी विद्याको सीख लिया परन्तु यदि उसका अभ्यास करता रहे तो याद रहती है नही तो भूल जाता है। वैसे ही इसको तत्वज्ञान हुआ परन्तु यदि द्रव्यानु-योगका अभ्यास करता रहता है तो वह तत्वज्ञान बनारहता है नही तो भूल जाता है। अथवा संक्षेपरूपसे तत्वज्ञान हुआथा वह यदि नाना युक्ति हेतु दृष्टांतादिकसे स्पष्ट हो जाय तो उसमें शिथिलता नहीं होसकती। तथा इस अभ्यासके द्वारा रागादिकके घटनेसे शीघ्र मोक्ष मिलता है। इस तरह द्रव्यानुयोगका प्रयोजन समझना चाहिए।

अब इन अनुयोगोंमें व्याख्यान किस प्रकार है यह बतलाते है। प्रथमानुयोगमें जो मूल कथाएँ है वे तो ज्यों की त्यों हैं। और उनमें प्रसङ्गानुसार जो व्याख्यान होता है वह कोई तो जैसेका तैसा होता है, कोई ग्रन्थकर्ताके विचारके अनुसार होता है परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता। उदाहरणके लिए—जैसे तीर्थङ्कर देवोंके कल्याणकोंमें इन्द्र आया यह कथा तो सत्य है परन्तु वहाँ आकर इन्द्रने जो स्तुति की और उसका जो वर्णन किया गया है उसमें अन्तर हो सकता है लेकिन स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा नहीं है। इसी प्रकार जहाँ किसीसे परस्पर वचनालाप हुआ है, वहाँ उनके शब्द तो और प्रकार निकले थे और ग्रन्थकारने उन्हें और तरह लिखा फिर भी दोनों प्रयोजन एक ही बतलाते हैं। तथा नगर, वन, संग्रामादिकके नामादि तो ठीक २ ही लिखते हैं और वर्णन कमती बढ़ती करके भी प्रयोजनका पोषण ही करते हैं। प्रसङ्गानुसार कथा भी ग्रन्थ-कर्ता अपने विचारानुसार कहता है, जैसे धर्मपरीक्षामें मूर्खोंकी कथा लिखी है, यही कथा मनोवेगने कही थी यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु मूर्खपनेका ही पोषण करती हुई कोई बात कही थी यह माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए।

प्रथमानुयोगके व्याख्यानका प्रकार

प्रश्न—अयथार्थ कथन तो जैनशास्त्रोंमें सम्भव नहीं है।

उत्तर—अयथार्थ उसका नाम है जिसमें कुछका कुछ प्रयोजन बतलाया जाय। जैसे किसीको कहा कि तू ऐसे कहना। उसने वे ही अक्षर तो नहीं कहे परन्तु उसी अभिप्रायको लेकर कहे तो वह मिथ्यवादी नहीं कहा जाता। वस्तुतः बात यह है कि यदि सारा कथन ज्योंका त्यों लिखा जाय तो जिसने बहुत प्रकारसे वैराग्यका चिंतवन किया था उसका सारा वर्णन करनेसे ग्रन्थ बढ़जानेका भय रहता है। और यदि कुछ नहीं लिखा जाय तो भाव प्रकट नहीं होते, इसलिए जब वैराग्यकी जगह थोड़ा बहुत अपने विचारके अनुसार वैराग्यपोषक कथन किया जाय, सराग-पोषक न किया जाय तो इससे प्रयोजन अन्यथा नहीं होता। अतः इसको अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए।

प्रथमानुयोगमें जिसकी मुख्यता होती है उसीका पोषण करते हैं। जैसे किसीने उपवास किया उसका तो फल थोड़ा था किन्तु इसके अन्य धर्मपरिणतिकी विशेषतासे उच्च पदकी प्राप्ति हुई अतः उसे उपवासका ही फल बतलाते हैं। तथा जैसे किसीने शीलकी ही प्रतिज्ञा दृढ़ रखी तथा नमस्कार मन्त्र स्मरण किया या अन्य धर्म साधन किया उसके कष्ट दूर होनेपर अतिशय प्रकट हुए। यह उन्हींका वैसा फल नहीं हुआ किन्तु अन्य कोई कर्मोदयसे वैसे वैसे कार्य हुए हैं तो भी उनको उन शीलादिकका ही फल बतलाते हैं। इसी प्रकार किसीने पापकर्म किया उसको उसीका वैसा फल नहीं हुआ किन्तु अन्य कर्मोदयने नीच गतिको प्राप्त हुआ तथा कष्टादिक हुए उसको उसी पापका फल बतलाते हैं।

प्रश्न—ऐसा झूठा फल दिखाना तो योग्य नहीं। ऐसे कथनको प्रमाण कैसे माना जाय?

उत्तर—जो अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाए बिना धर्ममें नहीं लगते तथा पापसे नहीं डरते उनका भला करनेके लिए ऐसा वर्णन किया जाता है। झूठ तो उसको तब कहे जब धर्मके फलको पापका फल बतलाया जाय। किन्तु यह बात है नहीं। जैसे दस पुरुषोंने मिलकर कोई कार्य किया उसे यदि उपचारसे एक पुरुषका किया हुआ कहा जाय तो कोई दोष नहीं है। अथवा जिसके पितादिकने कोई काम किया हो उसको किसी अपेक्षासे उपचारसे पुत्रादिकका किया हुआ कहा जाय तो कोई दोष नहीं है। वैसे ही बहुत शुभ अशुभ कार्योंके फलको उपचारसे एक शुभ अशुभ कार्यका फल कहा जाय तो दोष नहीं है। अथवा शुभ अशुभ कार्यके फलको किसी अपेक्षासे उपचारकर किसी और ही शुभ अशुभ कार्यका फल कहा जाय तो कोई दोष नहीं है। उपदेशमें कहीं व्यवहारका वर्णन है कहीं निश्चयका वर्णन है। यहाँ उपचाररूप व्यवहारका वर्णन किया है। इस तरह इसको प्रमाण मानना चाहिए। इसको तारतम्य नहीं मान लेना चाहिए। तारतम्यका निरूपण तो करणानुयोगमें किया गया है।

प्रथमानुयोगमें उपचाररूप किसी धर्मका अङ्ग होनेपर उसे सम्पूर्ण धर्म कहा जाता है। जैसे जीवोंके शंका कांक्षा न होनेपर सम्यक्त्व हुआ कहा जाता है। किन्तु किसी एक कार्यमें शंका कांक्षा न होनेसे ही तो सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होनेपर ही होता है। परन्तु निश्चय सम्यक्त्वका तो व्यवहारमें उपचार किया और व्यवहार सम्यक्त्वके किसी एक अंगमें सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्वका उपचार किया। इस तरह उपचारसे सम्यक्त्व हुआ कहा जाता है। तथा किसी जैनशास्त्रका एक अङ्ग जाननेपर सम्यग्ज्ञान हुआ कहा जाता है लेकिन सम्यग्ज्ञान तो संशयादि रहित तत्त्वज्ञान होनेपर होता है। परन्तु पहलेकी तरह उपचारसे ही ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार कोई अच्छा आचरण होनेपर सम्यक् चारित्र हुआ कहा जाता है। जिसने जैनधर्म स्वीकार किया हो या कोई छोटी मोटी प्रतिज्ञा ली हो तो उसे श्रावक कह दिया जाता है। लेकिन श्रावक तो पंचम गुणस्थानवर्ती होता है। परन्तु पहलेकी तरह उपचारसे इसको भी श्रावक कह दिया गया है। उत्तर-पुराणमें श्रेणिकको श्रावकोत्तम कहा है पर वह तो असंयत था। लेकिन जैनी होनेके कारण ऐसा कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। तथा जो सम्यक्त्व रहित जिन लिंग धारण करे अथवा द्रव्यरूपसे भी अतीचार लगाता हो तो उसको मुनि कह दिया जाता है। लेकिन मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होता है। परन्तु पहलेकी तरह उपचारसे मुनि कहा गया है। समवसरण सभामें मुनियोंकी संख्या बतलाई है लेकिन वहाँ सब ही भावलिंगी मुनि नहीं थे परन्तु मुनि लिंग धारण करनेसे सबको मुनि कह दिया है। प्रथमानुयोगमें कोई धर्मबुद्धिसे अनुचित भी कार्य करे तो उसकी भी प्रशंसा कर दी जाती है। जैसे विष्णुकुमारने मुनियोंका उपसर्ग दूर किया यह धर्मानुरागसे किया। परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना उचित न था;

क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्ममें ही सम्भव है और मुनिधर्म गृहस्थधर्मसे ऊँचा है। ऊँचे धर्म को छोड़कर नीचा धर्म अङ्गीकार करना योग्य नहीं है। परन्तु वात्सल्य अङ्गकी प्रधानतासे विष्णुकुमार जीकी प्रशंसा की है। इस छलसे औरोंको ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अङ्गीकार करना योग्य नहीं। तथा जैसे ग्वालियेने मुनिको अग्निसे तपाया। यह कार्य उसने करुणासे किया। परन्तु आये हुए उपसर्गको दूर करना तो ठीक है, किन्तु सहज अवस्थामें जो शीतादिक परीषह होती है उसका दूर होना रति मान लेनेका कारण होता है, पर मुनि रति नहीं करते। इसलिए वह उनके लिये उल्टा उपसर्ग होता है अतः विवेकी उनका उपचार नहीं करते। ग्वालिया अविवेकी था। करुणासे उसने यह कार्य किया, इसलिए उसकी प्रशंसा की। दूसरोंको धर्मपद्धतिसे जो विरुद्ध हो वह कार्य करना ठीक नहीं। तथा जैसे वज्रकरण राजाने सिंहोदरको नमस्कार नहीं किया। मुद्रिकामें प्रतिमा रक्खी, पर बड़े २ सम्यग्दृष्टि राजादिकोंको नमते हैं इसमें दोष नहीं। और मुद्रिकामें प्रतिमा रखनेसे अविनय होती है। यथावत् विधिसे ऐसी प्रतिमा नहीं होगी। इसलिए इस कार्यमें दोष है। परन्तु उसको ऐसा ज्ञान नहीं था धर्मानुरागसे औरोंको ऐसा कार्य करना ठीक नहीं। कई पुरुषोंने पुत्रादिककी प्राप्तिके लिए तथा रोगादि कष्ट दूर करनेके लिए चैत्यालयमें पूजन आदि कार्य किए, नमस्कार मन्त्रका स्मरण किया। ऐसा करनेसे तो निकांक्षित गुणका अभाव होता है, निदान नामका आर्तध्यान होता है। अन्तरंगमें पाप हीका प्रयोजन है इसलिए पाप हीका बंध होता है। परन्तु मोहमें पड़कर भी बहुत पापबन्धका कारण कुदेवादिकका पूजन नहीं किया। इतना गुण ग्रहणकर उनकी प्रशंसा की गई है। इस छलसे औरोंको लौकिक कार्योंके लिए धर्मका साधन करना ठीक नहीं। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिये। प्रथमानुयोगमें इसी प्रकार अन्य कथन भी होते हैं उनको यथा सम्भव जानकर भ्रम नहीं करना चाहिए। अब करणानुयोगमें कैसा व्याख्यान है यह बताते हैं:—

करणानुयोगके व्याख्यानका प्रकार

केवल ज्ञानमें जैसा जाना है वैसा ही करणानुयोगमें व्याख्यान है। केवल ज्ञानसे तो बहुत कुछ जाना गया है किन्तु जीवके लिए कार्यकारी जीव कर्मादिकका तथा त्रिलोकादिकका ही इसमें निरूपण है। किन्तु उनका भी पूरा विवरण नहीं हो सकता, इसलिए वचन गोचर होकर छद्मस्थके ज्ञानमें उनका कुछ स्वरूप प्रतिभासित हो अतः संक्षेपसे निरूपण करते हैं।

उदाहरणके लिए जीवोंके भावोंकी अपेक्षा गुणस्थान बतलाए हैं। तथा वे भाव अनंत हैं किन्तु वचन गोचर नहीं हैं अतः बहुत भावोंकी एक जाति बनाकर चौदह गुणस्थान बतलाए हैं। तथा जीवोंको जाननेके अनेक प्रकार हैं लेकिन मुख्य चौदह मार्गणाओंका ही निरूपण किया है। कर्म परमाणु अनंत प्रकार शक्तियुक्त है। इनमें बहुतोंकी एक जाति बनाकर आठ या अड़तालीस प्रकृतियां बतलाई हैं। त्रिलोकमें अनेक रचनाएँ हैं परन्तु कुछ मुख्य रचनाओंका निरूपण किया है। प्रमाण के अनंत भेद हैं परन्तु संख्यात आदि तीन भेद अथवा इनके इक्कीस भेदका ही निरूपण किया

है[1]। इसी प्रकार और भी समझना। यद्यपि वस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावादि अखंडित हैं तो भी छद्मस्थको हीनाधिक ज्ञान करानेके लिए प्रदेश, समय, अविभाग प्रतिच्छेदादिककी कल्पना करके उनके प्रमाणका निरूपण करणानुयोगमें किया है। तथा एक वस्तुमें भिन्न २ गुणों और पर्यायोंका भेदसे निरूपण किया है। जीव पुद्गलादिक यद्यपि भिन्न २ हैं तौ भी संबंधादिक तथा द्रव्यसे उत्पन्न हुए एक जीवसम्बन्धी गति जाति आदि भेदोंका निरूपण किया है। व्यवहार नयकी प्रधानता लेकर यह व्याख्यान समझना चाहिए; क्योंकि व्यवहारके विना विशेष नहीं जाना जा सकता। कहीं निश्चय वर्णन भी मिलता है। जैसे जीवादिक द्रव्योंका प्रमाण निरूपण किया है कि भिन्न २ द्रव्य इतने ही हैं। करणानुयोगमें जो कथन है उनमेंसे कोई तो छद्मस्थके प्रत्यक्ष तथा अनुमान गोचर होते हैं और जो नहीं होते उनको भगवानकी आज्ञाको प्रमाण मानकर ही मानना चाहिए। जैसे जीव और पुद्गलकी स्थूल तथा वहुत काल स्थायी मनुष्य पर्याय व घटादि पर्याय वतलाई हे उनका तो प्रत्यक्ष व अनुमानादि हो सकता है। किन्तु प्रति समय सूक्ष्म परिणमनकी अपेक्षासे ज्ञानादिकके व स्निग्धादिकके जो सूक्ष्म अंश वतलाये हैं वे आज्ञा प्रमाण से ही माने जाते हैं। ऐसे ही और भी समझना चाहिए। तथा करणानुयोगमें छद्मस्थोंकी प्रवृत्तिके अनुसार वर्णन नहीं है। केवलज्ञानगम्य पदार्थोंका वर्णन है। जैसे कोई जीव तो द्रव्यादिकका विचार करता है तथा व्रतादिक पालता है परन्तु अंतरंगमें सम्यक्त्व व चारित्र शक्ति नहीं है, इसलिए उसको मिथ्यादृष्टि अव्रती कहा है। तथा कितने ही जीव द्रव्यादिक व व्रतादिकके विचारसे रहित हैं, अन्य कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं अथवा निद्रा वगैरहसे निर्विचार हो रहे हैं परन्तु उनके सम्यक्त्वादि शक्तिका सद्भाव है इसलिए उनको सम्यक्त्वी व व्रती कहा गया है। किसी जीवके कषायोंकी प्रवृत्ति अधिक है और उसके अंतरंगमें कषाय शक्ति थोड़ी है तो उसको मन्द कषायी कहा जाता है, और किसीके कषायकी प्रवृत्ति तो थोड़ी है किन्तु उसके अंतरंगमें कषायोंकी शक्ति अधिक है तो उसको तीव्र कषायी कहा जाता है। जैसे व्यंतरादिक देव कषायोंसे नगर नाशादि कार्य करते हैं तो भी उनके थोड़ी कषाय शक्ति होनेसे पीतलेश्या वतलाई है। एकेन्द्रियादिक जीव कषाय करते हुए नहीं दीखते तो भी उनके अधिक कषाय शक्ति होनेसे कृष्णादिलेश्याएँ वतलाई हैं। सर्वार्थसिद्धिके देव कषायरूप थोड़ी प्रवृत्ति करते हैं उनके वहुत कषाय शक्तिसे असंयम वतलाया है। और पंचम गुणस्थानवर्ती व्यापार, मैथुन आदि कषाय कार्य रूप वहुत प्रवृत्ति करता है उसके मंद कषाय शक्तिके कारण देशसंयम वतलाया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

१—संख्यात, असंख्यात, अनंत। असंख्यातके तीनभेद–१ परीतासंख्यात २ युक्तासंख्यात ३ असंख्याता-संख्यात। अनन्तके तीन भेद–१ परीतानन्त २ युक्तानंत ३ अनंतानंत। और संख्यात एक ही प्रकार का है इस तरह कुल सात हुए। इनमें से प्रत्येकके १ जघन्य २ मध्यम और ३ उत्कृष्ट भेद करने से कुल प्रमाण (संख्या मान) के २१ भेद होते हैं।

तथा किसी जीवके मन वचन कायकी चेष्टा थोड़ी दिखाई देती है तो भी कर्मोंका आकर्षण करनेवाली शक्तिकी अपेक्षा बहुत योग कहा है। किसीके चेष्टा बहुत दिखाई देती है तो भी शक्तिकी हीनतासे थोड़ा योग कहा है। जैसे गमनादि क्रिया रहित होनेपर भी केवलीके बहुत योग बतलाया है और द्वीन्द्रियादि जीवोंके गमनादि क्रिया होनेपर भी थोड़ा योग बतलाया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

तथा कहीं जिसकी अभिव्यक्ति तो कुछ नहीं मालूम होती तो भी सूक्ष्मशक्तिके सद्भावसे वहाँ उसका अस्तित्व बतलाया है। जैसे मुनिके मैथुनरूप कार्य कुछ भी नहीं है तो भी नवें गुण-स्थानतक मैथुन संज्ञा बतलाई है। अहमिन्द्रोंके दुःखका कारण व्यक्त नहीं है तो भी कदाचित् असाताका उदय बतलाया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

करणानुयोग कर्म प्रकृतियोंके उपशमादिकी अपेक्षासे जहाँ जैसी सूक्ष्मशक्ति पाई जाती है उसके अनुसार गुणस्थानादिकमें सम्यग्ज्ञान चारित्रादिका निरूपण करता है। तथा सम्यग्दर्शनादिके विषयभूत जीवादिकका भी निरूपण सूक्ष्मभेदादिको लेकर करता है। करणानुयोगके अनुसार कोई स्वयं प्रयत्न करे तो नहीं कर सकता। करणानुयोग तो यथार्थ पदार्थका ज्ञान कराता है। आचरण करानेकी प्रधानता उसमें नहीं है। अतः यह जीव तो चरणानुयोगके अनुसार प्रवृत्ति करता है। उससे जो कार्य होना होता है वह स्वयमेव ही होता है। जैसे स्वयं कर्मोंका उपशमादि करना चाहे तो कैसे हो। स्वयं तो तत्त्वादिकके निश्चय करनेका प्रयत्न करता है, इसलिए स्वयमेव उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। एक अंतर्मुहूर्तमें ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर क्रमसे मिथ्यादृष्टि होकर और फिर चढ़कर केवलज्ञानको पैदा करता है। लेकिन इस प्रकार सम्यक्त्वादिकके सूक्ष्म भाव दृष्टिगोचर नहीं होते। इसलिए करणानुयोगके अनुसार जैसेका तैसा जान तो लेता है किन्तु प्रवृत्ति जिस प्रकार अच्छा हो वैसे करता है। करणानुयोगमें भी कहीं उपदेशकी मुख्यता लेकर व्याख्यान होता है, उसको सर्वथा उसी प्रकार न मानना चाहिए। जैसे हिंसादिकके उपायको कुमतिज्ञान कहा है। अन्य मतादिकके शास्त्राभ्यासको कुश्रुत ज्ञान कहा है। जिसमें बुरा दीखे अच्छा न दीखे उसे विभङ्गज्ञान कहा है। यह सब उनको छोड़नेके लिए उस प्रकारका उपदेश है। वैसे मिथ्या दृष्टिका सभी ज्ञान कुज्ञान है और सम्यग्दृष्टिका सभी ज्ञान सुज्ञान है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

जहाँ स्थूल कथन किया हो उसको तारतम्य रूप नहीं जानना चाहिए। जैसे व्याससे तिगुनी परिधि कहलाती है परन्तु सूक्ष्मपनेसे वह कुछ अधिक तिगुनी होती है। कहीं मुख्यताकी अपेक्षा व्याख्यान होता है उसको बिल्कुल वैसा ही न समझना चाहिए, जैसे मिथ्यादृष्टि व सासादन गुणस्थानवाले जीवोंको पापी जीव कहते हैं। असंयतादि गुणस्थानवालोंको पुण्यात्मा जीव कहते हैं, यह मुख्यपनेसे कथन है, तारतम्यसे दोनोंके यथा संभव पाप पुण्य पाए जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। इस तरह करणानुयोगका व्याख्यान बताया।

अब चरणानुयोगमें किस प्रकारका व्याख्यान है यह बताते हैं। चरणानुयोगमें जीव अपनी बुद्धिके अनुसार जिस प्रकार धर्मका आचरण करते हैं वैसा उपदेश दिया है। धर्म तो निश्चय रूप मोक्षमार्ग ही है। उसके साधनादिक उपचारसे धर्म कहे जाते हैं, अतः व्यवहार नयकी प्रधानतासे नाना प्रकार उपचार धर्मके भेदादिकका निरूपण चरणानुयोग में किया है। क्योंकि निश्चय धर्ममें तो ग्रहण व त्यागका कुछ विकल्प ही नहीं है और इससे नीचेकी अवस्थामें विकल्प छूटता नहीं है। इसलिए इस जीवसे धर्म विरोधी कार्यों को छुड़ाने तथा धर्मके साधन भूत कार्योंके ग्रहण करानेका इसमें उपदेश है। यह उपदेश दो प्रकारसे है—एक तो केवल व्यवहारका उपदेश, दूसरा निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश। जिन जीवोंको निश्चयका ज्ञान नहीं है अथवा उपदेश देनेपर ज्ञान होता नहीं दीखता ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंको कुछ धर्मके सन्मुख होनेपर व्यवहार धर्मका ही उपदेश दिया जाता है। तथा जिन जीवोंको निश्चय व व्यवहारका ज्ञान है अथवा उपदेश देनेपर उनका ज्ञान होता दीखता है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव तथा सम्यक्त्वके सन्मुख हुए मिथ्यादृष्टि जीवोंको निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश दिया गया है, क्योंकि श्रीगुरु सब जीवोंके उपकारी हैं। असंज्ञी जीव तो उपदेश ग्रहणके योग्य नहीं हैं उनका तो इतना ही उपकार किया कि और जीवोंको उनपर दया करनेका उपदेश दिया। तथा जो जीव कर्मोंकी प्रबलतासे निश्चयमार्गको प्राप्त नहीं हो सकते उनका इतना ही उपकार किया कि उनको व्यवहार धर्मका उपदेश देकर कुगतिके दुःखके कारण पाप कार्योंसे छुड़ाकर सुगतिमें इन्द्रियोंके सुखके कारण पुण्य कार्यमें लगाया। जितना दुःख मिटा उतना ही उपकार हुआ। इसके अतिरिक्त पापीके तो पाप वासना ही रहती है और कुगतिमें जाता है तो वहां धर्मका निमित्त नहीं है इसलिए परंपरासे वह दुख ही पाया करता है। और पुण्यवानके धर्म वासना रहती है सुगतिमें जाकर उसे धर्मका निमित्त मिलता है, इसलिए परंपरासे वह सुख ही पाया करता है। अथवा कर्मोंसे यदि हीन हो जाय तो मोक्षमार्गको भी प्राप्त हो जाता है। इसलिए व्यवहार धर्मके उपदेशसे पापसे छुड़ाकर उसे पुण्य कर्ममें लगाया जाता है। तथा जो जीव मोक्षमार्गको प्राप्त हुए या प्राप्त होने योग्य हैं उनका ऐसा उपकार किया कि उनको निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश देकर मोक्षमार्गमें लगाया। श्रीगुरु तो सबका ऐसा ही उपकार करते हैं। परन्तु जिन जीवोंका ऐसा उपकार नहीं बनता तो श्रीगुरु क्या करें। जैसा बना वैसा उपकार किया। अतः दो प्रकारका उपदेश देते हैं। उसमें से व्यवहार धर्ममें तो बाह्य क्रियाओंकी प्रधानता है। उनके उपदेशसे तो जीव पाप क्रियाओंको छोड़कर पुण्य कार्योंमें लगता है। क्रियाओंके अनुसार परिणाम भी तीव्र कषाय छोड़कर कुछ मन्द कषायी हो जाते हैं, अधिकतर तो यही बात है। यदि किसीके परिणाम ऐसे न हों तो मत हों। श्रीगुरु तो परिणाम सुधारनेके लिए ही बाह्य क्रियाओंका उपदेश देते हैं। तथा

चरणानुयोगके व्याख्यानका प्रकार

निश्चय सहित व्यवहारके उपदेशमें परिणामोंकी ही प्रधानता है। उसके उपदेशसे तत्त्वज्ञानके अभ्यास द्वारा अथवा वैराग्य भावनासे परिणाम सुधारता है और परिणामोंके अनुसार बाह्य क्रियाएँ भी सुधर जाती हैं; क्योंकि परिणाम सुधरनेपर बाह्य क्रिया सुधरती ही है। इसलिए श्रीगुरु परिणाम सुधारनेका मुख्य उपदेश करते हैं। इस तरह दो प्रकारके उपदेशमें व्यवहार ही का उपदेश होता है। सम्यग्दर्शनके लिए अरहंत देव निर्ग्रंथ गुरु और दया धर्मको ही मानना चाहिए, जीवादि तत्त्वोंका जो व्यवहार स्वरूप बतलाया है उसका श्रद्धान करना चाहिए उसमें शंकादिक पच्चीस दोष नहीं लगाना चाहिए। निःशङ्कित अंग अथवा संवेगादिक गुण पालना चाहिए, इत्यादि उपदेश दिया है। तथा सम्यग्ज्ञानके लिए जिन मतके शास्त्रोंका अभ्यास करनेका व अर्थ व्यंजनादि अंगोंका उपदेश दिया है। इसी प्रकार सम्यक् चारित्रके लिए एक देश या सर्व देशसे हिंसादि पापोंके त्याग करनेका, व्रतादि अङ्गोंके पालने आदिका उपदेश दिया है। जो जीव बहुत धर्मका साधन नहीं कर सकता उसको एक आखड़ी आदिका ही उपदेश दिया है। जैसे भीलको कौएका मांस छुड़ाया, ग्वालियाको नमस्कार मंत्र जपनेका उपदेश दिया, गृहस्थको चैत्यालय पूजा प्रभावनादि कार्य करनेका उपदेश दिया। इस प्रकार जैसा जीव हो उसको वैसा उपदेश दिया है। तथा जहां निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश होता है वहां सम्यग्दर्शनके लिए यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कराया जाता है। उनका जो निश्चय स्वरूप है वह भूतार्थ है और व्यवहार स्वरूप उपचार है। ऐसे श्रद्धानके लिए अथवा स्वपरके भेद विज्ञानसे पर द्रव्यमें रागादि छुड़ानेके लिए उन तत्त्वोंके श्रद्धान करनेका उपदेश दिया है। ऐसे श्रद्धानमें अरंहत देवके सिवा अन्य देवादिक झूठे प्रतीत होते हैं तब स्वयं उनका मानना छूट जाता है। तथा सम्यग्ज्ञानके लिए संशयादि रहित उन ही तत्त्वोंका उस प्रकार ही जाननेका उपदेश दिया है, उस जाननेका कारण जैन शास्त्रोंका अभ्यास है। अतः सम्यग्यज्ञानके लिये इस प्रयोजनके लिए जैन शास्त्रोंका अभ्यास स्वयं ही हो जाता है, उसका निरूपण करते हैं। सम्यग्चारित्रके लिए रागादि दूर करनेका उपदेश दिया जाता है, वहाँ एक देश या सर्वदेश तीव्र रागादिकका अभाव होनेपर उनके निमित्तसे होनेवाली एक देश या सर्वदेश पाप क्रियाओंसे छूटता है। तथा मंदरागसे श्रावक मुनियोंके व्रतोंकी प्रवृत्ति होती है। मंद रागादिकोंका अभाव होनेपर शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति होती है उसका निरूपण करते हैं। यथार्थ श्रद्धानके लिए सम्यग्दृष्टिके जिस प्रकार भी यथार्थ कोई आखिड़ी होती है, भक्ति होती है, पूजा प्रभावनादि कार्य होते हैं अथवा ध्यानादिक होते हैं उनका उपदेश दिया जाता है। जैनमतमें सत्य परंपरासे चला आया जैसा मार्ग है वैसा उपदेश दिया जाता है। इस तरह दो प्रकारका उपदेश चरणानुयोगमें समझना चाहिए। चरणानुयोगमें तीव्र कषायोंका कार्य छुड़ाकर मंद कषायरूप कार्य करनेका उपदेश दिया है। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तो भी सब कषायें छूटती न जानकर जितनी कषायें घटें उतना ही कल्याण होगा, ऐसा प्रयोजन वहाँ समझना चाहिए।

जैसे जिन जीवोंके आरंभादि करनेकी अथवा मंदिरादि बनानेकी, विषय सेवन की अथवा क्रोधादि करने की इच्छा सर्वथा दूर न होती देखे, उनको पूजा प्रभावनादि करनेका, चैत्यालयादि बनानेका, जिन देवादिकके आगे शोभादिक नृत्य गानादिक करनेका अथवा धर्मात्मा पुरुषोंकी सहायता आदि करनेका उपदेश देता है। क्योंकि इनमें परंपरासे कषायोंका पोषण होता है, अतः पाप कार्योंसे छुड़ाकर इन कार्योंमें लगाते हैं। तथा थोड़ा बहुत जितना छूटता जाने उतना पाप कार्य छुड़ाकर सम्यक्त्व व अणुव्रतादि पालनेका उनको उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवोंके सर्वथा आरंभादिकी इच्छा दूर होगई है उनको पूर्वोक्त पूजनादि कार्य व सर्व पाप कार्य छुड़ाकर महाव्रतादि कार्योंका उपदेश देते हैं। तथा जिनके कुछ भी रागादिक छूटता न देखे उनको दया, धर्मोपदेश, प्रतिक्रमणादि कार्य करनेका उपदेश देते हैं। जहाँ सर्वराग दूर हो जाता है वहां कुछ करनेका कार्य ही नहीं रहा इसलिए उनको कुछ भी उपदेश नहीं है। यही क्रम समझना चाहिए।

चरणानुयोगमें कषायी जीवोंके कषाय पैदा करके भी पापको छुड़ाया जाता है और उन्हें धर्ममें लगाया जाता है। जैसे नरकादिकके दुख दिखाकर उनको भय कषाय पैदाकर पाप कार्यसे छुड़ाया जाता है, तथा पुण्यका फल स्वर्गादिकके सुख दिया उनके लोभकषाय पैदाकर उन्हें धर्ममें लगाया जाता है। तथा यह जीव इन्द्रिय विषय, शरीर, पुत्र, धनादिकके अनुरागसे पाप करता है धर्म पराङ्मुख रहता है इसलिए इन्द्रिय विषयोंको मरण क्लेशादिक कषायोंका कारण बताकर उनमें अरतिकषाय पैदा की जाती है, शरीरादिकको अशुचि दिखाकर वहाँ जुगुप्सा कषाय पैदा की जाती है, पुत्रादिकोंको धनादिकका ग्राहक दिखाकर वहाँ द्वेष कराया जाता है, तथा धनादिकको मरण क्लेशादिकका कारण बताकर वहाँ अनिष्ट बुद्धि कराई जाती है। इत्यादि उपायोंसे विषयादिकमें तीव्रराग दूर होनेसे उनके पाप क्रिया छूटकर धर्ममें प्रवृत्ति होती है। तथा नामस्मरण, स्तुति करण, पूजा दान शीलादिकसे इस लोकमें दारिद्र, कष्ट दूर होते हैं, पुत्र धनादिककी प्राप्ति होती है, ऐसे निरूपणसे उनके लोभ कषाय पैदाकर उन्हें धर्म कार्योंमें लगाया जाता है। ऐसे ही अन्य उदाहरण भी समझना चाहिए।

प्रश्न—किसी कषायको छुड़ाकर किसी कषायके पैदा करनेसे क्या मतलब है?

उत्तर—जैसे रोग तो शीताङ्ग भी है, ज्वर भी है। परन्तु किसीका मरण शीताङ्गसे होता हुआ देखे तो वैद्य उसके ज्वर होनेका उपाय करता है। ज्वर होनेके बाद जब उसके जीनेकी आशा हो जाती है तब ज्वर भी मिटानेका उपाय करता है। उसी प्रकार कषायें तो सब ही हेय हैं, परन्तु किन्हीं जीवोंके कषायोंसे पाप कार्य होता देखकर श्रीगुरु उनके पुण्यकार्यके कारणभूत कषाय होनेका उपाय करते हैं। बादमें जब उसकी सत्य धर्मबुद्धि देखते हैं तब उस कषायको मिटानेका उपाय करते हैं।

जीव जिस प्रकार पापको छोड़कर धर्ममें लगे उस प्रकारके अभिप्रायसे चरणानुयोगमें युक्तिपूर्वक अनेक वर्णन करते हैं। लौकिक दृष्टांत युक्तिसे न्याय पद्धति द्वारा समझाते हैं। जैसे "सूक्तमुक्तावली" में लक्ष्मीको कमलवासिनी कहा है तथा समुद्रमें विष और लक्ष्मी पैदा होते हैं इस अपेक्षासे लक्ष्मीको विषकी भगिनी कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। उसमें कई उदाहरण झूठे भी हैं परन्तु सत्य प्रयोजनका पोषण करते हैं अतः दोष नहीं है।

प्रश्न–झूठका तो दोष लगता है ?

उत्तर–जो झूंठ है किन्तु सत्य प्रयोजनका पोषण करता है वह झूंठ नहीं कहलाता। और जो सत्य है लेकिन झूंठ प्रयोजनका पोषण करता है तो वह झूंठ ही है। इस प्रकार अलंकार युक्त नामादिकमें वचन अपेक्षा झूंठ सच नहीं है। जैसे तुच्छ शोभा सहित नगरीको इन्द्रपुरीके समान कहना झूंठ है परन्तु शोभाके प्रयोजनको पोषण करता है इसलिए झूंठ नहीं है। तथा इस नगरीमें छत्र हीमें दण्ड है अन्यत्र नहीं है ऐसा कहना सो झूंठ है। दण्ड देना अन्यत्र भी पाया जाता है, परन्तु उस नगरीमें अन्यायी थोड़े हैं न्यायीको दण्ड नहीं दिया जाता इस प्रयोजनको पोषण करना झूंठ नहीं है। इसी प्रकार बृहस्पतिका नाम सुरगुरु लिखना अथवा मंगलका नाम कुज लिखना यह अन्य मतकी अपेक्षा है। इनका अक्षरार्थ झूंठा है। परन्तु वह नाम उस पदार्थको प्रकट करता है अतः झूंठ नहीं है। इसी तरह अन्य मतके जो उदाहरणादि दिए जाते हैं वह भी झूंठ हैं। परन्तु उदाहरणादिका श्रद्धान तो कराना है नहीं, श्रद्धान तो प्रयोजनका कराना है। वह प्रयोजन सत्य है अतः दोप नहीं है।

चरणानुयोगमें छद्मस्थकी बुद्धि गोचर स्थूलपनेकी अपेक्षा लोक प्रवृत्तिकी मुख्यता लेकर उपदेश दिया जाता है, केवलज्ञान गोचर सूक्ष्मपनेकी अपेक्षा नहीं दिया जाता; क्योंकि उसका आचरण नहीं हो सकता और यहाँ आचरण करानेका प्रयोजन है। जैसे अणुव्रतीके त्रस हिंसाका त्याग कहा है और उसके स्त्री सेवनादिकमें त्रसहिंसा होती है। यह भी जानता है– जिन वाणीमें यहाँ त्रस बतलाए हैं। परन्तु इसके त्रस मारनेका अभिप्राय नहीं है और लोकमें जिसका नाम त्रसघात है उसे करता नहीं है इसलिए उस अपेक्षा उसके त्रसहिंसाका त्याग है। मुनिके स्थावर हिंसाका भी त्याग कहा है। लेकिन मुनि पृथ्वी जलादिकमें भी गमन करता है, वहाँ सर्वथा त्रसका भी अभाव नहीं है क्योंकि त्रस जीवकी भी अवगाहना इतनी छोटी होती है जो दृष्टिगोचर नहीं होती। और उनकी स्थिति पृथ्वी जलादिकमें ही है, यह मुनि जिनवानीसे जानते हैं। अथवा कदाचित् अवधि ज्ञानसे भी जानते हैं। परन्तु मुनिके प्रमादसे स्थावर त्रस हिंसाका अभिप्राय नहीं है। लोकमें भूमि खोदना, अप्रासुक जलसे क्रिया करना आदि प्रवृत्तिका

नाम जो स्थावर हिंसा और स्थूल त्रसोंके पीड़नका नाम जो त्रसहिंसा है उसे नहीं करते इसलिए मुनिके सर्वथा हिंसाका त्याग कहा गया है। इसी प्रकार अनृत, स्तेय, अब्रह्म परिग्रहका त्याग बताया है। और केवलज्ञानके जाननेकी अपेक्षा असत्य वचनयोग बारहवें गुणस्थान पर्यन्त कहा है। अदत्त कर्मपरमाणु आदि पर द्रव्यका ग्रहण तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त है। वेद का उदय नवम गुणस्थान पर्यन्त है। अंतरंग परिग्रह दशम गुणस्थान पर्यन्त है। बाह्य परिग्रह समवशरणादि केवलीके भी होते हैं परन्तु प्रमादसे पापरूप अभिप्राय नहीं है। और लोक प्रवृत्तिमें जिन क्रियाओंके करनेसे यह झूंठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है परिग्रह रखता है इत्यादि जो नाम पाता है वे क्रियाएं इनके हैं नहीं, इसलिए अनृतादिकका इनके त्याग कहा है। तथा जिस प्रकार मुनिके मूलगुणोंमें पांच इन्द्रियोंके विषयका त्याग कहा है। लेकिन जानना इन्द्रियोंका मिटता नहीं और विषयोंमें राग द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो यथाख्यात चारित्र हो जाये वह हुआ नहीं, लेकिन स्थूलपनेसे विषयका इच्छाका अभाव हुआ है और बाह्य विषय सामिग्रीको मिलानेकी प्रवृत्ति दूर हुई है इसलिए मुनिके इन्द्रियविषयका त्याग है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। व्रती जीव जो त्याग व आचरण करता है वह चरणानुयोगकी पद्धति अनुसार अथवा लोक प्रवृत्तिके अनुसार करता है। जैसे किसीने त्रसहिंसाका त्याग किया, यहां चरणानुयोगमें या लोकमें जिसको त्रसहिंसा कहा जाता है उसका त्याग किया है। केवलज्ञानसे जो त्रस देखे गए हैं उनका त्याग नहीं बनता जहाँ त्रसहिंसाका त्याग किया है वहाँ उस रूप मनका विकल्प नहीं करना मनसे त्याग है, वचन न बोलना वचनसे त्याग है, कायसे प्रवृत्ति न करना कायसे त्याग है। इस प्रकार अन्य जो त्याग व ग्रहण होता है वह इसी पद्धतिको लेकर होता है ऐसा समझना चाहिए।

प्रश्न—यदि करणानुयोगमें केवलज्ञान की अपेक्षा तारतम्य कथन है तो छठे गुणस्थान वालेके सर्वथा बारह अविरतियोंका अभाव कैसे कहा।

उत्तर—अविरति भी योग कषायमें गर्भित थी। परन्तु वहां भी चरणानुयोगकी अपेक्षा त्यागके अभावका ही नाम अविरतिका अभाव बताया है और मुनिका मनके विकल्प होता है परन्तु स्वेच्छाचारी मनकी पापरूप प्रवृत्तिके अभावसे मन अविरतिका अभाव समझना चाहिए। चरणानुयोगमें व्यवहार लोक प्रवृत्ति अपेक्षा ही नामादिक कहे हैं। जैसे सम्यक्त्वीको पात्र कहा है, मिथ्यात्वीको अपात्र कहा है। यहां जिसके जिनेन्द्र देवादिक का श्रद्धान हो वह तो सम्यक्त्वी जिसके उनका श्रद्धान नहीं वह मिथ्यात्वी समझना चाहिए; क्योंकि दान देना चरणानुयोगकी अपेक्षा कहा है अतः चरणानुयोगकी ही अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहण करना चाहिए। करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहण करनेपर, वे ही जीव ग्यारहवें गुणस्थान में और वे ही जीव अन्तर्मुहूर्तमें पहले गुणस्थानमें आते हैं, वहां दातार पात्र अपात्रका कैसे निर्णय कर सकता है। द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहण करनेपर मुनि संघमें द्रव्यलिंगी भी है भावलिंगी भी है पहले तो

इनका पता लगाना ही कठिन है क्योंकि वाह्य प्रवृति समान है और यदि सम्यक्त्वी किसी चिन्हसे निश्चय करले और वह उसकी भक्ति न करे तो औरोंको संशय होगा कि वह उसकी भक्ति नहीं करता। इस तरह उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट होगा तो संघमें विरोध पैदा होगा। इसलिए यहां व्यवहार सम्यक्त्व मिथ्यात्वकी अपेक्षा कथन जानना चाहिए।

प्रश्न—सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिङ्गीको अपनेसे हीन गुणवाला मानता है उसकी भक्ति वह कैसे करता है?

उत्तर—व्यवहार धर्मका साधन द्रव्यलिङ्गीके वहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिए जैसे कोई धनवान कुलमें जो वड़ा है उसे कुल की अपेक्षा वड़ा जान कर सत्कार करता है वैसे ही आप सम्यक्त्व गुणसहित होने पर भी व्यवहार धर्मकी अपेक्षा द्रव्यलिङ्गीको अपनेसे गुणाधिक मान कर भक्ति करता है। इसी प्रकार जो जीव वहुत उपवासादि करता है उसे तपस्वी कहते हैं। यद्यपि अधिक ध्यानाध्ययन करने वाला उत्कृष्ट तपस्वी है तो भी चरणानुयोगमें वाह्य तपकी प्रधानता है। इसलिए उसही को तपस्वी कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य नामादिक समझना चाहिए।

अव द्रव्यानुयोगमें वतलाते हैः—

जीवोंके जीवादिद्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान जिस प्रकार हो उस प्रकार विशेप युक्ति हेतु दृष्टांतादिक का यहाँ निरूपण करते है। क्यो कि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है। यद्यपि जीवादि वस्तु अभेद हैं तो भी उनमें भेद कल्पनाके द्वारा व्यवहारसे द्रव्यगुण पर्याय आदि का भेद निरूपण किया है यह भी ठीक है। तथा प्रतीति लानेके लिए अनेक युक्तिसे उपदेश दिया जाता है।

द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का स्वरूप

अथवा प्रमाण नयके द्वारा उपदेश दिया जाता है। तथा वस्तुका अनुमान प्रत्यभिज्ञान करनेके लिए दृष्टांतादिक देते है। इसप्रकार वहाँ वस्तुकी प्रतीति करानेका उपदेश देते हैं। तथा यहाँ मोक्षमार्गका श्रद्धान करानेके लिए जीवादि तत्वोंका विशेप युक्ति दृष्टांतादिकसे निरूपण करते है उसमें स्वपरभेद विज्ञानादिक जिसप्रकार हो वैसे आश्रवादिक का स्वरूप वताते है एवं मुख्यपनेमें ज्ञानवैराग्य के कारण आत्मानुभवनादिककी महिमा गाते हैं। द्रव्यानुयोगमें निश्चय अध्यात्म उपदेशकी प्रधानता होती है। वहाँ व्यवहार धर्मका भी निपेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभवके उपायको नहीं करते और वाह्य क्रियाकांडमें मग्न हैं उनको वहाँ से उदासकर आत्मानुभवनादिमें लगानेके लिये व्रतशील संयमादिक का हीन पना प्रकट करते है। वहाँ यह न समझना चाहिए कि इनको छोड़ कर पापमें लगना उचित है, क्यों कि उस उपदेशका प्रयोजन अशुभमें लगानेका नहीं है। शुद्धोपयोगमें लगानेको अशुभोपयोगका निपेध किया है।

प्रश्न—अध्यात्म शास्त्रोंमें पुण्य पाप समान बतलाए हैं इसलिये शुद्धोपयोग हो तो अच्छा ही है, यदि न हो तो पुण्य या पाप किसीमें लग जाय एकही बात हैः—

उत्तर—जैसे शूद्र जातिकी अपेक्षा जाट चांडाल समान हैं परन्तु चांडालसे जाट कुछ अच्छा है। वह अस्पृश्य है यह स्पृश्य है। उसीप्रकार बंध के कारण होनेकी अपेक्षा पुण्य पाप समान हैं परन्तु पापसे पुण्य कुछ अच्छा है। वह तीव्र कषाय रूप है यह मंद कषाय रूप है अतः पुण्य छोड़ कर पापमें लगना उचित नहीं है ऐसा समझना चाहिए। तथा जो जीव जिनबिम्बकी भक्त्यादि कार्योंमें ही मग्न हैं उनके आत्मश्रद्धान करानेके लिए देहमें देव है देवालयमें नहीं इत्यादि उपदेश देते हैं। वहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि भक्तिसे छुड़ा कर भोजनादिकसे अपने आपको सुखी करना है। क्यों कि उस उपदेशका प्रयोजन ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अन्य व्यवहारका जहां निषेध किया हो उसको जान कर प्रमादी नहीं होना चाहिए। यों समझना चाहिए कि जो व्यवहार में ही मग्न हैं उनको निश्चय रुचि करानेके लिए व्यवहारको हीन दिखाया है। तथा उन्हीं शास्त्रों में सम्यग्दृष्टिके भोगादिकको बंधका कारण नहीं कहा है, निर्जरा का कारण कहा है। इससे भोगों का यहाँ उपादेय न समझ लेना चाहिए। किन्तु सम्यग्दृष्टिकी महिमा दिखाने के लिए जो तीव्र बंधके कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे उन भोगादिकों के होते हुए भी श्रद्धान शक्तिके बलसे मंद बंध होने लगा उसको तो गिना नहीं और उसही के बलसे निर्जरा विशेष होने लगी अतः उपचारसे भोगोंको भी बंधका कारण नहीं बतलाया निर्जराका कारण कहा है। विचार करने पर यदि भोग निर्जराके कारण हों तो उसको छोड़कर सम्यग्दृष्टि मुनिपद ग्रहण क्यों करे। यहाँ इस कथनका इतना ही प्रयोजन है कि सम्यक्त्वकी महिमा देखो जिसके बलसे भोग भी अपने गुणको नहीं कर सकते। इसप्रकार और भी कथन हो तो उनका यथार्थपना समझ लेना चाहिए। द्रव्यानुयोगमें भी चरणानुयोगके समान ग्रहण त्याग करानेका प्रयोजन है इसलिए छद्मस्थके बुद्धि गोचर परिणामों की अपेक्षा ही वहाँ कथन किया है। इतना विशेष है कि चरणानुयोगमें तो बाह्य क्रियाकी मुख्यता से वर्णन किया जाता है, और द्रव्यानुयोगमें आत्मपरिणामों की मुख्यतासे निरूपण किया जाता है। करणानुयोगके समान सूक्ष्म वर्णन नहीं किया जाता उसके उदाहरण बतलाते हैंः—

उपयोगके शुभ अशुभ शुद्ध ऐसे तीन भेद हैं। उसमें धर्मानुरागरूप परिणाम तो शुभोपयोग है पापानुराग व द्वेषरूप परिणाम अशुभोपयोग है और राग द्वेषरहित परिणाम शुद्धोपयोग है। यह कथन छद्मस्थके परिणामोंकी अपेक्षा है। करणानुयोगमें कषायशक्ति गुणस्थानादिकमें संक्लेश विशुद्ध परिणामोंका निरूपण किया है। वह विवक्षा यहाँ नहीं है। करणानुयोगमें तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र होनेपर होता है। वह मोहका नाश होनेपर स्वयं ही होगा। नीची अवस्थावाला शुद्धोपयोगका साधन कैसे करे? और द्रव्यानुयोगमें शुद्धोपयोग करनेका ही मुख्य प्रयोजन है। इसलिए यहाँ छद्मस्थ जिसकालमें बुद्धि गोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्य रूप परिणामोंको छोड़कर

आत्मानुभव आदि कार्यों में प्रवृत्ति करता है उस समय उसको शुद्धोपयोगी कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म रागादिक हैं तो भी उसकी विवक्षा यहाँ नही है। अपने बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ना इसको शुद्धोपयोगी कहा है। इसीप्रकार श्रद्धानादिक होने पर जो सम्यक्त्वादि बतलाए हैं वह बुद्धिगोचर अपेक्षा निरूपण है। सूक्ष्मभावोंकी अपेक्षा गुणस्थानादिमें सम्यक्त्वादिकका निरूपण करणानुयोगमें पाया जाता है।इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। अतः द्रव्यानुयोगके कथनकी करणानुयोगसे विधि मिलाना चाहिए। कहीं तो वह मिलती है कही नहीं मिलती है। जैसे यथाख्यात चारित्र होनेपर तो दोनोंकी अपेक्षा शुद्धोपयोग है। तथा नीची दशामें द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, और करणानुयोगको अपेक्षा सदा कषायांशके सद्भावसे शुद्धोपयोग नहीं है। इसी तरह अन्य कथन जान लेना चाहिए। तथा द्रव्यानुयोगमें परमतके तत्त्वादिकों को असत्य दिखानेके लिए उनका निषेध कियाजाता है उसमें द्वेषबुद्धि नहीं समझना चाहिए। उनको असत्य दिखाकर सत्यश्रद्धान करानेका ही वहाँ प्रयोजन है। इसप्रकार और भी अनेक तरहसे द्रव्यानुयोगमें व्याख्यानका विधान किया है। ऐसे चारों अनुयोगोंके व्याख्यानका विधान कहा। उनमें भी किसी ग्रन्थमें एक अनुयोगका, किसीमें दोका, किसीमें तीनका और किसीमें चारोंकी प्रधानता लेकर व्याख्यान होता हैं। जहाँ जो संभव हो वहाँ वह समझ लेना चाहिए।

अब इन अनुयोगोंमें कैसी पद्धति मुख्यतासे पाई जाती है यह बतलाते है।

अनुयोगों में पद्धति विशेष

प्रथमानुयोगमें तो अलंकार शास्त्र व काव्यादि शास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है; क्यों कि अलंकारादिसे मन रंजायमान होता है। सीधी बात कहनेसे वैसा उपयोग नहीं लगता जैसा अलंकारादि युक्ति सहित कथनसे उपयोग लगता है। दूसरे, परोक्ष बातको यदि कुछ अधिकतासे निरूपण कियाजाय तो उसका स्वरूप अच्छा भासित होता है। करणानुयोगमें गणित आदि शास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है; क्योंकि वहाँ द्रव्य क्षेत्र काल भावके प्रमाणादिकका निरूपण किया जाता है। गणितग्रन्थोंकी आम्नायसे उनका ज्ञान सुगम होता है। चरणानुयोगमें सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धतिमुख्य है क्यो कि यहाँ आचरण कराना है अतः लोक प्रवृत्तिके अनुसार नीतिमार्ग दिखाने पर वह आचरण करता है। द्रव्यानुयोगमें न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है क्यों कि यहाँ निर्णय करनेका प्रयोजन है और न्यायशास्त्रमें न्याय करनेका मार्ग दिखाया है। इस तरह इन अनुयोगोंमें पद्धति मुख्य है। और भी अनेक पद्धतियोंको लेकर इनमें व्याख्यान पाया जाता है।

प्रश्न—अलंकार, गणित, नीति, न्यायका तो ज्ञान पंडितोके होता है तुच्छ बुद्धि समझते नहीं हैं अतः सीधा कथन क्यों नहीं किया?

उत्तर—शास्त्र मुख्यतासे पण्डितों और चतुरोंके अभ्यास करने योग्य है। अतः अलंकार आदिक पद्धतिको लेकर कथन हो तो उनका मन लगता है। इधर जो तुच्छ बुद्धि है उन्हें पंडित लोग समझा देते हैं और जो नहीं समझ सकते उनको मुखसे सीधा ही कथन करते हैं। परन्तु ग्रन्थोंमें सीधा कथन लिखनेसे विशेषबुद्धि पुरुष उसके अभ्यासमें रत नहीं होते इस लिए अलंकारादि आम्नायसे कथन किया जाता है। इस तरह इन चारोंमें अनुयोगोंका कथन किया। जिन मतमें बहुतसे शास्त्र तो इन चारों अनुयोगोंमें गर्भित हैं। तथा व्याकरण-न्याय छंद कोषादिक शास्त्र तथा वैद्यक, ज्योतिष व मन्त्रादिक शास्त्र भी जिनमतमें पाए जाते हैं। उनका क्या प्रयोजन है यह बतलाते हैं:—

व्याकरण—न्यायादिकका अभ्यास होनेपर अनुयोगरूप शास्त्रोंका अभ्यास हो सकता है इसलिए व्याकरणादिक शास्त्र कहे हैं।

प्रश्न—यदि भाषारूप सीधा निरूपण करते तो व्याकरणादिकका क्या प्रयोजन था?

उत्तर—भाषा तो अपभ्रंशरूप अशुद्ध वाणी है, देश देशमें भिन्न २ है, अतः महान पुरुष शास्त्रोंमें ऐसी रचना कैसे कर सकते हैं? तथा व्याकरण न्यायादिकसे जैसा यथार्थ सूक्ष्म अर्थ निरूपित होता है वैसा सीधीभाषा में हो नहीं सकता। इसलिए व्याकरणादि आम्नायको लेकर वर्णन किया है। अतः अपनी बुद्धि अनुसार थोड़ा बहुत इनका अभ्यास करके अनुयोगरूप प्रयोजन भूत शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिए। वैद्यकादिके चमत्कारसे जिनमतकी प्रभावना होती है और औषधादिकसे उपकार भी होता है। अथवा जो जीव लौकिक कार्यमें अनुरक्त हैं वे वैद्यकादिकके चमत्कारसे जैनी होकर पीछे सचा धर्म पाकर अपना कल्याण करते हैं। इत्यादि प्रयोजनको लेकर वैद्यकादिक शास्त्र रचे हैं। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि यह भी 'जिन शास्त्र हैं' ऐसा जानकर इनके अभ्यासमें बहुत नहीं लगना चाहिये।। अगर बहुत बुद्धिसे इनका सरलता से जानना हो जाय और इनके जानने पर अपने रागादि बढ़ते न देखे तो इनका भी जानना भले ही हो जाय, लेकिन अनुयोग शास्त्रकी तरह यह शास्त्र बहुत कार्यकारी नहीं है इसलिए इनके अभ्यासका विशेष उद्यम करना ठीक नहीं है।

प्रश्न—अगर यह बात है तो गणधरादिकने इनकी रचना क्यों की?

उत्तर—पूर्वोक्त कुछ प्रयोजन जानकर इनकी रचना की है। जैसे बहुत धनवान कभी थोड़े मतलबकी चीज़का भी संग्रह करता है। यदि थोड़ा धनवान उन वस्तुओंका संचय करे तो धन तो उसके संचयमें ही लग जायगा फिर अधिक प्रयोजनभूत वस्तुका संग्रह काहेसे करेगा। उसी प्रकार बहुत बुद्धिमान गणधरादिक कथंचित् अल्प प्रयोजनभूत वैद्यकादि शास्त्रोंका भी संचय करते हैं। यदि थोड़ा बुद्धिमान उनके अभ्यासमें लगे तो बुद्धि तो वहीं लग जायगी फिर अधिक प्रयोजनभूत शास्त्रोंका अभ्यास कैसे करेगा? तथा जिस प्रकार मन्दरागी पुराणादिकमें शृङ्गारादिका निरूपण

करते हुए भी विकारी नहीं होता उस प्रकार यदि तीव्ररागी शृङ्गार आदिका निरूपण करे तो पापही बांधेगा। इसी तरह मन्दरागी गणधरादिक वैद्यकादि शास्त्रोंका निरूपण करते हुएभी विकारी नहीं होते। अगर तीव्ररागी उनके अभ्यासमें लग जाय तो रागादि बढ़ाकर कर्मका ही बंध करेगा। इस तरह जैनमतके उपदेशका स्वरूप समझना चाहिए।

अनुयोगमें दोष कल्पनाएँ और उनका निरसन

अब इनमें जो दोष कल्पनाकी जाती है उसका निराकरण करते हैं—

प्रश्न—प्रथमानुयोगमें शृंगारादिक तथा संग्रामादिकका बहुत कथन किया गया है। उनके निमित्तसे रागादिक बहुत बढ़ जाते हैं इसलिए ऐसा कथन करना उचित न था और न ऐसा कथन सुनना चाहिए।

उत्तर—कथा कहना हो तो सभी अवस्था का कथन करना चाहिये। और जो अलंकार आदि बढ़ाकर कथन करते हैं वह उचित ही है, क्योंकि पंडितों का वचन युक्ति पूर्वक ही निकलता है।

प्रश्न—सम्बन्ध मिलाने को सामान्य ही कथन किया होता, बढ़ाकर कथन क्यों किया?

उत्तर—परोक्ष कथनको बढ़ाकर न कहनेसे उसका स्वरूप अच्छी तरह भासित नहीं होता। पहले तो भोग संग्राम आदि इस प्रकार किए, पीछे सबको त्यागकर मुनि हुए, इत्यादि चमत्कार तब ही अनुभवमें आता है जब बढ़ाकर कथन किया जाता है। और यह कहना कि उसके निमित्तसे रागादिक बढ़ जाते हैं, ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार चैत्यालय बनाने वालेका प्रयोजन धर्म कार्य कराने का है यदि कोई पापी वहाँ पाप कार्य करने लगे तो चैत्यालय बनानेवालोंका दोष नहीं है। उसी प्रकार श्रीगुरुने पुराणादिकमें शृङ्गारादिकका वर्णन किया है वहाँ उनका प्रयोजन रागादि करानेका नहीं है धर्ममें लगानेका है। यदि कोई पापी धर्म न कर रागादिक ही बढ़ावे तो श्रीगुरुका क्या दोष है?

प्रश्न—वह रागादिकका निमित्त है अतः उसका कथन ही न करना चाहिए था।

उत्तर—सरागी जीवों का मन केवल वैराग्य कथनमें नहीं लगता, इसलिए जैसे बालकको बतासेके सहारे औषधि दी जाती है वैसे ही सरागियोंकी भोगादिक कथनके सहारे धर्ममें रुचि कराई जाती है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो विरागी पुरुषोंको ऐसे ग्रन्थोंका अभ्यास करना ठीक नहीं?

उत्तर—जिनके अंतरंगमें रागभाव नहीं है उनके शृङ्गारादि कथन सुननेसे रागभाव होते ही नहीं। वह समझता है कि इसी प्रकार यहाँ कथन करनेकी पद्धति है।

प्रश्न—जिनके शृगांरादि कथन सुननेसे रागभाव हो आवे उनको तो यह कथन सुनना योग्य नहीं?

उत्तर—जहां धर्मका ही प्रयोजन और यत्र तत्र धर्मका ही पोषण है ऐसे जैन पुराणादिकों में प्रसंग पाकर यदि कहीं श्रृङ्गारादिकका कथन भी है और उसको सुननेसे भी जो बहुत रागी होजाता है तो दूसरी जगह कहाँ विरागी होगा ? पुराण सुनना छोड़कर वह और कार्य भी ऐसा ही करेगा जहाँ बहुत रागादि हों। इसलिए उसके भी पुराण सुननेसे थोड़ी बहुत धर्म बुद्धि होगी तो होगी। और कार्योंसे तो यह कार्य अच्छा ही है।

प्रश्न—प्रथमानुयोगमें अन्य जीवोंकी कहानी है उससे अपना क्या काम सधता है ?

उत्तर—जैसे कामी पुरुषोंकी कथा सुननेसे अपने भी कामका प्रेम बढ़ता है वैसे ही धर्मात्मा पुरुषोंकी कथा सुननेसे अपने भी धर्मकी प्रतीति विशेष बढ़ती है। इसलिए प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य है।

किन्हीं जीवोंका कहना है—करणानुयोगमें गुणस्थान, मार्गणादिक कर्मप्रकृतियों तथा त्रिलोकादिकका कथन किया है। उनको इतना भर जान लेनेसे "यह ऐसे है" "यह इस प्रकार है" अपना क्या कार्य सिद्ध होता है ? या तो भक्ति की जाए या व्रत दानादि किये जायें या आत्मानुभव किया जाय इनसे अपना भला होता है। उनके लिए यह उत्तर है कि—

परमेश्वर तो वीतराग है। भक्ति करनेपर प्रसन्न होकर वह कुछ करता नहीं है। भक्ति करने से जो मंद कषाय होती है उसका स्वयं ही उत्तम फल होता है। यह मंद कषाय करणानुयोगके अभ्याससे और भी अधिक होती है, इसलिए इसका फल उत्तम होता है। व्रत दानादिक तो कषाय घटानेके बाह्य निमित्तके साधन हैं, और चरणानुयोगके अभ्याससे उपयोग उसमें लग जाता है तब रागादिक दूर होते हैं यह अंतरंग निमित्तका साधन है। इसलिए यह विशेष कार्यकारी है। व्रतादि धारणकर अध्ययनादि किया जाता है। आत्मानुभव सर्वोत्तम कार्य है, परन्तु सामान्य अनुभवमें उपयोग स्थिर नहीं होता और स्थिर नहीं होनेपर अन्य विकल्प होते हैं। यदि करणानुयोगका अभ्यास हो तो उस विचारमें उपयोग लगावे। यह विचार वर्तमानमें भी रागादिकको घटाते हैं और आगामी रागादि घटानेके कारण हैं, इसलिए यहाँ उपयोग लगाना चाहिए। जीव कर्मादिकके नाना प्रकार भेद जानता है उनमें रागादि करनेका प्रयोजन नहीं है इसलिए रागादि बढ़ते नहीं हैं। वीतराग होनेका प्रयोजन जहाँ तहाँ प्रगट है इसलिए रागादि मिटानेका कारण है।

प्रश्न—कोई कथन तो ऐसे ही हैं, परन्तु द्वीप समुद्रादिकके योजनादि निरूपणसे क्या लाभ है ?

उत्तर—उनको जाननेसे कुछ उनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं होती इसलिए पूर्वोक्त सिद्धि होती है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिसमें कुछ प्रयोजन नहीं ऐसे पाषाणादिकको जाननेमें भी इष्ट अनिष्टपना नहीं होता। तब वह भी कार्यकारी हुआ।

उत्तर—सरागी जीव रागादि प्रयोजन विना किसीको जाननेका प्रयत्न नहीं करता। अगर स्वयं ही उनका जानना हो जाय तो अंतरंग रागादिकके अभिप्रायके वशसे वहाँसे उपयोग हटाना ही चाहता है। यहां प्रयत्नपूर्वक द्वीप समुद्रादिकको जानता है और उनमें उपयोग लगाता है सो रागादि घटानेपर ऐसा कार्य होता है। पाषाणादिकमें भी सांसारिक कोई प्रयोजन अनुभवमें आ जाय तो रागादिक हो आते हैं। और द्वीपादिकमें इस लोक संबंधी कार्य कुछ है नहीं, इसलिए रागादिकका कोई कारण नहीं है। अगर स्वर्गादिककी रचना सुनकर वहां राग हो तो परलोक संबंधी होगा। उसका कारण जब पुण्यको जानेगा तब पाप छोड़कर पुण्यमें प्रवृत्ति करेगा। इतना ही नफा होता है। दूसरे द्वीपादिकके जाननेके बाद जब ठीक २ रचना मालूम होती है तब अन्य मतादिकका कहा हुआ झूंठ मालूम होता है। उस समय सत्य श्रद्धानी बन जाता है। तथा जबतक रचना जाननेसे भ्रम मिटता है तबतक उपयोगकी निर्मलता होती है, इसलिये यह अभ्यास कार्यकारी है। किसीका कहना है कि करणानुयोगमें कठिनता बहुत है इसलिए इसके अभ्यास में खेद होता है उसके प्रति यह उत्तर है कि जो वस्तु शीघ्र जाननेमें आती है वहाँ उपयोग उलझता नहीं है और जानी हुई वस्तुका बारंबार जाननेका उत्साह होता नहीं है, तब पाप कार्योंमें उपयोग लग जाता है। इसलिए अपनी बुद्धि अनुसार कठिनतासे भी जिसका अभ्यास होता जाने उसका अभ्यास करना चाहिए। और जिसका अभ्यास हो ही न सके उसका कैसे करे? और यह जो कहा है कि खेद होता है सो भला प्रमादी होनेमें तो धर्म है नहीं। प्रमाद में सुखी रहता है तो वहाँ पाप होता है। इसलिए धर्मके लिए प्रयत्न करना ही युक्त है। इस तरह विचार कर करणानुयोगका अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न—करणानुयोगमें बाह्य व्रतादि साधनका उपदेश है इनसे कुछ सिद्धि नहीं है। अपने परिणाम निर्मल चाहिए बाह्यमें चाहे जैसे प्रवृत्ति करो। इसलिए इस उपदेशसे पराङ्मुख रहते हैं।

उत्तर—आत्म परिणामोंमें और बाह्यप्रवृत्तिमें निमित्त नैमित्तिक संबंध है क्योंकि छद्मस्थ की क्रिया परिणामपूर्वक होतीं है। कदाचित् विना परिणामोंके कोई क्रिया होती है तो वह परवश होती है। अपने यत्नपूर्वक कार्य किया जाय और यह कहा जाय कि परिणाम इस रूप नहीं हैं यह भ्रम है। अथवा बाह्य पदार्थोंका आश्रय पाकर परिणाम हो सकते हैं। इसलिए परिणाम मिटानेके लिए बाह्य वस्तुका निषेध करना समयसारादिमें कहा है। इस ही लिए रागादि भाव घटनेपर बाह्यमें ऐसे अनुक्रमसे श्रावक मुनि धर्म होता है। अथवा इस प्रकार श्रावक मुनि धर्म अङ्गीकार करनेपर पंचम षष्ठम गुणस्थानमें रागादि कम करने रूप परिणामोंकी प्राप्ति होती है। इस

तरह निरूपण चरणानुयोगमें किया है। यदि बाह्य संख्यासे कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिके वासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी हैं उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्यके पंचम गुणस्थान होता है इसका क्या कारण है? तथा तीर्थंकर गृहस्थपद छोड़कर किसलिए संयम लें। इसलिए यह नियम है कि बाह्य संयम साधे विना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते। इसलिये बाह्य साधनविधान जाननेके लिये चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य ही करना चाहिए।

प्रश्न—द्रव्यानुयोगमें व्रत संयमादि व्यवहार धर्मका तो हीनपना प्रकट किया है। सम्यग्दृष्टिके विषयभोगादिकों को निर्जराका कारण कहा है। इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छंद होकर पुण्य छोड़ पापमें प्रवृत्ति करेंगें। इसलिए इनका बांचना सुनना ठीक नहीं है।

उत्तर—जैसे गधा मिश्री खाकर मरे तो मनुष्य मिश्री खाना नहीं छोड़ता। वैसे ही यदि विपरीत बुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुन स्वच्छंद होते हैं तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थ का अभ्यास नहीं छोड़ते। इतना करना चाहिए कि जो स्वच्छंद होता दीखे वह स्वच्छंद न हो वैसा उसे उपदेश देना चाहिए। अध्यात्म ग्रन्थोंमें भी स्वच्छंद होनेका जहाँ तहाँ निषेध किया है। इसलिए जो अच्छी तरह उसे सुनता है वह तो स्वच्छंद होता नहीं और एक बात सुन कर अपने अभिप्रायसे कोई स्वच्छंद होता है तो ग्रन्थका दोष नहीं, उसजीव हीका दोष है। यदि झूठे दोष की कल्पनासे अध्यात्म शास्त्रोंके बांचनेका निषेध किया जाय तो मोक्षमार्गका मूल उपदेश तो वहाँ ही है उसका निषेध करनेपर मोक्षमार्गका निषेध होता है। जैसे मेघवर्षा होनेपर बहुत जीवोंका कल्याण होता है और किसीके उल्टा टोटा हो जाय तो उसकी मुख्यतासे मेघका तो निषेध नहीं करना चाहिए। वैसे ही सभामें अध्यात्म उपदेश होनेपर बहुत जीवोंको मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है और किसीके उल्टी पापकी प्रवृत्ति हो तो उसकी मुख्यतासे अध्यात्म शास्त्रोंका तो निषेध न करना चाहिए। अध्यात्मशास्त्रोंसे कोई स्वच्छंद होता है तो वह पहलेसे ही मिथ्यादृष्टि था अब भी मिथ्या-दृष्टि ही रहा। इतना ही टोटा हुआ कि सुगति न होकर कुगति हुई। अध्यात्म उपदेश नहीं होने पर बहुत से जीवोंको मोक्षमार्गकी प्राप्तिका अभाव हो जायगा। इसमें अधिक जीवोंका अधिक बुरा होगा। इसलिए अध्यात्म उपदेशका निषेध नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश तो उत्कृष्ट है। ऊँची दशाको प्राप्त होने वालोंके लिये ही कार्यकारी है। नीची दशावालों को तो व्रत संयम आदिका ही उपदेश देना योग्य है!

उत्तर—जिनमतमें तो यह परियाटी है कि पहले साम्यक्त्व होता है पीछे व्रत होता है। पर सम्यक्त्व स्वपरका श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोगके अभ्याससे होता है। इसलिए द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि होकर पीछे चरणानुयोगके अनुसार व्रतादिक धारण कर व्रती होता है। इस तरह मुख्यपनेसे तो नीची दशामें ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। गौणपनेसे जिसको मोक्षमार्गकी प्रतीति होती जाने उसको पहले कोई व्रतादिकका उपदेश

दे, क्योंकि ऊँचीदशा वालों को अध्यात्मका उपदेश अभ्यास योग्य- है ऐसा समझ कर नीचीदशा वालोंको वहाँसे पराङ्मुख होना योग्य नहीं। यदि कहा जायगा कि ऊँचे उपदेशका स्वरूप नीची दशावालों को भासता नही है तो यह ठीक नहीं है क्यों कि और तो अनेक प्रकारकी चतुराई जाने और यहाँ मूर्खपना प्रकट करे यह ठीक नहीं। अभ्यास करने पर स्वरूप अच्छाही प्रतिभासित होता है। अपनी बुद्धि अनुसार थोड़ा बहुत भासित तो होता है परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोपण करना तो जिनमार्गका द्वेषी होना है। और यदि यह कहा जाय कि अभी काल निकृष्ट है इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्मके उपदेशकी मुख्यता नही की है तो उसका उत्तर यह है कि अभी काल साक्षात् मोक्ष होने की अपेक्षा निकृष्ट है अतः आत्मानुभवनादिक के लिए द्रव्यानुयोगका अभ्यास करना चाहिऐ। वही बातपट् पाहुड़ में बतलाई है।

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पाज्झाऊण जंति सुरलोयं।
लोयंते देवत्तं तत्थ चया णिव्वुदिं जंति ॥ [मो० पा० ७०]

अर्थात् अब भी त्रिकरण शुद्धिसे जीव आत्माका ध्यान कर स्वर्ग लोकको प्राप्त होते हैं अथवा लोकान्तिकोंमें देवत्व को प्राप्त होते हैं। वहाँ से च्युत होकर मोक्ष जाते है। इसलिए इस कालमें द्रव्यानुयोगका उपदेश मुख्य चाहिए।

प्रश्न—द्रव्यानुयोगमें अध्यात्म शास्त्र है वहाँ स्वपर भेद विज्ञानादिकका जो उपदेश दिया है वह तो कार्यकारी भी अधिक है और समझमें शीघ्र आजाता है। परन्तु द्रव्य गुण पर्यायादिकका अथवा अन्य मतके कहे तत्त्वादिकका निराकरण करके जो कथन किया है उसके अभ्याससे विकल्प विशेष होते हैं। बहुत प्रयत्न करने पर जाननेमें आते हैं इसलिए उनका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

उत्तर—सामान्य जाननेसे विशेष जानना बलवान हैं, ज्यो २ विशेष जानता है त्यों २ वस्तुस्वभाव निर्मल भासित होता है। श्रद्धान दृढ़ हो रागादिक घटते हैं। इसलिए उसके अभ्यासमें प्रवृत्ति करना योग्य है। इस तरह चारों अनुयोगोंमें दोषोंकी कल्पना करके अभ्याससे परान्मुख होना योग्य नहीं है।

तथा व्याकरण न्यायादिक शास्त्र हैं उनका भी थोड़ा बहुत अभ्यास करना चाहिए, क्यों कि इधरके ज्ञान बिना बड़े शास्त्रोंका अर्थ भासित नहीं होता। तथा वस्तुका स्वरूप भी इनकी पद्धति जानने पर जैसा भासित होता है वैसा भाषादिकसे भासित नहीं होता। इससे परंपरा कार्यकारी समझकर इनका भी अभ्यास करना चाहिए परन्तु इनहीमें फंस न जाना चाहिए। थोड़ा इनका अभ्यास कर प्रयोजनभूत शास्त्रोंके अभ्यासमें प्रवृत्ति करना उचित है। वैद्यकादि शास्त्रोंसे मोक्षमार्गमें कुछ प्रयोजन नहीं है। इसलिए किसी व्यवहार धर्मके अभिप्रायसे बिना खेद इनका अभ्यास हो जाय तो उपकारादि करना चाहिए, पापरूप प्रवृत्ति नहीं। और यदि इनका अभ्यास

न हो तो मत हो, बिगाड़ कुछ नहीं है। इस तरह जिनमतके शास्त्र निर्दोष समझकर उनका अभ्यास करना चाहिए।

अनुयोगों में आपेक्षिक उपदेश

अब शास्त्रोंमें अपेक्षादिक को न समझकर परस्पर जो विरोध मालूम देता है उसका निराकरण करते हैं। प्रथमादि अनुयोगोंकी आम्नायके अनुसार जहाँ जैसा कथन किया हो वहां वैसा समझ लेना चाहिए और अनुयोगोंके कथनसे अन्यथा जानकर संदेह नहीं करना चाहिए। जैसे कहीं तो निर्मल सम्यग्दृष्टि ही के शंका कांक्षा विचिकित्सा का अभाव बतलाया है। कहीं भयका आठवे गुणस्थान तक, लोभका दशम गुणस्थान तक,जुगुप्साका आठवे गुणस्थान तक उदय कहा है। उसमें विरोध न समझना चाहिए। श्रद्धान पूर्वक तीव्र शंकादिकका सम्यग्दृष्टिके अभाव हो जाता है अथवा मुख्यतासे सम्यग्दृष्टि शंकादिक नहीं करता है इस अपेक्षासे चरणानुयोगमें सम्यग्दृष्टिके शंकादिकका अभाव कहा है। तथा सूक्ष्मशक्तिकी अपेक्षा भयादिकका उदय अष्टम गुणस्थान तक पाया जाता है इसलिए करणानुयोगमें वहाँ तक उनका सद्भाव बतलाया है। इसी प्रकार अन्य समझना चाहिए। पहले अनुयोगोंके उपदेश विधानमें कई उदाहरण बतलाए है वे जान लेना चाहिए अथवा अपनी बुद्धिसे ही समझ लेना चाहिए। एक ही अनुयोगमें विवक्षाके वशसे अनेक रूप कथन किया जाता है। जैसे करणानुयोगमें प्रमादोंका सप्तमगुणस्थानमें अभाव कहा है और वहीं कषायों को प्रमादोंमें भी गिनाया है तथा उनका सद्भाव दशमगुणस्थान तक लिखा है इससे कुछ विरोध न समझना चाहिए; क्यों कि यहाँ प्रमादोंमें तो शुभ अशुभ भावों के अभिप्रायको लेकर जो कषायादिक होते हैं उनका ग्रहण है और सप्तम गुणस्थानमें यह अभिप्राय दूर होगया है इसलिए उनका वहाँ अभाव बतलाया है। तथा सूक्ष्मादि भावोंकी अपेक्षा उन्हींका दशमादि गुणस्थान पर्यन्त सद्भाव कहा है। इसी तरह चरणानुयोगमें चोरी, पर स्त्री आदि सप्तव्यसनका त्याग प्रथम प्रतिमामें कहा है। वहाँ ही उनका त्याग द्वितीय प्रतिमामें भी कहा है। इसमें कुछ विरुद्धता नहीं है, क्यों कि सप्त व्यसनमें तो चोरी आदि ऐसे कार्य ग्रहण किये हैं जिनसे दण्ड आदि मिलता है तथा लोकमें निन्दा होती है। तथा व्रतोंमें चोरी आदि त्याग करने योग्य ऐसे कहे हैं कि जो गृहस्थ धर्ममें विरुद्ध हों तथा कुछ लोक निंद्य हों। इसीप्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। इसी तरह कहीं नाना भावों की अपेक्षासे एक ही भाव को अन्य २ प्रकार निरूपण किया है। जैसे कहीं तो महाव्रतादिकको चारित्रका भेद कहा है, कहीं महाव्रतादि होते हुए भी द्रव्यलिंगीको असंयमी कहा है। उसमें विरोध न समझना चाहिए क्यों कि सम्यग्ज्ञान सहित महाव्रतादिक तो चारित्र हैं और अज्ञानपूर्वक व्रतादिक होते हुए भी असंयमी है। तथा जिसप्रकार पांच मिथ्यात्वोंमें भी विनय कहा है और बारह प्रकार तपोंमें भी विनय कहा है। इसमें विरोध नहीं है क्यों कि जो विनय करने योग्य नहीं है उनकी विनयसे भी धर्म मानना यह तो विनय मिथ्यात्व है। और धर्म पद्धतिसे जो विनय करने योग्य है उनका यथा योग्य विनय करना यह विनय तप है। तथा जिस प्रकार कहीं तो

अभिमानकी निन्दा की और कहीं प्रशंसा की। इसमें विरोध नही है क्यों कि मान कषायसे अपनेको ऊँचा माननेके लिए विनयादि न करना यह अभिमान तो निंद्य ही है और निर्लोभपनेसे दीनता आदि न करना वह अभिमान प्रशंसा योग्य है। तथा जिसप्रकार कहीं चतुराई की निंदा की कहीं प्रशंसाकी। इसमें भी कुछ विरोध नहीं है क्यों कि मान कषायसे किसीको ठगनेके लिए चतुराई करना तो निंद्य ही है और विवेक के साथ यथासंभव कार्य करनेमें चतुराई होना यह श्लाध्य ही है। इसी तरह अन्य भी समझना चाहिए। तथा एक ही भावमें कहीं तो उससे उत्कृष्ट भावकी अपेक्षासे निंदा की हुई होती है और कही उससे हीन भावकी अपेक्षासे प्रशंसा की हुई होती है। इसमें विरोध नहीं है। जैसे किसी शुभ क्रियाकी निंदा की हो तो वह उससे ऊँची शुभ क्रिया या शुद्ध भावों की अपेक्षा जानना चाहिए और जहाँ प्रशंसा की हो वहाँ उससे नीची क्रिया या अशुभ क्रियाकी अपेक्षा समझना चाहिए। तथा इसी तरह जहाँ किसी जीवकी ऊँचे जीव की अपेक्षा निंदा की हो वहाँ सर्वथा निन्दा न समझना चाहिए। और किसी नीचे जीवकी अपेक्षा प्रशंसा की हो तो सर्वथा प्रशंसा न जानना चाहिए। यथासंभव उसके गुणदोष जान लेना भर चाहिए। इसी प्रकार अन्य व्याख्यान जिस अपेक्षा लेकर किया हो उस अपेक्षा उसका अर्थ समझना चाहिए। तथा कहीं तो एक ही शब्दका कोई अर्थ है और कहीं कोई अर्थ होता है वहाँ प्रकरण पहचान कर संभव अर्थ करना चाहिए। जैसे मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन कहा है वहाँ दर्शन शब्दका अर्थ श्रद्धान है और उपयोगके वर्णनमें दर्शन शब्दका अर्थ सामान्य ग्रहण मात्र है। और इन्द्रिय वर्णनमें दर्शन शब्दका अर्थ नेत्रसे देखना मात्र है। तथा जैसे सूक्ष्म वादरका अर्थ वस्तुओंके प्रमाणादिक कथनमें छोटे प्रमाणको जो लिए हुए हो वह सूक्ष्म है और वड़े प्रमाणको लिये जो हो वह वादर है। जीवादिके कथनमें ऋद्धि आदिके निमित्त विना स्वयं ही जो नहीं रुकता उसका नाम सूक्ष्म है और जो रुकता है उसका नाम वादर है। वस्तु आदिके कथनमें महीनताका नाम सूक्ष्म है, मोटेका नाम वादर है। चरणानुयोगके कथनमें जो पुद्गल स्कंधके निमित्तसे नहीं रुकता उसका नाम सूक्ष्म है और जो रुकजाता है उसका नाम वादर है।

प्रत्यक्ष शब्दका अर्थ लोक व्यवहारमें तो इन्द्रियों द्वारा जाननेका है। प्रमाणके भेदोमें स्पष्ट व्यवहारप्रतिभास का नाम प्रत्यक्ष है। आत्मानुभवनादिमें अपनेमें अवस्थान का नाम प्रत्यक्ष है। तथा जिसप्रकार मिथ्यादृष्टिके अज्ञान कहनेमें सर्वथा ज्ञान का अभाव नहीं है किन्तु सम्यग्ज्ञानके अभावसे अज्ञान है। तथा जिस प्रकार उदीरणा शब्दका अर्थ जहां देवादिकके उदीरणा नहीं वतलाई है वहाँ तो अन्य निमित्तसे जो मरण होता है उसका नाम उदीरणा है और दशकरणोंके कथनमें जो उदीरणाकरण देवायुका भी कहा है वहाँ ऊपरके निषेकोंका द्रव्य उदयावली में देनेका नाम उदीरणा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी यथा संभव अर्थ जानना चाहिए। तथा एकही शब्दके पूर्व शब्द जोड़नेसे अनेक प्रकार अर्थ होते हैं अथवा उसही शब्दके अनेक अर्थ है जहाँ जैसा संभव अर्थ हो वहाँ वैसा समझलेना चाहिए। जैसे जो जीते उसका

नाम जिन है। परन्तु धर्मपद्धतिमें कर्मशत्रुके जीतने वालेका नाम जिन है। यहाँ कर्मशत्रु शब्द को पहले जोड़नेसे जो अर्थ है वह ग्रहण किया है। अन्य नहीं। तथा जैसे, जो प्राण धारण करे उसका नाम जीव है, यहां जहाँ जीवन मरण के व्यवहार की अपेक्षा कथन हो वहाँ जो इन्द्रियादि प्राण धारण करे उसका नाम जीव है। और जहाँ द्रव्यादिकके निश्चय स्वरूपकी अपेक्षा कथन हो वहाँ जो "चैतन्य प्राण को धारण करे" उसका नाम जीव है। तथा जैसे समय शब्दके अनेक अर्थ हैं,—कहीं समय का अर्थ आत्मा है, कहीं सर्व पदार्थोंका नाम समय है, कहीं कालका नाम समय है, कहीं समय मात्र कालका नाम समय है, कहीं शास्त्रका नाम समय है, कहीं मनका नाम समय है। इस तरह अनेकों अर्थोंमें जैसा जहाँ संभव हों समझ लेना चाहिए। इसी तरह कहीं तो अर्थकी अपेक्षा नामादिक कहे हैं, कहीं रूढ़िकी अपेक्षा नामादिक कहे हैं। जहाँ रूढ़िकी अपेक्षा नाम लिखा हो वहाँ उसका शब्दार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। किन्तु जो रूढ़ि अर्थ है वही लेना चाहिए। जैसे सम्यक्त्व आदिक को धर्म कहा है यहाँ यह जीव को उत्तम स्थानमें धारण कराता है इसलिए इसका नाम सार्थक है। और जहाँ धर्मद्रव्यका नाम धर्म कहा है वहाँ रूढ़ि नाम है उसका अक्षरार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस नामकी एक वस्तु है ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। तथा कहीं शब्दका जो अर्थ होता है वह तो ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु प्रयोजनभूत अर्थका ग्रहण होता है। जैसे कहीं किसी का अभाव कहा हो और वहाँ कुछ सद्भाव पाया जाय तो वहाँ सर्व अभाव ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि कुछ सद्भाव को न गिनकर अभाव कहा है। सम्यग्दृष्टिके जहाँ रागादिकका अभाव कहा है वहाँ ऐसा ही अर्थ जानना चाहिए। इसी तरह नोकषाय का अर्थ तो है कषाय का निषेध परन्तु यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है किन्तु क्रोधादिके समान ये कषायें नहीं हैं किंचित् कषाय हैं इसलिए नोकषाय है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। तथा जैसे कहीं कोई युक्तिसे कथन किया हो तो वहाँ प्रयोजन ग्रहण करना चाहिए। समयसारके कलशमें कहा है "धोबीके दृष्टांत की तरह परभावके त्यागकी दृष्टि प्रवृत्तिको प्राप्त हुइ नहीं कि अनुभूति प्रकट हो जाती है।" यहाँ इसका यह प्रयोजन है कि परभावका त्याग होते ही अनुभूति प्रकट होती है। किन्तु लोकमें किसीके आते ही कोई कार्य होता है तो वहाँ ऐसे कहा जाता है कि वह आया नहीं कि यह कार्य हो गया। इसी तरह यहाँ प्रयोजन ग्रहण करना चाहिए। तथा जैसे जहाँ प्रमाणादिक कुछ कहा हो तो वही न मान लेना चाहिए। ज्ञानार्णवमें कहा है कि "अभी दो तीन सत्पुरुष हैं"[1] पर यह नियमसे ही इतने नहीं हैं यहाँ "थोड़े हैं" ऐसा मतलब जानना चाहिए। इस ही तरह से और भी अनेक प्रकार शब्दोंके अर्थ हैं उनको यथासंभव जमा लेना चाहिए, विपरीत, अर्थ नहीं लेना चाहिये

१—दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया, विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं, ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते संति द्वित्रा यदि॥८८।२४

तथा जो उपदेश हो उसे यथार्थ पहचानकर उसमें से अपने योग्य उपदेश को ग्रहण करना चाहिए। जैसे वैद्यकशास्त्रमें अनेक औषधियां कही हैं उनको जानता है लेकिन ग्रहण उन्हींका करता है जिनसे अपना रोग दूर होता है। अपने शीतरोग हो तो उष्ण औषधिका ही ग्रहण करता है। शीतल औषधियोंका ग्रहण नहीं करता। यह औरों को कार्यकारी है ऐसा जानता है। उसी प्रकार जैन शास्त्रोंमें अनेक उपदेश हैं उनका ज्ञान तो करे लेकिन ग्रहण उसे ही करे जिससे अपना विकार दूर हो जाय। अपने जो विकार हो उसका निषेध करनेवाला उपदेश ग्रहण करे उसके पोषक उपदेशको ग्रहण न करे। यह उपदेश औरों को कार्यकारी है ऐसा समझे। यहाँ उदाहरण कहते हैं। जैसे शास्त्रमें कहीं निश्चय पोषक उपदेश है कहीं व्यवहारपोषक उपदेश है। यदि अपने व्यवहार उपदेशका आधिक्य हो तो निश्चयपोषक उपदेशको ग्रहण कर यथावत् प्रवृत्ति करे। और यदि निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहारपोषक उपदेशको ग्रहण कर यथावत् प्रवृत्ति करे। तथा पहले तो व्यवहार श्रद्धानके द्वारा आत्मज्ञानसे भ्रष्ट हो रहा था पीछे व्यवहार उपदेशकी ही मुख्यतासे आत्मज्ञान का उद्यम न करे अथवा पहले निश्चय श्रद्धानके द्वारा वैराग्यसे भ्रष्ट हो स्वच्छंद हो रहा था पीछे निश्चय उपदेश की ही मुख्यतासे विषयकषायका पोषण करे इस प्रकार विपरीत उपदेश ग्रहण करनेसे बुरा ही होता है। तथा जैसे आत्मानुशासन में कहा है "यदि तू गुणवान है तो दोष क्यों लगाता है, दोषवान होना था तो दोषमय ही क्यों न हुआ"[1]। अतः जो जीव स्वयं तो गुणवान है और कोई दोष लगाता हो तो उसका दोष दूर करनेके लिए उस उपदेश को अङ्गीकार करना चाहिए। तथा यदि आप दोषवान हो और इस उपदेशको ग्रहण कर गुणवान पुरुष को नीचा दिखावे तो बुरा ही होगा। सर्वदोषमय होनेसे तो किंचित् दोषरूप होना बुरा नहीं है। इसलिए तुझसे तो अच्छा है। और यहाँ पर जो कहा है कि तू दोषमय ही क्यों न हुआ, यह केवल तर्क है कुछ सर्वदोषमय होने के लिए यह उपदेश नहीं है। गुणवान की यदि थोड़ा दोष होनेपर भी निंदा है तो सब दोष रहित तो सिद्ध हैं। नीची दशामें तो कोई गुण कोई दोष ही होता है।

प्रश्न-यह बात है तो 'मुनि लिंग धारण कर कुछ भी परिग्रह रक्खेगा वह भी निगोद जायगा' ऐसा षट्पाहुड़ में कहा है[2]।

उत्तर-ऊँचा पद धारण कर उस पदमें संभव नीच कार्य करता है तो प्रतिज्ञाभंगादि होनेसे महादोष लगता है। और नीचे पदमें संभवता गुण दोष हो तो हों वहाँ उसका दोष ग्रहण करना योग्य नहीं। ऐसा समझना चाहिए। तथा "उपदेश सिद्धान्तरत्नमालामें" कहा है।

१—हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वम् तद्वान्भवे किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नयामलमलं तव घोषयन्त्या स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥१४१॥

२—जह जायरूवसरिसो तिलतुसमत्तं ण गहदि अत्थेसु। जइ लेइ अप्पवहुअं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं ॥१८॥

अज्ञानुसार उपदेश देने वाले का क्रोध भी क्षमा का भंडार है[1] । यह उपदेश वक्ता को ग्रहण करना योग्य नहीं । इस उपदेशसे वक्ता क्रोध किया करे तो बुरा ही होगा । यह उपदेश श्रोताओं को ग्रहण करना योग्य है । कदाचित वक्ता क्रोध करके भी सच्चा उपदेश दे तो श्रोता गुणही मानते है । इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिए । तथा जैसे किसीके अति शीतांग रोग हो उसके लिए अति उष्ण रसादिक औषधि कही है उस औषधिको जिसके दाह हो अथवा तुच्छ शीत हो वह ग्रहण करे तो दुख ही पावेगा । वैसे ही किसीके किसी कार्य की अति मुख्यता हो उसके लिए उसके निषेध का कड़ाई के साथ उपदेश दिया गया हो तो वह जिसके उस कार्य की मुख्यता नहीं है अथवा थोड़ी मुख्यता है ग्रहण करे तो बुराही होगा । उदाहरणके लिए जैसे किसी के शास्त्राभ्यासकी अति मुख्यता है और आत्मानुभव का प्रयत्न नही है उसके लिए बहुत शास्त्राभ्यास का निषेध किया है । तथा जिसके शास्त्राभ्यास नहीं है अथवा थोड़ा शास्त्राभ्यास है वह जीव उस उपदेशसे शास्त्राभ्यास छोड़दे और आत्मानुभवमें उपयोग न रक्खे तब उसका तो बुरा ही होगा । तथा जैसे किसीके यँज्ञ, स्नानानादिके द्वारा हिंसासे धर्म मानने की मुख्यता है उसके लिए "अगर पृथ्वी भी उलट जाय तो भी हिंसा करने पर पुण्यफल नहीं होता" ऐसा उपदेश दिया । किन्तु जो जीव पूजनादि कार्यसे कुछ हिंसा लगाते हैं और बहुत गुण पैदा करते हैं वे जीव यदि इस उपदेशसे पूजनादि कार्य छोड़दें और हिंसा रहित सामायिकादि धर्ममें उपयोग नहीं लगावें तब उनका तो बुरा ही होगा । इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए । तथा जैसे कोई औषधि गुणकारी है परन्तु अपना जब तक उस औषधिसे हितहो तब तक तो उसका ग्रहण करे । बाद में शीत मिटने पर भी अगर उष्ण औषधिका सेवन करता ही रहे तो उल्टा रोग ही होगा । उसी प्रकार कोई कार्य है परन्तु जब तक उस धर्म कार्यसे अपना हितहो तब तक तो उसका ग्रहण करे । बादमें ऊँची दशा होते हुए अगर नीची दशा संबंधी धर्मके सेवनमें लगे तो उल्टा बिगाड़ ही होता है । उदाहरणके लिए जैसे पाप मिटानेके लिए प्रतिक्रमणादि धर्म कार्य बतलाए हैं किन्तु आत्मानुभव होते हुए भी यदि प्रतिक्रमणा-दिका विकल्प करता है तो उल्टा विकार बढ़ाता है । इसी कारण समयसारमें प्रतिक्रमणादिको विष कहा है । तथा जैसे अव्रतीके करने योग्य प्रभावनादि धर्म कार्य बतलाए हैं उनको व्रती होकर करे तो पाप ही बांधेगा । व्यापारादि आरंभ छोड़कर चैत्यालयादि कार्यों का अधिकारी बने तो कैसे ठीक कहा जा सकता है इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए । तथा जिस प्रकार पाकादि औषधियाँ पुष्ट कारी हैं परन्तु उन्हें वीर मनुष्य ग्रहण करे तो महान अनर्थ होगा । उसी प्रकार ऊँचा धर्म बहुत अच्छा है, परन्तु अपने विकार भाव दूर न कर ऊँचा धर्म ग्रहण करे तो महा अनर्थ होगा । उदाहरणके लिए जैसे अपना अशुभ विकार तो न छूटा हो और निर्विकल्पदशा को अंगीकार करने लगे तो उल्टा विकार बढ़ेगा । जैसे व्यापारादि करने का विचार तो न छूटा हो और त्यागभेपरूप धर्म अङ्गीकार करे तो महा दोप उत्पन्न होगा । तथा जैसे

१—रासांवि खमाकोसो सुत्तं भासंत जस्सण्धणस्स (?) उस्सूत्तेण खमावि य दोषमहामोहआवासो ॥ १४ ॥

भोजनादि विषयोंमें तो आसक्त हो और आरंभत्यागादि धर्म को अंगीकार करे तो बुरा ही होगा। इसी प्रकार और भी सत्य विचारसे उपदेश को यथार्थ जानकर अङ्गीकार करना चाहिए। अधिक विस्तार कहाँ तक किया जाय। अपने सम्यग्ज्ञान होनेपर स्वयंको ही यथार्थ प्रतिभासित होगा। उपदेश तो वचनात्मक है। वचन से अनेक अर्थ एक साथ नहीं कहे जा सकते। इसलिए उपदेश तो एक ही पदार्थ की मुख्यता लेकर है। तथा जिस अर्थ का जहाँ वर्णन है वहाँ उस की ही मुख्यता है यदि दूसरे अर्थ की भी वही मुख्यता कर दी जाय तो दोनों उपदेश दृढ़ नहीं हो सकते। इसलिए उपदेशमें एक अर्थ को दृढ़ करना चाहिए। परन्तु सम्पूर्ण जिनमत का चिन्ह स्याद्वाद है। "स्यात्" पद का अर्थ कथंचित् है इसलिये जो उपदेश हो उसको सर्वथा न समझ लेना चाहिए। उपदेशके अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना चाहिए कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन को लेकर है, किस जीव को कार्य कारी है। इत्यादि विचार कर उस अर्थ का ग्रहण करे, पीछे अपनी दशामें जो उपदेश जैसे अपने को लाभ दायक हो वैसे उसको स्वयं अंगीकार करे। और जो उपदेश जानने योग्यही हो उसको यथार्थ जानलेना चाहिए। इस प्रकार उपदेश का फल प्राप्त करे।

प्रश्न—अगर कोई अल्पबुद्धि इतना न विचार सके तो क्या करे?

उत्तर—जैसे व्यापारी अपनी बुद्धिके अनुसार जो समझे वह थोड़ा बहुत व्यापार करे परन्तु उसे नफे घाटे का ज्ञान तो अवश्य चाहिए। वैसे ही विवेकी अपनी बुद्धि के अनुसार जो समझे वह थोड़ा या बहुत उपदेश ग्रहणकरे परन्तु 'मुझको यह कार्यकारी है यह अकार्यकारी है' इतना तो ज्ञान अवश्य चाहिए। कार्यकारीसे मतलब यह है कि यथार्थ श्रद्धान ज्ञानसे रागादि घटाना यह कार्य अपना पूरा हो यही उपदेश का प्रयोजन ग्रहण करना चाहिए। विशेष ज्ञान न हो तो प्रयोजन को तो न भूले, यह तो सावधानी अवश्य चाहिए। जिसमें अपने हितकी हानि हो वैसे उपदेश का अर्थ समझना योग्य नहीं। इसप्रकार स्याद्वाद दृष्टिको लेकर जैनशास्त्रों का अभ्यास करने पर अपना कल्याण होता है।

प्रश्न—जहाँ अन्य २ प्रकार संभव न हो वहाँ तो स्याद्वाद संभव है जहाँ एक ही प्रकारसे शास्त्रोंमें विरुद्धता प्रतीत हो वहाँ क्या किया जाय? जैसे प्रथमानुयोगमें एक तीर्थंकरके साथ हजारों मुक्त गए बताए है, करणानुयोगमें छः महीने आठ समयमें छः सो आठ जीव मुक्त जाते है ऐसा नियम बताया है। प्रथमानुयोगमें कथन है कि देव देवांगना उत्पन्न हो कर पीछे मर साथ ही मनुष्यादि पर्यायोंमें उत्पन्न होते है। करणानुयोगमें देवोंकी सागरों प्रमाण देवांगनाओंकी पल्यों प्रमाण आयु बतलाई है, इत्यादि विधि कैसे मिलेगी?

उत्तर—करणानुयोगमें कथन तो तारतम्य लेकर है, अन्य अनुयोगोंके कथन प्रयोजनके अनुसार हैं। इसलिए करणानुयोगमें तो जैसा कथन किया है वैसा ही है। औरोंके कथन की जैसे विधि

मिले वैसे मिला लेनी चाहिए। जहाँ हजारों मुनि तीर्थंकरके साथ मुक्ति गए बताए हैं वहाँ यह समझना चाहिए कि एक ही कालमें इतने मुक्त नहीं गए हैं। जहाँ तीर्थंकर गमनागमनादि क्रिया रोक कर स्थिर हुए वहाँ उनके साथ इतने मुनि स्थिर हुए। मुक्त आगे पीछे गए। इस तरह प्रथमानुयोग करणानुयोग का विरोध दूर होता है। देव देवाङ्गना साथ उत्पन्न होते है बाद में देवांगना चयकर बीचमें अन्यपर्याय धारण करती है लेकिन उन पर्यायोंका प्रयोजन न समझकर कथन नहीं किया, बादमें साथ २ मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होते हैं। इस तरह विधि मिलाने पर विरोध दूर होजाता है।

प्रश्न—क्या ऐसे कथनमें भी किसी प्रकार विधि मिल सकती है कि नेमिनाथ स्वामी का कहीं सौरीपुरमें जन्म लिखा है, कहीं द्वारावतीमें लिखा है। रामचन्द्रादिक की कथा भिन्न २ प्रकार लिखी है, एकेन्द्रियादिक को कहीं सासादन गुणस्थान लिखा है।

उत्तर—इस प्रकार विरोध को लेकर कथन कालदोषसे हुए हैं। इस कालमें प्रत्यक्ष ज्ञान व बहुश्रुतों का तो अभाव हुआ और अल्पबुद्धि ग्रन्थ करनेके अधिकारी हुए। उनको भ्रमसे कोई अर्थ अन्यथा मालूम दिया तो उसे कैसे लिखे। अथवा उस कालमें बहुतसे जैनमतमें भी कषायी हुए है, उन्होंने कोई कारण पाकर अन्यथा कथन लिख दिया [illegible] शास्त्रोंमें विरोध मालूम देने लगा। लेकिन जहाँ विरोध प्रतीत हो वहाँ इतना करना चाहिए कि इस कथनके करने वाले बहुत प्रामाणिक है या इस कथनके करने वाले बहुत प्रामाणिक हैं, इस तरह विचार कर बड़े आचार्यों का कहा हुआ कथन प्रमाण करना चाहिए। तथा जिनमतके बहुत शास्त्र हैं उनकी आम्नाय मिला लेना चाहिए। जो परंपरा आम्नाय मिलती हो वही प्रमाण करना चाहिए। ऐसे विचार करने पर भी सत्य असत्य का निर्णय न हो सके तो 'जैसे केवलीने कहा है वैसे प्रमाण है' ऐसा मान लेना चाहिए, क्यों कि जिनदेवादिक तत्वादिक का निर्णयहुए बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। उनका तो फिर भी निश्चय हो सकता है कारण कि किसीने इनका विरुद्ध स्वरूप कहा हो तो स्वयं को ही मालूम हो जाता है किन्तु यदि अन्य कथन का निर्धारण न हो अथवा संशयादि रहे या अन्यथा ज्ञान हो जाय और केवली का कहा हुआ प्रमाण है ऐसा श्रद्धान रहे तो मोक्षमार्गमें विघ्न नहीं है ऐसा समझना चाहिए।

शंका—जैसे जिनमतमें नाना प्रकार कथन है वैसे अन्यमतमें भी पाया जाता हैं। तुमने अपने कथन का तो जैसे तैसे स्थापन कर लिया लेकिन अन्यमतके कथन को तुमदोष लगाते हो यह तुम्हारे राग द्वेष हैं।

समाधान—कथन नानाप्रकार होकर भी एक ही प्रयोजनका पोषणकरे तो दोष नहीं होता लेकिन कहीं किसी प्रयोजनका पोषण हो, कहीं किसी प्रयोजन का पोषण हो तो दोष ही है।

जिनमतमें तो एक प्रयोजन रागादि मिटाने का है, इसीलिए कहीं वहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने का प्रयोजन पोषण किया है कही सब रागादि छुड़ाने का प्रयोजन पोपण किया है। परन्तु रागादि वढ़ाने का प्रयोजन कहीं भी नहीं है इसलिए जिनमत का कथन सब निर्दोप है। और अन्यमतमें कहीं रागादि घटानेके प्रयोजनको लेकर कथन करते है कहीं रागादि वढ़ानेके प्रयोजन को लेकर कथन करते है। एसे ही और भी प्रयोजन की विरुद्धता को लेकर कथन करते है, इसलिए अन्यमत का कथन सदोप है। लोकमें भी एक प्रयोजन का पोपण करते हुए अनेक वचन कहे जाय तो उसे प्रामाणिक कहा जाता है और जो भिन्न २ प्रयोजन को पोपण करती हुई वात करे तो उसे वावला कहते हैं। तथा जिनमतमें नानाप्रकार कथन है वह भिन्न २ अपेक्षा लेकर है उनमें दोप नहीं है। अन्यमत तो एक ही अपेक्षा लेकर भिन्न २ कथन करते है इसलिए उनमें दोप है जैसे जिनदेवके वीतरागभाव है और समवशरणादि विभूति पायी जाती है इसमें विरोध नहीं है। समवशरणादि विभूति की रचना इन्द्रादि करते है जिनदेवके इनमें रागादिक नहीं है अतः दोनो वाते संभव है और अन्यमतमें ईश्वर को साक्षीभूत वीतराग भी कहते है तथा उस ही के द्वारा कियेगए काम क्रोधादि भावों का निरूपण भी करते है भला एक ही आत्माके वीतरागपना और काम क्रोधादि भाव कैसे संभव हो सकते हैं ? इसी प्रकार और भी जानना चाहिए। जिनमतमें एक ही प्रकारसे कोई कथन विरुद्ध लिखा है यह तुच्छ वुद्धि की भूल है, जिनमतमें दोप नहीं हैं। उसपर भी जिनमत का अतिशय इतना है कि प्रमाणविरुद्ध कोई कथन कर सकता नहीं है। कहीं सौरीपुरमें कहीं द्वारावतीमें नेमनाथ स्वामीका जन्म लिखा है यह कहीं भी हो परन्तु नगरमें जन्म होना प्रमाणविरुद्ध नहीं हैं अब भी होता दीखता है।

अन्यमतमें सर्वज्ञादि यथार्थ ज्ञानीके किए हुए ग्रन्थ वताये जाते हैं किन्तु उनमें परस्पर विरुद्धता प्रतीत होती है। कहीं तो वालब्रह्मचारी की प्रशंसा की है कहीं "पुत्र विना गति ही नहीं होती" ऐसा लिखा है। यह दोनो सत्य कैसे हो सकते हैं। इस प्रकारके कथन वहाँ वहुत पाए जाते है। प्रमाणविरुद्ध कथन भी उनमें पाए जाते है। जैसे वीर्य मुखमें पड़ने से मछलीके पुत्र हुआ भला इस तरह अभी तो किसीके देखा नहीं जाता अनुमानसे भी नहीं मिलता ऐसे कथन भी वहुत पाए जाते है। यहाँ सर्वज्ञादि की भूल मानी जाय तो वे कैसे भूल सकते है और विरुद्ध कथन माननेमें आता नहीं इसलिए उनका मन ही दोषी है ऐसा जानकर एक जिनमत का ही उपदेश ग्रहण करना योग्य है अतः प्रथमानुयोगादिका अभ्यास करना चाहिए।

आगम अभ्यास का उपदेश

यहाँ भी पहले इसका और वादमें उसका अभ्यास करने का नियम नहीं है। अपने परिणामों की अवस्था देखकर जिसके अभ्याससे धर्ममें अपनी प्रवृत्ति हो उसही का अभ्यास करना चाहिए। अथवा कभी किसीका अभ्यास करे कभी किसी का अभ्यास करे। तथा जिसप्रकार रोजनामचामें तो अनेक रकम जहाँ तहां लिखी हैं उनको खातेमें ठीक खतावे तो लेने देनेका पता लग जाता है। उसीप्रकार शास्त्रोंमें तो अनेक प्रकार का

उपदेश जहाँ तहाँ दिया है। उसको सम्यग्ज्ञानमें यथार्थ प्रयोजनके साथ पहचाने तो हित अहित का पता लग जाता है इसलिए "स्यात्" पद की अपेक्षा को लेकर सम्यग्ज्ञानसे जो जीव जिन वचनोंमें रमण करते है वे जीव शीघ्र ही शुद्ध आत्मास्वरूप को प्राप्त होते हैं। मोक्षमार्गमें पहला उपाय आगमज्ञान कहा है। आगमज्ञानके विना और धर्मका साधन हो नहीं सकता। इसलिए तुमको भी यथार्थ बुद्धिसे आगम का अभ्यास करना चाहिए। तुम्हारा कल्याण होगा।

इसप्रकार मोक्षमार्गप्रकाश नामक शास्त्रमें उपदेश का स्वरूप वर्णन करने-
वाला आठवां अधिकार समाप्त हुआ।

अध्याय ९

मोक्षमार्ग का निरूपण

शिव उपाय करते प्रथम कारन मंगलरूप
विघ्नविनाशक सुखकरन नमों शुद्ध शिवभूप

पहले मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शनादिकोंका स्वरूप दिखाया उनकोतो दुःख-रूप दुःखका कारण जान हेय मानकर छोड़ना चाहिए। तथा बीचमें जो उपदेशका स्वरूप दिखाया है उनको जानकर उपदेशको यथार्थ समझना चाहिए। अब मोक्षके मार्ग सम्यग्दर्शनादिकोंका स्वरूप बताते है। इनको सुखरूप सुखका कारण जान उपादेय मानकर अङ्गीकार करना चाहिए। क्योंकि आत्माका हित मोक्ष ही है। उसहीका उपाय आत्माको करना चाहिए। इसलिए इस ही का उपदेश यहाँ देते है। आत्माका हित मोक्षही है और नहीं है। ऐसा निश्चय कैसे हो यह बतलाते है:—

आत्मा का हित मोक्ष ही क्यों है ?

आत्मा के नानाप्रकार गुण पर्याय स्वरूप अवस्था पाई जाती है उनमें और तो कोई अवस्था हो कुछ आत्मा का बिगाड़ सुधार नहीं हैं। एक दुख सुख अवस्थासे बिगाड़ सुधार होता है इसके लिए कुछ हेतु दृष्टांतों की आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्ष ऐसा प्रतीत ही होता हैं। लोकमें जितनी आत्मा है इनके एक यही प्रयत्न पाया जाता है कि दुःख न हो सुखही सुख हो। अन्य प्रयत्न वे जितने करते हैं वे सब एक इसी प्रयोजन को लेकर करते हैं दूसरा प्रयोजन नहीं है। जिनके निमित्तसे दुःख होता हुआ जानता है उनको दूर करनेका उपाय करता है और जिनके निमित्तसे सुख होता जानता है उनके होनेका उपाय करता है। संकोच विस्तार आदिक अवस्था भी आत्माके होती है अथवा अनेक परद्रव्यका भी संयोग मिलता है परन्तु जिनसे दुख सुख होता नहीं देखता उनके दूर करने व होने का कोई कुछ भी उपाय नहीं करता, यह आत्मद्रव्य का ऐसा स्वभाव ही है। और तो सब अवस्था को सह सकता है एक दुःखको नहीं सह सकता। परवश दुख हो तो क्या करे उसे भोगता ही है परन्तु स्ववश तो किंचित भी दुःख सहन नहीं करता। और संकोच विस्तार आदि अवस्था जैसी होती हैं उसको अपने वशभी सहता है। स्वभाव में कुछ तर्क नहीं है। आत्माका ऐसा ही स्वभाव समझना चाहिए। देखो दुःखी होता है तब सोना चाहता है परन्तु सोनेमें ज्ञानादिक मंद होजाते हैं। इस तरह जड़ सरीखा होकर भी दुःखको दूर करना चाहता है। मरना चाहता है, मरनेमें अपना नाश मानता है परन्तु अपना अस्तित्व खोकर भी दुख दूर करना चाहता है। इसलिए एक दुखरूप पर्यायका अभाव करनाही इसका कर्तव्य है।

दुःख न हो वही सुख है, यह भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। बाह्य किसी सामग्री का संयोग मिलने पर जिसके अंतरंगमें आकुलता है वह दुखीही है। जिसके आकुलता नहीं वह सुखी है। आकुलता रागादि कषायें होने पर होती हैं। क्योंकि रागादि भावोंसे यह तो द्रव्योंको और तरह परिणमाना चाहता है और वे द्रव्य और तरह परिणमन करते है तब इसके आकुलता होती है। वहाँ या तो इसके रागादिक दूरहों या इसकी इच्छानुसार सर्व द्रव्य परिणमन करेंतो आकुलता मिट सकती है किन्तु सब द्रव्य तो इसके आधीन नही हैं कदाचित् कोई द्रव्य इसकी इच्छानुसार परिणमन भी करे तो भी इसके सर्वथा अकुलता दूर नहीं हो सकती। सब कार्य इसकी इच्छानुसार हों अन्यथा न हों तब यह निराकुल रहे, लेकिन यह हो नहीं सकता। क्योंकि किसी द्रव्यको परिणमन किसी द्रव्यके अधीन नहीं है। इसलिए अपने रागादि भाव दूर होनेपर निराकुलता होनेका कार्य बन सकता है क्योंकि रागादिक भाव आत्माका स्वभाव भाव तो हैं नहीं औपाधिक भाव हैं परनिमित्तसे हुए हैं वह निमित्त मोह कर्मका उदय है। उसके अभाव होनेपर सब रागादिक विलीन हो जाते हैं तब अकुलताका नाश होनेपर दुःख दूर होता है और सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए मोह कर्मका नाश हितकारी है। तथा इस अकुलताके लिए सहकारी कारण ज्ञानावरणादिकका उदय है। ज्ञानावरण दर्शनावरणके उदयसे ज्ञान दर्शन सम्पूर्ण प्रकट नहीं होते इसलिए इसके देखने जाननेकी आकुलता होती है। अथवा यथार्थ संपूर्ण वस्तुका स्वभाव न जाने तब रागादि रूप होकर प्रवृत्ति करता है वहाँ आकुलता होती है तथा अंतरायके उदयसे इच्छानुसार दानादि कार्य नहीं बनते तब आकुलता होती है। मोहके उदयसे इनका उदय आकुलताको सहकारी कारण है! मोहके उदयका नाश होनेपर इनका बल नहीं रहता अंतर्मुहूर्तमें अपने आप नष्ट हो जाते हैं। परन्तु सहकारी कारण भी जब दूर हो जाते हैं तब प्रकट रूप निराकुल दशा प्रतिभासित होती है। उस समय केवलज्ञानी भगवान अनंत सुखरूप दशा को प्राप्त कहलाते हैं तथा अघातिया कर्मोंके उदयके निमित्तसे शरीरादिकका संयोग होता है यह शरीरादिकका संयोग मोह कर्मके उदय होनेपर आकुलताका बाह्य सहकारी कारण है। अन्तरंग मोहके उदयसे रागादिक होते हैं और बाह्य अघातिया कर्मोंके उदय से रागादिकके कारण शरीरादिकका संयोग होता है तब आकुलता उत्पन्न होती है। मोहके उदयका नाश होनेपर भी अघातिया कर्मोका उदय रहता है वह कुछ भी आकुलता नहीं उत्पन्न कर सकता, परन्तु पूर्वमें आकुलताका सहकारी कारण था इसलिए अघातिया कर्मोंका नाश भी आत्माको इष्ट ही है, परन्तु इनके होते हुए केवली को कुछ दुःख नहीं है इसलिए इनके नाशका प्रयत्न भी नहीं है। किन्तु मोहका नाश होनेपर ये कर्म अपने आप थोड़े समयमें नाशको प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह सर्व कर्मोंका नाश होना आत्माका हित है, तथा सर्व कर्मोंके नाश ही का नाम मोक्ष है। इसलिए आत्माका हित एक मोक्ष ही है और कुछ नहीं ऐसा निश्चय करना चाहिए।

प्रश्न—संसार दशामें पुण्य कर्मका उदय होते हुए भी जीव सुखी होता है इसलिए केवल मोक्ष ही हित है ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तर–संसार दशामें सुख तो सर्वथा है ही नहीं दुख ही है परन्तु किसीके कभी बहुत दुःख होता है किसीके कभी थोड़ा दुःख होता है अतः पहले दुःख बहुत था तथा अन्य जीवोंके बहुत दुःख पाया जाता है इस अपेक्षासे थोड़े दुःखवालेको सुखी कहा जाता है तथा इस ही अभिप्रायसे थोड़ा दुखवाला अपने आपको सुखी मानता है। परमार्थसे सुखी नहीं है।

सांसारिक सुख परमार्थतः दुख है।

तथा थोड़ा भी दुख हमेशा रहे तो उसको भी हित कहा जाय वह भी नहीं है। थोड़े समय पुण्यका उदय रहनेसे थोड़ा दुख होता है बादमें बहुत दुख होता है। इसलिए संसार अवस्था हित रूप नहीं है। जैसे किसीके विषमज्वर है,उसके कभी असाता बहुत होती है कभी थोड़ी होती है। थोड़ी असाता होती है तब वह अपनेको अच्छा मानता है। लोकमेंभी उसे अच्छा कहते हैं। परन्तु परमार्थसे जबतक ज्वरका सद्भाव है तबतक अच्छा नहीं है। वैसे ही संसारीके मोहका उदय होनेपर कभी आकुलता बहुत होती है कभी कम होती है थोड़ी आकुलता होती है तब अपनेको सुखी मानता है लोग भी कहते हैं सुखी है। परमार्थसे जबतक मोहका सद्भाव है तबतक सुखी नहीं है। संसार दशामें भी आकुलता घटनेपर सुखी नाम पाता है,आकुलता बढ़नेपर दुखी नाम पाता है। कुछ बाह्य सामिग्रीसे सुख दुःख नहीं है। जैसे किसी दरिद्रीको कुछ धनकी प्राप्ति होनेके बाद जब कुछ आकुलता घटती है तब उसको सुखी कहा जाता है और वह भी अपनेको सुखी मानता है तथा किसी धनिकके थोड़े धनकी हानि होनेपर जब उसे आकुलता बढ़ती है तब दुखी कहते हैं और वह भी अपनेको दुखी मानता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। तथा आकुलता घटना बढ़ना भी बाह्य सामिग्रीके अनुसार नही है। कषायभावोंके घटने बढ़नेके अनुसार है। जैसे किसीके थोड़ा धन है और उसे संतोष है तो उसको आकुलता थोड़ी है। यदि किसीके बहुत धन है और तृष्णा है तो उसको आकुलता अधिक है। तथा किसीने किसीको बहुत बुरा कहा और उसके थोड़ा भी क्रोध न हुआ तो आकुलता नहीं होती। और थोड़ी बातें करनेपर ही क्रोध हो आता है तो उसके आकुलता अधिक होती है। तथा जैसे गऊको बछड़ेसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है लेकिन मोह बहुत है इसलिए उसकी रक्षा करनेकी आकुलता बहुत होती है। तथा सुभटके शरीरादिकसे अनेक कार्य सधते हैं लेकिन रणमें मानादिसे शरीरादिकसे मोह घट जाता है तब मरनेकी भी थोड़ी ही आकुलता होती है। इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि संसार अवस्थामें आकुलता घटने बढ़नेसे ही सुख दुःख माने जाते हैं। तथा आकुलताका घटना बढ़ना रागादि कषाय घटने बढ़नेके अनुसार है। तथा पर द्रव्यरूप बाह्य सामिग्रीके अनुसार सुख दुख नहीं है। कषायसे इसके इच्छा पैदा होती है और इसकी इच्छानुसार जब बाह्य सामग्री मिलती है तब इसके कुछ कषाय उपशमनसे आकुलता घटती है और सुख मानता है। और इच्छानुसार सामग्री न मिले तब कषाय बढ़नेसे आकुलता बढ़ती है और दुःख मानता है। इस बातको यह यों समझता है कि मुझे परद्रव्यके निमित्तसे सुख दुख होता है यह मानना इसका भ्रम ही है। इसलिए यह

ऐसा विचार करना चाहिए कि यदि संसार अवस्थामें कुछ कषाय घटनेपर सुख माना जाता है और इसे हित समझाजाता हैं तो जहाँ सर्वथा कषाय दूर होनेपर या कषायके कारण दूर होनेपर परम निराकुलता होनेसे अनंत सुख पाया जाता है ऐसी मोक्षकी अवस्थाको क्यों न हित माना जाय। संसारमें उच्च पद भी पावे तो भी या तो विषय सामग्री मिलनेकी आकुलता होती है। या विषयसेवनकी आकुलता होती हैं अथवा और कोई क्रोधादि कषायसे इच्छा उत्पन्न हो तो उसको पूर्ण करनेके लिए आकुलता होती हैं। कभी सर्वथा निराकुल नहीं हो सकता। अभिप्रायमें तो अनेक प्रकार आकुलता बनी ही रहेगी। और बाह्यमें कोई आकुलता मेटनेका उपाय करे तो प्रथम तो कार्य सिद्ध होता नहीं और यदि भवितव्यके योगसे वह कार्य सिद्ध हो जाय तो तत्काल दूसरी आकुलता मेटनेके उपायमें लगता है इस प्रकार आकुलता मिटानेकी आकुलता निरंतर रहा ही करती है। अगर ऐसी आकुलता न रहे तो नए २ विषयसेवनादिकार्य में किसलिए प्रवृत्ति करता हैं। इसलिए संसार अवस्था में पुण्यके उदयसे इन्द्र अहमिन्द्रादि पदको पाता है तो भी निराकुलता नहीं होती। दुखी ही रहता हैं। इसलिए संसारी अवस्था हितकारी नहीं है।

मोक्ष अवस्थामें किसी प्रकार की अकुलता रहती नहीं इसलिए वहाँ अकुलता मिटानेका उपाय करने का भी प्रयोजन नहीं है। सदा समय शांत रससे सुखी रहते हैं। इसलिए मोक्ष अवस्था ही हितकारी है। पहले भी संसार अवस्थाके दुखका और मोक्ष अवस्थाके सुखका विशेष वर्णन किया है, वह इसी प्रयोजनके लिए किया है। उसको भी विचार कर मोक्षका उपाय करना चाहिए सब उपदेशका मतलब इतना ही है।

प्रश्न—मोक्षका उपाय काललब्धि आनेपर भवितव्यानुसार बनता है या मोहादिकका उपशमादि होनेपर बनता है, अथवा अपने पुरुषार्थसे उद्यम करने पर बनता है? अगर पहले दो कारण मिलने पर बनता है तो हमे उपदेश क्यो देते हैं? और अगर पुरुषार्थसे बनता है तो उपदेश तो सब सुनते है, उपाय उनमें कोई कर सकता है कोई नहीं कर सकता इसका क्या कारण है?

उत्तर—एक कार्य होनेमें अनेक कारण मिलते हैं, मोक्षका उपाय बनता है तो वहाँ पूर्वोक्त तीनों कारण मिलते हैं और नहीं बनता तो वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते।

पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्ति संभव

पूर्वोक्त तीन कारण जो कहे है उनमें काललब्धि और होनहार तो कुछ वस्तु नहीं है। जिस काल में कार्य बने वही काललब्धि है और जो कार्य हुआ वही होनहार है। कर्मोंका उपशमादिक पुद्गल की शक्ति है उसका आत्मा कर्ताहर्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थसे जो उद्यम किया जाता है वह आत्माका कार्य है। इसलिए आत्मा को पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न करनेका उपदेश दियागया है। वहाँ यह आत्मा जिस कारणसे कार्य सिद्ध अवश्य हो उस कारणरूप प्रयत्न करता है, वहाँ तो अन्य

कारण अवश्य ही मिलते हैं और कार्य भी सिद्ध अवश्य होता है। तथा जिस कारणसे कार्य सिद्ध होता है अथवा नहीं भी होता, उस कारण रूप प्रयत्न करे वहाँ अन्य कारण मिले तो कार्य सिद्ध होता है न मिले तो नहीं होता अतः जिनमत में जो मोक्षका उपाय कहा है उससे मोक्ष अवश्य ही होगा। इसलिए जो जीव पुरषार्थसे जिनेश्वरके उपदेशानुसार मोक्षका उपाय करता है उसके काललब्धि होनहार दोनों हुई, और कर्मके उपशमादि होने पर यह ऐसा उपाय करता है इसलिए जो पुरुषार्थसे मोक्षका उपाम करता है उसके सब कारण मिलते हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिए, और इसके अवश्य मोक्षकी प्राप्त होती है। तथा जो जीव पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय नहीं करता इसके काललब्धि तथा होनहारभी नहीं होती और कर्मका उपशमादि नही हुआ है तो यह उपाय नहीं करता। इसलिए जो पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय नहीं करता उसके कोई कारण नहीं मिलता। ऐसा निश्चय करना चाहिए। और उसके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। और यह जो प्रश्न किया है कि उपदेश तो सब सुनते है लेकिन कोई मोक्ष का उपाय कर सकता है कोई नहीं कर सकता इसका क्या कारण है इसका कारण यह है कि जो उपदेश सुन कर पुरुषार्थ करता है वह तो मोक्षका उपाय कर सकता है, और पुरुषार्थ नहीं करता तो मोक्षका उपाय नहीं कर सकता। उपदेश तो शिक्षा मात्र है, फल पुरुषार्थके अनुसार लगता है।

प्रश्न—द्रव्यलिङ्गी मुनि मोक्षके लिए गृहस्थपना छोड़कर पुरुषार्थादिक करता है वहाँ उन्होंने पुरुपार्थ तो किया लेकिन कार्य सिद्ध नहीं हुआ इसलिए पुरुपार्थ करने से कुछ सिद्धि नहीं हैं।

द्रव्यलिङ्गी के उपयुक्त पुरुपार्थ का अभाव

उत्तर—अन्यथा पुरुषार्थसे फल चाहे तो सिद्धि कैसे हो सकती है, तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी हो प्रवृत्ति करे उसका फल शास्त्र में तो शुभ बंध कहा है और यह उससे मोक्ष चाहता है तो सिद्धि कैसे हो? यह तो उसका भ्रम है।

प्रश्न-भ्रम का कारण भी तो कर्म है, पुरुषार्थ क्या करे?

उत्तर—सच्चे उपदेशसे निश्चय करने पर भ्रम दूर होता है लेकिन ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता इसीसे भ्रम होता है। निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का कारण मोहकर्मका भी उपशमादि हो तब भ्रमदूर होजाता है। क्योंकि निर्णय करनेसे परिणामों की विशुद्धता होती है। उससे मोहका स्थिति अनुभाग घटता है।

प्रश्न—निर्णय करनेमें उपयोगके न लगनेका कारण जी तो कर्म हैं?

उत्तर—एकेन्द्रियादिकके विचार की शक्ति नहीं है अतः उनके तो कर्मही कारण है। इसके तो ज्ञानावरणादिकके क्षयोपशमसे निर्णय करने की शक्ति प्रकट है। जहाँ उपयोग लगावे

उसीका निर्णय हो सकता है, परन्तु यह अन्य निर्णय करने में उपयोग लगाता है यहाँ नही लगाता। यह इसीका दोष है। कर्मका कुछ प्रयोजन नहीं है।

प्रश्न—सम्यक्चारित्रका घातक मोहका जब तक अभाव नहीं हुआ है तब तक मोक्षका उपाय कैसे बन सकता है?

उत्तर—तत्वनिर्णय करनेमें उपयोग नहीं लगाता यह तो इसीका दोष है, लेकिन पुरुषार्थ से तत्वनिर्णयमें जब उपयोग लगाता है तब स्वयमेव ही मोहका अभाव होनेपर सम्यक्त्वादि रूप मोक्षके उपायका पुरुषार्थ करता है। अतः मुख्यतासे तो तत्व निर्णय में उपयोग लगानेका पुरुषार्थ करना चाहिए। उपदेशभी दे तो इसी पुरुषार्थके करानेके लिए दिया जाना चाहिए तथा इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ स्वयं सिद्ध हो जायगा। और तत्व निर्णय करने में कोई कर्मका दोष नहीं है। और प्रश्नकर्ता स्वयं तो महंत रहना चाहे और अपना दोष कर्मादिक को लगावे यह अनीति जिनआज्ञा माननेवाले के संभव नहीं है। उसे विषय कषाय में ही रहना है इसलिए झूंठ बोलता है। मोक्षकी सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति क्यों बनावे। संसार के कार्यों में अपने पुरुषार्थसे सिद्धि न होती देखकर भी पुरुषार्थ से उद्योग किया करता है। और यहाँ पुरुषार्थको खो बैठता है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि मोक्षको देखादेखी उत्कृष्ट कहता है। उसका स्वरूप पहचान कर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर जिसका प्रयत्न बन सकता है वह नही करता। यह असंभव है।

प्रश्न-अपने कहा वह ठीक है परन्तु द्रव्य कर्मके उदयसे भाव कर्म होता है और भाव कर्मके उदयसे द्रव्य कर्मका बंध होता है, पुनः उसके उदयसे भावकर्म होता है। इस ही प्रकार अनादिसे परंपरा है तब मोक्षका उपाय कैसे हो सकता है?

द्रव्य और भाव कर्म की परंपरा में पुरुषार्थ के न होने का खंडन

उत्तर—कर्मका बंध व उदय सदा समान ही हुआ करता हो तो यह कहना ठीक था परन्तु परिणामोंके निमित्तसे पूर्व बंधे कर्मोंका भी उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमणादि होने पर उनकी शक्ति हीनाधिक हो जाती है। कर्मोदयके निमित्तसे उनका उदय भी तीव्र मन्द होता है, उनके निमित्तसे नवीन बंध भी तीव्र मंद होता है इसलिए संसारी जीवोंके कभी ज्ञानादिक अधिक प्रकट होते हैं कभी थोड़े प्रकट होते है। कभी रागादि मंद होते हैं कभी तीव्र होते हैं। इसी प्रकार पलटन हुआ करता है। कभी संज्ञी पंचेन्द्रियपर्याप्त पर्याय पायी तो मनसे विचारने की शक्ति हुई। तथा इसके कभी तीव्र रागादिक होते है कभी मंद होते हैं। रागादिकके तीव्र उदय होनेसे तो विषय कषायादिके कार्योंमें ही प्रवृत्ति होती है तथा रागादिकके मंद उदय होनेसे बाह्य उपदेशादिकका निमित्त बनता है और आप पुरुषार्थसे उन उपदेशादिकों में उपयोग लगाता है तो धर्म कार्यमें प्रवृत्ति होती है। और निमित्त बनता हो तथा स्वयं पुरुषार्थ न करे किसी अन्य कार्यमें प्रवृत्ति करे परन्तु वह प्रवृत्ति

मंद रागादिको लेकर हो, ऐसे अवसर में उपदेश कार्यकारी है। विचारशक्ति रहित एकेन्द्रि-यादिकोंमें तो उपदेश समझने का ज्ञान ही नहीं है और तीव्र रागादि सहित जीवों का उपदेशमें उपयोग नही लगता। इसलिए जो जीव विचारशक्ति सहित हों और जिनके रागदि मंद हुआ हो उनको उस उपदेशके निमित्तसे धर्म की प्राप्ति हो जाती है तो उसका भला हो जाता है। तथा इस ही अवसरमें पुरपार्थ कार्यकारी है। एकेन्द्रियादिक तो धर्म कार्य करने के लिए समर्थ ही नहीं है, पुरुपार्थ कैसे करें ? और तीव्र कपायी का पुरुपार्थ करना पाप ही करना है। उसके धर्म कार्यका पुरुपार्थ हो नहीं सकता। इसलिए जो विचार शक्ति सहितहो जिसके रागादि मंद हों वह पुरुपार्थ द्वारा उपदेशादिकके निमित्तसे तत्वनिर्णयादिमें उपयोग लगावे तो इसका उपयोग वहाँ लगता है और तव इसका भला होता है। अगर इस अवसरमें भी तत्व निर्णय करनेका पुरुपार्थ न करे, प्रमादसे काल व्यतीत करे तो या तो मंदरागादिकके साथ विपय कपायों के कार्योंमें ही प्रवृत्तिकरेगा या व्यवहारधर्म कार्योंमें प्रवृत्ति करेगा, तव अवसर जाते रहनेसे संसारमें ही भ्रमण होगा। तथा इस अवसरमें जो जीव पुरुपार्थसे तत्व निर्णय करनेमें उपयोग लागानेका अभ्यास रक्खें उनके विशुद्धता वढ़ती है उससे कर्मों की शक्ति हीन होती है, कुछ समयमें अपने आप दर्शन-मोह का उपशम होता है तव उसके तत्व में यथावत् प्रतीति होती है। इसका कर्तव्य ही तत्व निर्णय का अभ्यास है। इसी से दर्शन मोह का उपशम तो स्वयमेव ही होता है। इसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं है। उसके होते हुए जीवके स्वयमेव सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होनेसे श्रद्धान तो यह हुआ कि मैं आत्मा हूं, मुझको रागादि कहीं करना चाहिए, परन्तु चारित्र मोहके उदयसे रागादि होते है, वहाँ तीव्र उदय होता है तव विपयादिमें प्रवृत्ति करता है और मंद उदय होता है तव अपने पुरुपार्थसे धर्मकार्योंमें अथवा वैराग्यादि भाव-नाओंमें उपयोग लगाता है उसके निमित्तसे चारित्रमोह मंद होता जाता है। इस तरह होनेसे देश-चारित्र तथा सकलचारित्रको अंगीकार करने का पुरुपार्थ प्रकट होता है। तथा चारित्र को धारण कर अपने पुरुपार्थसे धर्ममें परिणति को वढ़ाता है। वहाँ विशुद्धतासे कर्मकी हीन शक्ति होती है उससे विशुद्धता वढ़ती है उससे अधिक कर्म की शक्ति हीन होती है। इस प्रकार क्रमसे मोहका नाश करे तव सर्वथा परिणाम शुद्ध होते हैं। उनसे ज्ञानावरणादिकका नाश होता है तव केवलज्ञान प्रकट होता है। उसके बाद विना उपाय अघातिया कर्मोंका नाश कर शुद्ध सिद्ध पदको पाता है। इस तरह उपदेश का तो निमत्ति वने और अपना पुरुपार्थ करे तो कर्म का नाश होता है। जव कर्मका तीव्र उदय होता है तव पुरुपार्थ नहीं हो सकता। ऊपरके गुणस्थानसे भी गिर जाता है। वहाँ तो होनहारके अनुसार ही होता है। परन्तु जहाँ मंद उदय हो और पुरुपार्थ होसके वहाँ तो प्रमादी न होना चाहिए। सावधान होकर अपना कार्य करना चाहिए। जैसे कोई पुरुप नदीके प्रवाह में पड़ा हुआ वह रहा है वहाँ पानी का जोर हो तो उसका पुरुपार्थ कुछ नहीं हो सकता। न उसको उपदेश भी कार्यकारी होता है। और पानीका जोर कम हो तव तो पुरुपार्थ से निक-

लना चाहे तो निकल आता है उसीको निकलने की शिक्षा दी जाती है। अगर नहीं निकलता है तो धीरे २ वहता है। पीछे पानी का जोर होने पर वहा चला जाता है। वैसे ही यह जीव संसार में भ्रमण करता है। वहाँ जब कर्मोंका तीव्र उदय होता है तब उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं होता। उसको उपदेश भी कुछ कार्यकारी नही होता। और कर्मोंका मंद उदय होता है तो पुरुषार्थसे मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्ति कर मोक्ष पाता है। उसही को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया जाता है। अगर वह मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं करता तो कुछ विशुद्धता पाकर बादमें तीव्र उदय होनेपर निगोदादि पर्यायों को पाता है। इसलिए अवसर चूकना योग्य नहीं है। 'अब सब प्रकार अवसर आया है ऐसा अवसर पाना कठिन है। इसलिए श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते है उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करना चाहिए। अब मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाते हैं—

मोक्षमार्ग का स्वरूप

जिनके निमित्तसे आत्मा अशुद्ध दशा को धारणकर दुखी हुआ था,ऐसे मोहादिक कर्मों का सर्वथा नाश होनेसे केवल आत्माकी जो सर्वप्रकार शुद्ध अवस्था होती है उसका नाम मोक्ष है उसका जो उपाय अर्थात् कारण है वह मोक्षमार्ग है। यद्यपि कारण अनेक प्रकारके होते हैं। कोई कारण तो ऐसे होते है जिसके हुए विना तो कार्य नहीं होते और जिसके होने पर कार्य हो या नहीं भी हो। जैसे मुनिलिङ्ग धारण किये विना तो मोक्ष नहीं होता किन्तु मुनिलिङ्ग धारण करने पर मोक्ष होता भी है नहीं भी होता। तथा कुछ कारण ऐसे हैं कि मुख्यतासे जिनके होनेपर कार्य होते है और किसीके विना हुएभी कार्य सिद्ध होजाते है। जैसे अनशनादि वाह्यतप का साधन करने पर मुख्यपने से मोक्ष पाया जाता है। परन्तु भरतादिके वाह्य तप विना किए ही मोक्षकी प्राप्ति होगई। कुछ कारण ऐसे है जिनके होनेपर कार्य सिद्ध अवश्यही होता है और जिनके न होने पर कार्य सिद्ध सर्वथा नहीं होता। जैसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता होने पर मोक्ष अवश्य ही होता है। और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता। इस तरह इन कारणों में अतिशय पूर्वक नियमसे मोक्षका साधन जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका एकीभाव है उसे मोक्ष-मार्ग समझना चाहिए। इन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्रोंमें एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता। यही तत्वार्थ सूत्रमें लिखा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः [१-१]

इस सूत्रकी टीका में बतलाया है—यहाँ "मोक्षमार्ग" ऐसा एक वचन कहनेका तात्पर्य यह है कि तीनोंके मिलनेपर एक मोक्षमार्ग होता है अलग अलग तीन मार्ग नहीं हैं।

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टिके चारित्र नहीं है। उसके मोक्षमार्ग हुआ कहा जायगा या नहीं।

उत्तर—मोक्षमार्ग उसके होगा यह तो नियम हुआ इसलिए उपचार से उसके मोक्षमार्ग

हुआ ही कहा जायगा। परमार्थसे सम्यक् चारित्र होनेपर ही मोक्षमार्ग होता है। जैसे किसी पुरुषके किसी नगरके चलनेका निश्चय हुआ। इसलिए उसके व्यवहारसे ऐसा भी कहा जाता है कि "यह उस नगरको चला है" परमार्थसे मार्गमें गमन करनेसे ही चलना होगा इसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टिके वीतराग भावरूप मोक्षमार्गका श्रद्धान हुआ है इसलिए उसको उपचारसे मोक्षमार्गी कहा जाता है। परमार्थसे वीतराग भावरूप परिणमन होनेपर ही मोक्षमार्ग होगा। प्रवचनसारमें[1] भी तीनों की एकाग्रता होनेपर ही मोक्षमार्ग कहा है। इसलिए यह समझना चाहिए कि तत्व-श्रद्धान बिना तो रागादि घटाए जानेपर भी मोक्षमार्ग नहीं होता। और रागादि घटाए बिना तत्व श्रद्धान, ज्ञानसे भी मोक्षमार्ग नहीं होता तीनोंके मिलनेपर साक्षात् मोक्षमार्ग होता है। अब इनका निर्देश लक्षणनिर्देश और परीक्षा द्वारा निरूपण करते हैं—

लक्षण और उसके दोष

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है" ऐसा नाम मात्र कथन तो निर्देश है तथा अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभवपनेसे रहित जिसके द्वारा इनको पहचाना जाय उसे लक्षण जानना चाहिए उसका निर्देश अर्थात् निरूपण सो लक्षण निर्देश है। जिसको पहचाना जाय उसे लक्ष्य कहते हैं। उसके अतिरिक्त और पदार्थों का नाम अलक्ष्य है। लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें जहां लक्षण पाया जाय वहां अतिव्याप्ति दोष होता है जैसे आत्माका लक्षण 'अमूर्तत्व'। यहाँ अमूर्तत्व लक्षण लक्ष्य रूप आत्मामें भी पाया जाता है और अलक्ष्य रूप आकाशादिमें भी पाया जाता है। इसलिए यह अतिव्याप्त है। जिसके द्वारा आत्मा को पहिचाना गया है उससे आकाशादि भी आत्मा हो जायगें अतः यह दोष लगता है। तथा जो किसी लक्ष्यमें पाया जाय किसीमें न पाया जाय इस तरह लक्ष्यके एक देशमें पाया जाने वाला लक्षण जहाँ कहा जाय वहाँ अव्याप्तिपना समझना चाहिए। जैसे आत्मा का लक्षण "केवलज्ञान"। यहाँ केवलज्ञान किसी आत्मामें तो पाया जाता है किसीमें नहीं पाया जाता, इसलिए यह अव्याप्त लक्षण है जिसके द्वारा आत्मा पहचाना गया है उससे अल्पज्ञानी आत्मा नहीं कहलायगा यह दोष लगता है। जहाँ लक्षण लक्ष्यमें पाया ही न जाय वहां असंभव दोष जानना चाहिए। जैसे आत्मा का लक्षण "जड़पना" प्रत्यक्षादि प्रमाणसे यह विरुद्ध है, इसलिए यह असंभव लक्षण है। इसके द्वारा आत्माको माननेपर पुद्‌गलादिक भी आत्मा हो जायगें और आत्मा अनात्मा हो जायगी। यह दोष लगता है। इस तरह जो अव्याप्त अतिव्याप्त और असंभवी लक्षण हो वह लक्षणाभास है। और जो लक्ष्यमें तो सर्वत्र पाया जाय अलक्ष्यमें कहीं न पाया जाय वह सत्य लक्षण है। जैसे आत्मा का लक्षण चैतन्य है। यह लक्षण सब ही आत्मा में पाया जाता है। अनात्मामें कहीं नहीं पाया जाता इसलिए यह सच्चा लक्षण है। इससे आत्माको पहचानने पर आत्मा अनात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, कुछ दोष नहीं लगता। इस तरह लक्षण का स्वरूप उदाहरणमात्र बतलाया है।

१—अ० ३ गा० ७४

अब सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण बतलाते हैं विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्वार्थ हैं इनका जो श्रद्धान अर्थात् "इसी प्रकार है अन्यथा नही है" ऐसा जो प्रतीतिभाव है वह तत्वार्थश्रद्धान है। तथा विपरीताभिनिवेश अर्थात् अन्यथा अभिप्राय उससे जो रहित है वह सम्यग्दर्शन है। यहाँ विपरीताभिनिवेशके निराकरणके लिए सम्यक् पद कहा है। क्योंकि सम्यक् ऐसा शब्द प्रशंसावाचक है। श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशके अभाव होने पर ही प्रशंसा संभव है। ऐसा जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

प्रश्न—तत्व और अर्थ इन दोनों पद से यहाँ क्या प्रयोजन है?

उत्तर—तत् शब्द यत् की अपेक्षा लेकर है। इसलिए जिसका प्रकरण हो वह तत् है और उसका जो भाव अर्थात् स्वरूप वह तत्त्व है। क्योंकि "तस्य भावस्तत्त्वं" ऐसा तत्त्व शब्द का समास होता है। तथा जो जानने में आवे ऐसे द्रव्य गुण पर्याय का नाम अर्थ है। "तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः" तत्त्व अर्थात् अपना स्वरूप उससे सहित पदार्थों का श्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है। यहाँ अगर तत्त्वश्रद्धान ही कहते तो जिसका यह भाव है उसके श्रद्धान विना भावही का श्रद्धान कार्यकारी नहीं होता। और अगर अर्थश्रद्धान ही कहते तो भावके श्रद्धान विना पदार्थ का श्रद्धान भी कार्य-कार्य नहीं है। जैसे किसीके ज्ञान दर्शनादिक अथवा वर्णादिक का श्रद्धान तो हो कि यह ज्ञानपना है यह श्वेतवर्ण है आदि, परन्तु ज्ञान दर्शन आत्माका स्वभाव है वह मैं आत्मा हूं वर्णादि पुद्गल का स्वभाव है पुद्गल मुझसे भिन्न पदार्थ है, इस प्रकार पदार्थ का श्रद्धान न हो तो भावका श्रद्धानमात्र कार्यकारी नही है। तथा जैसे मैं आत्मा हूं ऐसा श्रद्धान किया परन्तु आत्माका स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धान न किया तो भावके श्रद्धान विना पदार्थ का श्रद्धान भी कार्य-कारी नहीं है इसलिए तत्वके अर्थका जो श्रद्धान है वही कार्यकारी है। अथवा जीवादिक को तत्व संज्ञा भी है अर्थ संज्ञा भी है। इसलिए "तत्वमेवार्थस्तत्वार्थः "जो तत्व है वही अर्थ है उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। इस अर्थसे कहीं तत्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है कहीं पदार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है वहां विरोध न समझना चाहिए। इस तरह तत्व और अर्थ दो पद कहने का प्रयोजन है।

प्रश्न—तत्वार्थ तो अनंत है वे सामान्य अपेक्षासे जीव अजीवमें सब गर्भित हो जाते हैं अतः दो ही तत्त्व कहना चाहिए थे। आश्रवादिक तो जीव अजीवके ही विशेष हैं। इनको अलग-अलग कहने का क्या प्रयोजन है?

तत्व सात ही क्यों हैं

उत्तर—अगर यहाँ पदार्थश्रद्धान का ही प्रयोजन होता तो सामान्य या विशेषके द्वारा जिस प्रकार पदार्थों का जानना होता उसप्रकार कहते। वह प्रयोजन तो यहाँ है नही। यहाँ तो मोक्षका प्रयोजन है अतः जिन सामान्य अथवा विशेष भावों का श्रद्धान करनेमें मोक्ष हो और जिनका श्रद्धान किए विना मोक्ष न हो उनही का यहाँ निरूपण किया है जीव

अजीव इनको तो वहुत द्रव्योंकी एक जाति अपेक्षा सामान्य रूपसे दो तत्व कहा है। यह दो जाति जाननेसे जीवके अपने पर का श्रद्धान होता है। तब परसे भिन्न अपनेको जानता है अपने हितके लिए मोक्ष का उपाय करता हैं, और अपनेसे भिन्न पर को जाननेमें पर द्रव्यसे उदासीन हो रागदिक त्याग कर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है इसलिए इन दोनों जातिका श्रद्धान होनेपर ही मोक्ष होता है। और दोनो जातियोंके जाने विना अपने परका श्रद्धान नहीं होता। तब पर्याय-बुद्धिसे सांसारिक प्रयोजन ही का उपाय करता है। पर द्रव्यमें रागद्वेषरूप हो प्रवृत्ति करे तो मोक्षमार्गमें कैसे प्रवृत्ति हो। इसलिए इन दोनों जातियों का श्रद्धान न होने पर मोक्ष नहीं होता। इस तरह ये दो सामान्य तत्व तो अवश्य ही श्रद्धान करने योग्य है। तथा आश्रवादिक जो पांच कहे हैं वे जीव पुद्गल के पर्याय हैं। इसलिए यह विशेषरूप तत्व हैं। इन पांचों पर्यायोंके जानने से मोक्षका उपाय करने का श्रद्धान होता है। इन पांचोमें अगर मोक्ष को पहचानता है तो उसको हितमान कर उसका उपाय करता है इसलिए मोक्षका श्रद्धान करना चाहिए। तथा मोक्ष का उपाय सवंर निर्जरा है। इनको पहचाने तो संवर निर्जरा हो और वैसी ही प्रवृत्ति करने लगे। इसलिए संवर निर्जरा का श्रद्धान करना चाहिए। तथा संवर निर्जरा तो अभाव स्वरूप है अतः जिनका अभाव करना है उन्हें पहचानना चाहिए। जैसे क्रोधके अभावमें क्षमा होती है तो क्रोधको पहचानना चाहिए उसके अभावसे फिर क्षमा रूप प्रवृत्ति करेगा। वैसे ही आश्रवका अभाव होनेपर संवर होता है। और बंधका एकदेश अभाव होनेपर निर्जरा होती है अतः आश्रव बंधको पहचाने तो उनका विनाश कर संवर निर्जरा रूप प्रवृत्तिकरे। इसलिए आश्रव बंधका श्रद्धान करना चाहिए। इन पांचों पर्यायों का श्रद्धान होनेपर ही मोक्षमार्ग होता है। इनको न पहचानने पर मोक्ष की पहचान हुए विना उसका उपाय किस लिए करे। संवर निर्जरा की पहचान विना उनमें प्रवृत्ति कैसे करे। आश्रव बंधकी पहचान विना उनका नाश कैसे करे इस तरह इन पांचों पर्यायों का श्रद्धान हुए विना मोक्ष नहीं होता। इसप्रकार यद्यपि तत्व अनंत है उनका सामान्य विशेषसे अनेक प्रकार निरूपण होता है। परन्तु यहाँ मोक्षका प्रयोजन है इसलिए दो जाति अपेक्षा सामान्यतत्व और पांच पर्याय रूप विशेष तत्व मिलाकर ही केवल सात तत्व कहे है। इनके यथार्थ श्रद्धानके आधीन मोक्षमार्ग है। इन विना औरों का श्रद्धान हो मत हो अन्यथा श्रद्धान हो किसीके आधीन मोक्षमार्ग नहीं है। कहीं पुण्य पाप सहित नौ पदार्थ कहे हैं, किन्तु पुण्य पाप आश्रवादिक के ही विशेष हैं अतः सात तत्वमें ही गर्भित होते हैं। अथवा पुण्य पाप का श्रद्धान होनेपर पुण्य को मोक्ष मार्ग न माने अथवा स्वच्छंद हो पापरूप प्रवृत्ति न करे इसलिए मोक्षमार्गमें इनका श्रद्धान भी उपकारी जान दो तत्व विशेष मिला कर नौ तत्व कहे हैं। अथवा समयसारादिमें इन्हें नौ तत्व भी कहा है।

प्रश्न—इनके श्रद्धान को आपने सम्यग्दर्शन कहा है लेकिन दर्शन तो सामान्य अवलोकन मात्र है और श्रद्धान प्रतीतिमात्र है इनका एकार्थत्व कैसे संभव हो सकता है?

उत्तर—प्रकरणवशसे धातु का अर्थ अन्यथा भी होता है यहाँ प्रकरण मोक्षमार्ग का है उसमें दर्शन शब्द का अर्थ सामान्य अवलोकन मात्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि चक्षु अचक्षुदर्शनसे सामान्य अवलोकन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके समान होता है। इससे कुछ मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति नही होती। श्रद्धान जो होता है वह सम्यग्दृष्टिके होता है इससे मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है। इसलिए दर्शन शब्दका अर्थ यहाँ श्रद्धान मात्र ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न—यहाँ विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—अभिनिवेश नाम अभिप्राय का है। जैसा तत्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है वैसा न होकर अन्यथा अभिप्राय होना उसका नाम विपरीताभिनिवेश है। तत्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय उनका केवल निश्चय करना मात्र ही नहीं है। किन्तु अभिप्राय यह है कि जीव अजीव को पहचान कर अपनेको व पर को जैसा का तैसा माने। तथा आश्रव को पहचान कर उसको हेय माने। तथा बंधको पहचान कर उसको अहित माने, सवंरको पहचान कर उसे उपादेय माने। निर्जराको पहचान कर उसे हितका कारण माने, एवं मोक्षको पहचानकर उसको अपना परम हित-माने। इस तरह तत्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय हैं। उससे उल्टा अभिप्राय का नाम विपरीताभिनवेश है। सच्चा तत्वश्रद्धान होनेपर इसका अभाव होजाता है। अतः तत्वार्थश्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित है ऐसा यहाँ बताया है। अथवा किसीके अभ्यासमात्र तत्वार्थश्रद्धान होता हैं परन्तु अभिप्रायमें विपरीतपना नही छूटता। अंतरङ्गमें किसी प्रकार पूर्वोक्त अभिप्रायसे अन्यथा अभिप्राय पाया जाता है तो उसके सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैसे द्रव्यलिङ्गी मुनि जिनवचनसे तत्वोंकी प्रतीति करता है। परन्तु शरीराश्रित क्रियाओंमें अहंकार अथवा पुण्याश्रवमें उपादयपना आदि विपरीत अभि-प्रायसे मिथ्यादृष्टिही रहता है इसलिए जो तत्वार्थ श्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार विपरीताभिनवेश रहित जीवादि तत्वों का श्रद्धानपना तो सम्यग्दर्शन का लक्षण है। और सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। तत्वार्थसूत्रमें भी यही लिखा है "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" ॥२॥ तत्वार्थोंके श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। सर्वार्थसिद्धि नामा सूत्रों की टीका है उसमें तत्वादिकं पदोंका अर्थ स्पष्ट लिखा है और सात ही तत्व क्यों कहे इसका प्रयोजन लिखा है। उसीके अनुसार यहाँ कुछ कथन किया है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें ऐसा कहा है—

जीवाजीवादीनां तत्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

अर्थात् विपरीताभिनिवेशसे रहित जीव अजीव आदि तत्वार्थों का श्रद्धान सदा काल करना चाहिए। यह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। दर्शन मोह उपाधि दूर होने पर प्रकट होता

है। इसलिए आत्मा का स्वभाव है। चतुर्थ आदि गुणस्थानमें प्रकट होता है। बादमें सिद्ध अवस्थामें भी सदा इसका सद्भाव रहता है। ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—तिर्यञ्चादि अल्पज्ञानी कोई सात तत्वों का नाम भी नहीं जान सकते उनके भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति शास्त्रोंमें बतलाई है। इसलिए तत्वार्थश्रद्धानपना तुमने जो सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है उसमें अव्याप्ति दूषण आता है?

तिर्यंचों के सात तत्वों का श्रद्धान कैसे होता है

उत्तर—जीव अजीवादिकके नामादिक का ज्ञान हो या न हो अथवा अन्यथा हों उनका स्वरूप यथार्थ पहचान कर श्रद्धान करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। उसमें कोई सामान्यपनेसे स्वरूप पहचानकर श्रद्धान करता है। कोई विशेषपनेसे स्वरूप पहचान कर श्रद्धान करता है। इसलिए तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यग्दृष्टि जीवादिक का नाम भी नहीं जानते तो भी उनका सामान्य पनेसे स्वरूप पहचान कर श्रद्धान करते हैं अतः उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जैसे कोई तिर्यंच अपना व औरों का नामादिक तो न जाने परन्तु अपने में ही अपना मानता है दूसरों को पर मानता है। वैसे तुच्छ ज्ञानी जीव अजीव का नाम नही जानता परन्तु ज्ञानादिक स्वरूप आत्मा है उसमें अपनापन मानता है। और शरीरादिको पर मानता है। ऐसा श्रद्धान उसके होता है यही जीव अजीव का श्रद्धान है। तथा जिसप्रकार कोई तिर्यंच सुखादिकका नाम भी नही जानता तो भी सुख अवस्था को पहचानकर उसके लिए आगामी दुःखका कारण जानकर उसका त्याग करना चाहता है। तथा जो दुःखका कारण बन रहा है उसके अभावका उपाय करता है। इसलिए तुच्छज्ञानी मोक्षादिकका उपाय नहीं जानता तो भी सर्वथा सुखरूप मोक्ष अवस्थाका श्रद्धानकर उसके लिए आगामी बंधका कारण रागादिक आश्रवके त्यागरूप संवरको करना चाहता है। तथा जो संसार दुःखका कारण है उसकी शुद्धभावसे निर्जरा करना चाहता है। इसतरह आश्रवादिकका उसके श्रद्धान हैं। ऐसे उसके भी सप्ततत्वका श्रद्धान पाया जाता है। अगर ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादि त्यागकर शुद्धभाव करनेकी चाह न हो। वही बतलाते हैं—यदि जीवकी जाति न जाने, अपने परको न पहचाने, तो परमें रागादिक कैसे न करे। रागादिकको न पहचाने तो उनका त्याग कैसे करना चाहे। क्योंकि रागादिक ही आश्रव हैं। रागादिकका फल बुरा न जाने तो किस लिए रागादिक छोड़ना चाहे। रागादिकके फलका नाम ही बंध है। तथा रागादि रहित रूप परिणामों को पहचानता है तो उस रूप होना चाहता है। यह रागादि रहित परिणामका ही नाम संवर है। तथा पहले संसार अवस्थाका कारण जो कर्म है उसकी हानिको पहचानता है तो उसके लिए तपश्चरणादिकर शुद्धभाव करना चाहता है। इस संसारअवस्थाके कारण कर्मकी हानिका नाम ही निर्जरा है। संवर अवस्थाको न पहचाने तो संवर निर्जरारूप काहेको प्रवृत्ति करे इस संसार अवस्थाके अभाव काही नाम मोक्ष है। इसलिए सातों तत्वोंका श्रद्धान होनेपर ही रागादि छोड़कर शुद्धभाव होनेकी इच्छा पैदा होती है। अगर इनमें एक भी तत्वका श्रद्धान न हो तो ऐसी चाह पैदा न हो। तथा ऐसी चाह

तुच्छज्ञानी तिर्यञ्चादि सम्यग्दृष्टियोंके होती ही है। इसलिए उसके सात तत्वोंका श्रद्धान पाया जाता है ऐसा निश्चय करना चाहिए। ज्ञानावरणका क्षयोपशम थोड़ा होनेपर विशेषपनेसे तत्वोंका ज्ञान नहीं होता। तो भी दर्शनमोहके उपशमादिकसे सामान्यपने तत्वश्रद्धानकी शक्ति प्रकट होती है। इसतरह इस लक्षणमें अव्याप्ति दूषण नहीं है।

प्रश्न—जिस समय सम्यग्दृष्टि विषय कषायोंके कार्योंमें प्रवृत्ति करता है उस कालमें सप्ततत्वोंका विचार ही नहीं वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भव हो सकता है? और सम्यक्त्व रहता ही है इसलिए उस लक्षणमें अव्याप्ति दूषण आता है।

उत्तर—विचार तो उपयोगके आधीन है जहाँ उपयोग लगता है उसीका विचार करता है। श्रद्धान प्रतीतिरूप है इसलिए अन्य ज्ञेयका विचार होते हुए अथवा सोना आदि क्रिया होते हुए तत्वोंका विचार नहीं है तो भी उनकी प्रतीति बनी रहती है। नष्ट नहीं होती। इसलिए उसके सम्यक्त्वका सद्भाव है। जैसे किसी रोगी पुरुषके ऐसी प्रतीति है—मैं मनुष्य हूँ तिर्यञ्च नहीं हूँ, मेरे इस कारणसे रोग हुआ है। अतः अब कारण दूर कर रोगको घटाकर नीरोग होना चाहिए। बादमें वही मनुष्य अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है। तब उसके पूर्वोक्त विचार नहीं होता परन्तु श्रद्धान वैसा ही रहता है। उसी प्रकार इस आत्माके ऐसी प्रतीति है—मैं आत्मा हूँ, पुद्गलादि नहीं हूं। मेरे आश्रवसे बंध हुआ है अतः अब संवर निर्जरा द्वारा मोक्षरूप होना चाहिए। बादमें वही आत्मा अन्य विचारादि रूप प्रवृत्ति करता है। तब उसके ऐसा विचार नहीं होता, परन्तु श्रद्धान ऐसा ही रहता है।

विषय सेवनके समय सम्यक्त्वीके श्रद्धानका विनाश नहीं होता

प्रश्न—अगर ऐसा श्रद्धान है तो बंध होने के कारणोंमें कैसी प्रवृत्ति करता है?

उत्तर—जैसे कोई मनुष्य किसी कारणवशसे रोग बढ़नेके कारणोंमें भी प्रवृत्ति करता है। व्यापारादिक कार्य व क्रोधादिक कार्य करता है तो भी उस श्रद्धानका उसके नाश नहीं होता। उसी प्रकार वही आत्मा कर्मोदय निमित्तिके वशसे बंध होनेके कारणोंमें भी प्रवृत्ति करता है। विषय सेवनादि धर्म व क्रोधादि कार्य करता है। तो भी उस श्रद्धानका उसके नाश नहीं होता। इसका विशेष निर्णय आगे करेंगे। इसतरह सप्त तत्वका विचार न होते हुए भी श्रद्धानका सद्भाव पाया जाता है। इसलिए वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।

प्रश्न—ऊँची दशामें जहाँ निर्विकल्प आत्मानुभव होता है वहाँ तो सप्ततत्वादिकके विकल्पका भी निषेध किया है, भला सम्यक्त्वके लक्षणका निषेध कैसे सम्भव हो सकता है परन्तु वहाँ निषेध किया गया है। अतः अव्याप्ति-दूषण आया।

निर्विकल्प दशामें भी तत्वार्थश्रद्धानका सद्भाव

उत्तर—नीची दशामें सात तत्वोंके विकल्पोंमें जो उपयोग लगाया उससे प्रतीति दृढ़की

और विषयादिकसे उपयोग हटाकर रागादिक घटाये, कार्य सिद्ध होनेपर बादमें कारणोंका भी निषेध किया। इसलिए जहाँ प्रतीति भी दृढ़ हो गई, और रागादिक दूर हो गए वहाँ उपयोग घुमानेका खेद क्यों किया जाय इसलिए वहाँ उन विकल्पोंका निषेध किया है। तथा सम्यक्त्वका लक्षण भी प्रतीति ही है। वहाँ प्रतीतिका तो निषेध नहीं किया। अगर प्रतीतिको छुड़ाया होता तो इस लक्षणका निषेध भी हुआ कहा जाता, वह है नहीं। तत्वोंकी प्रतीति तो वहाँ बनी रहती है इसलिए यहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।

प्रश्न—छद्मस्थके तो प्रतीति अप्रतीति कहना ठीक बैठता है इसलिए वहाँ सात तत्वोंकी प्रतीतिरूप जो लक्षण कहा है उसे हम मानते हैं। परन्तु केवली सिद्ध भगवानके तो सबका ज्ञानपना समानरूप है। वहाँ साततत्वोंकी प्रतीति कहना ठीक नहीं बैठता। और उनके सम्यक्त्व गुण पाया ही जाता है इसलिए वहाँ इस लक्षणमें अव्याप्तिदूषण लगता है।

उत्तर—जैसे छद्मस्थके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति पायी जाती है वैसे ही केवली सिद्धभगवानके केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति पायी जाती हैं। जो सात तत्वोंका स्वरूप पहले ठीक किया था वही केवलज्ञानसे जाना। वहाँ प्रतीतिका परम अवगाढ़पना हुआ। इसीसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है। जो पहले श्रद्धान किया था अगर उसे झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती। वह तो जैसे सात तत्वोंका श्रद्धान छद्मस्थके हुआ था वैसा ही केवली सिद्ध भगवानके पाया जाता है इसलिए ज्ञानादिककी हीनता अधिकता होते हुए भी तिर्यंचादिक व केवली सिद्ध भगवानके सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है। तथा पहली अवस्थामें यह जानता था कि संवर निर्जरासे मोक्षका उपाय करना चाहिए, बादमें मुक्त अवस्था होनेपर ऐसे मानने लगता है कि संवर निर्जरासे हमारे मोक्ष हुआ। पहले ज्ञानादिक हीनतासे जीवादिकके थोड़े विशेषोंको जानता था। बादमें केवलज्ञान होनेपर उनके सब विशेषोंको जानने लगता हैं। परन्तु मूलभूत जीवादिकके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थके पाया जाता है वैसा ही केवलीके पाया जाता है। यद्यपि केवली सिद्धभगवान अन्य पदार्थोंको भी प्रतीतिके साथ जानते हैं तो भी वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं। इसलिए सम्यक्त्वगुणमें सात तत्वोंका ही श्रद्धान ग्रहण किया है। केवली सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमन नहीं करते। संसार अवस्थाको नहीं चाहते यह श्रद्धानका बल ही समझना चाहिए।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन तो आपने मोक्षमार्ग बतलाया था मोक्षमें इसका सद्भाव कैसे पाया जाता है।

उत्तर—कोई कारण ऐसा भी होता है कि कार्य सिद्ध होनेपर नष्ट नहीं होता। जैसे किसी वृक्षको किसी एक शाखासे अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई उसके होते हुए वह एक शाखा नष्ट नहीं होती। वैसे ही किसी आत्माके सम्यक्त्व गुणसे अनेक गुणयुक्त अवस्था हुई उसके होते हुए सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इसतरह केवली सिद्ध भगवानके भी तत्वार्थश्रद्धान लक्षण ही सम्यक्त्व पाया जाता है। इसलिए वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टिके भी तत्त्वश्रद्धान होता है ऐसा शास्त्रमें निरूपण है। प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है। इसलिए सम्यक्त्वका लक्षण जो तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है उसमें अतिव्याप्तिदूषण लगता है।

मिथ्यादृष्टिका तत्त्वश्रद्धान नाम निक्षेपसे है

उत्तर—मिथ्यादृष्टिके तत्त्वश्रद्धान नामनिक्षेपसे कहा है, जिसमें तत्त्वश्रद्धानका गुण नहीं है और व्यवहारमें जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहा जाता है वह मिथ्यादृष्टिके ही होता है। अथवा उसे आगमद्रव्य निक्षेपसे समझना चाहिए क्योंकि तत्त्वार्थश्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रोंका उसके अभ्यास है, उनका स्वरूप निश्चय करनेमें उपयोग नहीं लगता। तथा यहाँ सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वह भावनिक्षेपसे है। गुणसहित सत्य तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टिके कभी नहीं होता। आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान जहां कहा है वहां भी वही अर्थ समझना चाहिए। भला सच्चे जीव अजीवादिकका जिसके श्रद्धान हो उसके आत्मज्ञान कैसे नहीं होगा? अवश्य ही होगा। इस तरह मिथ्यादृष्टिके सच्चा तत्वार्थ श्रद्धान सर्वथा नहीं पाया जाता, अतः उस लक्षणमें अतिव्याप्ति दूषण नहीं लगता। यह तत्वार्थश्रद्धान लक्षण असंभव भी नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है। इसका लक्षण उससे विपरीत है। इस तरह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति असंभवपनेसे रहित सब सम्यग्दृष्टियोंमें तो पाया जाता है और और किसी मिथ्यादृष्टिमें नहीं पाया जाता अतः सम्यग्दर्शनका सच्चा लक्षण तत्वार्थ श्रद्धान है।

प्रश्न—यहाँ सातों तत्त्वोंके श्रद्धानका जो नियम किया है वह नहीं बनता, क्योंकि कहीं परसे भिन्न अपने श्रद्धान को ही सम्यक्त्व कहा है। समयसारमें "एकत्वे नियतस्य[१]" इत्यादि कलश लिखा है उसमें ऐसा कहा है—इस आत्माके परद्रव्यसे भिन्न अपनेको अवलोकन करना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है, इसलिए नौ तत्त्वोंकी सन्तति छोड़कर हमारे यह एक आत्मा ही हो। तथा कहीं एक आत्माके निश्चयको ही सम्यक्त्व कहा है पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें **दर्शनमात्मविनिश्चितिः**[२] ऐसा पद है इसका यही अर्थ है। इसलिए जीव अजीव का ही या केवल जीव का ही श्रद्धान होनेपर भी सम्यक्त्व होता है। सातों तत्त्वोंके श्रद्धानका नियम होता तो ऐसा क्यों लिखते?

सम्यक्त्वके विभिन्न लक्षणोंका समन्वय

१—एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्।
तन्मुक्त्वा नवतत्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥ ६॥

२—दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः॥२१६॥

उत्तर–परसे भिन्न जो अपना श्रद्धान होता है वह आश्रवादिके श्रद्धानसे रहित होता है या सहित होता है। अगर रहित होता है तो मोक्षके श्रद्धान विना किस प्रयोजनके लिए ऐसा उपाय करते हैं, संवर निर्जराके श्रद्धान विना रागादि रहित होकर स्वरूपमें उपयोग लगाने का किसलिए प्रयत्न करता है। आश्रव बंधके श्रद्धान विना पूर्व अवस्था को क्यों छोड़ता है? इसलिए आश्रवादिकके श्रद्धानसे रहित अपने परका श्रद्धान करना संभव नहीं है। और यदि आश्रवादिके श्रद्धान सहित होता है तो स्वयं ही सातों तत्वोंके श्रद्धान का नियम हुआ। केवल आत्मा का निश्चय परके स्वरूपका श्रद्धान हुए विना होता नहीं। इसलिए अजीव का श्रद्धान होनेपर ही जीव का श्रद्धान होता है। तथा पहले की तरह आश्रवादिक का श्रद्धान भी अवश्य होता है। इसलिए यहाँ भी सातों तत्वोंके श्रद्धान का नियम समझना चाहिए। तथा आश्रवादिकके श्रद्धान विना अपने परका श्रद्धान अथवा केवल आत्मा का श्रद्धान सच्चा नहीं होता। क्यों कि आत्मा द्रव्य है और और वह शुद्ध अशुद्ध पर्याय लिए हुए है। जैसे तंतु अवलोकनके विना पटका अवलोकन नहीं होता। वैसे ही शुद्ध अशुद्ध पर्याय पहचाने विना आत्म द्रव्यका श्रद्धान नहीं होता। यह शुद्ध अशुद्ध अवस्था की पहचान आश्रवादिक की पहचानसे होती है। आश्रवादिके श्रद्धान विना अपने परका श्रद्धान अथवा केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है। क्योंकि श्रद्धान किया जाय या न किया जाय आप आप ही है पर पर ही है। आश्रवादिका श्रद्धान हो तो आश्रव बंधके अभावसे तथा संवर निर्जरा रूप उपाय करनेसे मोक्षपद पाता है। अपने पर का श्रद्धान भी उस ही प्रयोजन के लिए कराया जाता है। इसलिए आश्रवादिकके श्रद्धान सहित अपने परका जानना व अपना जानना कार्यकारी है।

प्रश्न–अगर यह बात है कि शास्त्रोंमें केवल अपने पर का श्रद्धान अथवा केवल आत्माके ही श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है या कार्यकारी कहा है। तब फिर तत्वों की परंपरा छोड़कर हमारे एक आत्मा ही हो ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर–[जिसके अपने पर का या आत्मा का सत्य श्रद्धान होता है उसके सातों तत्वोंका अवश्य ही श्रद्धान होता है तथा जिसके सच्चे सात तत्वों का श्रद्धान होता है उसके अपने पर का या आत्मा का श्रद्धान अवश्य ही होता है। इस तरह परस्पर अविनाभावीपन जानकर अपने पर के श्रद्धान को अथवा आत्मश्रद्धान को सम्यक्त्व बतलाया है] लेकिन इस छलसे कोई सामान्यतया अपने पर को जानकर वा आत्मा को जानकर कृतकृत्यपना मानता है तो यह उसके भ्रम है। क्योंकि ऐसा कहा है **"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्"** अर्थात् विशेष रहित सामान्य गधेके सींगके समान है। इसलिए प्रयोजनभूत आश्रवादि विशेषों सहित अपने परका व आत्मा का श्रद्धान करना योग्य है। अथवा सातों तत्वार्थोंके श्रद्धानसे

रागादि मिटानेके लिए पर द्रव्यों को भिन्न भाता है या आत्मा को ही भाता है, उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है। इसलिए मुख्यता से भेदविज्ञानको अथवा आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है क्योंकि प्रयोजन तो रागादि घटानेका है वह आश्रवादिके श्रद्धान विना होता नहीं तब केवल जान लेनेसे ही मानादिक को वढ़ावे रागादि को नहीं छोड़े तो उसका कार्य कैसे सिद्ध हो सकता है। तथा नव तत्वों, की परंपरा छोड़नेके वारेमें यह वात है कि पहले नव तत्वोंके विचारसे सम्यग्दर्शन हुआ था वादमें निर्विकल्प दशा होनेके लिए नव तत्वों का भी विकल्प छोड़ने की इच्छा की। तथा जिसके पहले ही नव तत्वों का विचार नहीं है उसके उस विकल्पके छोड़ने का क्या प्रयोजन है ? अन्य अनेक विकल्प पाए जाते हैं। उन्हीं का त्याग किया जाय। इस तरह अपने परके श्रद्धानमें या आत्मश्रद्धानमें सप्त तत्वके श्रद्धान में सप्त तत्वके श्रद्धान की अपेक्षा पायी जाती है। इसलिए तत्वश्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण है।

प्रश्न—शास्त्रोंमें कहीं अरंहतदेव निर्ग्रन्थगुरू और हिंसा रहित धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है वह कैसे है ?

उत्तर—अरहंत देवादिकका श्रद्धान होनेसे तथा कुदेवादिकका श्रद्धान दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है उस अपेक्षा इसको सम्यक्त्वी कहा है। सर्वथा सम्यक्त्वका लक्षण यह नहीं है। क्योंकि द्रव्यलिङ्गी मुनि आदि व्यवहार धर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोंके भी ऐसा श्रद्धान होता है। अथवा जैसे अणुव्रत महाव्रत होते हुए देशचारित्र सकलचारित्र हों न भी हों, परन्तु अणुव्रत हुए विना देश चारित्र कभी नहीं होता और महाव्रत हुए विना सकल चारत्र कभी नहीं होता। इसलिए इन व्रतोंको अन्वय रूप कारण जान कारणमें कार्यका उपचार कर इनको चारित्र कहा है। उसी प्रकार अरहंत देवादिकका श्रद्धान होते हुए सम्यक्त्व हो न भी हो परन्तु अरंहतादिका श्रद्धान हुए विना तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी नहीं होता। इसलिए अरहंतादिके श्रद्धानको अन्वय रूप कारण जान कारणमें कार्यका उपचार कर इस श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। इसीसे इसका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है। अथवा जिसके तत्वार्थश्रद्धान हो उसके सच्चा अरहंतादिका श्रद्धान होता ही है। तत्वश्रद्धानके विना पक्षसे अरहंतादिका श्रद्धान करता है परन्तु यथावत् स्वरूपकी पहचान लेकर श्रद्धान नहीं होता तथा जिसके सत्य अरहंतादिके स्वरूपका श्रद्धान हो उसके तत्वार्थ श्रद्धान होता ही है। क्योंकि अरहंतादिका स्वरूप पहचाननेसे जीव अजीव आश्रवादिकी पहचान होती है। इस तरह इनको परस्पर अविनाभावी जानकर कहीं अरंहतादिके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है।

प्रश्न—नारकादि जीवोंके देव कुदेवादि का व्यवहार ही नहीं है और उनके सम्यक्त्व पाया जाता है। इसलिए सम्यक्त्व होते हुए अरहंतादि का श्रद्धान होता ही है ऐसा नियम नहीं हुआ।

उत्तर—सात तत्वोंके श्रद्धानमें अरहंतादि का श्रद्धान भी गर्भित है। क्योंकि तत्व-श्रद्धानमें मोक्ष तत्व को उत्कृष्ट मानते हैं। और मोक्ष तत्व अरहंतसिद्ध का लक्षण है। लक्षण को उत्कृष्ट मानने वाला लक्ष्यको उत्कृष्ट अवश्य ही मानेगा। अतः उनको भी सर्वोत्कृष्ट माना औरों-को नहीं माना यही देवका श्रद्धान हुआ। और मोक्ष का कारण संवर निर्जरा है। इसलिए इनको भी उत्कृष्ट मानता है। और संवर निर्जराके धारक मुख्यतया मुनि है इसलिए मुनिको उत्तम मानता है औरको नहीं मानता यही गुरु का मानना हुआ। तथा रागादि रहित भाव का नाम अहिंसा है उसीको उपादेय मानता है औरको नहीं मानता यही धर्मका श्रद्धान हुआ। इस तरह तत्वार्थ श्रद्धानमें अरहंतदेवादिकका श्रद्धान भी गर्भित है। अथवा जिस निमित्तसे इनके तत्वार्थश्रद्धान होता है उस निमित्तसे अरहंतदेवादिकका भी श्रद्धान होता है। इसलिए सम्यक्त्वमें देवादिकके श्रद्धान का नियम हैं।

प्रश्न—कितने ही जीव अरहंतादिका श्रद्धान करते हैं, उनके गुण पहचानते हैं किन्तु उनके तत्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्व नहीं होता। इसलिए जिसके सच्चे अरहंतादिका श्रद्धान हो उसके तत्वश्रद्धान होता ही है ऐसा नियम नहीं है।

उत्तर—तत्वश्रद्धान विना अरहंतादिके छयालिस आदि गुण जानता है। लेकिन पर्यायाश्रित गुणका जानना भी नहीं होता। क्योंकि जीव अजीव की नीति पहचाने विना अरहंतके आत्माश्रितगुणों को व शरीराश्रितगुणों को भिन्न २ नहीं जानता अगर समझे तो अपनी आत्मा को यह द्रव्यसे भिन्न कैसे न माने। इसलिए प्रवचन सारमें लिखा है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं [अ० १ गा०८०]

अर्थात जो अरहंत को द्रव्य, गुण, पर्यायसे जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है उसका मोह नष्ट हो जाता है। इसलिए जिसके जीवादिक तत्वों का श्रद्धान नहीं उसके अरहंतादिका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्ष आदि तत्वोंके श्रद्धान विना अरहंतादिकका माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता, लौकिक अतिशयादिकसे अरहंतका, तपश्चरणादिसे गुरूका और पर जीवोंकी अहिंसादिकसे धर्मकी महिमा जानता है यह पर्यायाश्रित भाव हैं। तथा आत्माश्रित भावोंसे अरहंतादिका स्वरूप तत्वश्रद्धान होनेपर ही जानता है इसलिए जिसके सच्चे अरहंतादिका श्रद्धान होता है उसके तत्वश्रद्धान अवश्य ही होता है ऐसा नियम समझना चाहिए। इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षण निर्देश किया।

प्रश्न—सच्चा तत्वश्रद्धान, अपने पर का श्रद्धान, आत्मश्रद्धान व देवगुरू आदिका

श्रद्धान इन सब लक्षणोंमें तो आपने एकता दिखाई। परन्तु भिन्न २ प्रकार लक्षण कहने का प्रयोजन किया है।

उत्तर—इन चारों लक्षणोंमें सच्ची दृष्टिसे एक लक्षण ग्रहण किया जाय तो चारों का ग्रहण हो जाता है। तो भी मुख्य प्रयोजन अलग २ विचार कर अन्य अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं। जहाँ तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ तो यह प्रयोजन है कि इन तत्वोंको पहचानने पर यथार्थ वस्तुके स्वरूप व अपने हित अहित का श्रद्धान करेगा उसके वाद मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करेगा। तथा जहाँ अपने पर का भिन्न श्रद्धान लक्षण कहा है वहां तत्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन जिससे सिद्ध हो उस श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहो है। जीव अजीवके श्रद्धान का प्रयोजन अपने पर का भिन्न श्रद्धान करना है। तथा आश्रवादिके श्रद्धान का प्रयोजन रागादि छोड़ना है। अतः अपने पर का भिन्न श्रद्धान होनेपर पर द्रव्यमें रागादि न करने का श्रद्धान होता है। इस तरह तत्वार्थ श्रद्धान का प्रयोजन अपने परके भिन्न श्रद्धानसे सिद्ध होना जानकर इस लक्षण को वतलाया है। तथा जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ अपने परके भिन्न श्रद्धानका प्रयोजन यही है कि अपने को आत्मरूपसे पहचानना। अपने को 'आत्मरूप' जाननेपर परका भी विकल्प कार्यकारी नहीं है। इस तरह मूलभूत प्रयोजन की प्रधानता जानकर आत्म श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। तथा जहाँ देवगुरू धर्मका श्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ वाह्य साधन की मुख्यता की है क्योंकि अरहंतदेवादिकका श्रद्धान सच्चे तत्वार्थ श्रद्धान का कारण है। और कुदेवादिका श्रद्धान कल्पित तत्वश्रद्धान का कारण है अतः वाह्य कारण की प्रधानतासे कुदेवादिका श्रद्धान न करानेके लिए देवगुरु धर्मके श्रद्धान को मुख्य लक्षण कहा है। इस तरह २ भिन्न २ प्रयोजनों की मुख्यता लेकर भिन्न २ लक्षण वतलाए हैं।

प्रश्न—इन लक्षणोंमें जीव किस लक्षण को अंगीकार करे।

उत्तर—मिथ्यात्व कर्मके उपशमादि होनेसे जहां विपरीताभिनिवेशका अभाव होता है वहां चारों लक्षण एक साथ पाए जाते हैं। तथा विचार करनेकी अपेक्षा मुख्यपनेसे तत्वार्थोंको विचारता है, अथवा अपनेपरका भेद विज्ञान करता है, या आत्मस्वरूपको ही सम्हालता है अथवा देवादिकका स्वरूप विचारता है। इस तरह ज्ञानमें तो नाना प्रकारका विचार होता है। परन्तु श्रद्धानमें सब जगह परस्पर सापेक्षपना पाया जाता है। तत्वविचार करता है तो भेद विज्ञानादिका अभिप्राय लेकर करता है। इस तरह अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षपना है। इसलिए सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें चारों ही लक्षण अङ्गीकार है। तथा जिसके मिथ्यात्वका उदय है उसके विपरीताभि-निवेश पाया जाता है। उसके यह लक्षण आभास मात्र होते, हैं सच्चे नहीं होते। वह जैन मतके जीवादि तत्वोंको मानता है अन्यको नहीं मानता, उनके नाम भेदादिकका सीखता है। इस तरह उसके तत्वार्थश्रद्धान होता है। परन्तु उनके यथार्थ भावका श्रद्धान नहीं होता। यद्यपि अपनेपर

की भिन्न बातें करता है और वस्त्रादिकमें पर बुद्धिको चिंतवन करता है। परन्तु जैसे पर्यायमें अहं-बुद्धि है और वस्त्रादिकमें पर बुद्धि है वैसे आत्मामें अहंबुद्धि और शरीरमें पर बुद्धि नहीं होती। आत्माका जिन वचनानुसार चिंतवन करता है, परन्तु प्रतीति रूप अपनेको आप श्रद्धान नहीं करता। अरहंतादिके बिना और कुदेवादिकोंको नहीं मानता, परन्तु उनके स्वरूपको यथार्थ पहचानकर श्रद्धान नहीं करता। इस तरह यह लक्षणाभास सम्यग्दृष्टिके होते हैं। इनमेंसे कोई होता है कोई नहीं होता। यहां इनके भिन्नपना भी संभव नहीं है। इन लक्षणाभासोंमें इतना विशेष समझना चाहिए कि पहले तो देवादिकका श्रद्धान होता है, बादमें तत्वोंका विचार होता है, बादमें अपने परका चिंतन करता है, फिर केवल आत्माका चिंतन करता है। इस अनुक्रमसे साधन करता है तो परंपरासे सच्चे मोक्षमार्गको पाकर कोई जीव सिद्ध पदको भी प्राप्त कर लेता है। और जो इस अनुक्रमका उल्लङ्घन करता है उसके देवादिक माननेका कुछ पता ही नहीं है। और बुद्धिकी तीव्रतासे तत्व अतत्व विचारादिकमें प्रवृत्ति करता है इसलिए अपनेको ज्ञानी जानता है। अथवा तत्व विचारमें भी उपयोग नहीं लगाता और अपने पर का भेद विज्ञानी बना विचरता है। अथवा अपने परका भी ठीक निर्णय नहीं करता और अपनेको आत्मज्ञानी मानता है। यह सब चतुराई की बातें हैं। मानादि कषायोंके साधन हैं। कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इसलिए जो जीव अपना भला करना चाहता है उसको जब तक सच्चे श्रद्धान दर्शनकी प्राप्ति न हो तबतक इनको भी अनुक्रमसे अङ्गीकार करना चाहिए। उसे ही बतलाते हैं।

पहले तो आज्ञादिकसे अथवा परीक्षासे कुदेवादिका मानना छोड़कर अरहंत देवादिका श्रद्धान करना चाहिए। क्योंकि ऐसा श्रद्धान होनेसे गृहीत मिथ्यात्त्वका अभाव होता है, तथा मोक्षमार्गके विघ्न करनेवाले कुदेवादिकके निमित्त दूर होते हैं। मोक्षमार्गके सहायक अरंहत देवादिका निमित्त मिलता है। इसलिए पहले देवादिकका श्रद्धान करना चाहिए। तथा बादमें जैन मतमें कहे हुए जीवादिक तत्वोंका विचार करना चाहिए। नाम लक्षणादि सीखने चाहिए। क्योंकि इस अभ्याससे तत्वश्रद्धानकी प्राप्ति होती है। फिर अपनेपर का अभिन्नपना जैसे भासित हो वैसे विचार करना चाहिए, क्योंकि इस अभ्याससे भेद विज्ञान होता है। तथा बादमें अपनेमें अपनापन माननेके लिए स्वरूपका विचार करना चाहिए क्योंकि इस अभ्याससे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है तथा इस अनुक्रमसे इनको अंगीकारकर पीछे इनमें ही,कभी देवादिकके विचारमें,कभी तत्व विचारमें, कभी अपने परके विचारमें, कभी आत्मविचारमें उपयोग लगाना चाहिए इस अभ्याससे दर्शनमोह मन्द हो जाता है। तब कदाचित् सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। क्योंकि ऐसा होनेपर सम्यग्दर्शन होनेका नियम तो है नहीं किसी जीवके कोई विपरीत प्रबल कारण बीचमें हो जाँय तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं भी होती है। परन्तु मुख्यपनेसे बहुतसे जीवोंके तो इसही अनुक्रम से कार्यसिद्धि होती है। इसलिए इनको इस ही प्रकार अङ्गीकार करना चाहिए। जैसे पुत्रका इच्छुक विवाहादिक कारणोंको मिलाता है। बादमें अनेक पुरुषोंके तो पुत्रकी प्राप्ति

होती ही है। किसीके नहीं होती तो नहीं भी होती। परन्तु इसका तो उपाय करना ही चाहिए। वैसे ही सम्यक्त्वका इच्छुक इन कारणों को मिलाता है, बाद में अनेक जीवोंके तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है। किसीके नहीं होती तो नहीं भी होती। परन्तु इसको तो जिससे कार्य बने वही उपाय करना चाहिए। इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षण निर्देश किया।

प्रश्न—सम्यक्त्वके अनेक लक्षणोंमेंसे आपने तत्वार्थश्रद्धानको मुख्य कहा है इसका क्या कारण है?

उत्तर—तुच्छबुद्धियों को अन्य लक्षणोंमें प्रयोजन स्पष्ट भासित नहीं होता तथा भ्रम पैदा होता है। और इस तत्वार्थश्रद्धान-लक्षणमें प्रयोजन स्पष्ट भासित होता है, कुछ भ्रम पैदा नहीं होता। इसलिए इस लक्षणको मुख्य किया है। वही बतलाते हैं:—देव गुरु धर्मके श्रद्धानमें अल्पबुद्धियों को यह भासित होता है कि अरहंत देवादिक को मानना चाहिए और को नही मानना चाहिए। इतना ही सम्यक्त्व है। वहाँ अगर जीव अजीवका, बंध मोक्षके कारण कार्यका स्वरूप नहीं भासित होता तो मोक्षमार्गप्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। अथवा जीवादिकका श्रद्धान हुए बिना ही इसी श्रद्धानमें संतुष्ट होकर अपने को सम्यक्त्वी मानता है। एक कुदेवादिकमें तो द्वेष रखता है अन्य रागादि छोड़नेका प्रयास नहीं करता, इस तरह भ्रम पैदा होता है। तथा अपने परके श्रद्धानमें तुच्छबुद्धियोंको यह भासित होता है कि अपने परका जानना ही कार्यकारी है, इसीसे सम्यक्त्व होता है। वहाँ आश्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता तब मोक्षमार्गप्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। अथवा आश्रवादि श्रद्धान हुए बिना इतना ही जाननेमें संतुष्ट होता है और अपने को सम्यक्त्वी मानकर स्वच्छंद होकर रागादि छोड़ने का उद्यम नही करता, इस तरह भ्रमपैदा होता है। तथा आत्मश्रद्धान लक्षणमें तुच्छ बुद्धियों को यह भासित होता है कि आत्मा ही का विचार कार्यकारी है इस ही से सम्यक्त्व होता है वहाँ जीव अजीवादिकका विशेष अथवा आश्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता तब मोक्षमार्गप्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। जीवादिक विशेष व आश्रवादिके श्रद्धान हुए बिना इतने ही विचारसे अपने को सम्यक्त्वी मानकर स्वछंद हो रागादि छोड़ने का प्रयत्न करता है। इस तरह इसके पूर्वोक्त भ्रम समझ कर इन लक्षणोंको मुख्य नहीं किया है। तत्वार्थ-श्रद्धान लक्षणमें जीव अजीवादिकका तथा आश्रवादिका श्रद्धान होता है वहाँ सबका स्वरूप अच्छी तरह भासित होता है तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि होती है तथा इस श्रद्धान के होने पर सम्यक्त्व होता है परन्तु वह संतुष्ट नहीं होता। आश्रवादिका श्रद्धान होनेसे रागादि छोड़कर मोक्षका प्रयत्न करता है। इसके भ्रम पैदा नहीं होता। इसलिए तत्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है। अथवा तत्वार्थश्रद्धान लक्षणमें तो देवादिकका श्रद्धान व अपने परका श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है यह तो तुच्छबुद्धियोंको भी भासित होता है। तथा अन्य लक्षणोंमें तत्वार्थ श्रद्धानका गर्भितपना जो विशेष बुद्धिमान होते हैं उन्हें ही भासित होता है तुच्छबुद्धियोंको भासित नहीं होता। इसलिए तत्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया है। अथवा

मिथ्यादृष्टिके यह आभासमात्र होता है। वहाँ तत्वार्थका विचार तो शीघ्रता से विपरीताभिनिवेश दूर करनेका कारण होता है अन्य लक्षण शीघ्र कारण नहीं होते अथवा विपरीताभिनिवेशके भी कारण होजाते है। इसलिए यहाँ सर्व प्रकार प्रसिद्धि जान, विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्वार्थोंका श्रद्धान ही सम्यक्त्वका लक्षण है। यह लक्षण निर्देशका स्वरूप हुआ। ऐसा लक्षण जिस आत्माके स्वभावमें पाया जाय उसे ही सम्यक्त्वी समझना चाहिए। अब इस सम्यक्त्वके भेद बतलाते है:—

सम्यक्त्वके भेद तथा उनके लक्षण

विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानरूप आत्मपरिणाम तो निश्चय सम्यक्त्व हैं। क्योंकि सत्यार्थ? (श्रद्धान) सम्यक्त्व का स्वरूप है। सत्यार्थ ही का नाम निश्चय है। तथा विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानका कारणभूत श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। क्योंकि कारण में कार्यका उपचार किया है। इस उपचारका नाम ही व्यवहार है। सम्यग्दृष्टि जीवके देव गुरू धर्मादिकका सच्चा श्रद्धान है उस ही निमित्तसे इसके श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव है। यहाँ विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व है और गुरू धर्मादिकका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। इस तरह एक ही समयमें दोनों सम्यक्त्व पाए जाते है। तथा मिथ्यादृष्टि जीवके देव गुरू धर्मका श्रद्धान आभासमात्र होता है और इसके श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव नहीं होता क्योंकि यहाँ निश्चय सम्यक्त्व तो है नहीं और व्यवहारसम्यक्त्व भी आभासमात्र है? आभासमात्र इसलिए है कि इसके देव गुरू धर्मादिका का श्रद्धान होता है वह विपरीताभिनिवेशके अभावका साक्षात् नहीं है और कारण हुए विना उपचार संभव नहीं है इसलिए साक्षात् कारण अपेक्षा व्यवहारसम्यक्त्व भी इसके संभव नहीं होता। अथवा इसके देव गुरू धर्मादिका श्रद्धान नियमरूप होता है यह परंपरासे विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानका कारणभूत है। यद्यपि नियम रूप कारण नहीं है तो भी मुख्यपने से कारण है। तथा कारणमें कार्यका उपचार संभव है। इसलिए मुख्य रूप परंपरा कारण की अपेक्षा मिथ्यादृष्टिके भी व्यवहार सम्यक्त्व बतलाया है

प्रश्न—किन्हीं शास्त्रोंमें देवगुरू धर्मके श्रद्धानको अथवा तत्वश्रद्धानको तो व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और अपने परके श्रद्धानको अथवा केवल आत्माके श्रद्धानको निश्चयसम्यक्त्व कहा है। यह कैसे?

समाधान—देवगुरू धर्मके श्रद्धानमें प्रवृत्ति की मुख्यता है। जो प्रवृत्तिमें अरहंतादिको देवादिक माने औरोंको न माने वह देवादिकका श्रद्धानी है और तत्वश्रद्धानमें उनके विचार की मुख्यता है। जो ज्ञान में जीवादि तत्वोंका विचार करे उसको तत्वश्रद्धानी कहा है। इस तरह मुख्यता पाई जाती हैं। अतः किसी जीवके यह दोनों सम्यक्त्वके कारण होते हैं। परन्तु इनका सद्भाव मिथ्यादृष्टिके भी संभव है। उसलिए इनके व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। तथा अपने परके श्रद्धानमें व आत्मश्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशरहितपने की मुख्यता है जो अपने परका भेद

विज्ञान करता है व आत्माका अनुभव करता है उसके मुख्यपनेसे विपरीताभिनिवेश नहीं होता। इसलिए भेदविज्ञानी को व आत्मज्ञानी को सम्यग्दृष्टि कहाजाता है। इस तरह मुख्यतासे अपने परका श्रद्धान व आत्मश्रद्धान सम्यग्दृष्टिके पायाजाता है। इसलिए इनको निश्चय सम्यक्त्व कहा है। यह कथन मुख्यता की अपेक्षा है तारतम्यपने से यह चारों आभासमात्र मिथ्यादृष्टिके होते है, सच्चे सम्यग्दृष्टिके होते है। उसमें आभासमात्र तो नियम विना परंपरासे कारण है और यह जो सच्चे हैं वे नियमरूप साक्षात् कारण है इसलिए इनको व्यवहाररूप कहा हैं। इनके निमित्तसे जो विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान होता है वह निश्चयसम्यक्त्व है। ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—कई शास्त्रोंमें लिखा है कि आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है और सब व्यवहार है यह कैसे?

उत्तर—विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान आत्मा का ही स्वरूप है। वहाँ अभेदबुद्धिसे आत्मा और सम्यक्त्वमें भिन्नता नहीं है। इसलिए निश्चयसे आत्मा को ही सम्यक्त्व कहा है। और सब सम्यक्त्व तो निमित्तमात्र हैं। अथवा भेद कल्पनासे आत्मा और सम्यक्त्वके भिन्नता कही जाती है इसलिए और सब व्यवहार कहा है एसा समझना चाहिए। इसतरह निश्चयसम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्वसे सम्यक्त्व के दो भेद हैं। और अन्य निमित्तादि की अपेक्षा आज्ञा सम्यक्त्वादि सम्यक्त्वके दश भेद है। यही आत्मानुशासनमें लिखा है—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढ़परमावगाढे च [श्लो० ११]

अर्थात्—जिन आज्ञासे जो तत्वार्थ श्रद्धान हुआ हो वह आज्ञा सम्यक्त्व है। इहाँ इतना समझना चाहिए कि "मुझको जिन आज्ञा प्रमाण है" यह श्रद्धान ही सम्यक्त्व नहीं है। आज्ञा मानना तो कारणभूत है इसीलिए इसे आज्ञासे पैदा हुआ कहा है इसलिए पहले जिनआज्ञा माननेसे जो बादमें तत्व श्रद्धान होता है वह आज्ञा सम्यक्त्व है। निर्ग्रंथ मार्गके अवलोकनसे जो तत्वश्रद्धान होता है वह मार्ग सम्यक्त्व है, उत्कृष्ट पुरुष तीर्थंकरादिकोंके पुराणोंके उपदेशसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञानसे उत्पन्न आगम समुद्रमें प्रवीण पुरुषों द्वारा उपदेश आदिसे जो उपदेशदृष्टि पैदा होती है उसका नाम उपदेश सम्यक्त्व है। मुनियोंके आचरण विधान को प्रतिपादन करनेवाले आचारसूत्र को सुन कर जो श्रद्धान होता है वह सूत्रदृष्टि है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं। बीज अर्थात् गणितज्ञानका जो कारण है उसके द्वारा अनुपम दर्शन मोहके उपशमके बलसे कठिनतासे जाने जासकनेवाले पदार्थोंके समूह की जिसके उपलब्धि अर्थात् श्रद्धानरूप परिणति हुई है उसके बीजदृष्टि होती है, इसे बीज सम्यक्त्व समझना चाहिए। पदार्थों को संक्षेपपनेसे जानकर जो श्रद्धान होता है वह भली (सम्यक्) संक्षेपदृष्टि है,इसे संक्षेप सम्यक्त्व समझना चाहिए। द्वादशाङ्ग वाणी

को सुनकर जो श्रद्धान होता है वह विस्तार सम्यक्त्व है। जैन शास्त्रोंके वचन विना किसी अर्थके निमित्तसे हुआ सम्यक्त्व अर्थसम्यक्त्व है। अंग और अंगवाह्य सहित जैन शास्त्रोंके अवगाहन करनेसे जो अवगाढ़ दृष्टि उत्पन्न होती है वह अवगाढ़ सम्यक्त्व है। इस तरह आठ भेद तो कारण अपेक्षासे वतलाए हैं इनमें श्रुत केवलीके जो तत्व श्रद्धान है उसको अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। तथा केवलज्ञानीके जो तत्वश्रद्धान है उसको परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते इस तरह दो भेद ज्ञानके सहकारीपने की अपेक्षा किए हैं। इस प्रकार दशभेद सम्यक्त्वके वतलाए हैं। यहाँ सव जगह सम्यक्त्वस्वरूप तत्व श्रद्धान ही समझना चाहिए। तथा सम्यक्त्वके तीन भेद भी किए हैं। १ औपशमिक २ क्षायोपशमिक ३ क्षायिक। यह तीन दर्शनमोह की अपेक्षा किए हैं। उपशम सम्क्त्वके भी दो भेद हैं एक प्रथमोपश सम्यक्त्व,दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। मिथ्यात्वगुणस्थानमें करणसे दर्शनमोह का उपशम कर जो सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ इतना विशेष है—अनादि मिथ्यादृष्टिके तो एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही उपशम होता है क्योंकि इसके मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता नहीं है। जव जीव उपशम-सम्यक्त्व को प्राप्त होता है उस सम्यक्त्वके समयमें मिथ्यात्वके परमाणुओं को मिश्रमोहनीय रूप व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमाता है तव तीन प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है इसलिए अनादि मिथ्यादृष्टिके एक मिथ्यात्वकी ही सत्ता रहती है। उसही का उपशम होता है। सादि मिथ्यादृष्टियों में से किसीके तीन प्रकृतियों की ही सत्ता है किसीके एककी ही सत्ता है। सम्यक्त्व कालमें जिसके तीन की सत्ता हुई थी वह सत्ता पायी जाती है इसलिए उसके तीन की सत्ता है। और जिसके मिश्रमोहमीय सम्यक्त्वमोहनीयकी उद्वेलना होगई हो उनके परमाणु मिथ्यात्वरूप परिणामन कर गए हों उसके एक मिथ्यात्व की सत्ता है इसलिए सादि मिथ्यादृष्टिके तीन प्रकृतियोंका व एक प्रकृतिका उपशम होता है। उपशम क्या है? यह वतलाते हैं। अनिवृत्ति करणमें कियगए अंतरकरण विधानसे सम्यक्त्वकालमें उदय आने योग्य निषेकोंका तो अभाव किया उनके परमाणुओं को अन्य कालमें उदय आने योग्य निषेकरूप किया। तथा अनिवृत्ति करण ही में किएगए उपशमविधानसे उस कालमें उदय आनेयोग्य निषेक उदीरणा रूप होकर इस कालमें उदय न आसकें ऐसे किए इस प्रकार जहाँ सत्ता तो पाई जाय किन्तु उदय न पाया जाय उसका नाम उपशम है। यह मिथ्यात्वसे हुआ प्रथमोपशसम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तम गुणस्थान पर्यंत पाया जाता हैं। तथा उपशम श्रेणीके सन्मुख होते हुए सप्तम गुणस्थानमें क्षयोपशम सम्यक्त्वसे जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसका नाम द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है। यहाँ करणसे तीन ही प्रकृतियोंका उपशम होता है। क्योंकि इससे इन तीन ही की सत्ता पाई जाती है। यहाँ भी अंतरकरण विधानसे अथवा उपशम विधानसे उनके उदयका अभाव करता है, वही उपशम है। यह द्वतीयोपशम सम्यक्त्व सप्तम गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। गिरते समय किसीके छठे, पाँचवे, चौथे गुणस्थानमें भी रहता है। ऐसा जानना

चाहिए। इसप्रकार उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है यह उपशम सम्यक्त्व अपने समयमें क्षायिक सम्यक्त्व की तरह ही निर्मल है। इसके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता पाई जाती है इसलिए अन्तर्मुहूर्त्त काल मात्र यह सम्यक्त्व रहता है। पीछे दर्शनमोहका उदय आता है। इस तरह उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप कहा। जहाँ दर्शन मोहकी तीन प्रकृतियोंमें सम्यक्त्व मोहनीयका उदय पाया जाता है ऐसी दशा जहाँ हो वह क्षयोपशम है। क्योंकि समल तत्वार्थ श्रद्धान जो होता हैं वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है। अन्य दो प्रकारका उदय नहीं होता वहाँ क्षयोपशमसम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व उपशमसम्यक्त्वका काल पूर्ण होनेपर होता है। तथा सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व गुणस्थान से वा मिश्र गुणस्थानसे इसकी प्राप्ति होती है। अब क्षयोपशम सम्यक्त्व क्या है यह बतलाते हैः—

दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंमें जो मिथ्यात्वका अनुभाग है उससे अनन्तवें भाग मिश्रमोहनीयका है। उसके अनंतवें भाग सम्यक्त्वमोहनीयका है इनमें सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति देशघाती है इसके उदय होनेपर भी सम्यक्त्वका घात नही होता, कुछ मलिनता करती है किन्तु घात नहीं कर सक्ती इसीका नाम देशघाती है। जहाँ मिथ्यात्व अथवा मिश्र मिथ्यात्व के वर्तमान कालमें उदय आने योग्य निषेकोंके उदय विना ही निर्जरा होती है वह तो क्षय समझना चाहिए। और इन्हीके आगामी कालमें उदय आनेयोग्य निषेकों की सत्ता पाई जाती है, यही उपशम है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है ऐसी दशा जहाँ होतो है वहाँ क्षयोपशम होता है इसलिए जो समल तत्वार्थ श्रद्धान होता है वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है। यहाँ जो मल लगते हैउसका तारतम्य रूप तो केवली जानते हैं किन्तु उदाहरणके लिए चल मलिन अगाढ़पना कहा है। वहाँ व्यवहारमात्र देवादिक की प्रतीति तो होती है परन्तु अरहंत देवादिमें यह मेरा है यह अन्यका है इत्यादिभाव चलपना है, जो शंकादिमल लगते हैं वह मलपना है, शांतिनाथ शांतिके कर्ता है यह अगाढ़पना है। ये उदाहरण व्यवहारमात्रदिखाए हैं। परन्तु नियम रूप नहीं हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्वमें जो नियमरूप कोई मल लगता है उसे केवली जानते हैं। इतना अवश्य जानना चाहिए कि इसके तत्वार्थ श्रद्धानमें किसी प्रकारसे समलपना होता है। इसलिए यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। इस क्षयोपशमसम्यक्त्व का एकही प्रकार है। इसमें कुछ भेद नहीं है। इतना विशेष है कि क्षायिक सम्यक्त्वके सन्मुख होते हुए अन्तर्मुहूर्तकालमात्र जहाँ मिथ्यात्व की प्रकृतिका लोप करता है वहाँ दो ही प्रकृतियों की सत्ता रहती है। पीछे मिश्रमोहनीयकाभी क्षय करता है। वहाँ सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है। वादमें सम्यक्त्वमोहनीय की काण्डकघातादि क्रिया नहीं करता वहाँ कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी नाम पाता है ऐसा समझना चाहिए तथा इस क्षयोपशम सम्यक्त्व ही का नाम वेदक सम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय की मुख्यतासे कहा जाता है वहाँ क्षयोपशम सम्यक्त्व नाम कहलाता है। सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यतासे वेदक नाम पाता हे कहने भरके ये दो नाम हैं।

स्वरूपमें भेद नहीं है। यह क्षयोपशमसम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान पर्यंत पाया जाता है इस प्रकार क्षयोपशमसम्यक्त्वका स्वरूप कहा।

तीनों प्रकृतियोंके सर्व निषेकोंके नाश होनेपर जो अत्यत निर्मल सम्यक्त्व होता है। वह क्षायिक सम्यक्त्व है। वह चतुर्थादि चार गुणस्थानोंमें किसी क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिके इस की प्राप्ति होती है। कैसे होती है यह वतलाते है पहले तीन करणोंसे मिथ्यात्वके परमाणुओंको मिश्रमोहनीयरूप परणमाता है। अथवा सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमाता है अथवा निर्जरा करता है इस तरह मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करता है। तथा मिश्र आदि मोहनीयके परमाणुओंको सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणामता है अथवा निर्जरा करता है इस तरह मिश्रमोहनीय का नाश करता है। तथा सम्यक्त्वके निषेक उदय आकर खिर जाँय और उसकी वहुत स्थितिहो तो उसको स्थिति कांडादिकसे घटावे जव अंतर्मुहूर्त स्थिति रहती है तव कृतकृत्य वेदकसम्यग्दृष्टि रहता है। तथा अनुक्रमसे इन निषेकों को नाशकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। यह प्रतिपक्षी कर्मके अभावसे निर्मल है मिथ्यात्वरूपी रजके अभावसे वीतराग है। इसका नाश नहीं होता। जहाँ से पैदा होता है वहाँसे सिद्धावस्था तक उसका सद्भाव रहता है। इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्वका स्वरूप कहा। यों तीन भेद सम्यक्त्वके वतलाए। अनंतानुवंधी कषायों के होने पर सम्यक्त्वकी दो अवस्थाएँ होती है या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसंयोजन होता है। करणके द्वारा उपशम विधानसे जो उपशम होता उसका नाम प्रशस्त उपशम है। उदयके अभाव का नाम अप्रशस्त उपशम हैं। अनंतानुवंधी का प्रशस्त उपशम नहीं होता। अन्य मोहकी प्रकृतियोंका होता है इस (अनंतानुवंधी) का अप्रशस्त उपशम होता है। तथा तीन कारणों के द्वारा अनंतानुवंधी के परमाणुओंको अन्य चारित्रमोहनीकी प्रकृतिरूप परिणमाकर उसकी सत्ता का नाश करता है उसका नाम विसंयोजन है। इन प्रकृतियों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व में तो अनंतानुवंधी का अप्रशस्त उपशम ही है। तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति पहले अनंतानुवंधीके विसंयोजन होने पर ही होती है ऐसा नियम किन्हीं आचार्यों ने लिखा है किन्हीं ने नहीं लिखा है। क्षयोपशम सम्यक्त्व में किसी जीवके अप्रशस्त उपशम होता है अथवा किसीके विसंयोजन होता है। क्षायिक सम्यक्त्व पहले अनंतानुवंधी के विसंयोजन होने परहीं होता है। यहाँ इतना विशेष है कि उपशम क्षयोपशम सम्यक्त्वीके अनंतानुवंधीकी विसंयोजनसे सत्ता नाश हुई थी वाद में जव वह मिथ्यात्वमें आता है तो अनंतानुवंधीके वंधका और वहाँ उसकी सत्ता का सद्भाव रहता है क्षायिकसम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वमें नहीं आता। इसलिए उसके अनंतानुवंधी की सत्ता कभी नहीं रहती।

प्रश्न—अनंतानुवंधी तो चारित्रमोहकी प्रकृति है सव तरफसे चारित्र का ही घात करेगी। इससे सम्यक्त्व का घात कैसे संभव है?

उत्तर—अनंतानुवंधी के उदयसे क्रोधादिरूप परिणाम होते है कुछ अतत्व

श्रद्धान नहीं होता। इसलिए अनंतानुबंधी चारित्रका ही घात करती है सम्यक्त्वका घात नहीं करती अतः वास्तवमें बात तो यही है परन्तु अनंतानुबंधीके उदयसे जिस जाति का क्रोध होता है उस जातिके क्रोधादि होने पर सम्यक्त्व नहीं होता। इस तरह निमित्त नैमित्तिकपना पाया जाता है। जैसे त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति है परन्तु त्रसपना होते हुए एकेन्द्रिय-जाति प्रकृतिका उदय भी नहीं होता इसलिए उपचारसे एकेन्द्रिय प्रकृतिको भी त्रसपने का घातक बतलाया जाय तो कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार सम्यक्त्वका घातक तो दर्शनमोह है परन्तु सम्यक्त्व होते हुए अनंतानुबंधी कषायोंका भी उदय नहीं होता। इसलिए उपचारसे अनंतानुबंधीको भी सम्यक्त्वका घातक कहा जाय तो कोइ दोष नहीं है।

प्रश्न—अनंतानुबंधी जब चारित्र का घात करती है तो इसके नष्ट होनेपर चारित्र हो जाना चाहिए तब फिर असंयत गुणस्थानमें असंयम क्यों कहा है।

उत्तर—अनंतानुबंधी आदि भेद तीव्र मंद कषाय की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तीव्र कषाय होनेसे व मंद कषाय होनेसे अनंतानुबंधी आदि चारों कषायोंका उदय युगपत् होता है। वहाँ चारोंके उत्कृष्ट स्पर्द्धक समान बतलाए हैं इतना विशेष है अनंतानुबंधीके साथ जैसे तीव्र उदय अप्रत्याख्यानादिका होता है वैसा उसके नष्ट होने पर नहीं होता। इसी प्रकार ही अप्रत्याख्यानके साथ जैसा प्रत्याख्यान संज्वलनका उदय होता है वैसा उसके नष्ट होनेपर नहीं होता तथा जैसा प्रत्याख्यानके साथ संज्वलनका उदय होता है वैसा केवल संज्वलन का उदय नहीं होता। इसलिए अनंतानुबंधीके नष्ट होनेपर कषायों की मंदता तो होती है परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती जिससे कोई चारित्र नाम प्राप्त करे। क्योंकि कषायोंके असंख्यात लोकमात्र स्थान हैं। उनमें सर्वत्र पूर्वस्थानसे उत्तरस्थान में मंदता पायी जाती है। परन्तु व्यवहारसे उन स्थानोंमें तीन मर्यादाएँ की हैं। आदिके बहुत स्थान तो असंयम रूप बताए हैं, पीछे कितने ही देशसंयम रूप बतलाए हैं, पीछे कितने ही सकल संयम रूप बतलाए हैं। उनमे पहले गुणस्थानसे लगाकर चौथे गुणस्थान पर्यंत जो कषायके स्थान होते हैं वे सब असंयत के ही होते हैं। इसलिए कषायों की मन्दता होने पर भी चारित्र नाम नहीं पाते हैं। यद्यपि परमार्थसे कषायोंका घटना चारित्रका अंश है तो भी व्यवहारसे जहाँ इस प्रकार कषायोंका घटना हो जिसमें श्रावकधर्म व मुनिधर्मका अङ्गीकार हो वहाँ ही चारित्र नाम पाता है। असंयममें इस प्रकार कषाय घटती नहीं इसलिए यहाँ असंयम कहा है। कषायोंका हीनाधिकपना होते हुए भी जैसे प्रमत्तादिगुणस्थानोंमें सब जगह सकलसंयम ही कहलाता है। वैसे ही मिथ्यात्वको लेकर असंयत गुणस्थान पर्यंत असंयम कहलाता है। सब जगह असंयम की समानता न समझना चाहिए।

प्रश्न—अगर अनंतानुबंधी सम्यक्त्वका घात नहीं करती तो इसके उदय होनेपर सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थानमें कैसे आता है?

उत्तर—जैसे किसी मनुष्यके मनुष्यपर्यायके नाशका कारण तीव्र रोग प्रकट हुआ हो तो

उसको मनुष्य पर्यायका छुड़ानेवाला कहा जाता है। लेकिन मनुष्यपना दूर होने पर जो देव या अन्य कोई पर्याय होती है वह रोग अवस्थामें नही होती वहाँ तो मनुष्य का ही आयु रहती है। उसी प्रकार सम्यक्त्वीके सम्यक्त्वके नाशका कारण अनतानुवंधीका उदय प्रकट हुआ उसको सम्क्त्वका विरोधकसासादन वतलाया गया है। लेकिन सम्यक्त्वके अभाव होने पर जो मिथ्यात्व होता है वह सासादनमें नहीं होता। यहाँ उपशम सम्यक्त्व का ही काल है ऐसा समझना चाहिए इस प्रकार अनंतानुवंधी चतुष्क की सम्यक्त्व होते हुए अवस्था होती है। इसलिए सात प्रकृतियोंके उपशमादिकसे भी सम्यक्त्वकी प्राप्ति वतलाई जाती है।

प्रश्न–सम्यक्त्व मार्गणके छः भेद किए हैं यह कैसे ?

उत्तर–सम्यक्त्वके तो भेद तीन ही हैं। तथ सम्यक्त्वका अभाव रूप मिथ्यात्व है। दोनों का मिला हुआ भाव एक मिश्र भाव है। सम्यक्त्वधात भाव सासादन है। इस प्रकार सम्यक्त्व-मार्गणासे जीवका विचार करनेपर छः भेद वतलाए हैं। यहाँ किसी का कहना है कि सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर जो मिथ्यात्वमें आया है उसको मिथ्यात्व सम्यक्त्व कहना चाहिए लेकिन यह असत्य है। क्योंकि अभव्यके भी उसका सद्भाव पाया जाता है। दूसरे मिथ्यात्व सम्यक्त्व कहना ही अशुद्ध है। जैसे संयम मार्गणा में असंयम कहा है, भव्य मार्गणामें अभव्य कहा है। उसी प्रकार सम्यक्त्व मार्गणामें मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्वको सम्यक्त्वका भेद नहीं समझना चाहिए। सम्यक्त्व की अपेक्षा विचार करनेसे किन्हीं जीवोंके सम्यक्त्वके अभावसे ही मिथ्यात्व पाया जाता है ऐसा अर्थ प्रकट करनेके लिए सम्यक्त्व मार्गणामें मिथ्यात्व कहा है इसी प्रकार सासादन और मिश्र भी सम्यक्त्वके भेद नहीं है ऐसा जानना चाहिए। यहाँ कर्मके उपशमादिकसे औपशमादिक सम्यक्त्व कहे हैं। यह कर्मके उपशमादिक इसके किए हुए नहीं होते। यह तो तत्वश्रद्धान करने का प्रयत्न करता है उसके निमित्तसे स्वमेव ही कर्मके उपशमादिक होते हैं। तव इसके तत्वश्रद्धान की प्राप्ति होती है ऐसा जानना चाहिए। इसप्रकार सम्यक्त्वके भेद और उसका स्वरूप वतलाया।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग वतलाए है निःशङ्कित्व निःकांक्षित्व निर्विचिकित्सित्व, अमूढ़-दृष्टित्व उपवृंहण, स्थितिकरण, प्रभावना, वात्सल्य। भयका अभाव या तत्वों में संशयके अभाव का नाम निशंङ्कित अंग है। पर द्रव्यमें रागरूप वाञ्छा के अभाव का नाम निःकांक्षित्व है। पर द्रव्यादिक में द्वेषरूप ग्लानिका अभाव निर्विचिकित्सित्व है। तत्वोंमें या देवादिकमें अन्यथा प्रतीतिरूप मोहका अभाव अमूढ़दृष्टित्व हैं। आत्मधर्म को वढ़ाना उसका नाम उपवृंहण है। इसही अंगका नाम उपगूहन भी कहा है उसका अर्थ धर्मात्मा जीवोंके दोषों को ढकना ऐसा करना चाहिए अपने स्वभावमें या जिनधर्म में अपनेकों अथवा परको स्थापन करना यह स्थितिकरण अङ्ग है। अपने स्वरूप की या जिनधर्म की महिमा करना प्रभावना अंग है स्वरूपमें अथवा जिनधर्ममें अथवा धर्मात्मा जीवोंमें प्रीतिभावका नाम वात्सल्य है। इस प्रकार ये आठ अंग

समझना चाहिए। जैसे मनुष्यशरीरके हस्तपादादिक अंग है वैसे ही ये सम्यक्त्वके अंग हैं।

प्रश्न—किन्हीं सम्यक्त्वी जीवोंके भी भय इच्छा, ग्लानि आदि पाए जाते हैं और किन्हीं मिथ्यादृष्टियोंके भी नहीं पाए जाते इसलिए निःशंकितादि अंग सम्यक्त्वके कैसे बतलाए हैं?

उत्तर—जैसे मनुष्य शरीरके हस्तपादादि अंग बतलाए हैं वहाँ कोई मनुष्य ऐसा भी होता है जिसके उक्त अङ्गोंमें से कोई अङ्ग नहीं होता तो भी उसके मनुष्य शरीर तो कहा ही जायगा। परन्तु वह उन अङ्गोंके बिना शोभायमान सकल कार्य करनेवाला नहीं होता। उसी प्रकार सम्यक्त्वके निःशङ्कितादि अंग बतलाए हैं वहाँ कोई सम्यक्त्वी ऐसा भी होता है जिसके उक्त आठ अंगोंमेंसे कोइ अंग नहीं होता तो भी उसके सम्यक्त्व कहा जाता है। परन्तु उन अङ्गों के बिना वह निर्मल सकल कार्यकारी नहीं होता। तथा जिसप्रकार बंदरके हस्त पादादि अङ्ग होते हैं परन्तु जैसे मनुष्यके होते हैं वैसे नहीं होते। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके भी व्यवहाररूप निःशंकितादि अंग होते हैं परन्तु जिस प्रकार निश्चय की अपेक्षा लेकर सम्यक्त्वीके होते हैं वैसे नहीं होते। तथा सम्यक्त्वमें पच्चीस मल बतलाए हैं। आठ शंकादिक, आठ मद, तीनमूढ़ता, छः अनायतन ये सम्यग्दृष्टिके नहीं होते। कभी किसीके मल लगता भी है तो सम्यक्त्वका नाश नहीं होता किन्तु सम्यक्त्व मलिन ही होता है ऐसा समझना चाहिए।

परिशिष्ट

परिशिष्ट नं० १

विशेषार्थ

पृ० २ पं० २५

इनके अतिरिक्त··· ···· ····· ····· ······· ···· ·····प्रकट हो चुका है।

नो कर्म का अर्थ है कर्मोंके उदय होनेमें सहायक बाहरी द्रव्य। कल्पना कीजिए कोई आदमी बहुरूपियेको देखकर हंस पड़ता है। यहां हास्यकर्मके उदयमें बहुरूपिया सहायक है अतः वह हास्य नोकषायका नोकर्म है। विविध व्यञ्जनोंको देखकर भूख लग आती है यहां क्षुधावेदनीयके लिये वे व्यञ्जन नोकर्म हैं। इसी प्रकार भैंसका दही लहसुन आदि खानेसे निद्रा अधिक आने लगती है। ये दही आदि पदार्थ निद्रा कर्मके नोकर्म हैं। इसी तरह हमारे शरीरादिभी रागद्वेषादि कषायों के उदय होनेमें सहायक हैं अतः वे सब नोकर्म हैं। आत्मामें मूर्तत्व व्यहार भी शरीरादि नोकर्म के संबंधसे है। किन्तु जब आत्मा अशरीरी (सिद्ध) हो जाता है तब उसका अमूर्तत्व धर्म प्रकट हो जाता है। अतः ग्रन्थकारने नोकर्मका संबंध हट जानेसे आत्माके अमूर्तत्वादि धर्म प्रकट होनेकी बात लिखी है। "नो" का अर्थ है थोड़ा, किंचित्। कर्मोदयमें वह सहायक बाहरी द्रव्य स्वयं तो कर्म नहीं बनजाता परन्तु उसके फलमें सहायक है अतः उसे थोड़ा कर्म कहा गयाहै।

पृ० ३ पं० १

उनके ध्यानसे······ ······· ········ ··· ····· ·······प्रतिबिम्बके समान है।

सिद्धों की आत्मा अत्यंत विशुद्ध और निर्मल होती है रागद्वेषादि का तो अत्यंत अभाव उनमें हो ही जाता है परन्तु रागद्वेषके अभावमें रहनेवाला शरीर भी कर्म या अस्थि चर्म आदिके रूपमें उनके बिलकुल नहीं रहता। इसतरह उनके पास उनकी अपनी ही चीज अनन्तज्ञान अनंत-दर्शन आदि रह जाते हैं। इसीका नाम स्वद्रव्य है इसके अतिरिक्त रागद्वेष शरीरादि जो नष्ट हो जाते हैं वे क्रमसे उपाधिजन्य भाव और परद्रव्य कहलाते हैं। सिद्धोंका ध्यान करते समय यह सभी बातें ध्याताके ध्यानमें आती हैं अतः जहां वह शास्त्रोंमें स्वद्रव्य परद्रव्य और उपाधिजन्य भावोंकी चर्चा पढ़ता था वहाँ अब वे चीजें उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष होने लगती हैं। इस स्वानुभवनका परिणाम यह होता है कि उसके प्रतिक्षण असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती है और वह क्रमसे कर्मोंके बोझसे हल्का होता हुआ सिद्धत्वकी ओर बढ़ने लगता है। इसी अभिप्रायको प्रकट करनेके लिये ग्रन्थकारने लिखाहै 'जो (स्वद्रव्य परद्रव्यका ज्ञान) सिद्धोंके समान स्वयं बनने का एक साधन है। वस्तुतः अपने विशुद्ध और निर्मल स्वरूपकी झांकी कहीं हो सकती है तो सिद्धोंके स्वरूपचिन्तनमें। अतः सिद्ध परमेष्ठी अपने शुद्ध स्वरूपको दर्शानेके लिए प्रतिबिम्बकेसमान होती है।

पृ० ७ पं० १३

अरहंतादिकोंकी स्तुति आदि····· ····· ····· ······ ·····सिद्ध हो जाते हैं

शंकाकारका अभिप्राय था कि साधारणतया लोग भगवान की पूजा वन्दना तीर्थयात्रा न्योछावर वोलना आदि वातें अपने लौकिक स्वार्थके लिए किया करते हैं उदाहरणके लिए कोई चाहता है कि मेरे पास वहुतसा धन संचित हो जाय, कोई विवाह की कामना करता है तो कोई संतान चाहता है, किसी की इच्छा मुकदमा जीतनेकी है। क्या वस्तुतः ये सब बाते अरहंतकी स्तुति पूजा प्रार्थना आदिसे सिद्ध हो जाती हैं अथवा यों ही हैं। इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि ये सब वातें भगवान की स्तुति आदिसे सिद्ध अवश्य होती हैं परन्तु होती किस प्रकार सिद्ध हैं यह समझनेमें लोग भूल करते है प्रायः लोगोंका खयाल यह रहता है कि हम जो कुछ भेंट ले जाते हैं भगवान उसे स्वीकारकर लेते हैं और जो कुछ उनकी पूजा उपासना करतेहैं उससे वे प्रसन्न हो जाते हैं। अपनी इस स्वीकृति और प्रसन्नताके वदले वे हमारी तरह २ की मनोकामना पूरी करते रहते हैं परन्तु वस्तुतः वात ऐसी नहीं है। भगवान पूर्ण वीतरागी हैं। इच्छा पैदा करने वाला कर्म (मोहनीय) उनके समूल नष्ट हो चुका है अतः हम उन्हें क्या चढ़ाते हैं क्या नहीं चढ़ाते, उनकी स्तुति करते हैं या नहीं करते हैं इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं है परन्तु उनकी स्तुति करनेसे परिणामों में जो विशुद्धि होती है उससे अत्यधिक पुण्यबन्ध होता है। साथ ही पाप प्रकृतियों का अनुभाग [रसभाग] कम हो जाता है अथवा पाप प्रकृतियां पुण्य रूप हो जाती हैं। इस तरह हमें पुण्यसे धर्म संपत्ति विवाह संतान आदि सांसारिक मधुर फल मिलने लगते हैं हम समझते हैं ये भगवानने दी हैं। परन्तु वस्तुतः यह अपने ही विशुद्ध परिणामोंका फल है। चूंकि भगवान की भक्तिके निमित्तसे परिणामोंमें विशुद्धि हुई थी इसलिए इस पुण्य फलको भगवानकृत मान लिया जाता है। वास्तवमें जब भगवान कर्ता हर्ता हैं ही नहीं तव उन्हें पुण्यफल का दाता मान लेना मिथ्यात्व है।

उदाहरणके लिए कोई कहता है कि "पुस्तकही मेरा जीवन है" इसका सीधा अर्थ यह है कि पुस्तकोंके पठन पाठनसे उसके जीवनका बहुतसा समय प्रसन्नतासे कट जाता है। परन्तु पुस्तकोंमें ही उसका जीवन हो और पुस्तकें फट जांय तो उसी समय जीवन भी नष्ट हो जाय यह वात नहीं है। जीवन तो वह स्वयं ही विताता है, उसके प्राणोंकी स्थिरताका नाम जीवन है न कि पुस्तकोंकी स्थिरताका। परन्तु पुस्तकोंका पठन पाठन निमित्त है अतः उन्हें ही जीवन मान लिया गया है। इसी प्रकार भगवानकी भक्ति पुण्यफल प्राप्तिमें निमित्त है अतः भगवानको ही फलदाता मान लिया जाता है।

इस प्रकार अर्हंतकी स्तुति आदिसे लौकिक कार्योंकी सिद्धि होते हुएभी केवल उन्हींकी कामनासे दर्शन पूजा वन्दना करना उचित नहीं है। ग्रन्थकारके शब्दोंमें उससे केवल पापबंधही होता है। वात यह है कि जिस लौकिक सुख दुखकी लाभ हानिके लिए यह पूजा उपासना करता है वह सुख दुख उसकी राग द्वेषात्मक कषायोंके प्रतिबिंबके सिवाय और कुछ नही हैं। पदार्थ न

सुख रूप है न दुःख रूप है उसकी अपनी कषायजन्य कल्पनाएँ ही उसे सुख दुःखका रूप दे देती हैं। एक लाखकी क्षति यदि वस्तुतः दुःख रूप है तो वह उस एक व्यक्तिके अतिरिक्त अन्य सभीको समान रूपसे दुःखका कारण होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि जिस व्यक्तिका जिस पदार्थके साथ रागांश है वह पदार्थ उसके लिए सुखकर है और जिस पदार्थके साथ द्वेषांश है वह उसके लिए दुःखकर है। ऐसी हालतमें सांसारिक सुख दुःखकी कामना करना कषायोंको प्रोत्साहन देना है और जिन क्रियाओंसे कषायों को प्रोत्साहन मिलता हो वे पापबंधका ही कारण हो सकती हैं। निदानको इसी लिए पापबंधका का कारण बतलाया है। अतः सांसारिक कामनाओंके लिए पूजन भक्ति करना उचित नहीं है। ये बातें तो अरहंतकी भक्तिसे स्वतः ही सिद्ध हो जाती हैं।

पृ० २३, पं० ९

अंतरायसे जीवमें................शक्ति (वीर्य) प्रकट नहीं होती।

अन्तराय कर्मके पांचभेद बतलाए हैं और पांचोंके क्षयसे केवलीके पांच लब्धि होना माना है। परन्तु आठों कर्मोंके क्षय होने पर चार लब्धियोंका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। वे अनंतवीर्य और अव्याबाध सुखरूपसे प्रवृत्ति करती हैं। सिद्धोंके आठ गुणोंमें अनंतवीर्यका अस्तित्व तो है परन्तु अनन्तदान अनन्तलाभादिकका नहीं है इसका मतलब यह है कि अन्तराय कर्म केवल आत्मशक्तिका घात करता है अतः अंतरायका जैसे जैसे क्षयोपशम या क्षय होता है वैसे वैसे ही आत्माकी शक्ति अधिक बढ़ती है या उसका पूर्ण विकास होता है। दान लाभ भोग उपभोगकी क्षमता होनाभी आत्मशक्ति पर निर्भर है। एक व्यक्ति दान देना चाहता है पर दे नहीं पाता, जेबमें हाथ बार बार डालता है और निकाल लेता है। वह सब किसीके विघ्नसे नहीं है किन्तु स्वतः आत्मामें उस प्रकारकी सामर्थ्यका अभाव है। इसी प्रकार एक आदमीको एक साथ करोड़ों रुपयोंका लाभ होता है। उसकी अत्यंत खुशीसे उसके हृदय की गति बन्द (हार्टफेल) होजाती है यह भी उसके वीर्यान्तरायका उदय कहना चाहिए। इसीतरह भोग और उपभोगकी वस्तुओंमें भी लगा लेना चाहिए। खाने पहरनेके पदार्थ मौजूद हैं परन्तु रोग हो जानेके भयसे या कंजूसीसे उन्हें खाता पहरता नहीं है यह उसके भोगान्तराय और उपभोगान्तरायका फल है। मतलब यह है कि अन्तरायके प्रारंभिक चार भेदोंमें भी वीर्यांतराय ही काम करता है अतः अन्तरायका वास्तविक फल आध्यात्मिकशक्तिका घात करना है। अब देखना यह है कि इस आध्यात्मिक शक्तिका पूर्ण विकास कहाँ और कैसे होता है। यह निश्चित है कि अरहंतके अनंत शक्ति होती है और यही अनंतशक्ति सिद्धोंके रहती है। इस अनन्त शक्तिके प्रभावसे सिद्धोंमें कोई विकार नहीं होता। स्वामी समन्तभद्राचार्यने लिखा है—

"कालेकल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः॥" [र०क०५।१२]

"अर्थात् सैकड़ों कल्पकाल व्यतीत होजाने परभी सिद्धोंमें किसी प्रकारका विकार नहीं आता यहाँ तक कि तीन लोकोंको उलट पुलट करनेवालाभी कोई प्रलयकारी महान् उपद्रव हो जाय तबभी सिद्ध अपनेही रूपमें रहते हैं।"

इसका सीधा अर्थ यह है कि बाहरकी बलवानसे बलवान परिस्थितियोंका सिद्धोंपर कोई असर नहीं होता। दूसरे वे अनन्तानन्त पदार्थोंको उनकी समस्त पर्यायों सहित एक साथ जानलेते हैं यह भी उनकी अचिन्त्य आध्यात्मिक शक्तिका प्रभाव है। इस प्रकारकी पूर्ण शक्तिका विकास महाव्रत धारण कर तपश्चर्यादि किए बिना नहीं होसकता और महाव्रतोंका धारण तथा तपश्चरण बिना जिनदीक्षा लिए नहीं होसकता। अतः जिनदीक्षाका मतलब है अनंतवीर्यकी प्राप्तिके लिए अग्रसर होना। लेकिन जिसके वीर्यांतरायका तीव्र उदय मौजूद है उसके अन्दर जिन-दीक्षा लेनेकी सामर्थ्य ही नहीं होती। तब आध्यात्मिक शक्तिका विकास नहीं होता। जिन-दीक्षा लेना स्वयंभी एक दुर्धर्ष कार्य है और दीक्षा लेनेके बाद श्रेणी आरोहणके लिए जो आत्माको महान और अटूट पुरुषार्थ करना पड़ता है उसका कहना ही क्या है वह वीर्यांतरायका तीव्र क्षयोप-शम हुए बिना नहीं हो सकता। लेकिन जिसके वीर्यांतरायका तीव्र उदय मौजूद हो वह जिनदीक्षा लेनेमें ही असमर्थ रहता है और यदि लेता भी है तो शक्ति न होनेसे भ्रष्ट हो जाता है। इसीको लक्ष्य लेकर ग्रन्थकारने लिखा है कि अंतरायसे जीवका स्वभाव दीक्षा लेनेकी सामर्थ्यरूप शक्ति (वीर्य) प्रकट नहीं होती।

पृ० २३, पं० २०

उनमेंसे वेदनीय.. ..संयोग जुड़ता है।

वेदनीय कर्मके फलके विषयमें प्रायः विद्वानोंकी धारणा है कि वह सुख दुःख दिया करता है लेकिन वस्तुतः यह बात नहीं है। सुख दुःख जैसा कि पहले कह आए हैं जीवकी कषायोंके प्रतिबिम्ब हैं और कषायें मोहनीयके कार्य हैं अतः सुख दुखभी मोहनीयका ही फल होना चाहिए। राग और द्वेष अपने अर्थोंमें मूलतः सुख दुखका प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः राग और द्वेषसे पृथक् सुख दुखकी कल्पना उचित नहीं है। यदि राग और द्वेषसे पृथक्भी कोई सुख दुख हो तो वह अरहंतोंके अवश्य होना चाहिए ऐसी हालतमें उनके क्षुधादि परिषहोंका निषेध नहीं किया जा सकेगा। दूसरी बात हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अघातिया कर्मोंका साक्षात् संबंध जीवके गुणोंके घातसे नहीं बल्कि उसकी बाह्य अवस्थाओं से है यदि वे आत्माके गुणोंका अल्पांशमें घातभी करते हैं तो बाह्य सामग्रीके निमित्त मिलने से। आत्मामें सुख दुखकी उत्पत्तिका जहाँ तक साक्षात् संबंध है वह मोहनीयका फल होना चाहिए क्योंकि वह घातिया कर्म है परन्तु वे बाह्य कारण जो मोहनीयके इस फलमें सहायक हैं वेदनीयके फल हैं। यदि यह बात नहीं मानी जायगी तो वेदनीयको भी मोहनीयकी तरह घातिया मानना पड़ेगा। जबकि शास्त्रकारोंने उसे घातिया नहीं माना किन्तु घातियोंकी तरह

माना है क्योंकि मोहनीयका अत्यधिक प्रभाव वेदनीयपर रहता है अतः मोहनीयके बिना वह कुछ कर नहीं सकता। इस संबंधमें गोम्मटसारकी निम्न गाथा ध्यान देने योग्य है—

घादिंव वेदणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदं तु ॥ १९ ॥

मूल प्रकृतियोंके क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए ग्रन्थकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वेदनीय कर्मको मोहनीयके पहले घातिया कर्मोंमें क्यों गिनाया है? वे कहते हैं कि मोहनीयका बल पाकर घातिया कर्मोंकी तरह ही वेदनीय कर्म जीवका घात करता है इसलिए घातियोंके बीचमें और मोहनीयके पहले उसे गिनाया है।

यहां वेदनीय कर्मको मोहनीयके बल की आवश्यकता बतला कर ग्रन्थकारने यह स्पष्ट कर दिया है कि सुख दुख वेदनीयका स्वतन्त्र कार्य नहीं है अन्यथा यह प्रश्न बना ही रहता है आखिर मोहनीय वेदनीयको क्या बल देता है?

टीकाकारने इस गाथाके भावों को औरभी स्पष्ट किया है, वे लिखते हैं—"घातिकर्मवत् वेदनीयं कर्म मोहनीयविशेषरत्यरत्युदयबलेनैव जीवं घातयति। सुखदुःखरूपसातासातनिमित्तेंद्रियविषयानुभवनेन हन्तीति घातीनां मध्ये मोहनीयस्यादौ पठितं" अर्थात् घातिया कर्मोंकी तरह वेदनीय कर्म मोहनीय के भेद रति अरति नोकषायके उदयका बल पाकर जीवका घात करता है अर्थात् सुखदुखरूप साता आसताके कारण इन्द्रिय विषयोंके अनुभवनसे जीवकाघात करताहै।

यहां मोहनीयके बलका अर्थ टीकाकारने रति अरतिका उदय लिखा है अब देखना यह है कि रति अरति का फल क्या है? और वह वेदनीयके फलसे कितना भिन्न है?

आचार्योंने रति नोकषायका लक्षण "यदुदयाद्विषयादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः" किया है इसका अर्थ यह है कि जिसके उदयसे भोगोपभोगकी वस्तुओंमें उत्सुकता हो वह रति नोकषाय है, तथा सातावेदनीयका लक्षण "यस्योदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं" किया है इसका अर्थ है जिसके उदयसे देवादि गतियोंमें शारीरिक और मानिसिक सुखकी प्राप्ति हो वह साता वेदनीय है। यदि यहां सुख प्राप्तिसे मतलब सुखी होनेसे है तो दोनों लक्षणोंमें आए हुए औत्सुक्यऔर मानसिक सुखकी प्राप्ति इन दोनों पदों पर ध्यान देनेसे सारी समस्या हल हो जाती है। जिसे हम उत्सुकता कहते हैं वह मानसिक सुखकाही फल है जो आदिसे अन्त तक सुखानुभवनमें काम करती है। किसी पदार्थसे उत्सुकता हट जानेका मतलब है उस पदार्थमें उस व्यक्तिके लिए किसी प्रकार का आकर्षण नहीं रहता और जब आकर्षण ही नहीं रहा तब मानसिक सुख कैसा? अतः उत्सुकता और मानसिक सुखका परस्परमें घनिष्ट सम्बन्ध है। अब यदि हम रति का लक्षण "यदुदयाद्विषयादिषु शरीरमानससुखप्राप्ति" और वेदनीय का लक्षण "यदुदयाद्देवादिषुगतिषु औत्सुक्यं" करदें तो कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि. देवादि गतियोंमें उत्सुकताका अर्थभी उन गतियोंमें प्राप्त होने वाले विषयभोगोंमें शारीरिक और मानसिक सुखोंका अनुभव करना ही हो सकता है। अतः

जहां तक सुखी और दुखी होनेका प्रश्न है उसका संबंध मोहनीयसे है और जहां तक सुख दुख के संयोगका प्रश्न है उसका संवंध वेदनीयसे है। सुख दुखके संयोगसे सुखी दुखी होना अनिवार्य नहीं है। सुख दुख हों लेकिन सुखको सुख और दुःखको दुख न महसूस करता हो तो वह व्यक्ति सुखी दुखी नहीं है। महसूस करनेसे मतलब उन सुख दुःखोंमें जीवकी रागद्वेप परिणतिसे है। कल्पना कीजिए एक निर्मोही गृहस्थ है,उसके प्रचुर द्रव्य है,सुन्दर स्त्रियां हैं, दास दासी हैं लेकिन सदा तीन २ चार २ दिनके उपवास करता है ब्रह्मचर्य सेवन करता है, अपना काम अपने हाथों ही करता है। इस अवस्थामें हम उसके साता वेदनीयका उदय तो कह सकेंगे लेकिन सुखी (सांसारिक दृष्टिसे) नहीं कहेंगे। सुखी तव कहवे जव वह उस प्राप्त सुखकी सामिग्रीका उत्सुकतापूर्वक उपयोग करता होता। इसी तरह किसी मुनिको कोई दुष्ट मार पीट रहा है लेकिन मुनि उसमें भी बड़े शांत और गंभीर हैं चेहरेपर कोई दुःखकी रेखा नहीं है ऐसी हालतमें हम उनके असातावेदनीयका उदय तो कहेंगे लेकिन दुखी नहीं कहेंगे। इसलिए सुखी होना या दुखी होना यह मोहनीयका ही काम है तथा सुख और दुख होना यह वेदनीयका काम है। संभवतः यही दृष्टिकोण आचार्योंका रहा है अपने इस दृष्टिकोणको उन्होंने दोनों लक्षणोंमें बड़ी कलाके साथ व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि "शारीरिक और मानसिक सुखकी प्राप्तिका नाम साता वेदनीय है" मोटे तौरसे इसका मतलव हम यह समझ लेते हैं कि शरीर से और मनसे सुखी होना साता वेदनीयका फल है लेकिन वस्तुतः वहाँ सुख प्राप्तिसे मतलव सुखकी सामिग्रीकी प्राप्तिसे है। अतः समूचे लक्षणका यह अर्थ करना चाहिए जिसके उदयसे शारीरिक और मानसिक सुखकी सामिग्री मिले वह साता वेदनीय है" और जब इस मिली हुई सुख सामिग्रीमें मनुष्यकी उत्सुकता होने लगती है तव वह रति नोकपाय कर्म का काम होजाता है इसतरह सातावेदनीयके फलको लेकर जो प्रचलित मान्यता है वह वस्तुतः सातावेदनीय और मोहनीय (रति) दोनोंका सम्मिलित फल है। अतः उसे हम उक्त दोनों लक्षणोंमें सम्मिलित कर इस तरह व्यक्त कर सकते हैं 'यदुदयाच्छरीरमानससुखप्राप्तावौत्सुक्यं तत् सद्वेधं' अर्थात् जिसके उदयसे शारीरिक और मानसिक सुख मिलने पर उसमें उत्सुकता हो वह साता वेदनीय है।

गोम्मटसारकारने यहजो लिखा है 'मोहस्सबलेण घाददे जीवं' उसका मतलव भी यही है कि वेदनीयका फल यों तो स्वतंत्र है लेकिन जहाँ तक उसका जीवके घातसे संवंध है वह मोहनीयके सहारेके विना कुछ नहीं कर सकता अर्थात् वेदनीय कर्मसे सुख दुख सामग्री अवश्य मिलती है लेकिन उस सामग्रीसे तव तक आत्माका विगाड़ नहीं हो सकता जब तक कि उसमें मोहबुद्धि (उत्सुकता) न हो।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि कर्मतो कोई भी विना मोहनीयके आत्माका विगाड़ नहीं कर सकता क्योंकि आत्माके विगाड़ करनेवाले स्थिति अनुभाग कषायसे होते हैं और कपाय मोहनीयका भेद है। परन्तु वस्तुतः वात यह नहीं है। स्थिति और अनुभाग ये वंधके भेद हैं अतः

प्रत्येक कर्मबंधमें मोहनीय अवश्य काम करता है लेकिन जब वे बंधे हुए कर्म फल देने लगते हैं तब मोहनीयका कोई हाथ नहीं रहता। उदाहरणके लिए प्रमाद (मोहनीय) पूर्वक ज्ञानके साधनों का व्यवच्छेद करदेनेसे ज्ञानावरणका बन्ध अवश्य होता है लेकिन जब ज्ञानावरण अपना फल (अज्ञान) देने लगता है जिसका मतलब वस्तुतः जीवका घात है तब मोहनीयकी कोई अपेक्षा नहीं होती। परन्तु वेदनीय कर्मके संबंधमें यह बात नहीं है जहाँ वह मोहनीयके सहायतासे बंधता है वहां फल देते समय जीवका घात भी मोहनीयकी सहायतासे ही करता है अतः दूसरे कर्म आत्माके साथ संबंध करने भर तक ही मोहनीयका साहाय्य चाहते हैं। आत्माका बिगाड़ करनेमें नहीं, लेकिन वेदनीय कर्म आत्मासे संबंधकरनेमें भी और आत्माका बिगाड़ करनेमेंभी मोहनीयका साहाय्य चाहता है इसलिए वेदनीयका साक्षात् फल सुख दुखकी सामिग्री जुटाने तक ही है।

इस संबंधमें एक बात और ध्यान देनेकी है—रति नोकषायका नोकर्म सुपुत्र[1] बतलाया है। नो कर्मका मतलब है वह बाहरी द्रव्य जो कर्मके उदयमें निमित्त पड़ा है। चूंकि सुपुत्र होने पर उसमें अनुराग पैदा होता है इसलिए रति कर्मके उदयके लिए सुपुत्र उसका नोकर्म है। अब प्रश्न यह है कि सुपुत्रकी प्राप्ति हुई किस कर्मके उदयसे है? आम तौरसे कह दिया जाता है कि पुत्र धन स्त्री, मित्र आदि सब पुण्यके उदयसे मिलते हैं, लेकिन पुण्य कोई एक कर्म नहीं है अतः यह तो सोचना ही पड़ेगा कि वह कौनसा पुण्य कर्म है जिसके उदयसे ये सब चीजें मिलती हैं। तत्वार्थसूत्रमें "सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्" [८।२६] कह कर कुछ पुण्य प्रकृतियोंको गिनाया है और वे हैं सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र। सुपुत्रकी प्राप्तिके लिए इनमें न शुभ आयु कारणहो सकता है न शुभ नाम न शुभ गोत्र अतः सातावेदनीय ही ऐसी पुण्य प्रकृति रहजाती है जिसके उदयसे सुपुत्रकी प्राप्ति कही जासकती है। इस तरह हम देखते हैं कि सुपुत्रकी प्राप्ति और उसमें अनुरक्ति दोनों भिन्न भिन्न चीजें हैं, सुपुत्रकी प्राप्ति होजानेसे ही सुखोद्भूति होती हो यह बात नहीं है जब तककि उसमें अनुरक्ति न हो और चूंकि अनुरक्ति रतिकर्मका फल है अतः शारीरिक और मानसिक सुखानुभव सातावेदनीयका साक्षात् फल नहीं है किन्तु परंपराजन्य फल है साक्षात् फलतो उसका सुख दुखकी सामिग्री प्राप्त होने तक ही है।

रति कर्मके नोकर्मकी तरह सातावेदनीयका नोकर्म भी शास्त्रमें इष्ट अन्न पानादि गिनाया है[2]। 'आदि' शब्दसे यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि सुपुत्र, सुमित्रादि जितने भी इष्ट पदार्थ हैं वे सभी अन्तर्भूत हैं,इसी तरह जहाँ सुपुत्र को रतिका नोकर्म बतलाया है वहाँ सुपुत्र को उपलक्षणही समझना चाहिए अतः सुपुत्रकी तरह उसमें इष्ट अन्न पानादि सभी ग्रहण होजाते हैं इस तरह सातावेदनीय और रतिकर्मके नोकर्मोंमें कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता इससे भी यही प्रतीत होता है कि वेदनीयके फलमें रतिको सहायक मान कर ही इष्ट अन्न पानादि नोकर्म बतलाए गये हैं।

१—"वेलंबको नुपुत्तो हस्सरदीणं च णोकम्मं" गो०क०। २ सादेदरणोकम्मं इट्ठाणिट्ठण्ण पाणादि० गो०क० ७३।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब सातावेदनीय सुखकी सामिग्री जुटाता है तब लाभान्तरायका क्षयोपशम क्या काम करता है ? इसका उत्तर यह है कि अन्तराय कर्म आत्माकी उस शक्तिका घात करता है जो दान देने, लाभ लेने, भोग करने, उपभोग करने तथा सह सकनेमें सहायक होती[1] है। सातावेदनीयके उदयसे आती हुई सुख सामिग्रीको प्राप्त करनेमें आत्मा तबतक असमर्थ रहती है जब तक लाभान्तरायका उदय रहता है, इसी प्रकार भोगान्तरायका उदय होनेपर प्राप्त हुई सुख सामिग्रीका आत्मा भोग नहीं कर पाती। मतलब यह है कि पदार्थका संयोग होना, संयुक्त पदार्थमें सुख दुख मानना, सुख मानने पर भी उस पदार्थके भोगोपभोगकी आत्मामें क्षमता होना यह तीनों बातें भिन्न २ हैं और तीनोंहीके लिए भिन्न २ कर्म कारण हैं। पदार्थके संयोगमें वेदनीय कर्म कारण है, उसमें सुख दुखकी कल्पना रति अरतिके उदयसे होती है उस पदार्थके लाभ और भोगकी क्षमता लाभान्तराय और भोगान्तरायके क्षयोपशमसे होती है। इस तरह लाभान्तरायके क्षयोपशमका कार्य दूसरा है और सातावेदनीयका दूसरा।

प्रश्न—लेकिन सर्वार्थसिद्धिमें पूज्यपादस्वामीने क्षायिकलाभका अर्थ बतलाया है "लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्य मनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ता प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिकोलाभः" अर्थात् सम्पूर्ण लाभान्तरायके क्षयसे कवलाहारक्रियासे रहित केवलियोंके शारीरिक बलको स्थिर रखनेवाले अन्य मनुष्योंके लिए असाधारण है ऐसे अत्यंतशुभ, सूक्ष्म अनन्त पुद्गल प्रतिसमय संबंधको प्राप्त होते हैं। इसका सीधा मतलब है कि लाभान्तरायके क्षयसे शुभ पुद्गलोंका संयोग होता है जबकि आपका कहना यह है कि बाह्य पदार्थोंका संयोग वेदनीयसे होता हैं।

उत्तर—संयोग तो वेदनीयसे ही होता है परन्तु लाभांतरायका क्षय हुए बिना केवली उन परमाणुओंको शरीरसात् नहीं कर सकते अतः वेदनीयकी उपेक्षाकर लाभान्तरायके क्षयको ही ग्रन्थकारने प्रधानता देदी है। कार्य सिद्धिमें जिसकी अन्तिम सहायता बहुमूल्य रहती है प्रायः उस कार्यका श्रेय उसीको दिया जाता है। लाभ होनेपरभी लाभको आत्मसात् करनेकी क्षमता भी होनी चाहिए। दूसरे अगर अनंत पुद्गलोंके संयोगको हम लाभान्तरायके क्षयका कार्य मानलें तो फिर हम लाभान्तराय कर्मको घातिया कर्मोंकी श्रेणीमें नहीं रख सकते। क्योंकि घातियाका मतलब है जो जीवके अनुजीवी गुणोंको घाते और अनन्त पुद्गलोंका संयोग जीवका कोई अनुजीवी गुण नहीं है जिससे कि लाभान्तराय कर्म उसका घातकरे या लाभान्तरायका क्षय उसका संयोग जुड़ावे। वास्तवमें क्षायिक लाभादिके अनंतपुद्गलोंके संयोगादिजो फल बतलाए हैं वे शरीर नामकर्मके उदयके कारण कह दिए हैं अन्यथा वे सब फल सिद्धोंमें भी पाए जाते। स्वयं पूज्यपाद

---

[1] यदुदयाद्दातुकामोपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमिच्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, तत्सहितुकामोपि न तत्सहते। गो० क० बड़ी टीका पृ० ३०

स्वामीने सिद्धोंमें इनका अप्रसंग[1] बतलाया है और लिखा है कि अनन्तवीर्य तथा अव्याबाध सुख रूप से ही वहाँ क्षायिक दानादिकी प्रवृत्ति होती है जिस प्रकार अनन्त वीर्यकी प्रवृति केवलज्ञान रूपसे ही होती है। क्षायिक दानादिके अनन्त प्राणियोंके अनुग्रह आदि जो फल हैं वे भी वास्तविक नहीं है क्योंकि जो मूक केवली हैं वे किसीको उपदेशादि ही नहीं देते अतः उनसे कोई दान संभव नहीं है। इसलिए वेदनीयका फल सुख दुःखकी सामिग्री जुटाना ही समझना चाहिए अतः पंडितप्रवर टोडरमलजीने यह ठीकही लिखा है कि "वेदनीयसे तो शरीरमें या शरीरके बाहर नाना प्रकारके सुख दुःखोंके कारण पर द्रव्योंका संयोग जुड़ता है"

पृ० ७५ पं० १६

एक समयमें जितने पुद्गलपरमाणु......... वैसा बटवारा होता है।

यह जीव प्रति समय एक समयप्रबद्धका बंध करता है। समयप्रबद्धसे मतलब है सिद्ध राशिका अनन्तवाँ भाग और अभव्य राशिका अनन्त गुणा परमाणुओंका समूह। संक्षेपमें यों समझना चाहिए कि इस जीवके प्रतिसमय अनन्त कर्मपरमाणुओंका बंध होता है परन्तु ये अनन्त कर्मपरमाणु यों ही आत्मासे संबंध नहीं कर बैठते प्रत्युत इनका आठ मूल प्रकृतिरूप विभाजन होता है। उन अनन्त कर्मपरमाणुओंमें कुछ परमाणु ज्ञानावरण रूप होते हैं, कुछ दर्शनावरणरूप कुछ मोहनीयरूप आदि इस तरह उन अनन्त कर्म परमाणुओंका आठों कर्मोंमें विभाग हो जाता है। विभागका क्रम इस प्रकार है—

आयुका हिस्सा सबसे थोड़ा है, उससे अधिक नाम गोत्रका है यद्यपि परस्परमें दोनोंका समान है, उससे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका है किन्तु परस्परमें तीनोंका समान है, इनसे अधिक मोहनीयका है और मोहनीयसे अधिक वेदनीयका है[2]।

समयप्रबद्धप्रमाण रूप कर्मपरमाणुओंमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर उसमें एक भागको अलग कर बहुभागके आठ समान भाग कीजिए। यह प्रत्येक भाग आठों कर्मोंको दे दीजिए। अब उसे बचे हुए एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातवें भाग का भाग दीजिए एक भागको अलग रखकर बहु भाग वेदनीयको दे देना चाहिए उस एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातवें भागका भाग दीजिए जो बहुभाग आवे वह मोहनीयको दे देना चाहिए और एक भागको फिर आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना चाहिए उसमेंसे बहु-

---

१—क्षायिकभावकृतमभयदानादिः सिद्धेष्वपितत्प्रसङ्गः। नैष दोषः, शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मो-दयाद्यपेक्षत्वात्तस्य तदभावे तदप्रसङ्गः। कथंतर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्तिः? परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेणैव तेषा तत्र वृत्तिः। केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत्

२—आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहिया।
घादितियेविय तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिए॥ १९२॥ गो० क०
बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक्कभागम्हि।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देयो दु॥ १९५॥ गो० क०

भागको तीन समान हिस्सोंमें बांटकर ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तरायको दे देना चाहिए। बचे हुए एक भागको फिर आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना चाहिए। बहु भागको नाम और गोत्रमें समान बांट देना चाहिए और जो बचा हुआ एक भाग है वह आयुको दे देना चाहिए उदाहरणके लिए यों समझिए—

एक समयमें बंधनेवाले कर्म पुद्गलोंकी संख्या ३०७२० है और आवलीके असंख्यातवें भागकी संख्या ४ है। इस चारका भाग ३०७२० में दीजिए लब्ध आया ७६८०। यह एक भाग है इसको ३०७२० में से घटानेपर बहुभाग आया २३०४० इस बहुभागके आठ समान भाग करनेपर प्रत्येक भागका परिमाण २८८० आया यह ज्ञानावरण आदि प्रत्येकका भाग कहलाया। अब उस ७६८० में फिर ४ का भाग दीजिए लब्ध आया १९२०। यह एक भाग है, इसको ७६८० में से घटाइए तो बहुभाग आया ५७६०। यह वेदनीयको दे दीजिए। इस तरह वेदनीयका २८८०+५७६०=८६४० द्रव्य हुआ।

अब बचे हुए एक भागमें अर्थात् १९२० में ४ का भाग दीजिए तो लब्ध आया ४८० यह एक भाग है इस ४८० को १९२० में से घटाइए तो बहुभाग आया १४४०। यह द्रव्य मोहनीयको दीजिए इस तरह मोहनीयका २८८०+१४४०=४३२० द्रव्य हुआ।

अब ४८० में फिर ४ का भाग दीजिए लब्ध आया १२० यह एक भाग है। इसको ४८० में से घटाइए तो बहुभाग आया ३६०। इस ३६० के समान तीन भाग कर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायको दे दीजिए तो प्रत्येकको अलग अलग १२० मिला। इस तरह ज्ञानावरणका २८८०+१२०=३००० द्रव्य हुआ दर्शनावरणका २८८०+१२०=३००० द्रव्य हुआ और अन्तरायका २८८०+१२०=३००० द्रव्य हुआ।

अब १२० जो एक भाग बचा है उसमें फिर ४ का भाग दीजिए तो लब्ध आया ३०। यह एक भाग है। इसको १२० में से घटाइए तो बहु भाग आया ९०। इस ९० के समान भाग कर अर्थात् ४५,४५ क्रमसे नाम और गोत्रको दे दीजिए। इस तरह नामका २८८०+४५=२९२५ द्रव्य हुआ तथा गोत्रका भी २८८०+४५=२९२५ द्रव्य हुआ। अब एक भाग जो ३० बचा है वह आयुको दे दीजिए इस तरह आयुका द्रव्य २८८०+३०=२९१० हुआ। यों सभी कर्मोंके बटवारेको निम्नलिखित अङ्कोंमें रख लीजिए।

वेदनी	मोहनी	ज्ञाना०	दर्शना०	अन्तरा०	नाम	गोत्र	आयु
२८८०,	२८८०,	२८८०,	२८८०,	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०
५७६०,	१४४०	१२०	१२०	१२०	४५	४५	३०
८६४०	४३२०	३०००	३०००	३०००	२९२५	२९२५	२९१०

यह एक समयमें बंधे हुए पुद्गल द्रव्यके आठों कर्मोंमें बटवारेकी प्रक्रिया है। समझाने लिए यहाँ केवल एक सीमित संख्याका निर्देश कर दिया गया है अन्यथा एक एक समयमें बंधनेवाले पुद्गल द्रव्य अनन्त है ३०७२० ही नहीं है। इन मूल प्रकृतियोंकी तरह उत्तर प्रकृतियोंमें

भी वटवारा होता है। अर्थात् प्रत्येक मूल प्रकृतिका द्रव्य उसकी अपनी उत्तर प्रकृतियोंमें चला जाता है। कहनेका मतलब यह है कि आयुके विना सातों कर्मोंका निरन्तर वंध होता रहता है अतः समय समयमें वंधनेवाला पुद्गल द्रव्य सातों मूलप्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें वटता रहता है। जब आयुका वंध होता है उस समय वह द्रव्य आयु सहित आठों मूलप्रकृतियोंमें वट जाता है। उत्तर प्रकृतियोंके वटवारेमें इतनी विशेपता है कि आयु वेदनीय और गोत्रकी उत्तर प्रकृतियोंमें से एक समयमें एक ही प्रकृतिका वंध होता है अतः उनका वंध मूलप्रकृतियोंकी तरह ही समझना चाहिए।

मूल प्रकृतियोंमें जो कम अधिक द्रव्यका विभाग होता है उसका भी एक कारण है और वह यह है कि जिस कर्मकी जैसी स्थिति है उसके अनुसार ही उसको द्रव्यका भाग मिलता है। यदि किसी कर्मको स्थिति अधिक है तो उसको अधिक द्रव्य मिलता है और कम है तो कम मिलता है। जिन कर्मोंकी वरावर स्थिति है उन्हें वरावर द्रव्य मिलता है परन्तु वेदनीय कर्म इसमें अपवाद है। *ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके वरावर ही वेदनीय की भी स्थिति है* लेकिन द्रव्य इसे मिलता है सातों प्रकृतियोंसे अधिक। इसका कारण यह है कि वेदनीय कर्म सुख दुःखका का कारण है अतः इसकी निर्जरा सवसे अधिक होती है इसलिए वटवारेका द्रव्य भी इसे सवसे अधिक मिलता है।

पृ० २६ पं० १

जितनी स्थिति वंधती है················उदय आया ही करता है।

वंधा हुआ कर्म जवतक उदय या उदीरणा रूपमें नहीं आता तव तकका समय आवाधाकाल कहलाता है। प्रत्येक कर्मका अपना आवाधाकाल होता है इसके लिए यह नियम वतलाया है कि एक कोड़ाकोड़ी[1] सागरकी स्थितिवाले कर्मका आवाधाकाल सौ वर्ष होता है। जैसे ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है तो उसका आवाधाकाल तीन हजार ३००० वर्षका कहलायगा। अर्थात् जिसके ज्ञानावरणका वन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागरका हुआ है उसके ज्ञानावरणका उदय वँधनेके समयसे ३००० वर्ष वाद आयेगा। किन्तु आयु कर्मके विपयमें यह वात नहीं है उसके लिए वतलाया है कि आयु कर्मका उत्कृष्ट आवाधाकाल करोड़ पूर्व वर्पका त्रिभाग है। और जघन्य आवाधा अन्तर्मुहूर्त है किन्हीं आचार्यके मतसे आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

पृ० २८ पं० २

प्रतिसमय एक समयप्रवद्धमात्र·· ·· ·· ··सदा सत्ता रहती है।

आयुको छोड़कर सात कर्मोंका वंध प्रतिसमय होता रहता है। यह कर्म अनंत पुद्गल परमाणुओंका एक पिण्ड होता है। अतः सातों कर्मोंके परमाणु प्रतिसमय संसारी आत्मासे

१—एक करोड़को एक करोड़से गुणा करनेपर जो गुणनफल आवे वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है।

संबंध करते रहते है। एक समयमें कितने परमाणु आत्मासे संबंध करते है इसकी कोई निश्चित संख्या नहीं है फिर भी उसे समयप्रवद्ध मात्र कहा है जिसका अर्थ होता है सिद्धोंके अनंतवे भाग और अभव्योंसे अनंत गुणे। अतः समय प्रवद्धका प्रमाणभी अनंतही समझना चाहिए। यों प्रतिसमय जब अनंत परमाणु आते है तब जाते भी अनंत ही हैं। अर्थात् प्रति समय समयप्रवद्ध मात्र परमाणुओंका वंध होता है और समय प्रवद्धमात्र ही परमाणुओंकी निर्जरा होती है। फिरभी इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ आय व्यय वरावर रहता है। समयप्रवद्ध जैसा कि ऊपर कहा हैं एक सामान्य प्रमाण है। पहले समयमें जो समय-प्रवद्धप्रमाण अनंत परमाणुओंका वंध हुआ है यदि दूसरे समयमें उससे पचास अधिक और परमाणु आजाते है तो वे सव समयप्रवद्ध मात्र ही कहलाऐंगे। इसी प्रकार अगर तीसरे समयमें दूसरे समयसे सौ परमाणु कम आते है तो वे भी समयप्रवद्ध मात्रही कहलाऐंगे। मतलव यह है कि अनंतमें कुछ और अधिक संख्या आकर मिलजाय तो भी वह अनंत है और निकल जाय तो भी अनंतही हैं। इसलिए वंध और निर्जराका प्रमाण प्रतिसमय समयप्रवद्ध मात्र होने परभी सत्तामें जो शेष वचता हैं उसका प्रमाण इनसे कहीं अधिक है और वह कुछ कम डेढ़ गुणहानिसे गुणित समयप्रवद्ध प्रमाण है।

यह गुण हानि क्या है और समय प्रवद्धसे उसका गुणा कैसे होता है यहाँ इसके समझ-लेनेकी आवश्यकता है।

अपने आवाधाकालको विताकर कर्मका जव उदय होने लगता है तव उसके सभी परमाणु एक साथ उदयमें नहीं आजाते क्योंकि कर्मको जितनी स्थिति है तवतक उसका रहना (उदीरणाके विना) अनिवार्य है। अतः उसकी स्थितिके जितने समय हैं तवतक प्रतिसमय अपने थोड़े २ परमाणुओंके साथ उदय आता रहता है। यह समय २ पर उदय आने वाले परमाणु समुदाय रूपमें निषेक कहलाते हैं। स्थितिके जितने समय होते हैं उतने ही उस कर्मके निषेक होते हैं। पहले निषेकमें जितने परमाणु खिरते हैं उससे कम दूसरे निषेकमें खिरते हैं, उससे कम तीसरेमें, उससे कम चौथेमें। इस तरह स्थितिके अंतिम समयतक प्रत्येक निषेकमें कमही कम परमाणु खिरते जाते है। यह उत्तरोत्तर द्रव्य (परमाणुओं) की जो कमी या हीनता पाई जाती है इसका नाम गुणहानि हैं। ये गुणहानि कर्म की स्थिति पूरी होने तक एक नहीं अनेक होती हैं। उसका कारण यह है कि द्रव्यमें जो उत्तरोत्तर हीनता है होती है वह कुछ निषेकों तक एक समान क्रमको लेकर चलती है। इसके वाद दूसरा समान क्रम आगेके कुछ निषेकों तक चलता है फिर तीसरा क्रम उसके कुछ आगेके निषेकों तक चलता है। फिर चौथा, फिर पाँचवां इस प्रकार अन्त तक यह क्रम चलता रहता है। जव पहला समानक्रम समाप्त होता है तव प्रथम गुण हानि होती है। जव दूसरा समान क्रम समाप्त होता हैं तव द्वितीय गुणहानि होती है। जव तीसरा समानक्रम समाप्त होता है तव तृतीय गुणहानि होती है। इसी तरह चतुर्थ पंचम आदि गुणहानि समझना चाहिए। यों वहुतसी गुणहानि होती हैं और वे सव मिलकर "नाना गुण-हानि" कहलाती है। यहां तक समझलेनेके वाद अव देखना यह है कि:—

इस रचनामें सबसे नीचेका खाना प्रथम गुणहानिका है। उसके ५१२ से लेकर २८८ तक आठ निषेक हैं। पहले समयमें ५१२ परमाणुओंका एक निषेक उदय होकर खिर जाता है। फिर दूसरे समयमें ४८० परमाणुओंका दूसरा निषेक उदय आकर खिर जाता है, फिर तीसरे समयमें ४४८ का तीसरा निषेक, चौथे समयमें ४१६ का चौथा निषेक, पाचवें समयमें ३६८ का पांचवा निषेक, छठे समयमें ३५२ का छठा निषेक, सातवें समयमें ३२० का सातवां निषेक, आठवें समयमें २८८ का आठवां निषेक उदय होकर खिर जाता है। प्रत्येक निषेकमें बत्तीस २ परमाणु कम होते गए हैं यह प्रथम गुण हानिके चयका प्रमाण है वह बांई तरफ तरफ लिखा है। इस तरह खिरते २ प्रथम गुण-हानिके ३२०० परमाणु आठ समयमें खिर जाते हैं अतः सबका जोड़ ३२०० की संख्या दाइं तरफ लिख दी है। इसके बाद द्वितीय गुण-हानिके निषेक खिरना प्रारंभ होता है। चूंकि २५६ प्रथम गुण हानिके प्रथम निषेकसे ठीक आधे हैं अतः यह द्वितीय गुण हानिका प्रथम निषेक है जो नौवें समयमें खिरनेवाले परमाणुओं की संख्या है। दसवें समयमें द्वितीय गुण-हानिके द्वितीय निषेकके २४० परमाणु खिरते हैं। ११ वें समयमें द्वितीय गुणहानिके तृतीय निषेकके २२४ परमाणु खिरते हैं। इस तरह १६ समय तक द्वितीय गुणहानिमें १६०० परमाणु खिर जाते हैं और प्रत्येक निषेकमें सोलह २ परमाणु कम खिरते हैं अतः दाईं ओर १६०० और बाईं ओर १६ रक्खे हुए हैं। इन १६ समयोंमें प्रथम और द्वितीय दोनों गुणहानियों में खिरनेवाले परमाणुओंकी संख्याका जोड़

गुणहानिसंख्या	चय प्रमाण	संख्या (४८) निषेक	प्रत्येक गुण हानिके द्रव्यका जोड़
६ गुणहानि	१	९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६	१००
५ गुणहानि	२	१८ २० २२ २४ २६ २८ ३० ३२	२००
४ गुणहानि	४	३६ ४० ४४ ४८ ५२ ५६ ६० ६४	४००
३ गुणहानि	८	७२ ८० ८८ ९६ १०४ ११२ १२० १२८	८००
२ गुणहानि	१६	१४४ १६० १७६ १९२ २०८ २२४ २४० २५६	१६००
१ गुणहानि	३२	२८८ ३२० ३५२ ३६८ ४१६ ४४८ ४८० ५१२	३२००
		६३०० कुलजोड़	६३०० कुल जोड़

३२००+१६००=४८०० है होता है। इस तरह ४८ समयोंमें छहों गुणहानियोंके ६३०० परमाणु

उदयमें आकर समाप्त हो लेते हैं। ऊपर जो दो गुणहानियोंका क्रम समझाया है वही क्रम अन्य चार गुणहानियोंका भी उक्त अंकसंदृष्टिसे समझ लेना चाहिए। एक २ निषेकमें जो परमाणुओंकी संख्या बताई है वह कम अधिक होते हुए भी प्रत्येक समयप्रबद्ध प्रमाण है। और इन सबका जोड़ ६३०० परमाणु जो कभी एक समयमें बंधे थे और ४८ समयोंमें जिनकी निर्जरा हुई है वे भी समयप्रबद्ध प्रमाण ही हैं। इस तरह बंध और निर्जराका प्रमाण सामान्यतया बराबर होनेपर भी दोनोंमें बड़ा अंतर रहता है। एक समयप्रबद्ध ४८ समयप्रबद्धोंमें विभाजित होकर जो ४८ समयोंमें खिरा है उतनेमें ही नए ४८ समयप्रबद्धोंका और बंध हो गया है। क्योंकि प्रति-समय समयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्यका बंध होता रहता है अतः जिस समय एक समयप्रबद्ध खिरता है उस समय नया समयप्रबद्ध बंधता है और बादमें अपने आबाधाकालको छोड़कर खिरने लगता है। इस प्रकार समयप्रबद्ध प्रमाण बन्ध और निर्जरा होनेपर भी करीब (कुछ कम) डेढ़ गुण हानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सदा कर्मपरमाणुओंकी सत्ता रहती है। अधिक स्पष्टताके लिए यों समझिए कि किसी जीवने वर्तमान समयमें समयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्यका बंध किया और उसमें ५० समयकी स्थिति पड़ी। इन पचास समयोंमें दो समय आबाधाकालके मान लीजिए। बाकीके ४८ समयोंमें वह उदय आएगा। ये दो समय आबाधाकालके जब तक बीतेंगे तबतक उसके दूसरे समय प्रबद्धका बंध हो जायगा, तीसरे समयमें पहले समय प्रबद्धका जब प्रथम निषेक खिरेगा तब दूसरे समयप्रबद्धके आबाधाकालका दूसरा समय समाप्त होगा और तीसरे समयप्रबद्धका बंध होगा। चौथे समयमें पहले समय प्रबद्धका दूसरा निषेक खिरेगा (४६ की सत्ता रहेगी) दूसरे समय प्रबद्धका पहला निषेक खिरेगा (४७ की सत्ता रहेगी) तीसरे समयप्रबद्धके आबाधाकालका दूसरा समय समाप्त होगा (४८ की सत्ता रहेगी), चौथे समय प्रबद्धकाबंध होगा। पांचवे समयमें पहले समय प्रबद्धका तीसरा निषेक खिरेगा (४५ की सत्ता रहेगी), दूसरे समयप्रबद्धका दूसरा निषेक खिरेगा (४६ की सत्ता रहेगी , तीसरे समयप्रबद्धका पहला निषेक खिरेगा (४७ की सत्ता रहेगी), चौथे समय प्रबद्धके आबाधाकालका दूसरा समय समाप्त होगा (४८ की सत्ता रहेगी) तथा पाचवें समयप्रबद्धका बंध होगा। इसी प्रकार छठे सातवें आदि समयसे लेकर ५० वें समय तक समझना चाहिए। अन्तके पचासवें समयमें पहले समय प्रबद्धका ४८ वां निषेक खिरेगा, दूसरेका ४७वां निषेक खिरेगा (१ की सत्ता रहेगी), तीसरेका ४६ वां निषेक खिरेगा (२ की सत्ता रहेगी), चौथेका ४५ वां निषेक खिरेगा (३ की सत्ता रहेगी) पांचवेंका ४४ वां निषेक खिरेगा (४ की सत्ता रहेगी) इसी प्रकार छटेके ५ की सत्ता रहेगी, सातवेंकी ६ की ही सत्ता रहेगी और ४९ वें की ४८ की ही सत्ता रहेगी तथा पचासवेंका नया बन्ध होगा। इन सबका जोड़ कुछ कम डेढ़ गुणहानिगुणित समयप्रबद्ध प्रमाण होगा। इस डेढ़ गुण हानि गुणित समय प्रबद्ध प्रमाण परमाणुओंकी सत्ताको स्पष्ट समझनेके लिए हम यहाँ त्रिकोण यन्त्रकी रचना देते हैं, पाठकों को उसे ध्यानसे देखना चाहिए।

निषेकोंका उदय कितने परमाणुओंको लेकर किस हीनक्रमसे होता है, एक गुणहानिमें कितने निषेक और उनके परमाणुओंकी संख्या होती है। प्रत्येक गुणहानिका द्रव्य और प्रत्येक निषेकके परमाणुओंकी संख्या किस प्रकार निकलती है अतः इन बातोंको समझनेके लिए निम्न सात बातों पर ध्यान रखना चाहिए:—

द्रव्य १ स्थिति २ गुणहानि ३ नानागुणहानि ४ दोगुणहानि (निषेकहार) ५ अन्योन्याभ्यस्तराशि ६ चय ७।

इनमेंसे गुणहानि और नाना गुणहानिको पहले बताया जा चुका है। बंध किए हुए समयप्रबद्धमात्र परमाणुओंकी संख्या द्रव्य है।

उसकी स्थितिके-आबाधारहित-जितने समय हैं वह स्थिति है।

एक गुणहानिके प्रमाणका दूना **दो गुणहानि** या **निषेकहार** कहलाता है।

नाना गुणहानि प्रमाण २×२..की संख्या रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो गुणनफल हो वह **अन्योन्याभ्यस्त** राशि है।

समान हानि या समान वृद्धिका नाम चय है। दृष्टांतके लिए यों समझिए—

एक समयमें ६३०० परमाणुमात्र समयप्रबद्धका बन्ध किया, उसकी स्थितिके समय हैं ४८, प्रत्येक गुणहानिका प्रमाण है ८, और नाना गुणहानि हैं ६, दोगुण हानिका प्रमाण है १६ अन्योन्याभ्यस्त राशि है ६४। यथा—

द्रव्य	स्थिति-समय	गुणहानि	नाना गुणहानि	निषेकहार	अन्योन्याभ्यस्त राशि
६३००	४८	८	६	१६	६४

मतलब यह है कि यह ६३०० द्रव्य छः नानागुणहानियोंमें बटा हुआ है अतः प्रत्येक गुणहानिका द्रव्य जाननेके लिए सबसे पहले अन्तिम गुण हानिका द्रव्य निकालना चाहिए। इसके लिए संपूर्ण द्रव्यमें एक कम अन्योन्याभ्यस्त राशिका भाग देनेसे अन्तिम गुणहानिका द्रव्य निकलता है। अर्थात् एक कम अन्योन्याभ्यस्त राशिका प्रमाण ६३ है। इसका भाग सम्पूर्ण द्रव्य ६३०० में दिया तो लब्ध पाए १००। यही अन्तिम गुणहानिका द्रव्य है इससे दूना २ पांचवी चौथी तीसरी आदि गुणहानियोंका प्रमाण है—

१ गु० हा०	२ गु० हा०	३ गु० हा०	४ गु० हा०	५ गु० हा०	६ गु० हा०
३२००	१६००	८००	४००	२००	१००

आधी अन्योन्याभ्यस्त राशिका गुणा अन्तिम गुणहानिके द्रव्यसे करनेपर $\frac{६४}{२}$×१००=३२००

प्रथम गुण हानिके द्रव्यका प्रमाण निकलता है। इससे आधा २ अन्य गुणहानियोंके द्रव्यका प्रमाण समझना चाहिए।

एक कम गुणहानिआयामके आधेको निषेकहारमें से घटाकर और गुणहानि (आयाम) के प्रमाणसे गुणाकर पृथक् २ गुण हानिके द्रव्यमें भाग देनेसे उस २ गुणहानिके चयका प्रमाण निकलता हैं जैसे एक कम गुणहानिके प्रमाणका आधा ७/२ को निषेक हार १६ मे से घटाने पर १२½ रहे, इसका गुणा गुणहानिआयाम ८ से किया तो १०० लब्ध पाए। इन १०० क भाग प्रथम गुणहानिके द्रव्यमें दीजिए ३२००/१०० =३२ चयका प्रमाण आया। इसी प्रकार १६००/१०० =१६, ८००/१०० =८, ४००/१०० =४, २००/१०० =२ १००/१०० = १ द्वितीय, तृतीयादि गुणहानिके चयक प्रमाण समझना चाहिए। मतलब यह है कि अपनी २ गुणहानिमें प्रथम निषेकसे द्वितीय तृतीयादि निषेकोंमे कितना २ हीन द्रव्य पाया जाता है उसका प्रमाण जाननेके लिए उक्त विधान करना चाहिए इसके अनुसार प्रथक गुणहानिके निषेकोंमें उत्तरोत्तर ३२,३२ परमाणु कम पाए जाते हैं, दूसरीमे १६, १६ परमाणु कम पाए जाते हैं और अंतकीमें एक २ परमाणु द्रव्य कम पाया जाता है।

चय और प्रत्येक गुणहानिके द्रव्यका प्रमाण निकाल लेनेके बाद प्रत्येक गुण हानिके प्रत्येक निषेकका प्रमाण मालूम करना चाहिए। और उसकी विधि यह है कि प्रत्येक गुण हानिके चयको निषेकहारसे गुणाकर देनेपर प्रत्येक गुणहानिके प्रथम निषेकका प्रमाण निकलता है जैसे-प्रथम गुणहानिके चयका प्रमाण ३२ है इसका गुणा निषेकहार १६ से कर दीजिए त प्रथमगुणहानिके प्रथम निषेकका प्रमाण ५१२ आ जायगा। इसी प्रकार द्वितीय गुणहानिके च १६ का गुणा निषेकहार १६ से करने पर पर द्वितीय गुणहानिके प्रथम निषेक का प्रमाण २५ आजयगा है। यह २५६ ठीक ५१२ का आधा है। इसी तरह तृतीय चतुर्थ आदि गु० हानियों प्रथम निषेकों का प्रमाण समझना चाहिए। यह प्रमाण पूर्व २ गुणहानिके प्रथम निषेकका ..ल्कु आधा होता है। इन प्रथम निषेकोंमें से अपनी अपनी गुणहानिके चयका प्रमाण घटाने प्रत्येक गुणहानिके द्वितीयादि निषेकोंका प्रमाण निकलता है। चय घटाते २ जब प्रथम नि का बिल्कुल आधा रहजाय तब वह अपने बादकी गुणहानिका प्रथम निषेक होजाता हैं। प्रथम गुणहानिके प्रथम निषेक का प्रमाण ५१२ था। उसमें बत्तीस२चय घटाइए तो दूसरे नि ४८० तीसरे में ४४८, चौथेमें ४१६, पांचवे में ३८४, छठेमें ३५२ सातवेमें ३२० आठवेमें २८ अब इसमें से ३२ घटाइए तो २५६ होते हैं चूंकि ये प्रथम निषेक ५१२ से बिल्कुल आधे है इसे द्वितीय गुणहानिका प्रथम निषेक कहना चाहिए। अब इसमें से द्वितीय गुण हानिके चय को क्रमशः घटाइए तो २४०, २२४, २०८, १९२, १७६, १६०, १४४ द्वितीय गुण हानिके नि का प्रमाण होता है। इस तरह आठ निषेकों तक घटाते २ नवें निषेकमें प्रथम निषेकसे आधा रहजाता है। अतः नवें निषेकसे पहले २ के निषेक प्रत्येक गुणहानिके समय या निषेक कह है जिनकी संख्या ८ ऊपर कही जाचुकी है इसको स्पष्ट समझनेके लिए निम्न प्रकार अंक करना चाहिए:—

पृ० २९, पं० ६

मुद्धान

वाहर
किसी
(३)
ा हैं।
प्रदेश
ारणों
देशों
वारह
इसका
प्रति
निको
भिन्न
लता
इसे
त्पन्न
लता
थान
(८)
नेके
योंमें
ा हो

ाल
काल
तता
गरि-

पृ० २९ पं० ६

हां समुद्घात होने पर........फैल जाते है।

अपने मूलशरीर को विना छोड़े आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकल जाना समुद्घात कहलाता है। ये आत्मप्रदेश सात अवस्थाओंमें शरीरसे बाहर निकलते है—

(१) जब यह जीव तीव्र वेदनाका अनुभव करता है तब आत्मप्रदेश शरीरसे बाहर निकल जाते हैं इसे वेदना समुद्घात कहते हैं। (२) जब तीव्र कषायका उदय होता है तब किसी का वध आदि करनेके लिए आत्मप्रदेश निकल जाते हैं इसे कषाय समुद्घात कहते हैं। (३) विक्रिया करनेके लिये जो पृथक् शरीर आदि बनालिए जाते हैं उसे विक्रिया समुद्घात कहते हैं। (४) मरते समय जहां की पहले आयु बांधी हैं उस स्थान को स्पर्श करनेके लिए जो आत्मप्रदेश शरीरसे बाहर निकल जाते है उसे मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। (५) किन्हीं अप्रिय कारणों को देखकर जब अत्यंत क्रोध उत्पन्न होता है उस समय संयमी मुनिके बाँए कन्धेसे आत्मप्रदेशों का एक पुतला निकलता है जिसे तैजसपुतला कहते हैं। यह सिन्दूरके समान लाल होता है, बारह योजन लम्बा होता है, मूलमें सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग और सिरेपर नौ योजनका इसका विस्तार होता है, इस तरह इसकी आकृति धतूरेके फूलके समान होती है। यह जिस वस्तुके प्रति मुनिका क्रोध होता है उसे उल्टी प्रदक्षिणा देकर जला देता है और बादमें पुनः उस मुनिको भी आकर भस्म कर देता है। इसे अशुभ तैजस समुद्घात कहते है। इसी प्रकर जब व्याधि दुर्भिक्ष आदि को देखकर संयमी मुनिके दयावश शुभ आकृतिका उतना ही लम्बा चौड़ा पुतला निकलता है और उस व्याधि दुर्भिक्षादि को मिटाकर पुनः उस शरीरमें शांतिसे प्रवेश कर जाता है इसे शुभ तैजस समुद्घात कहते हैं। (६) जब किसी ऋद्धि सम्पन्न मुनिके तत्व संबंधी शंका उत्पन्न होती है उस समय शुद्ध स्फटिकके समान एक हाथ प्रमाण मस्तकके बीचसे एक पुतला निकलता है जो अन्तमुहूर्तमें केवली या श्रुतकेवलीके दर्शन कर अपने आश्रय मुनि की शंकाका समाधान कर देता है और पुनः मुनिके शरीरमें ही समा जाता है इसे आहारक समुद्घात कहते हैं। (७) वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक और आयु कर्म की स्थिति कम होने पर उन्हें बराबर करनेके लिए स्वभावतः केवली भगवानके आत्मप्रदेश शरीरके बाहर निकलते हैं और चार समयोंमें क्रमशः दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण होकर पुनः उतने समयमें उसी क्रमसे शरीरस्थ हो जाते हैं इसे केवली समुद्घात कहते हैं।

पृ० २९ पं० २३

इतर निगोदमें भ्रमण करनेका..................अनन्तकाल है।

जैनागममें पाँच प्रकारका परिवर्तन बतलाया है। द्रव्यपरिवर्तन (१) क्षेत्रपरिवर्तन (२) काल परिवर्तन (४) भव परिवर्तन (५) और भावपरिवर्तन। परिवर्तनका अर्थ है भ्रमण करना। अनादिकाल से यह जीव इन्हीं पाँचों परिवर्तनोंको पूरा करता रहता है। जब यह जीव द्रव्यपरिवर्तन करता है तब वह इसे दो तरहसे पूर्ण करता है एकतो कर्मद्रव्यपरिवर्तन रूपसे और दूसरे द्रव्यपरि-

वर्तन रूपसे। नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनमें तीन शरीरोंमें से किसीभी शरीर संबन्धी छः पर्याप्तिके योग्य पुद्गलोंको यह जीव एक समयमें स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्धादि द्वारा तीव्र मन्द मध्यमादि भावों को लेकर ग्रहण करता है और द्वितीयादि समयमें उन्हें निर्जीर्ण करदेता है। उसके बाद अनन्तवार अगृहीत पुद्गलोंको गृहण करके फिर अनन्तवार मिश्र (गृहीताग्रहीत) पुद्गलों को ग्रहण करके और बीच २ में गृहीतोंको भी अनन्तवार ग्रहण करके छोड़ देता है इसी क्रमसे जब वे ही पुद्गल उसी जीवके वैसेही स्निग्ध रूक्ष, गन्धाधिक द्वारा तीव्र मन्दादिभावों को लेकर नोकर्म भावको प्राप्त होते हैं तब उतने काल समुदायका नाम **नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन** कहलाता है।

कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें भी यह जीव एक समयमें आठ प्रकारके कर्म परमाणुओंको ग्रहण करताहै और बादमें समय अधिक आवली काल बिताकर द्वितीयादि समयमें उनकी निर्जरा कर देता है। पुनः पूर्वोक्त क्रमसे जब वे ही कर्म परमाणु उसी जीवके उसी प्रकारसे कर्मभाव को प्राप्त होते हैं उतना कालसमुदाय **कर्मद्रव्यपरिवर्तन** कहलाता है। इन दोनों परिवर्तनों (नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कर्मद्रव्यपरिवर्तन) को मिलाकर एक **पुगलपरावर्तनकाल** कहते हैं इस प्रकार अधिक से अधिक ढाई पुद्गलपरावर्तनकाल तक इतर निगोदमें भ्रमण करना होता है। ढाई पुद्गलपरावर्तन कालतो अनन्त है ही किन्तु एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन काल या कर्मद्रव्य परिवर्तनकाल भी अनन्त काल होता है इसका कारण यह है कि स्निग्ध रूक्ष आदिक तरतमता कोलेकर जो परमाणु जिस जीवने एक समयमें ग्रहण किए हैं निर्जीर्ण करने के बाद वे ही पुनः उतनीही नपी तुली स्निग्ध रूक्षादिकी तरतमताको लेकर उसी जीवके नोकर्म भावको प्राप्त हों इस प्रकारका संयोग क्वचित् कदाचित् ही होता है और जब होता है तब तक अनन्त काल व्यतीत हो जाता है। एक बारके ग्रहण किए हुए पुद्गलोंको निर्जीण करनेके बाद या तो फिर नए पुद्गल आते हैं या नए और वे पुराने मिल कर दोनों आते है अथवा बीच २ में कभी वे केवल पुराने आते भी हैं तो उनमें पहले जैसी स्निग्ध रूक्षादिभावों की तीव्रता आदि नहीं होती। अतः कभी अनन्त काल बीत जानेपर ही ऐसा अवसर आता है कि वे ही पुद्गल वैसेही भावों को लेकर उसी प्रकार से उसी जीवके नो कर्मभावको प्राप्त होते है।

पृ० ४४ पं० २१

वह इच्छा क्षयोपशमसे......दुःखका कारण कहा है।

सिद्धान्तमें इच्छा को लोभकी पर्याय माना है और वह रागके उदयसे होती है। अतः राग ही दुःखका कारण है क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं; क्योंकि ज्ञान त्रिकाल में भी बन्धका कारण नहीं होता। परन्तु यहाँ जो ग्रन्थकारने इच्छा को क्षयोपशमसे होना लिखा है और क्षयोपशम को दुःख का कारण लिखा है उसका एक मतलब है और वह यह है कि राग क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ ही प्रकट होता है। यद्यपि वह मोहनीयका कार्य है। किन्तु वह अपना कार्य ज्ञान के साहचर्य से ही करता है। अगर ज्ञानका सहयोग न हो तो मोह का कोई कार्य प्रकट

रूपमें मालूम नहीं हो सकता। इसलिए जितनी भी राग क्रियाएँ हैं वे देखने में क्षायोपशमिक ज्ञानका ही एक रूप प्रतीत होती हैं। इसीके समर्थनमें पञ्चाध्यायीकार लिखते हैं:—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियाऽस्ति वै ॥ ९०७ ॥

अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान प्रत्येक पदार्थ को जानकर जो उस रूप परिणमन करता है वह वास्तवमें ज्ञानका स्वरूप नहीं है किन्तु रागक्रिया है।
यह रागक्रिया किस प्रकार होती है इसके लिए ग्रन्थकार लिखते हैं:—

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्तियत्।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्विषद्यथा ॥ ९०८ ॥

चूंकि प्रत्येक पदार्थ अपना अपना परिणमन करता है उस परिणमन करते समय जिस जिस पदार्थ को यह जानता है उसी उसीमें मोह राग और द्वेष करने लगता है। इसी प्रकरण को आगे और भी स्पष्ट किया है वे लिखते हैं:—

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत् ॥ ६१० ॥

अर्थात् बुद्धि पुरस्सर राग ज्ञानके विना नहीं होता क्योंकि अज्ञात पदार्थमें राग पैदा नहीं होता।

यहाँ बुद्धि पूर्वक रागको ज्ञान का अविनाभावी वतलाया है। इसतरह राग को ज्ञान मिश्रित होनेसे उसमें अभेद विवक्षा कर ग्रन्थकारने यह कहा है कि क्षयोपशम ज्ञान ही दुःखका कारण हैं।

पृ० १४२ पं० ७

एक २ कांडकमें अनंतवें भाग.........शरीरको क्षीण करदे।

स्थिति या अनुभाग को कम करनेके लिए कांडक क्रिया करनी पड़ती है। स्थिति को कम करना स्थितिकांडक और अनुभागको कम करना अनुभागकांडक कहलाता है। इसी को स्थितिखंड और अनुभागखंड भी कहते हैं। मतलव यह है कि जब किसी कर्मकी वहुत स्थिति होती है तब उसके उदय आने योग्य निपेक भी वहुतसे होते हैं उन वहुतसे निपेकोंमें से कुछ निपेकों को नष्ट करनेके लिए उनके सभी परमाणुओ को बची हुई स्थितिके आवलीमात्र उपरितन निपेकों को छोड़कर वाकी सभी निपेकोंमें मिलादेना पड़ता है। इस तरह ऊपर के जितने निपेकों को नष्ट किया जाता है उतनी स्थिति कम होजाती हैं इसोको स्थितिकांडक कहते हैं। यही वात अनुभाग कांडकके विषयमें भी समझना चाहिए अर्थात् इसका भी वहुत अनुभाग वाले ऊपरके स्पर्द्धकों के परमाणुओंको कम अनुभागवाले नीचेके स्पर्द्धकोंमें मिलाकर नष्ट कर देना पड़ता है तब एक

अनुभागकांडक होता है। सिद्धान्तमें जो इसकी विशेष व्याख्या की उसका सार यह है कि है विवक्षित प्रकृतिके स्पर्द्धकों में अनन्तका भाग दीजिए उसमेंसे बहुभागप्रमाण स्पर्द्धकों को नष्ट करनेके लिए उनके परमाणुओंको एक भागप्रमाण जो स्पर्द्धक हैं उनके कुछ उपरितन स्पर्द्धकोंको छोड़कर अवशेष स्पर्द्धकोमें मिला दीजिए, इसीका नाम अनुभाग कांडक है। दृष्टांतके लिए यों समझिए कि विवक्षित प्रकृतिके स्पर्द्धक ५०० हैं और अनन्तका प्रमाण ५ है। इस ५ का भाग ५००में देने पर लब्ध आया १००। इन सौ को पांचसोमें से घटाइए तो बहुभागप्रमाण स्पर्द्धकों की संख्या हुई ४००। इन ४०० स्पर्द्धकोंको नष्ट करनेके लिए इनके परमाणुओंको अवशिष्ट बचे हुएजो १०० स्पर्द्धक हैं उनके उपरितन १० स्पर्द्धकोंको छोड़कर बाकीके ९० स्पर्द्धकों में मिला दीजिए यह एक अनुभाग कांडक हुआ। एक २ अनुभागकांडकमें अनन्तवें भाग अनुभाग रह जाता है। इसतरह बहुतसे अनुभाग कांडकों द्वारा असाता वेदनीयका अनुभाग इतना क्षीण हो जाता है कि क्षुधादि परीपहों का केवलीके शरीर पर कोई असर नहीं होता जिससे उनकी शारीरिक स्थितिमें किसी प्रकारकी बाधा हो। यों अनुभागकाण्डकोंसे जहाँ असाता की अनुभागशक्ति क्षीण करदी जाती है वहीं असाताके परमाणुओं को साता रूपभी परणमन करा दिया जाता है इसको गुणसक्रमण कहते हैं। संक्रमणका अर्थ है दूसरे रूप बदल देना और गुणका मतलब हैं गुणाकार रूप अधिक २ द्रव्य। अर्थात् प्रतिसमय अशुभ प्रकृतियों के असंख्यात गुणे परमाणुओंको सजातीय शुभ प्रकृति रूप बदल देना यह गुणसंक्रमण है। इसके द्वारा असाता सातास्वरूप परिणमन करने लगता है। मतलब यह है कि साताकी तुलनामें असाता का उदय इतना सूक्ष्म और अव्यक्त होता है कि उसे साता रूपसे उदय होनेके सिवाय और कोई चारा नहीं है। इसीके समर्थनमें आचार्यप्रवर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं:—

समयट्ठिदिगोबंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदयो सादसरूवेण परिणमदि ॥ २७४ ॥

अर्थात् साताका एक समय स्थितिवाला वन्ध भगवान जिनेन्द्र के होता है अतः वह केवल उदय स्वरूपही है। इसलिए वहाँ असाता का उदय साता रूपसे ही परिणमन करता है।

"एदेन कारणेणदु सादस्सेव दु णिरंतरो उदयो
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥ २७५ ॥

यही कारण है कि उनके निरन्तर साता वेदनीयका ही उदय होता है। अतः असातावेदनीय-निमित्तक परीपह जिनेन्द्रभगवान के नहीं हैं।

पृ० २०१ पं १७

अगर सत्यभी धर्मको.........धर्मात्मा नहीं हैं

ग्रन्थकारका अभिप्रायहै कि धर्मका आचरण विवेक पूर्वक होना चाहिये। अविवेकके ऊपर टिका हुआ कोई भी धार्मिक विधान धर्मका रूप नहीं ले सकता धार्मिक क्रिया जो लोग

परम्पराकी दुहाई देते हैं वे यह भूल जाते है कि परंपराका धर्मसे कोई संवन्ध नहीं है। अन्यथा जनसाधारणमें प्रचलित परंपरागत प्रत्येक आचरण धर्म हो जायगा। फिर जिनके घरमें परम्परासे कुदेवी देवताओंकी जो मान्यता चली आती है उसका निषेध नहीं किया जा सकेगा। वास्तवमें जिन रीत रिवाजोंका कोई आधार नहीं उन्हें रूढ़ियाँही कहना चाहिए। वे सिर्फ कुलाचार या कुलपरम्पराके आवरणमें अन्धश्रद्धाको लेकर पनपती हैं, उनसे जनसाधारण का कल्याण होता ही है यह वात नहीं है, प्रत्युत अकल्याण की ही अधिक संभावना रहती है। इसीलिए ग्रन्थकारने लिखा है कि धर्म सत्य भी हो लेकिन उसके पालन करने का आधार यदि कुलपरम्परा है तो उसका पालन करने वाला धर्मात्मा नहीं है। वह तो एक प्रकार का अज्ञान मिथ्यात्व है। अज्ञान इसलिए कि यदि कुलाचार से उसके यहाँ असत्य धर्मका आचरण चला आता होता तो वह उसे ही पालन करने लगता। दूसरी वात यह है कि जिस धार्मिक आचरण का आधार विवेक नहीं है। वह चमत्कार अतिशय आदिके ढोंगसे चाहे जव वदला भी जा सकता है ऐसी हालतमें इसकी कोई गारन्टी नहीं कि वह सत्य धर्म पर टिका ही रहेगा। अतः विवेकहीन धर्माचरण शून्य है उससे कोई लाभ नहीं। × × ×

पृ० २०७ पं ४

तथा उन अरहन्तोंको स्वर्ग मोक्षका..............लगता है

जैन धर्ममें जो स्तुतिवाद प्रचलित है उसमें प्रायः कर्तृत्वभावनाओंका प्रदर्शन रहता है। यों तो किसी भी धर्म में स्तुतिवाद कतृत्वभावनाओं से खाली नहीं है परन्तु जैन धर्म में लिखने का मतलव यह है कि जैन धर्म कर्तृत्ववादके विरुद्ध रहा है किन्तु उसकी स्तुतियों में कर्तृत्ववादका समर्थन पाया जाता है। उसका कारण क्या है? यह समझने के लिए हमें पहले ऐसे दो प्रकार के मनुष्यों की तरफ देखना चाहिए जो क्रमशः तर्क प्रधान और भावनाप्रधान हुआ करते हैं। तर्कप्रधान मनुष्य हर एक चीजको तर्क की कसौटी पर कसते है जव तक "क्यों" और "कैसे" का उन्हें उत्तर नहीं मिल जाता तव तक वे संतुष्ट नहीं होते। दूसरी ओर भावनाप्रधान मनुष्य शुष्क तर्कको तहमें न जाकर पदार्थके वाह्य रूपको ही देखते है और उससे प्रभावित हो जानेके वाद उसकी प्रशंसाके पुल वाँधते हैं न वे प्रशंसाके औचित्यको देखते है न उसकी कुछ सीमा ही रखना चाहते हैं। वे हट से यह वात करते हों सो नहीं है किन्तु ऐसा करने से उनके हृदय को ठेस लगती है। अनुरागमें मनुष्य ऐसा वंधजाता है कि जव तक वह अपने प्रेमीसे उचित अनुचित नहीं कहलेता तव तक उसे चैन नहीं पड़ता। जहाँ प्रगाढ़ अनुराग होता है वहाँ तो एक वार सामाजिक शिष्टाचार की भी अवहेलना हो जाती है। लेकिन उसे बुरा नहीं माना जाता। परस्परमें किसीको तू कहना निःसन्देह अशिष्ट आचरण है परन्तु भक्त—संसारमें भगवान को "तू" कह कर संवोधन करना शिष्ट ही माना जाता है। यह भक्त का प्रगाढ़ अनुराग नहीं तो क्या है। सभ्य समाजमें चोर लुटेरा शव्द भयंकर गालियाँ मानी

जाती है लेकिन हिन्दू समाजमें कृष्ण की स्तुतिके लिए ऐसे शब्दोंका प्रयोग कम नहीं हुआ है*। महावीर अतिशय क्षेत्र पर जिन्होंने मैंना गूजरों को महावीरके लिए गालियां गाते सुना है उन्हें यह अवश्य मानना चाहिए कि वे अनुरागी किन्तु अविवेकी हृदयके प्रेमोद्गार हैं। इस तरह हम देखते हैं कि अनुरागमें मनुष्य यह नहीं सोचता कि वह अपने प्रेमीसे क्या कहने जारहा है। उस प्रेमीमें वे गुण हैं या नहीं। उसे तो अपने हृदय की परितुष्टि चाहिए और वह तब होती है जब प्रेमीके गुणों को खूब बढ़ा चढ़ा कर उचित अनुचित रूप से सभी तरह कह लेता है। बस गुणों को बढ़ा कर कहना इसी का नाम स्तुति है। स्वामी समन्तभद्रने लिखा है कि "गुण-स्तोकं समुल्लंघ्य तत्बहुत्व कथास्तुतिः" अर्थात् थोड़ेसे गुणों अधिक बढ़ाकर कहना यह स्तुति है। भक्तका भगवान्के प्रति जो अगाध स्नेह है उसीके आधीन हो कर वह भगवानके गुणों को बढ़ा चढ़ा कर कहता है। वह स्वयं न भी कहना चाहे लेकिन स्नेह उससे कहलवाता है। पूजनके पहले स्थापना करने में जो आह्वानन स्थापन और सन्निधिकरण किया जाता है वह स्नेह की पुकार है। लक्ष्मण की मृत्युके उपरान्त भी महीनों तक रामचन्द्र उन्हें जगाने और उनसे बोलने की चेष्टा करते रहे। यह सब रामचन्द्र जी का लक्ष्मणके प्रति उत्कृष्ट अनुराग था। बुलाने (आह्वानन) और ठहराने (स्थापन) के बाद भी जब भक्तके स्नेही हृदय को संतोष नहीं होता तो कहता है 'भगवन् यहाँ मेरे बिल्कुल पास आजाइए (भगवन्नत्र मम संन्निहिता भव भव) भगवान न आए न ठहरे परन्तु हृदय का अनुराग देखिए वह समझरहा हैं कि भगवान आ भी गए, बैठ भी गए और अब धुन लगी है किसी प्रकार मेरे हृदयसे लग जावें। यह तो भक्त और भगवान की बातें हैं। पारस्परिक स्नेह में भी हम इसी प्रकार की स्तुति कर जाया करते हैं। तथ्यसे वे कोसों दूर रहती हैं। परन्तु स्नेह उसीमें फलता फूलता है। अपने नवीन परिचित मित्र से जब हम पूंछते हैं कि यह आपके साथ लड़का कौन है तो वह अत्यंत स्नेहसे अपने ही लड़के को कहता है कि "आपका है" सिद्धान्ततः झूठ होने पर भी अगर कोई इसे ही वास्तविकता समझले तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। लेकिन फिर भी स्नेह और शिष्टाचारके लिहाजसे यह उत्तर समुचित और अर्थपूर्ण है। इस तरह जहाँ हम स्तुतिमें थोड़े गुणोंको बढ़ा कर कहते हैं वहाँ कभी २ अनुचित प्रशंसा भी कर जाया करते हैं परन्तु वे सब अनुचित नहीं मानी जातीं। केवल इतना ही विवेक रखने की आवश्यकता है कि उन प्रशंसाओं को हम प्रशंसा तक ही रखें सिद्धान्त न समझलें। भगवान स्वर्ग मोक्षके दाता, दीनदयाल, उधमउद्धारक संकटोंके हरण करने वाले हैं, यह सब भक्तिवाद है। सिद्धान्तवाद नहीं है। जो इसे सिद्धान्त मान बैठते हैं वे मिथ्या-दृष्टि हैं। स्वर्ग मोक्ष का मिलना, उद्धार होना, संकटों का दूर होना आदि सब अपने ही शुभ परिणामों पर निर्भर है। भगवान पर नहीं। कर्तृत्ववाद की भावनाएँ जो संसार में प्रसारित हुईं वह इसी भक्तिवादका परिणाम है। तर्कके सहारे सिद्धान्त को समझने वाले बहुत कम होते हैं फिर भी अपना कल्याण करनेका तो सबको हक है। इसीको लक्ष्यमें रखते हुए भक्तिवाद का

* गोपवधूर्टीदुकूलचोराय। न्या० सि० मु०, मङ्गला चरण

प्रारंभ हुआ और उसके लिए स्तोत्र पूजा आदि रची जाने लगी। प्रारंभ में ये स्तुतियां विशुद्ध सैद्धान्तिक और दार्शनिक हुआ करती थीं। स्वामी समंतभद्रके देवागमस्तोत्र आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अनेक उत्तर कालीन जैनाचार्यों ने समन्तभद्र स्वामी को आद्य स्तुतिकार कहा है। इन स्तुतियों का जन साधारण पाठ करते थे और भाव न समझते हुए भी केवल पाठमात्र के शुभोपयोगसे पुण्यबंध करलिया करते थे। धीरे २ इन स्तुतियों का अधिक प्रचार हुआ और उनमें भगवानके गुणोंका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाने लगा। दार्शनिक गुत्थियों को बैठे २ सुलझाने रहने की अपेक्षा लोगों ने भक्तिमार्ग को आत्मकल्याणके लिए अधिक सीधा और सरल मार्ग समझा। यहाँ तक कि जो लोग अक्षरज्ञान शून्य थे उन्हें भी इसी भक्तिमार्गमें लगाया गया उनके लिए नाम कीर्तन आदिकी प्रथा चालू की गई। विष्णुसहस्र नाम भगवन्नामकीर्तन आदि इसीके फल हैं। इस तरह अशिक्षित जनता का एक बहुत बड़ा भाग इस भक्तिवाद की ओर झुका। फलतः उसने भगवानके अतिशय चमत्कारों को लेकर खूब बढ़ा २ कर स्तुतिकी। जन साधारण का इधर झुकाव देख कर बादके विद्वानों ने भी इस प्रकार की रचनाएँ की। जब स्तुतियोंपर विद्वानों की छाप लगने लगी तब स्तुतियां स्तुतियां न रह कर सिद्धान्त बन गईं। कर्तृत्ववाद जैसे विषय दार्शनिक चिन्तनके अङ्ग बन गए। यहाँ तक कि कर्तृत्ववादको न माननेवाली जनताका बहिष्कार किया गया। उसे अनीश्वरवादी कह कर नास्तिक की संज्ञा दी गई। कर्तृत्ववाद का यह छोटासा इतिहास है। इस तरह जहाँ कर्तृत्ववादका सब जगह प्रचार हुआ वहाँ जैनों ने इसमें विवेक रक्खा। यद्यपि अपनी स्तुतियों में वे भी कर्तृत्ववाद से अछूते नहीं रह सके। लेकिन दार्शनिक विद्वानों ने इसका जोरों से खण्डन किया। परिणाम यह हुआ कि जैनों की स्तुतियोंमें तो कर्तावाद रहा लेकिन वह सिद्धान्तका रूप नहीं लेसका। अतः जहां हिन्दू धर्ममें स्तुति और सिद्धान्त एक बन गए वहाँ जैनोंमें स्तुति और सिद्धांत अलग २ रहे। अतः अरहंतो को स्वर्ग मोक्षका दाता दीनदयाल आदि जो कहा जाता है उसे स्तुति ही समझना चाहिए उसमें वास्तविकता की कल्पना करना मिथ्यात्व है। ग्रन्थकारका यही अभिप्राय है। आगे चलकर ग्रन्थकारने इस विषय को और भी स्पष्ट किया है उसे ध्यानसे समझने की आवश्यता है। + + +

पृ० २०७, पं० २५

इयंभक्ति....................ज्ञानीके भी होती है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि श्रद्धामें तर्कको स्थान नहीं होता, यद्यपि तर्कमूलक भी श्रद्धा होती है परन्तु वहाँ श्रद्धाकी प्रधानता नहीं होती किन्तु तर्ककी ही प्रधानता रहती है। जहाँ श्रद्धा प्रधान होती है वहाँ तर्कका स्थान नगण्य रहता है। भक्तिका उपदेश ऐसे ही श्रद्धाप्रधानी लोगोंके लिए है। विवेकका आधार तर्कणा शक्ति है वह जिनके नहीं होती ऐसे लोगोंको भी आत्मकल्याणका अधिकार तो है ही। अतः जब वे आत्मकल्याणमें प्रवृत्त होना चाहते हैं तब उनके लिए भक्तिके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। कल्पनाकी कीजिए एक आदमी

दर्शन शास्त्रकी गुत्थियोंको नही सुलझा सकता,लोक अलोकका आलोड़न नहीं कर सकता, गुणस्थान मार्गणाओंकी चर्चाओंको नहीं समझ सकता, लेकिन इन सबको समझनेवालोंकी तरह आत्मकल्याण अवश्य चाहता है तब क्या उसे इन चीजोंको बरबस समझाना ही एकमात्र कल्याणका उपाय होगा ? यदि नहीं तो वह कौन सी चीज है किससे वह आत्मकल्याण करे ? उत्तर स्पष्ट है, उसके लिए एक भक्तिमार्ग ही कल्याणका साधन हो सकता है। अनुभव बतलाता है कि किसी पर्व या समारोहके अवसरपर जब विद्वानोंमें ज्ञानगोष्ठी और तत्वचर्चाएँ होती हैं तब साधारण लोग उठकर नृत्य और भजनोंमें जाकर बैठ जाते हैं उन्हें वहाँ कोई बलात् उठाकर नहीं ले जाता परन्तु आत्म-कल्याणकी प्रेरणा ही उन्हें ऐसा करनेको बाध्य करती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानीको भक्ति करना ही नहीं चाहिए। और तो क्या स्वयं मुनियोंके छः आवश्यकोंमें चतुर्विंशति स्तव आवश्यक रक्खा है। आवश्यक वे हैं जो प्रतिदिन अवश्य करना ही चाहिये।

शंका—मुनि जो स्तुति करते हैं वह भावात्मक होती है,जैसे देवागम आदि स्तोत्र अतः उसे ज्ञानी ही समझ सकते हैं। इसलिए आवश्यकोंमें कही गई चतुर्विंशति स्तुतिको भक्ति नहीं कहना चाहिए।

समाधान—देवागम स्तोत्र दार्शनिक स्तुति होनेसे भावात्मक ही कही जा सकती है लेकिन मुनियोंको सर्वथा भावात्मक स्तुति ही करनेका विधान नहीं है। षडावश्यकोंमें जो चतुर्विंशति स्तव बतलाया है उसके ५ भेद किए हैं वे क्रमशः नाम स्तव स्थापना स्तव, स्थापना स्तव, क्षेत्रस्तव कालस्तव और भाव स्तव हैं। भाव स्तवको छोड़कर शेष चार स्तव वैसी हो भक्तिके रूप हैं जिन्हें श्रद्धालु लोग भी किया करते हैं और मुनि भी उनमेंसे कोई न कोई स्तुति करते ही रहते हैं। उनको नित्य नैमित्तिक क्रियाओंमें, सिद्धभक्ति, लघुभक्ति चैत्यभक्ति आदि भक्तियाँ की ही जाती हैं अतः ज्ञानियोंको भक्तिका निषेध नहीं है। किन्तु तीव्र राग द्वेषके दूर करनेके लिए या साक्षात् कल्याणके साधन स्वाध्याय तत्वचिंतन आदिमें जब चित्त ऊब जाता है तब वह अशुभ रागकी ओर न चला जाय इसके लिए ज्ञानी पुरुष भी भक्तिको अपनाते हैं लेकिन वे इस भक्तिमें विवेकको नहीं भुला देते अथवा अविवेकी नहीं बन जाते कि मुक्तिका यही कारण है। यही आशय ध्यानमें रखकर ग्रंथकार ने लिखा है कि यह भक्ति प्रायः अज्ञानियोंकी चीज है क्वचित् ज्ञानियोंके भी हो जाती है। + + +

पृ० २३९ पं० २०

उदय काल प्राप्त..........................क्षयोपशम है।

क्षयोपशमको समझनेके पहले "निपेक" "स्पर्द्धक" आदि संज्ञाओंका मतलब तथा सर्वघाती आदिका विभाग समझ लेना चाहिए। जिसको हम कर्म या प्रकृति कहते हैं वह वास्तवमें कोई एक अखंड द्रव्य नहीं है किन्तु अनन्त परमाणुओंका पिण्ड है जो आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें दूधमें पानीकी तरह मिला हुआ है। प्रवाहकी दृष्टिसे ये परमाणु किसी खास समयमें संचित नहीं हुए, किन्तु नदीका जल जैसे आता जाता सदा काल ही बना रहता है वैसे ही ये परमाणु

भी आत्मासे संबंध करते और छोड़ते हुए सदा काल (मुक्त न होने तक) बने रहते हैं। एकसमयमें कितने परमाणु आते हैं कितने जाते हैं इसका हिसाब पहले बतलाया जा चुका है। ये परमाणु जब आत्मासे संबंध करते हैं तब अपनी २ प्रकृतियोंमें बट जाते हैं किसी एक खास प्रकृतिके न होकर आठों ही प्रकृतिके होते हैं क्योंकि हमारी यौगिक प्रवृत्तियोंका उद्देश्य कुछभी हो सूक्ष्मरूपसे उसमें विभिन्न विचारधाराएँ काम करती है और विभिन्न ही कषायांशोंका मिश्रण रहता है अतः कर्म परमाणु भी विभिन्न ही प्रकृतिके आते हैं। इस तरह संबद्ध परमाणुओंका बटवारा हो जानेके बाद थोड़े ही काल पश्चात् (अपना २ आबाधाकाल छोड़कर) वे फल देने लगते हैं यही उनका उदय होना कहलाता है। उदय होते समय वे सब परमाणु एक साथ ज्योंके त्यों नहीं उलट पड़ते किन्तु धीरे २ निश्चित संख्यामें उदय होते हैं और तब तक उदय होते रहते हैं तब तक कि उनकी स्थिति (मियाद) समाप्त नहीं हो जाती। एक समयमें जितने कर्मपरमाणु उदयमें आते हैं उन सबके समुदायको एक "निषेक" कहते हैं।

बंध होनेके बाद अमुक कर्म अमुक समय तक बराबर उदय आता रहता है इसका भी एक कारण है। मन वचन कायकी प्रवृत्ति जब कषायोंको लेकर होती है तब उनमें अपनी २ प्रकृतिके अनुसार फलदान शक्ति भी हो जाती है और अमुक समय तक उस प्रकारके फल देनेकी स्थिरताभी उनमें आजाती है। उनमें पहलेको अनुभाग बंध और दूसरेको स्थितिबंध कहते हैं। यह फल-दानकी शक्ति कर्मके प्रत्येक परमाणुमें होजाती है। इस तरह एक परमाणुमें इस शक्तिके बहुतसे अविभागी अंश (प्रतिच्छेद) होते हैं। इन शक्ति के अविभागी अंशोंके धारक प्रत्येक परमाणुको वर्ग कहते हैं। और जब समान अविभागी अंशोंके धारक बहुतसे वर्ग मिल जाते है तब उन्हें वर्गणा कहते हैं। यही वर्गणाओंका समूह स्पर्द्धक कहलाता है। इसमें भी जघन्य वर्ग और जघन्य वर्गणा आदि और भेद होते है अर्थात् अल्प अनुराग शक्ति धारण करनेवाले परमाणु जघन्यवर्ग कहलाते हैं और ऐसे समान वर्गोंके समूहको जघन्य वर्गणा कहते हैं। जघन्य वर्गसे एक अधिक अविभागी अंश वाले वर्गोंका समूह द्वितीय वर्गणा कहलाता है। दो अधिक अंशवाले वर्गोंका समूह तृतीय वर्गणा, तीन अधिक अंशवाले वर्गोंका समूह चतुर्थ वर्गणा इस तरह जघन्य वर्गसे दूने अंशवाले वर्गोंका समूह जब तक नहीं आजाता तब तक इन द्वितीय तृतीय चतुर्थ आदि वर्गणाओंका समूह जघन्य स्पर्द्धक कहलाता है। जब जघन्य वर्गसे दूने अंशवाले वर्ग मिल जाते हैं तब द्वितीय स्पर्द्धक होता है और यह दूने अंशवाले वर्गोंका समुदाय उसकी द्वितीय वर्गणा कहलाता है। इस तरह एक २ अंश बढ़ते २ जब तक जघन्य वर्गसे तिगुने अंशवाले वर्ग नहीं आजाते तब तक यह द्वितीय तृतीय आदि वर्गणाएँ मिलकर द्वितीय स्पर्द्धक ही कहलाती हैं और जब तिगुने अंशवाले वर्ग इकट्ठे होते हैं तब वे तृतीय स्पर्द्धककी प्रथम वर्गणा कहलाते हैं। इस तरह चतुर्थ पंचम आदि स्पर्द्धक समझने चाहिए। इन स्पर्द्धक और निषेकोंमें कोई खास अन्तर नहीं है। एक समयमें खिरने वाले सामान्यतया कर्म परमाणुओंके समुदाय को निषेक कहदेते है और इस प्रकारके समुदायोंमें जब

अनुभाग शक्ति की तरतमताका खयाल करते है तब उन्हें वर्गणा स्पर्द्धक आदि संज्ञाओंसे कहने लगते हैं। बात एक ही है केवल दृष्टिका फर्क है। एक २ स्पर्द्धकमें अनेक २ निषेक होते है। इन निषेकोंके उदय को स्पर्द्धकोंके निषेकोंका उदय भी कहते है जैसा कि स्वयं ग्रन्थकारने इसी स्थल पर कहा है।

इस तरह निषेक और स्पर्द्धक आदि संज्ञाओंके समझनेके बाद सर्वघाती आदिका मतलब और इसका विभाग भी समझ लेना चाहिए।

अनुभागशक्तिको लेकर जो कर्म परमाणु आत्मासे सम्बन्ध करते हैं, वे मूलमें दो तरह के होते हैं, घातिया और अघातिया। जो कर्म परमाणु अपनी अनुभाग शक्तिसे जीवके ज्ञानदर्शन आदि गुणोंका घात करते हैं या उनके विकासको रोकते हैं वे घातिया कहलाते हैं और जिनकी अनुभाग शक्तिका असर सीधा जीवके गुणोंपर नहीं होता वे अघातिया कहलाते हैं। ज्ञानावरण,दर्शना-वरण, मोहनीय और अंतराय इनको घातिया कर्म इसीलिए कहा है कि यह जीवके ज्ञान, दर्शन आदि गुणोंके विकासको रोकते हैं। इन घातिया कर्मोंके परमाणुपिण्ड भी दो तरहकी अनुभाग शक्ति लिए हुए होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो जीवके गुणोंका आंशिक घात करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो पूर्णतः घात करते हैं। आंशिक गुणोंका घात करनेवाले देशघाती और पूर्णतः घात करनेवाले सर्वघाती कहलाते हैं। शास्त्रोंमें आंशिक (थोड़ा) घात करनेवाले परमाणु पिण्डोंकी संज्ञाएँ ज्ञानकी विभिन्न जातिके आधारसे अलग अलग रखदी हैं। जैसे अवधिज्ञानको घात करनेवाला अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानको घात करनेवाला मनःपर्ययज्ञानावरण। चूँकि उक्त दोनों प्रकारके ज्ञान ज्ञानके अंश या देश है अतः उनका घात करनेवाले दोनों कर्म भी अंशघाती या देशघाती हैं।

शंका—ज्ञान की चार जातियों की तरह केवलज्ञान भी पांचवी जाति है या पांचवा अंश है अतः उसका घात करने वाले द्रव्य को भी देशघाती कहना चाहिए जब कि शास्त्रों में उसे सर्वघाती कहा है।

समाधान—वास्तव में केवलज्ञान ज्ञान की जाति नहीं है किन्तु स्वयं ही एक पूर्ण अखंड ज्ञान है। अगर ज्ञान की जाति होता तो पहले के चारों ज्ञानों के ज्ञेयसे इसका ज्ञेय (जानने योग्य विषय) भिन्न ही होता। जैसा कि अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के ज्ञेय परस्पर भिन्न हैं?

शंका—केवलज्ञानका ज्ञेय भिन्न तो है ही अगर भिन्न न होता तो चारों ज्ञानोंसे उसमें कोई विशेषता नहीं होती।

समाधानः—विशेषता होने पर भी भिन्न जातीयता नहीं है। विशेषता इतनी ही है कि उक्त चारों ज्ञानोंके ज्ञेयों को वह और भी अधिक पूर्ण स्पष्ट जानता है। लेकिन जानता उन ज्ञानोंके ज्ञेयोंको ही है उनसे भिन्न अन्य किसी ज्ञेयोंको नहीं जिस प्रकार अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान परस्पर भिन्न ज्ञेयोंको जानते हैं।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञानको यदि ज्ञानका एक अंश ही माना जायगा तो ज्ञानके अन्य चार अंश उसके न होनेसे केवलज्ञानी अंशज्ञानी ही कहलायगा पूर्णज्ञानी नहीं। और जब केवलज्ञानी पूर्णज्ञानी नहीं तब पूर्ण ज्ञान किसको कहा जायगा। अतः हाथीके पैरमें जिस प्रकार सब पैर समा जाते हैं उसी प्रकार केवलज्ञानमें सब ज्ञान आजाते हैं। इसलिए केवल ज्ञानको पूर्णज्ञान और बाकीके ज्ञानोंको अपूर्णज्ञान कहा है। इन्हीं संज्ञाओंके आधार पर हमें देशघाती और सर्वघातीका लक्षण बना लेना चाहिए अर्थात् जो पूर्ण गुणका घात करे वह सर्वघाती और जो आंशिक गुणका घात करे वह देश धाती है।

शंका—यदि ऐसा है तो अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषायों को देशघाती कहना चाहिए चूंकि वे आंशिक चारित्रका ही घात करती हैं अर्थात् पहली देशसंयम को घातती है और दूसरी सकलसंयम को। तथा संज्वलन कषाय को सर्वघाती कहना चाहिए चूंकि वह पूर्ण चारित्र यानी यथाख्यात चारित्रका घात करती है।

समाधान—मोहनीयकी प्रकृतियोंमें देशघातित्व और सर्वघातित्व समझनेके लिए हमें पहले चारित्र गुणके विकास पर ध्यान देना चाहिए और फिर देखना चाहिए कि ज्ञान गुणके विकास की तरह चारित्र गुणके विकासमें कोई अन्तर है या नहीं। यदि है तो देशघाती और सर्वघाती की व्यवस्था उसमें किस प्रकार हो सकती है? वास्तवमें चारित्रका जो उत्तरोत्तर विकास होता है वह पूर्व पूर्व विकासके ऊपर निर्भर है देशसंयम न हो तो सकल संयम नहीं हो सकता किन्तु ज्ञानके उत्तर विकासका उसके पूर्व विकास पर निर्भर रहनेका नियम नहीं है। अवधिज्ञान न भी हो तो मनःपर्यय ज्ञान हो सकता है: ऐसी हालतमें अप्रत्याख्यानावरणके रहनेसे देश चारित्रका ही घात नहीं होता किन्तु संपूर्ण चारित्रका ही विकासका रहता है इस दृष्टिसे उसे सर्वघाती ही कहना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्याख्यानावरणके उदय होने पर भी देशचारित्रके बाद भी करीब २ सम्पूर्ण ही चारित्रका विकास रुका रहता है अतः वह भी सर्वघाती ही है। "करीब २ सम्पूर्ण चारित्रका घात" हमने इसलिए लिखा है कि देशचारित्र चारित्र गुणका इतना विकसित अंश नहीं है कि उसे चारित्र की कोटिमें गिना जा सके जिस प्रकार प्राइमरीका ज्ञान शिक्षा की कोटिमें नहीं आता उसी प्रकार देशचारित्र भी प्रस्तुत चारित्र की कोटिमें नहीं आता। अतः प्रत्याख्यानावरणका उदय भी सम्पूर्ण चारित्र को अवरुद्ध करता है इस लिए उसे सर्वघाती ही कहना चाहिए।

शंका—प्राइमरी का ज्ञान यदि शिक्षा की कोटि में नहीं आता तो प्राइमरी पढ़नेवालों को शिक्षितोंमें भी नहीं गिनाया जाता। लेकिन देशचारित्र यदि चारित्र की कोटिमें नहीं आता तो उसे चारित्रके भेदोंमें क्यों गिनाया गया है?

समाधान—वस्तुतः देशचारित्र चारित्र का कोई भेद नहीं हैं केवल सकलचारित्र को समझने के लिए उसको देशचारित्र संज्ञा देदी है। यदि देशचारित्र भी कोई भेद होता तो उसे सामयिक, छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन चारित्रके पांचभेदों

में अवश्य गिनाते। चूंकि इन पांचके अतिरिक्त छठा कोई भेद नहीं है इसलिए देशचारित्र चारित्र का कोई भेद नहीं है।

शंका—श्रावक के १२ व्रतों में सामायिक शिक्षाव्रतको गिनाया है और चूंकि वह देशचारित्र रूप है। इसलिए सामायिक चारित्र में ही देशचारित्र आगया आप उसे इन पाचोंके बाहर कैसे मानते हैं ?

सामाधान—समायिक शिक्षाव्रत सामायिक चारित्रके अन्तर्भूत नहीं है। चूंकि सामायिक चारित्र का छठे से लेकर नोवें गुणस्थान तक ही अस्तित्व बतलाया है[1] जब कि सामायिक शिक्षाव्रत पांचवे गुणस्थानमें ही होता है। दूसरी बात यह है कि शीलोंका उपदेश एक अभ्यास दशा है[2] वास्तविक विरति तो छठे गुणस्थानमें होती है। मुनिराज पहले महाव्रतोंका ही उपदेश देते हैं श्रोता जब उस विरतिमें असमर्थ होता है तब उसे अभ्यासदशा (श्रावक व्रत) बतलाते हैं।

शंका—यों तो सकलचारित्र को भी चारित्र के इन पांच भेदोंमें नही गिनाया है फिर आप उसे ही क्यों चारित्र का भेद मानते हैं ?

समाधान—सकल चारित्र को इन पांचो भेदोंमें अवश्य गिनाया है। परन्तु उसे सकल-चारित्र नाम से न कह कर सामायिक और छेदोपस्थाना नामसे कहा है। समायिक का लक्षण है कि अभेद से सर्व सावद्य का त्याग करना[3]। जिसका मतलब है हिंसा असत्यादि पांच विकल्प न करके पापमात्र का त्याग करना। और छेदोपस्थापना का मतलव है, अमुक सावद्य कर्म हिंसा है, अमुक सावद्य कर्म असत्य है इस तरह विकल्पोंमें विभाजित कर के पापों को छोड़ना[4]। इसीलिए मूलाचारमें लिखा है कि बाईस तीर्थंकरोंने सामायिक संयम का उपदेश दिया तथा ऋषभ और महावीरने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया[5]। इसका हेतु यह दिया है कि ऋषभनाथके समय में लोग अत्यंत भोले थे। अपनी सरलताके कारण वे उसमें दोष लगा लिया करते थे अतः उन्हें पुनः छेदोपस्थानाका उपदेश दिया जाता था। जिसका अर्थ होता था कि सावद्य (पाप) का छेदन कर[6] अर्थात् उसे अभिप्रायानुसार अलग २ संज्ञाओं

---

१ सामायिकछेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः। स० सि० पृ० १७।
२ शीलोपदेशस्याभ्यासदशाविपयत्वात्, सा० ध० अ० ७ श्लो० ११। ३ सर्वस्य सावद्ययोगस्य भेदेने प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमवधृतकालं वा सामायिकं प्रत्याख्यायते। रा० वा० पृ० पृ० ३४०
४—विकल्पनिवृत्ति वां ॥ ७ ॥ अथवा सावद्यकर्महिंसादिभेदेन विकल्पनिवृत्तिः छेदोपस्थापना। रा० वा० अ० ९ सू० १८। यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः। व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥ तत्वार्थसार, संवर तत्ववर्णनाधिकार श्लो० ४६। ५--बावीसा तित्थयरा सामाइयसंजमसुवदिसंति। छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो ॥३६॥ आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि। एदेन कारणेण दु महव्वदा पंचपण्णत्ता ॥३७॥ आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुदुरणु पालेय। पुरिमा य पच्छिमा विहु कप्पाकप्पंण जाणंति ॥ मूलाचार षडावश्यकाधिकार।

में बाँट कर उसका त्याग करना चाहिए। लेकिन बाईस तीर्थंकरोंके समयमें लोग इतने सरल नहीं रहे। एक सामायिकसे ही काम चलता हुआ देखकर उन्हें छेदोपस्थाना नामसे अतिरिक्त चारित्र का उपदेश नहीं करना पड़ा। इसके बाद महावीरके समयमें लोग अधिक वक्र होगए। वे जान बूझकर सामायिक चारित्रमें दोप लगाने लगे अतः उन्हें सावद्यको हिंसा झूंठ आदि पांच जगह विभक्त कर छोड़ देनेके लिए पुनः छेदोपस्थापना चारित्रका उपदेश करना पड़ा। इस तरह सामायिक और छेदोपस्थापनाका उपदेश दिया। यों सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रमें ही सकल चारित्र अन्तर्भूत हो जाता है। अतः इनकी घातक अप्रत्याख्यानावरण कपाय को सर्वघाती ही कहना चाहिए। चौथी संज्वलन कपाय पूर्ण चारित्र को नहीं घातती किन्तु चारित्र को पूर्ण होते २ रोक देती है अतः उसे चारित्रके अंतिम विकासका ही अवरोधक कहना चाहिए। बाकी संपूर्ण चारित्रका घातक अनन्तानुबंधी से लेकर प्रत्याख्यानावरण तक का द्रव्य है इसलिए उसके जितने विकल्प है वे सब सर्व घाती हैं। अतः आत्माके गुणोंका पूर्ण घात करने वाला कर्म सर्वघाती हैं और अपूर्ण (थोड़े) गुणोंके घातक देशघाती हैं ।

देशघाति कर्ममें भी दो तरहके स्पर्द्धक होते हैं, एक सर्वघाती दूसरे देशघाती जसे अवधिज्ञानावरण देशघाती प्रकृति है इसमें कुछ भाग सर्वघाती स्पर्द्धकोंका है कुछ देशघाती स्पर्द्धकों का। किसमें कितना सर्वघाती और देशघातीका अंश है इसको समझानेके लिए अनुभाग शक्ति की तीव्रता मन्दताके उदाहरणोंको समझ लेना चाहिए। ऊपर जिन चार घातिया कर्मों की चर्चाकी जा चुकी है उनके परमाणु चार प्रकारकी अनुभाग शक्ति लिए हुए हैं। कुछ तो ऐसे हैं जोपत्थरके समान कठोरतम अनुभाग शक्ति लिए हुए हैं कुछ हड्डी जैसी कठोरतर अनुभाग शक्तिको लिए हुए हैं। कुछ काठ जैसी काठोर अनुभाग शक्तिको लिए हुए हैं। कुछ लता जैसी कोमल अनुभाग शक्ति लिए हैं। इनमें लताभागसे लेकर काष्टभागके अनन्तवें भाग तक देशघाती स्पर्द्धक समझना चाहिए तथा काष्टभागके अनन्तभागोंमें से एक भाग छोड़कर बाकीके बहुभागसे लेकर हड्डी और पत्थर भाग तकके सभी स्पर्द्धक सर्वघाती समझना चाहिए। अघातिया कर्मोंमें भी प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग गुड़, खांड शक्कर और अमृतसमान है अर्थात् जिस प्रकार इनमें उत्तरोत्तर मिठास है इसीप्रकार उनके स्पर्द्धक भी अधिक २ सुखके कारण है। तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंका नीम, कांजीर, विप, हलाहलके समान उत्तरोत्तर दुःखरूप अनुभाग शक्तिवाले स्पर्द्धक है। इस तरह एक ही देशघाति द्रव्यमें सर्वघाती और देशघाती दोनों जातिके स्पर्द्धक होते हैं। जब इनमें से सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदय रहता है तब जिस गुणके वे घातक हैं वह बिल्कुल भी प्रकट नहीं होता। जैसे अवधिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदय होगा तो अवधिज्ञान गुण बिल्कुल प्रकट नहीं होगा। हाँ इनका उदय न हो और फिर देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय भी रहे तो अवधिज्ञान गुण प्रकट हो जायगा। इस तरह थोड़ा सा भी गुण प्रकट होनेके लिए उसके घातक सर्वघाती स्पर्द्धकोंका अभाव होना आवश्यक है। वह अभाव दो तरहसे ही हो सकता है या तो उनका क्षय हो या उपशम हो। अतः जब आत्मामें थोड़ा सा भी ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व या चारित्र आदि कोई गुण प्रकट होने लगता है तब उसके घातक कर्मके

स्पर्द्धकोंकी तीन हालतें होती हैं। कुछका क्षय होता है, कुछका उपशम होता है वाकीका उदय वना रहता है। जिनका क्षय और उपशम होता है वे सर्वघाती स्पर्द्धक होते हैं और जिनका उदय वना रहता है वे देशघाती स्पर्द्धक होते हैं। क्षय भी ऐसा नही कि वे उदयमें आकर (फल देकर) झड़ जाते हों। क्योंकि प्रतिसमय समयप्रबद्धप्रमाण परमाणुओंकी निर्जरा होती रहती है यदि वे सब सर्वघाती रूपमें उदयमें आकर ही निर्जीण हो तो कभी वह गुण ही प्रकट न हो। किन्तु गुण प्रकट होनेके लिए निर्जीर्ण होना आवश्यक है अतः वे सर्वघाती रूपमें विना उदयमें आये ही निर्जीर्ण होजाते है। इसीको शास्त्रोंमें उदयाभावी क्षय कहा है। जिनका उपशम होता है उनके उपशमका इतना ही मतलव है कि वे जब तक उदय कालको प्राप्त नहीं होते तब तक सत्तामें ही बैठे रहते हैं। इसीका नाम सत्तारूप उपशम है। चुपचाप जब उदयमें आनेको होते हैं तब उदयाभावी क्षय होजाता है। इस तरह सभी सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयमें न आनेसे (क्षय और उपशन होने के कारण) आत्मामें सम्पूर्ण गुण प्रकट होजाना चाहिए था किन्तु देश घाती स्पर्द्धकों का उदय सदा वना रहता है अतः आत्मामें अपूर्ण ही गुण प्रकट होकर रहजाता हैं इसी अपूर्ण गुणका नाम क्षायोपशमिक गुण है। और वह अपने घातक कर्मके क्षयोपशमसे पैदा होता है अतः क्षयोपशमका निम्न लक्षण करना चाहिए—**सर्वघाती स्पर्द्धकोंके निषेकों का उदयाभावी क्षय और जो उदय को प्राप्त होंगे उनका सत्तारूप उपशम साथ ही देशघाती स्पर्द्धकों काउदय ऐसी कर्म की हालत को क्षयोपशम कहते हैं।** जैसे मिथ्यात्व कर्म का क्षयोपशम होगा तो उसमें मिथ्यात्व मिश्रमोहनीय के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं का और उनकी सहायक अनतानुबंधी चतुष्टयका सदवस्थारूप उपशम होगा। तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होगा। इस प्रकार जितने भी क्षायोपशमिक गुण हैं उन सबमें घटा लेना चाहिए

शंका—क्षयोपशमके लक्षणमें जब क्षय उपशम और उदय तीनों बातें कही हैं तब इसका नाम क्षयोपशमोदय रखना चाहिए न कि क्षयोपपशम ?

समाधान—क्षयोपशम का जो फल है उस पर उदयका कोई प्रभाव नहीं है। उदय तो उस फल के अतिरिक्त फल को रोकता है। अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो अवधिज्ञान होता है वह तो होता ही है। उससे अतिरिक्त अवधिज्ञान का नहीं होना देशघातिके उदयका फल है। अतः क्षयोपशमके कार्यमें उदयका हाथ न होनेसे उसका नाम क्षयोपशम ही है।

शंका—क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें जो चल मलिन अगाढ़ दोष पैदा होते हैं वे देश घाती सम्यक्त्व प्रकृत्ति के उदयसे ही होते हैं। फिर आप कैसे कहते हैं कि क्षयोपशमके फल पर उदयका कोई असर नहीं होता ?

समाधान—अगर चल मलिन और अगाढ़ दोष मिट जाय तो वह क्षायिक या औपशमिक सम्यक्त्व हो जाय और चूंकि ये दोनों सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे अतिरिक्त फल हैं अतः देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय अतिरिक्त फल का ही घातक कहलाया। क्षयोपशम

पर उसका कोई असर नहीं है। इसीलिए जहाँ क्षयोपशमके साथ उदयका भी कार्य बताना होता है। वहाँ उसे क्षयोपशम न कहकर वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। यदि उदयकी अपेक्षा नहीं होती तो उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

शंका—यदि क्षायोपशमिक गुणमें सर्वघाती स्पर्द्धकों का सर्वघाती रूपमें बिल्कुल उदय नहीं (उदयाभावी क्षय तथा सत्तारूप उपशम होनेसे) होता और देश घातीका उस पर कोई असर नहीं होता तो सभीका क्षयोपशम समान होना चाहिए। फिर बुद्धिमान मूर्ख आदि भेद क्यों होते हैं ?

समाधानः—देशघाती स्पर्द्धक भी तीव्र और मन्द अनुभाग शक्ति को लिए हुए होते हैं जिनके मन्द शक्ति वाले देशघाति स्पर्द्धकोंका उदय है उनकी अपेक्षा जिनके तीव्र शक्ति रखने वाले स्पर्द्धकोंका उदय है उनका ज्ञान कम होता है[1] ज्ञानकी कमीवेशीमें यही कारण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके ज्ञानमें संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ज्ञानमें जो अन्तर है वह देशघातीकृत ही हैं। क्योंकि जहाँ मतिज्ञानावरणके सर्वघातीस्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय और और सत्तारूप उपशमकी बात कही जाती है वहाँ वह मतिज्ञान सामान्यका कथन है। वैसे मतिज्ञानके ३३६ भेद हैं और ३३६ ही उसके आवरण हैं। एक २ भेद के नामसे उन आवरणोंके नाम हैं जैसे नोइन्द्रियावरण, चक्षुज्ञानावरण आदि। जितने आवरण हैं सभीमें देशघाती और सर्वघाती स्पर्द्धक होते हैं। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके सर्व जघन्य स्पर्शनेन्द्रियावरणके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय तथा सत्ता रूप उपशम होनेसे सर्व जघन्य स्पर्शन मतिज्ञान सदाकाल रहता है। इसके अतिरिक्त रसनेन्द्रियावरण घ्राणेन्द्रियावरण आदि आवरणोंके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उसके उदय रहता है। इन ३३६ भेदोंमें भी और बहुतसे सूक्ष्म भेद हैं उन सभीमें देशघाती और सर्वघातीका विभाग होता है। जैसे घटज्ञानावरण पटज्ञानावरण। इस तरह एक ही आवरणके क्षयोपशममें जो तरतमता होती है वह देश घाती कृत है और विभिन्न आवरणोंके क्षयोपशममें जो तरतमता होती है वह सर्वघातीकृत है। इस तरह क्षयोपशममें क्षय, उपशम और उदयकी व्यवस्था समझना चाहिए।

पृ० २४०, पं० ६

त्रिकालवर्ती संपूर्ण करण............अधः प्रवृत्तकरण समझना चाहिए।

बात यह है कि सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए शास्त्रकारोंने कुछ पूर्व साधनों का उल्लेख किया है। सम्यक्त्वके लिए जब तक योग्य भूमि तय्यार नहीं हो जाती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता। अतः भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, पंचेन्द्रिय जीव जब सम्यक्त्व प्राप्त करने को होता है तब उसमें कुछ अन्तरङ्ग परिवर्तन होते हैं वे अन्तरङ्ग परिवर्तन और कुछ नहीं है किंतु उस प्रकार की विवेक

---

१ देशघातिस्पर्द्धकानां रसस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगाद् गुणघातस्यातिशयानतिशयवत्वात्तज्ज्ञानभेदो भवति। रा० वा० पे० ७४

बुद्धि और कषायों की मन्दता है। आचार्यों ने इन्ही को क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण रूप से उल्लेख किया है। मतलब यह है कि जब ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशमसे विशिष्ट हेयोपादेय समझनेकी बुद्धि होती है[1] परिणाम निर्मल होने लगते है[2] गुरू आदिका सदुपदेश सुनने को मिलजाता है [3] साथ ही कर्मो की उग्रतम स्थिति भी कम हो जाती है[4] तब इसी जीव को सम्यक्त्वकी ओर बढ़ने के लिए कुछ मार्ग मिल जाता है, फिर भी अधिकांश जीव इस ओर बढ़ नहीं पाते और पुनः पहले जैसे ही हो जाते है। जो आगे बढ़ते हैं वे उक्त चारों लब्धियों के साहाय्यसे अपने परिणामों को और भी अधिक विशुद्धि की ओर ले जाते हैं। यह परिणामों की अधिक विशुद्धि ही करण लब्धि है। और जिसको इसका लाभ होता है उसको अनिवार्यतः सम्यग्दर्शन होता है। करण का अर्थ है परिणाम और लब्धि का अर्थ है लाभ। सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य परिणामों का मिलना करण लब्धि है। विशुद्धताके अंशों के लिहाज से इन परिणामों को तीन जातियों में बांट दिया गया है वे हैं क्रमसे अधःकरण[1] अपूर्वकरण[2] और अनिवृत्ति करण[3]। अधःकारण का शब्दार्थ तो है "नीचे परिणाम" परन्तु इतने से ही उसका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अतः उसमें इतना और अधिक समझना चाहिए कि जहां ऊपर के परिणाम नीचे के परिणामोंके समान भी होते हैं उसका नाम अधःकरण है। यहाँ ऊपरके परिणामों से मतलब है उपरितन समयवर्ती जीवोंके परिणाम और नीचेके परिणामों से मतलब है अधःस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणाम। किन्तु अभी यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि उपरितन समयवर्ती और अधस्तन समयवर्ती विशेषणों से क्या अभिप्राय है? जैनाचार्यों ने जहाँ अणु और शक्ति के अंशोका अविभागी प्रतिच्छेद आदि कहकर सूक्ष्म विभाजन किया है वहाँ समय का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है। घड़ी घंटा पल मूहूर्त आदि समयवाची शब्दों को जहाँ हम रात दिन कहते सुनते हैं वहीं समयका एक सब से छोटा अविभागी अंश भी होता है उसे सिद्धान्तमें एक समय नाम से स्वीकार किया गया है। व्यवहार में "पलक" "सेंकेंड" आदि जो शब्द कहे जाते हैं वस्तुतः उनमें असंख्यात समय होते हैं। अतः जो एक सेकेन्ड का भी असंख्यातवां भाग है उस एक समय की सूक्ष्मता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। ऐसे असंख्यात समयों तक (अंतर्मुहूर्त) अधःकरण जातिके परिणाम होते रहते है। अतः जिन जीवोंको अधः करण परिणाम प्रारंभ किए २-४ समय बीत गए है वे जीव उपरितन समय वर्ती कहलाते हैं और उनसे नीचे के अर्थात् ४ की अपेक्षा जिन्हें केवल तीन ही समय बीते हैं अथवा दो अथवा पहला ही बीता हैं वे अधःस्तन समयवर्ती कहलाते हैं। इसी प्रकार चार की अपेक्षा जिन्हें पांच समय बीत गए है वे उपरितन समयवर्ती और पांच की अपेक्षा जिन्हें ४ ही समय बीते हैं वे अधस्तन समयवर्ती (नीचे समय वाले) कहलाते हैं। इन अधः करण परिणामों में यद्यपि उत्तरोत्तर विशुद्धता बढ़ती जाती है फिर भी वह इतनी तीव्र नहीं होती जिसे बादके जीव न पा सकें। उदाहरणके लिए किसी जीवके अधः

---

१ क्षयोपशम लब्धि, २ विशुद्धि लब्धि, ३ देशना लब्धि, ४ प्रायोग्य लब्धि

करण के पहले समय में जो परिणाम थे दूसरे समयमें वे उस के कुछ अधिक विशुद्धि होंगे तीसरे समय में उस से अधिक और चौथे समयमें उससे भी अधिक होगें। जब यह चौथे समय में था उसी समय दूसरा जीव अधः करणके पहले समयमें आया और पहले ही समय में उसके परिणाम इतने विशुद्ध होगए जितने इस पूर्व जीव के चौथे समय में थे। इस तरह जहाँ पिछले जीव अपने से पहले के जीवोंके परिणामों की समानता कर सकें वे परिणाम अधःकरण जाति के परिणाम कहलाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक बादका जीव अपने से पहले के जीवोंके परिणामों की समानता कर लेता है। बहुत से जीव ऐसे भी रहते हैं जो समानता नही कर पाते।

इस समानता असमानता का का कारण यह है कि अधः करण करने वाले समस्त जीवोंके परिणामों की संख्या निश्चित है शास्त्र कारोंने उसे असंख्यात लोकमात्र कहा है जिसका मतलब है कि लोकके जितने प्रदेश[१] हैं उससे असंख्यात गुणे जीवोंके परिणाम है। यह असंख्यात लोकमात्र परिणाम अधः करण के समयों में समान वृद्धिको लेकर बटे हुए हैं अर्थात् कुछ जाति के परिणाम पहले समयमें होते है उससे अधिक कुछ वैसे ही कुछ भिन्नजातिके परिणाम दूसरे समय नें होते हैं तथा उतने ही अधिक कुछ पहले, दूसरे समय जैसे कुछ भिन्न जातिके परिणाम तीसरे समय में होते हैं। इसी प्रकार चौथे पांचवें आदि समयों में समझना चाहिए। यो एक समय में जिस जातिके परिणाम पाए जाते हैं उनमें से कुछ दूसरे तीसरे आदि समयोंमें भी पाए जाते हैं अतः वे समान हो जाते है और जो नहीं पाए जाते वे असमान बने रहते हैं।

इसी को दृष्टांत द्वारा यों समझना चाहिए।

अधःकरणके परिणाम (अनेक जीवोंकी अपेक्षा) ६४० हैं। यह संख्या असंख्यात लोकमात्रकी जगह समझना चाहिए। तथा अधःकरणके समयोंकी संख्या अन्तमुहूर्तकी जगह १६ समझना चाहिए। इन ६४० परिणामोंको समान वृद्धि (चार ४ की वृद्धि) के आधारपर १६ समयों में बांट दीजिए जिससे यह मालूम हो जाय कि प्रत्येक समयये कितने २ परिणाम हैं। अतः पहले समयके परिणाम जैसा कि गणितविधानके अनुसार आगे बतलाएँगे १० होते हैं। इनमें चार २ की वृद्धि करनेसे प्रत्येक समयके परिणाम निकल आते हैं। अर्थात् पहलेमें १०,दूसरेमें १४,तीसरेमें १८ चौथेमें २२, पांचवेमें २६, छठेमें ३०,सातवेमें ३४, आठवेमें ३८, नौवेंमें ४२,दसवेमें ४६,ग्यारहवेंमें ५०,बारहवेंमें ५४,तेरहवेंमें ५८,चौदहवेंमें ६२,पन्द्रहवेंमें ६६, सोलहवेंमें ७० । इन सब परिणामोंक कुल जोड़ ६४० होता है इस तरह हम देखते है कि पहले समयमें जीवोंकी संख्या चाहे जितनी हो किन्तु उनके परिणाम अधिकसे अधिक १० जातिके ही होगें अधिक नहीं। हाँ एक जीवके एक ही परिणाम (एक समयमें) होगा और वह दसमें से किसी भी जातिका हो सकता है। यही

---

१ एक पुद्गलका अविभागी अंश (परमाणु) आकाशके जितने स्थान को रोके उतने का नाम एक प्रदेश हैं। लोकाकाशमें ऐसे असंख्यात प्रदेश होते हैं।

क्रम दूसरे तीसरे समयोंमें समझना चाहिए। अर्थात् उन समयोंके जीवोंकी संख्या कितनी ही अधिक क्यों न हो किन्तु उनके परिणाम उतनी जातिके होंगे जितने उन समयोंमें अलग २ पाए जाते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि दूसरे समयके जीवोंके परिणाम कुछ तो पूर्व समयवत् होते हैं कुछ भिन्नप्रकारके नए होते हैं। अतः दूसरे समयके १४ परिणामोंमें से २ से लेकर १० तक नौ परिणाम तो पहले समय जैसे होते हैं बाकीके ११ से लेकर १५ तक पांच परिणाम नए होते हैं। तीसरे समयके जो १८ परिणाम हैं उनमें ४ से लेकर १५ तक बारह परिणाम तो पहले दूसरे समय जैसे होते हैं। बाकीके १६ लेकर २१ तक छः परिणाम नए होते हैं। चौथे समयमें जो २२ परिणाम होते हैं उनमें ७ से लेकर २१ तक पन्द्रह परिणाम तो पहले दूसरे तीसरे समय जैसे होते हैं बाकीके २२ से लेकर ३८ तक सात परिणाम नए होते हैं। इसी तरह पांचवे छठे आदि समयोंमें भी समझना चाहिए। विशेष इतना ही है कि अपने समयसे लेकर नीचेके चार समय तकके परिणामोंमें सदृशता पाई जाती है अधिकमें नहीं। इनकी सदृशता और विसदृशता समझनेके लिए इन्हे चार खण्डोंमें बांट लेना चाहिए। दृष्टांतके लिए मान चित्र नं० १ को देखिए—इसमें ऊपरकी तरफ १६ खाने हैं ये अधःकरणके १६ समयोंको बताते हैं। प्रत्येक समयके बराबर चार २ खाने और हैं ये प्रत्येक समयके परिणामोंका जोड़ बतलाते हैं अर्थात् पहले समयके आगे चार खानोंमें क्रमसे १,२,३,४ अंक रक्खे हुए हैं इन सबका जोड़ १० होता होता है। यह १० पहले समयके परिणाम हैं जो पहले खानेमें रक्खे हैं। उसी प्रकार दूसरे समयके आगे २,३,४,५ परिणाम हैं इन सबका जोड़ १४ होता है अतः यह दूसरे समयके परिणाम दूसरे खानेमें रक्खे हुए हैं। इसी प्रकार ऊपरके खानोंका जोड़ भी उनके समयके खानोंमें रक्खा हुआ है। यह बराबरके खाने यह समझनेके लिए बनाए गए हैं कि कितने परिणामोंका समुदाय बराबर है कितने परिणामोंका भिन्न है अतः इन खण्डोंको देखनेसे पता चलेगा कि पहले समयके पहले खण्डके नम्बर १ तकके परिणाम ऊपर द्वितीयादि किसी भी समयमें नहीं पाए जाते। दूसरे खण्डके २ से ३ तकके दो परिणाम प्रथम और द्वितीय समयमें पाए जाते हैं। तृतीय खण्डके ४ से ६ तकके परिणाम प्रथम, द्वितीय, तृतीय खण्डोंमें पाए जाते हैं। चतुर्थ खण्डके ७ से १० तकके चार परिणाम प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्डमें पाए जाते हैं इसी तरह अन्य समयोंमें भी लगा लेना चाहिए। पहले समयके पहले खण्डके परिणामोंकी तरह १६ वें समयके चौथे खण्डके १७२ से १९० तक १९ परिणाम नीचेके किसी भी समयमें नहीं पाए जाते। कुल ६४० परिणामोंमें नए (अपुनरुक्त) परिणाम १९० है जिन खण्डोंमें "नए" शब्द लिखा है उन सबके परिणामोंका जोड़ १९० होता है। "नए" का मतलब यह है कि जो उससे पहले कभी किसी जीवके न हुए हों। बाकीके ५० परिणाम पुराने (पुनरुक्त) है अर्थात् उससे पहले भी पाए जाते हैं। इन नए और पुराने परिणामोंका जोड़ जो समस्त अधःकरणके परिणाम हैं। ६४० होता है।

इन अधःकरणके सर्व परिणामोंका नाम शास्त्रमें **सर्वधन या पदधन** बतलाया है। पहले समयके परिणामोंको **मुख या आदि** कहते हैं। अंत समयके परिणामोंको **अंतधन या भूमि**

मानचित्र न० १

परिणामोंकी संख्या — खण्डरूप [अनुकृष्टि] रचना

समयोंकी संख्या					
१६	७० १२१...१९०	१६ १२१..१३६	१७ १३७...१५३	१८ १५४..१७१	१९ १७२..१९०
१५	६६ १०६...१७१	१५ १०६...१२०	१६ १२१..१३६	१७ १३७...१५३	१८ १५४..१७१
१४	६२ ९२..१५३	१४ ९२..१०५	१५ १०६...१२०	१६ १२१...१३६	१७ १३७..१५३
१३	५८ ७९..१३६	१३ ७९..९१	१४ ९२....१०५	१५ १०६..१२०	१६ १२१..१३६
१२	५४ ६७..१२०	१२ ६७..७८	१३ ७९..९१	१४ ९२...१०५	१५ १०६...१२०
११	५० ५६ ..१०५	११ ५६..६६	१२ ६७..७८	१३ ७९..९१	१४ ९२ ..१०५
१०	४६ ४६..९१	१० ४६...५५	११ ५६...६६	१२ ६७...७८	१३ ७९...९१
९	४२ ३७...७८	९ ३७..४५	१० ४६ ..५५	११ ५६...६६	१२ ६७...७८
८	३८ २९...६६	८ २९...३६	९ ३७..४५	१० ४६..५५	११ ५६...६६
७	३४ २२..५५	७ २२..२८	८ २९..३६	९ ३७..४५	१० ४६..५५
६	३० १६...४५	६ १६..२१	७ २२...२८	८ २९..३६	९ ३७...४५
५	२६ ११..३६	५ ११..१५	६ १६ ..२१	७ २२...२८	८ २९...३६
४	२२ ७...२८	४ ७...१०	५ ११..१५	६ १६..२१	७ २२..२८
३	१८ ४..२१	३ ४..६	४ ७..१०	५ ११...१५	६ १६..२.
२	१४ २...१५	२ २..३	३ ४...६	४ ७...१०	५ ११...१५
१	१० १..१०	१ ०..१	२ २..३	३ ४...६	४ ७..१०

कुल योग ६४०

कहते हैं। समयोंके प्रमाणको **पद** या **गच्छ** कहते हैं। समान वृद्धिको **चय** कहते हैं। प्रथम समयके परिणामों भी संख्यानुसार प्रत्येक समयके परिणामोंको अलगकर बाकीके क्रमशः बढ़ते हुए प्रमाणके जोड़का नाम **चय धन** या **उत्तर धन** है। जैसे ऊपरके मानचित्रमें—

समस्त परिणाम ६४०..............सर्वधन या परधन

१ समयके परिणाम १०.............मुख या आदि

अन्त समयके ७०...........अन्तधन या भूमि

समयका प्रमाण १६..............पद या गच्छ

समान वृद्धि ४......... चय

इसमें चयका प्रमाण लानेके लिए सर्वधन ६४० को पदके वर्ग १६×१६=२५६ से भाग दीजिए लब्ध आया $\frac{५}{२}$ इसको संख्यातका[१] $\frac{५}{८}$ भाग देनेपर ४ यह चयका प्रमाण निकलता है।

चयधन—एक कम पदके आधेका गुणा चयसे कीजिए जो गुणनफल आवे उसको १६ से गुणा कीजिए तो $\frac{१५\times४\times१६}{२}$=४८० चयधनका प्रमाण निकलता है।

आदिस्थान—इस चयधन को सर्वधनमें से घटाइए जो लब्ध आवे उसको पदका भाग देने पर $\frac{६४०-४८०}{१६}$ = १० आदिस्थान या प्रथम समय संबंधी परिणामों का प्रमाण निकलता है।

अंतस्थान या भूमिधन—एक कम पद को चयसे गुण कीजिए जो लब्ध आवे उसमें प्रथम समय संबंधी परिणाम जोड़ दीजिए १५×४×१०=७० भूमिधन या अन्त समयके परिमाणों का प्रमाण निकलता है।

समय का प्रमाण—अन्त धन में से आदिस्थान का प्रमाण घटा दीजिए उसमे चय का भाग दीजिए तथा एक मिलाइए $\frac{७०-१०}{४}$+ १=१६ समयों का प्रमाण निकलता है।

सर्वधन—आदि स्थान और अन्त स्थान को जोड़ने पर आधा कीजिए और उसमें पद का गुणा कीजिए $\frac{७०+१०}{२}$× १६ = ६४० सर्वधन का प्रमाण आता है।

चय—सर्वधन को पद का भाग दीजिए उसमें से मुखका प्रमाण घटा दीजिए। उसको फिर एक कम पदके आधे प्रमाण का भाग दीजिए $\frac{६४०}{१६}$–१० ÷ $\frac{१५}{२}$ = ४ चयका प्रमाण निकलता है।

इस तरह अधः करण में उसके समय परिणाम आदि की संख्या जानने के लिए

१ यहाँ संख्यातका प्रमाण $\frac{५}{८}$ माने लिया गया हैं।

उपर्युक्त क्रमसे गणित आदिका व्यवहार समझना चाहिए। ये अधःकरण जाति के परिणाम उत्तरोत्तर अनंतगुणे विशुद्ध होते हैं। इसीका नाम अधःकरण परिणाम है।

× × ×

पृ० २४० पं० २६

तथा जिसमें पहले पिछले समयोंके........अपूर्व करण समझना चाहिए।

इन अधःकरणरूप परिणामों को करते २ जब और भी विशुद्धतर परिणाम होने लगते हैं और उनमें विशुद्धताका अंश यहाँ तक बढ़ जाता है कि वे पिछले परिणामों की अपेक्षा बिलकुल नवीन होने लगते हैं तब उन्हें अपूर्वकरण कहा जाता है। अपूर्वका अर्थ है जो पहले कभी न हुए हों। अधः करणमें जिस प्रकार ऊपर और नीचेके समयोंके परिणाम सदृश और विसदृश होते थे उस प्रकार अपूर्वकरण में ऊपर और नीचेके परिणाम विसदृश ही होते हैं। हाँ एक ही समयके परिणामों में सदृशता भी होती है। यह अधः करण अपूर्वकरण दो भेद विशुद्धता की तरतमता को ध्यानमें रखते हुए किए गए हैं। यद्यपि विशुद्धता की तरतमता तो एक ही जातिके परिणामोंमें भी होती है परन्तु उस तरतमताकी अधः करण और अपूर्वकरण नामसे दो सीमाएँ बांध दी है। अर्थात् पहली जाति (अधः करण) के परिणामोंमें विशुद्धता इतनी ही मात्रामें होती है कि उसे नीचेके समय वालेभी पा लेते हैं। उसके बाद दूसरी जाति (अपूर्वकरण) में विशुद्धताके अंश इतने बढ़ जाते हैं कि नीचेके समयके जीव जब तक उस ऊपरके समय तक न पहुँच जाय तब तक उस विशुद्धता को नहीं पा सकते। यह विशुद्धता प्रत्येक समयके परिणामोंसे अनंतगुणी होती है। अर्थात् अधः करणके अन्तिम समयमें जो उत्कृष्ट परिणाम होते हैं उससे अनंत गुणे विशुद्ध अपूर्वकरणके पहले समयमें जघन्य परिणाम होते हैं। अपूर्व करणके पहले समयमें जो उत्कृष्ट परिणाम होते हैं उससे अनंत गुणे विशुद्ध दूसरे समयके जघन्य परिणाम होते हैं। दृष्टान्तके लिए यों समझिए कि अपूर्व करणके समस्त परिणाम १०२० हैं। और उसके समयोंका प्रमाण १० है। समान वृद्धि रूप चयका प्रमाण १२ है। इसमें—

चयधन लानेके लिए एक कम पदके आधेको चय तथा पदसे गुणा करने पर $\frac{9 \times 12 \times 10}{2} =$ ५४० चयधन आता है।

इसी चयधन को सर्वधनमें से घटाने और पदका भाग देने से $\frac{1020 - 540}{10} = 48$ प्रथम द्वितीयादि समयके परिणामों की संख्या निकलती है।

इसमें एक २ चय मिलानेसे प्रथम द्वितीयादि समयके परिणामों की संख्या निकलती है।

प्रथम समयके परिणामों एक कम पदसे गुणित चयका प्रमाण जोड़ने पर $12 \times 9 + 48 =$ १५६ अंत समयके परिणामों की संख्या निकलती है।

सर्वधनमें पदका भाग देने और उसमें मुखका प्रमाण घटाने तथा एक कम पदके आधेका भाग देने पर $\frac{१०२०}{१०} - ४८ \div \frac{९}{२} = १२$ चयका प्रमाण निकलता है।

मुख और भूमिको जोड़कर आधा करने तथा पदका गुणा करनेपर $\frac{४८+१५६}{२} \times १० = १०२०$ सर्वधनका प्रमाण होता है। इन सबको निम्न लिखित मानचित्रके आधार पर समझनेमें सुविधा होगी।

समय संख्या	समयानुसार परिणामोंकी संख्या	परिणामोंकी जातिका ब्यौरा
१०	१५६	८६५ — १०२०
९	१४४	७२१ — ८६०
८	१३२	५८९ — ७२०
७	१२०	४६९ — ५८८
६	१०८	३६१ — ४६८
५	९६	२६५ — ३६०
४	८४	१८१ — २६४
३	७२	१०.९ — १८०
२	६०	४९ — १०८
१	४८	१ — ४८

इस चित्रमें पहले समयके जो ४८ परिणाम हैं उसका आशय यह है कि अपूर्वकरणके पहले समयमें ४८ जाति (तरहके) के परिणाम हो सकते हैं। इस जातिको अगर हम डिग्री मान लें तो यों कह सकते हैं कि पहले समय में एक डिग्री दोे डिग्री से लेकर ४८ डिग्री तक के परिणाम हो सकते हैं किसीके पहली डिग्रीका परिणाम होगा, किसीके ४८ वीं डिग्रीका परिणाम होगा। किन्तु ४९ वीं डिग्रीके परिणाम अपूर्वकरणके दूसरे समयमें ही होगें और इस तरह दूसरे समय में १०८ डिग्री तकके परिणाम हो सकते हैं। यह ४९ डिग्रीके परिणाम दूसरे समयके सबसे जघन्य परिणाम हैं और ४८ डिग्रीके परिणाम पहले समयके उत्कृष्ट परिणाम हैं। अतः इन उत्कृष्ट परिणामों से ४९ डिग्रीके जघन्य परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धता लिए हुए है। इस तरह १ डिग्री से लेकर १०२० वीं डिग्री तकके परिणाम उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धताको लिए हुए हैं। और पहली डिग्री

के परिणाम अधःकरणके अन्तिम समयके ९१२ नम्बरके उत्कृष्ट परिणामोंसे अनंतगुणी विशुद्धता लिए हुए है। इस प्रकार यह बढ़ती हुई परिणामोंकी विशुद्धताका क्रम समझना चाहिए। इन एक डिग्रीसे लेकर १०२० वीं डिग्री तकके परिणामोंमें कोई किसीसे नहीं मिलते। अतः उत्तरोत्तर अपूर्व होने से इनका नाम अपूर्वकरण (परिणाम) हैं। इस करणके कुल १०२० परिणाम अधःकरणके ६४० परिणामोंसे इस लिए अधिक रक्खे गए हैं कि वे अधःकरण के परिणामोंसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। और समयोंकी संख्या इसलिए कम रक्खी गई है कि अपूर्वकरणका समय अधःकरण से असंख्यातवे भाग है। इस तरह अपूर्वकरणके विषय में समझना चाहिए।

× × ×

पृ० २४१, पं० ६

जिसमें समान समयवर्ती......अनिवृत्तिकरण समझना चाहिए।

अपूर्वकरण होते २ परिणामोंमें विशुद्धता इतनी बढ़ जाती है कि एक समयमें चाहे जितने जीव हों सबके परिणाम एक से ही होने लगते हैं। अधःकरण व अपूर्वकरण की तरह यहां एक ही समयके परिणामोंमें तरतमता नहीं होती। अपूर्वकरणके अंकचित्रमें हम देख आए हैं कि उसके पहले समयके परिणाम १ डिग्रीसे लेकर ४८ डिग्री तकके होते थे। लेकिन अनिवृत्तिकरणमें १ ली या ४८ वीं डिग्रीके ही परिणाम होगें। इसका मतलब यह हुआ कि अपूर्वकरणादिके एक ही समयमें परिणामोंकी डिग्रियोंका जो उतार चढ़ाव मिलता था उससे विशुद्धताकी हीनता साबित होती थी, किन्तु जहां एक समयके परिणामोंमें किसी प्रकारका उतार चढ़ाव नहीं है वहां विशुद्धताकी अधिकता प्रतीत होती है। दृष्टान्तके लिए निम्न अंकसंदृष्टि पर ध्यानदीजिए—

समय संख्या	परिणामोंकी जाति
४	१०२४वीं डिग्रीका
३	१०२३वीं डिग्रीका
२	१०२२वीं डिग्रीका
१	१०२१वीं डिग्रीका

चूंकि अनिवृत्तिकरणमें एक समयमे एकही परिणाम होता है अतः जितने समय है उतनी ही परिणामों की संख्या है। पहले समयमें जो परिणाम है वह १०२१ वीं डिग्रीका परिणाम है, दूसरे समयमें १०२२ वीं डिग्रीका परिणाम है, तीसरे समयमें १०२३ वीं डिग्रीका परिणाम है और चौथे सममयें १०२४ वीं डिग्रीका परिणाम है। इस तरह जितने समय हैं उतने ही परिणाम हैं। अतः अनिवृत्तिकरणके चार समयोंमें चार ही परिणाम हैं। अनिवृत्तिकरणके चार ही समयोंकी कल्पना इसलिए की गई है कि उसका समय अपूर्वकरणके असंख्यातवें

भाग मात्र हैं। पहले समयमें १०२१ डिग्रीका परिणाम इसलिए रक्खा गया है कि अपूर्व करणमें अन्तिम समयका उत्कृष्ट परिणाम १०२० वीं डिग्रीका था। इस तरह हम देखते हैं कि अनिवृत्ति-करणके एक समयमें सदृश परिणाम होते हुए भी भिन्न २ समयोंमें विसदृश ही परिणाम होते हैं और उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धताको लिए हुए हैं। निवृत्तिका अर्थ है भेद। जहाँ भेद न हो ऐसे परिणामोंको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अर्थात् रूप-आकार, वय आदिसे जीवोंमें जिस प्रकार भिन्नता पाई जाती है वैसी भिन्नता अनिवृत्ति-करणके समकालीन समयोंके परिणामोंमें नहीं पाई जाती। इसीको अनिवृत्तिकरण समझना चाहिए।

× × ×

पृ० २४१ पं० १२

इसमें चार आवश्यक........ .....अपूर्वकरण होता है वहां होता है।

सम्यक्त्व प्राप्तिके पहले जो तीन करण होते हैं वे व्यर्थ नहीं होते किन्तु उनका फल होता है। और वह फल मोटे रूपसे यह है कि उससे सम्यक्त्व प्राप्तिके योग्य भूमि अत्यन्त प्रशस्त और निर्मल हो जाती है। अतः जब जीवके अधःकरण जातिके परिणाम होते हैं तब साथही उन परिणामों का यह फल होता हैं कि उस जीवके प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है, और जब अनंतगुणी विशुद्धता बढ़ती है तब नवीन बंध भी कम स्थितिको लेकर होता है। क्योंकि यह नियम है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध होते हुए सम्यक्त्व नहीं होता। यह नवीन स्थितिबंध किस प्रकार कम होता है इसके लिए बतलाया है कि अधःकरणके प्रारंभिक कालसे लेकर अन्तर्मुहूर्ततक पहलेके स्थितिबंधसे पल्यके असंख्यातवेंभाग कम स्थितिबंध होता है। इससे भी पल्यके असंख्यातवें भाग कम अगले अन्तर्मुहूर्त तक स्थितिबंध होता है। इसीका नाम स्थितिबंधापसरण है। ऐसे स्थितिबंधाप सरण अधःकरणके अंतिम समय तक होते रहते हैं। और वे संख्यात हजार होते हैं। यों स्थिति घटते २ जो पहले अन्तःकोटि प्रमाण स्थिति थी वह उससे संख्यातगुणी कम रह जाती है। इसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंका अनुभागबंध पहलेसे अनंतवे भाग कम होने लगता है और शुभ प्रकृतियोंका अनुभागबंध पहलेसे अनंतगुणा अधिक होने लगता है। इस अशुभ और शुभ प्रकृतियोंके अनुभागबंधकी हीनाधिकतासे तथा स्थितिबंधका क्रमशः अपसरण होते रहनेसे परिणामोंमें विशुद्धताके अंश और भी अधिक बढ़ जाते हैं। फिर एक दम नवीन ही नवीन परिणाम होने लगते हैं ऐसे नवीन जो पहले कभी किसी जीवके नहीं हुए थे। यह काल अपूर्व करण काल कहलाता है। चूंकि अधःकरणकी अपेक्षा इसमें अनन्त गुणे विशुद्ध परिणाम होते हैं अतः इन परिणामोंका फल भी अधःकरणके फलसे अत्यधिक होता है। पहले जहां केवल स्थिति-बंधका अपसरण ही होता था और अशुभ प्रकृतियोंका अनुभागबंध हीन तथा शुभ प्रकृतियोंका अधिक होता था वहां अब स्थितिका घात (स्थितिकांडक) और अनुभागका घात (अनुभागकांडक) भी होने लगताहै और इनके लिए आवश्यक गुणश्रेणी निर्जरा भी होने लगती है। स्थितिघातसे मतलब पूर्वमें बंधी हुई स्थितिको कम कर देना है। यह स्थितिघात या तो मूलतः होता है क्योंकि इसमें ऊपरके

निषेकोंका अभाव कर दिया जाता है या फिर ऊपरके निषेकोंके कुछ परमाणुओंको लेकर होता है। पहला क्रिया स्थितिकांडकविधान कहलाती है और दूसरी अपकृष्टिविधान कहलाती है।

स्थितिकाण्डकविधान का क्रम इस प्रकार है—जिस कर्मकी स्थिति बहुत है उसके निषेक भी बहुत होते हैं। क्योंकि एक एक समयमें एक एक निषेक उदयमें आता है। इन निषेकों में से ऊपरके कुछ निषेक लेकर उनके परमाणुओं को नीचेके निषेकोंमें मिला देना पड़ता है। नीचेके निषेकोंमें भी आवलीमात्र ऊपरके निषेक छोड़ देने पड़ते हैं। और जो निषेक मिलाए जाते हैं वे भी एक साथ नहीं मिला दिए जाते, किन्तु कुछ पहले समयमें, कुछ दूसरे समयमें, कुछ तीसरे समयमें, इस तरह अन्तर्मुहूर्त काल पर्यंत मिलाते रहना पड़ता है। अन्तिम समयमें अवशिष्ट सभी परमाणु नीचेके निषेकोंमें मिला दिए जाते हैं। इस तरह जितने निषेकोंका अभाव होता है उतने ही समयप्रमाण स्थिति कम हो जाती है। इसीका नाम स्थितिकांडक है। यहाँ अन्तर्मुहूर्त तक जो परमाणु समय २ प्रति मिलाए जाते हैं वे असंख्यातगुणे क्रमसे मिलाए जाते हैं। इस स्थितिकांडकका उदाहरण निम्न प्रकार है:—

कल्पना कीजिए कि विवक्षित कर्मकी स्थिति ४८ समय है और उसमें निषेक भी ४८ हैं। उन निषेकोंके कुल परमाणु २५००० हैं। इनमें आठ निषेकोंका नाश करना है। इसके लिए इन आठ निषेकोंके १००० परमाणुओंको बाकीके ४० निषेकोंमें से ऊपरके दो निषेक छोड़कर शेष ३८ निषेकोंमें मिला देना होगा। उन निषेकोंमें कुछ परमाणु पहले समयमें कुछ दूसरे समयमें, इस तरह चार समय तक मिलाये जाएँगे। चौथे समयमें अवशिष्ट सब परमाणु जब उन ३८ निषेकोंमें मिला दिए जांयगे तब उन आठ निषेकोंका अभाव हो जायगा। उन आठ निषेकोंके अभाव हो जानेसे ४८ समयकी स्थिति केवल ४० समयकी रह जायगी।

दूसरे अपकृष्टि विधानमें निषेकोंका नहीं किन्तु विवक्षित कर्मके सभी निषेकोंके परमाणुओंमें से कुछ परमाणुओंको लेकर उदयावली, गुणश्रेणि और उपरितनस्थितिमें मिला देना पड़ता है। इसका क्रम यों समझिए कि एक कर्मके जितने परमाणु हैं उतना उनमें अपकर्षण भागहारका भाग दीजिए। जो लब्ध आवे वह अपकृष्ट द्रव्य है। उस अपकृष्ट द्रव्यमें पुनः पल्यके असंख्यातवें भागका भाग दीजिए। बहुभाग द्रव्यको अन्तके आवली-मात्र निषेक छोड़कर उपरितन स्थितिमें मिला दीजिए। मिलाते समय प्रत्येक निषेकमें नानागुणा-कार रूप हीन २ द्रव्य समान ह्रास करते हुए मिलाना चाहिए। बहुभागको गुणश्रेणि आयामके समय संबंधी निषेकोंमें प्रतिनिषेक असंख्यात गुणे क्रमसे मिला दीजिए, और एकभागको उदयावली (एक समयसे लेकर आवली मात्रकाल उदयावली कहलाता है) के समय संबंधी निषेकोंमें प्रति-निषेक एक २ चय (समान ह्रास) घटते हुए क्रमसे मिलाइए। इसीका नाम अपकृष्टि विधान है। उदाहरणके लिए यों समझिए:—किसी कर्मकी स्थिति ४८ समय है और प्रतिसमय उदय आनेवाले उसके निषेक भी ४८ हैं उन सबके परमाणुओंकी संख्या २५००० है। उसमें अपकर्षण भाग हार ५ का भाग दीजिए लब्ध आया ५००० यह अपकृष्ट द्रव्य है। इस अपकृष्ट द्रव्यमें असंख्या-

तवें भागका प्रमाण ४ का भाग दीजिए, लब्ध आया १२५० यह एक भाग है इसको अपकृष्ट द्रव्यमें से घटाने पर बहुभागको आवली मात्र अन्तके निषेक छोड़कर उपरितन स्थितिमें मिला दीजिए। यहाँ ४८ समय स्थितिमें ४ समय तो उदयावलीके हैं और ५ से लेकर १२ तक आठ समय गुणश्रेणि आयामके है तथा १३ से ४८ तक ३६ समय उपरितन स्थिति के हैं। इस उपरितन स्थितिमें अन्तके आवलीमात्र अर्थात् ४ निषेक छोड़कर १३ से ४४ तक ३२ निषेकोंमें नानागुण हानिकी रचना पूर्वक चय (समान ह्रास) घटते क्रमसे उन ३७५० परमाणुओंको मिला दीजिए। तथा बचे हुए १२५० इस एक भागमें असंख्यात लोकका प्रमाण ५ का भाग दीजिए। लब्ध आया २५०, इस एक भागको अलग रख बहुभाग १००० को असंख्यातगुणे क्रमसे गुणश्रेणिके आठ निषेकोंमें मिला दीजिए। और बचे हुए एक भागको अर्थात् २५० परमाणुओंको उदयावलीके प्रारंभिक चार समयोंमें चय घटते हुए क्रमसे मिला दीजिए। इस तरह अपकृष्टविधानसे निषेकोंके ५००० परमाणुओंका विनाश किया। अब बचे हुए बहुभाग प्रमाण जो २०००० परमाणु हैं उनमें फिर वही क्रम कीजिए। इस तरह सर्व निषेकोंके सभी परमाणुओं विनाश हो जाता है। इसीका नाम अपकृष्टिविधान है। इन कांडक-विधान और अपकृष्ट विधान दोनों क्रियाओंसे स्थितिका घात होता है।

स्थितिघातकी तरह अनुभागघात भी (अनुभागकांडक) समझना चाहिए। फ़र्क इतना है कि जहाँ पहले निषेकोंका और उनके परमाणुओंका विनाश किया जाता वहाँ अब उन परमाणुओं की अनुभाग शक्तिका विनाश किया जाता है।

शंका—जब परमाणुओंका नाश हो जाता है तो उनकी अनुभाग शक्ति तो अपने आप नष्ट हुई समझना चाहिए क्योंकि जब जड़ ही नहीं तब शाखाएँ कहाँसे आएँगी।

समाधान—परमाणुओंको नष्ट करनेका मतलब इतना ही है कि अधिक स्थितिवाले परमाणु हीन स्थितिवाले परमाणुओंमें मिला दिए जाते हैं वहाँ अगर उनकी अनुभाग शक्तिका विनाश न हो तो हीन स्थितिवाले परमाणुओंमें मिलकर भी उनकी अनुभाग शक्ति जैसी की तैसी रह सकती है अतः वे कम स्थितिमें रहकर भी अपना वैसा ही भयंकर प्रभाव दिखा सकते हैं जैसा कि अधिक स्थितिमें रहकर दिखा सकते थे। ऐसी हालतमे जो जीवके अपूर्व विशुद्ध परिणाम (करण) हुए हैं उनका कुछ फल हुआ नहीं कह जायगा। इसलिये निषेकोंके परमाणुओंका विनाश करने पर भी उनकी अनुभाग (फल देनेकी) शक्तिका भी विनाश करना पड़ता है। उसका क्रम इस प्रकार है कि विवक्षित असाता आदि अप्रशस्त प्रकृतिके स्पर्द्धकोंमें अनंत का भाग दीजिए। जो लब्ध आवे उस एक भागको (ऊपरके कुछ स्पर्द्धक छोड़कर) ऊपरके स्पर्द्धकोंमें मिलाइए। अब अवशेष एकभागमें फिर अनंतका भाग दीजिए लब्ध एक भाग में बहुभागको उसी क्रमसे मिला दीजिऐ। इसी प्रकार आगे भी क्रम करते जाइए। इस तरह अन्तर्मुहूर्त तक करते २ संख्यात हजार अनुभागकांडक होते हैं। इन काण्डकों

द्वारा अधिक अनुभाग शक्तिवाले ऊपरके स्पर्द्धकों को हीन अनुभाग शक्तिवाले नीचेके स्पर्द्धकोंमें मिला देनेसे अप्रशस्त प्रकृतियों की अनुभाग शक्ति बिल्कुल क्षीण कर दी जाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—किसी विवक्षित अप्रशस्त प्रकृतिके स्पर्द्धकों की संख्या ५०० है उसमें अनंतका प्रमाण ५ का भाग दीजिए। लब्ध आए १००। इन १०० में ऊपरके १० स्पर्द्धक छोड़ दीजिए, बाकीके ९० स्पर्द्धकों में बहुभाग प्रमाण उन ४०० स्पर्द्धकों को अन्तर्मुहूर्त तक समय २ प्रति मिलाते रहिए। जब यह ४०० स्पर्द्धक समाप्त हो लें तब फिर १०० में ५ (अनंत) का भाग दीजिए और उसी क्रमसे बहुभाग को एक भागमें मिला दीजिए। इस तरह संख्यात हजार बार तक यह क्रम करते २ सभी स्पर्द्धकोंका अनुभाग अन्त समयमें पहले जो अनुभाग था उसके अनंत वे भाग रह जाता है। इसीका नाम अनुभागकांडक घात है।

गुणश्रेणिमें प्रति समय असंख्यातगुणे २ कर्मपरमाणुओं को नीचेके निषेकों में देकर निर्जरा योग्य कर दिया जाता है। दृष्टांतके लिए स्थितिघात करते समय जिन ऊपरके ८ निषेकों का अभाव किया था उनके परमाणुओं को ४ समय तक नीचेके निषेकोंके परमाणुओंमें प्रति समय असंख्यात गुणे क्रमसे मिलाया था, यही गुणश्रेणी थी। अथवा अपकर्षण विधानमें अपकृष्ट द्रव्यमें से १००० परमाणु लेकर उदयावलीसे ऊपर गुणश्रेणिके आठ समय संबंधी निषेकोंके परमाणुओं में जो असंख्यात गुणे क्रमसे मिलाए थे उसका नाम गुणश्रेणी है। अथवा अनुभागकांडकघातमें बहुभाग स्पर्द्धकों को एकभाग स्पर्द्धकों में प्रतिसमय असंख्यात गुणे क्रमसे जो अन्तर्मुहूर्त तक मिलाया था उसका नाम गुणश्रेणि है। मतलब यह है कि जब स्थितिकांडकघात और अनुभाग कांडक घात करना होता है तब गुणश्रेणि स्वयं ही करना होती है। इसमें इतना और समझना चाहिए कि गुणश्रेणि रचना उदयमें आने वाली और न आने वाली दोनों प्रकृतियों में होती है। उदय में जो प्रकृतियां नहीं आती उनका द्रव्य उदयावलीमें न देकर गुणश्रेणि आयाम और उपरितन स्थितिमें ही दे देना पड़ता है। इस तरह अपूर्वकरणके फल स्वरूप स्थिति खंडन, अनुभाग खण्डन, और गुणश्रेणि यह तीन बातें आवश्यक होती हैं।

इसमें गुणसंक्रमण[1] न होनेका जो उल्लेख किया है उसका मतलब यह है कि दर्शन मोहनीयकी उपशमनामें किसी भी अशुभ प्रकृतिके सजातीय पर शुभ प्रकृति रूप असंख्यातगुणे क्रमसे परिणमानेकी आवश्यकता नहीं होती। हाँ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनंतानुबंधीका विसंयोजन करते समय जो तीन करण होते हैं वहां अपूर्वकरण करते समय अन्य तीन आवश्यकों के समय अनंतानुबंधी प्रकृतियोंका गुण संक्रमण भी होता है। अथवा दर्शनमोहकी क्षपणा करते समय मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीयका गुणसंक्रमण करता है। उपशम और क्षपक श्रेणीमें भी

---

१ जिनका बंध नहीं है ऐसी अप्रशस्त प्रकृतियों का बंध होने वाली स्वजातीय प्रशस्त प्रकृतियों में परिणमन करजाना गुण संक्रमण है।

चारित्र मोहनीयकी प्रकृतियोंका भी गुण संक्रमण होता[1] है। इस तरह ग्रन्थकारने जहाँ अन्यत्र अपूर्वकरणमें गुण संक्रमणका होना लिखा है, वे ये ही उपर्युक्त स्थान हैं।

× × ×

पृ० २४१, पं० २४

अनिवृत्तिकरण कालके बाद............प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

अपूर्वकरणके बाद यह जीव जब अनिवृत्तिकरण करने लगता है तब उसके फलस्वरूप भी वे ही बीतें होती हैं जो अपूर्वकरणमें होती थी। लेकिन यहाँके स्थितिकांडक पहले के स्थितिकांडकों से विशेष प्रकारके होते हैं। इन विशिष्ट प्रकारके स्थितिकांडक आदि को करता हुआ यह जीव बहुभाग समय बिता देता है। इस तरह जब अनिवृत्तिकरणका संख्यातवां भाग काल अवशिष्ट रह जाता है तब यह दर्शन मोहका उपशमन करने के लिए अंतरकरण विधान करता है। इस समय भी स्थितिकाडंकादि कार्य होते हैं और वे अनिवृत्तिकरणके बहुभागके अन्त समयमें होने वाले स्थितिकांडकादि से विशिष्ट होते हैं। यहां अन्तरकरण विधान का मतलब है दर्शनमोहकी स्थितिमें अंतर कर देना और वह अन्तर मिथ्यात्वके बीचके कुछ निषेकों को ऊपर नीचे निक्षेपण कर देनेसे होता है। मतलब यह है कि जब यह जीव अन्तरकरण करने लगता है तब मिथ्यात्वके प्रारंभिक अन्तर्मुहूर्तमात्र निषेकों को छोड़कर बीच के अतर्मुहूर्तमात्र निषेकों को लेकर उनमें से कुछको तो नीचेके निषेकोंमें फेंक देता है, कुछ को ऊपर के निषेकों में फेंक देता है। और इसतरह मिथ्यात्वको अन्तर्मुहूर्त तक उदय न आने योग्य करता है। इस विधानसे मिथ्यात्वका जो प्रवाह चल रहा था वह अन्तर्मुहूर्ततक के लिए रुक जाता है तब अन्तर्मुहूर्त तक कोई निषेक उदय नहीं आता अतः मिथ्यत्वका पूर्ण उपशमन होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। इसीको प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं। दृष्टान्तके लिए यों समझिए कि १० आदमी पंक्तिबद्ध होकर एक २ मिनटके अन्तरसे किसी दरवाजेके बाहर निकल रहे हैं। निकलते समय चौथे और पांचवे नंबरके दो आदमियोंको वहाँसे निकाल कर एकको तीन आदमिओंकी पहली लाइनके बराबर खड़ाकर दिया और दूसरेको पांचआदमियोंकी दूसरी लाइनके बराबर खड़ा दिया। और इन छहो (दूसरी लाइनके) आदमियोंसे यह कह दिया कि पहली लाइनके आदमियोंके निकलते ही तुम मत निकलना बल्कि चौथे और पांचवे नंबरके आदमियोंके समयको टालकर निकलना। इतने हीमें पहली लाइनके चारों आदमी अपने तीन मिनटमें दरवाजेसे बाहर होगए अब चौथे पांचवे आदमिओंकी जगह खाली पड़ी रहनेसे दो मिनट तक कोई नहीं आया।

---

१ यथा—पडिसमयमसंखगुणं दव्वं संकमदि अप्पसत्थाणं।

बंधुज्झिय पयडीणं बंधंतसजादिपयडीसु ॥ ७५ ॥

एवंविह संकमणं पढमकसायाण मिच्छमिस्साणं।

संजोजणखवणाए इदरेसिं उभयसेढिम्मि ॥ ७६ ॥ लब्धिसार

यह दो मिनट तक जो शांति रही यही प्रथमोपशम सम्यक्त्वका समय समझना चाहिए। पहली और दूसरी लाइनको मिथ्यात्वकी प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति अथवा नीचेके और ऊपरके निषेक समझना चाहिए। और दसों आदमियोंकी पंक्तिबद्ध लाइनको मिथ्यात्वका प्रवाह समझना चाहिए। बीचके दो आदमी अन्तरकरण द्रव्य समझना चाहिए। दूसरी लाइनके आदमियोंको पहली लाइनके तुरन्त बाद न आनेकी आज्ञा उपशमकरण समझना चाहिए। यह कथन अनादि मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा है। सादि मिथ्यादृष्टि दर्शनमोहकी तीनो प्रकृतियोंका अंतरकरण करता है। 'अन्तःकरण' शब्दका उल्लेख जो ग्रन्थमें हुआ है उसे अन्तरकरण ही समझना चाहिए। इस तरह यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्वकी तरह ही निर्मल होता है। अपने इन निर्मल भावोंसे यह जीव मिथ्यात्वके तीन टुकड़े कर देता है। कुछ मिथ्यात्व रूप, कुछ सम्यक्त्व रूप और कुछ मिश्ररूप। अन्तमुहूर्त बाद पुनः इनमेंसे किसी एकका उदय अवश्य होता है। और उदयानुसार पहले, दूसरे, तीसरे या चौथे गुणस्थान पहुँचता है।

× × ×

पृ. २९२

जिसके अपने परका······ ······ सम्यक्त्व बतलाया है।

ग्रन्थकारने सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्वार्थका श्रद्धान बतलाया था। और उसकी व्याख्या की थी कि अपने स्वरूप सहित जीव-अजीवादि तत्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसपर शंकाकारने यह शंका की थी कि ग्रन्थान्तरोंमें तो आत्माके निश्चयका नाम सम्यग्दर्शन बतलाया है और यहां तक कहा है कि नौ तत्वोंकी परंपरा छोड़कर केवल हमारे एक आत्मा ही होवे। ऐसी हालतमें सात तत्वोंके श्रद्धानकी बात घटित नहीं होती। इसके उत्तरमें ग्रन्थकारने कहा था कि आत्माका श्रद्धान मोक्षके श्रद्धानसे यदि रहित होता है तो उस आत्माके श्रद्धानका मतलब ही क्या है? वह बेकार है। और यदि मोक्षके श्रद्धान सहित होता है तो मोक्षका श्रद्धान उसके विपरीत आश्रव बन्धको जाने बिना कैसे होगा? क्योंकि जब बन्ध और उसके कारण श्रद्धानको समझ लेगा तब उनसे मुक्ति पानेका भी प्रयत्न करेगा। इसलिए आत्माका श्रद्धान अन्य अवशेष तत्वोंके श्रद्धान होनेपर निर्भर है। कोई स्त्री पुत्र चाहती है तो उसमें पतिका चाहना पहले गर्भित है। इसी तरह कोई आत्मश्रद्धान चाहता है तो आश्रव बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षका श्रद्धान पहले गर्भित है। इसी बातको पुष्ट करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि जिसको अपने परका श्रद्धान होता है उसके सातों तत्वोंका श्रद्धान अवश्य ही होता है। क्योंकि आत्माके श्रद्धानके लिए जब तक वह जड़, अचेतन या अजीवको न समझ लेगा तब तक आत्माका श्रद्धान हो नहीं सकता। 'मैं आत्मा हूँ' यह निश्चय अनात्म (अजीव) पदार्थों के ऊपर निर्भर है। जैसे प्रकाशका ज्ञान अन्धकार पर और सज्जन का ज्ञान दुर्जन पर निर्भर है। जो सज्जनको पहचानता है उससे दुर्जनको पहचाननेकी आशा अवश्य की जाती है। इसी प्रकार जो आत्माको पहचानता ही उससे अजीवको पहचाननेकी आशा अवश्य की जानी चाहिए। किसीको पहचाननेका मतलब है। उसकी असलियतको समझ लेना

जो आत्माको पहचानता है। वह उसके असली स्वरूपको अवश्य जानता है। आत्माका असली स्वरूप मुक्त अवस्था है। अतः उसको मोक्षका भी ज्ञान होना चाहिए और मोक्षका ज्ञान बन्धके ज्ञानके बिना नहीं होता क्योंकि बन्धन और मोक्ष ये सापेक्ष शब्द हैं। अतः जब तक बन्धनका ज्ञान न हो तब तक मोक्षका ज्ञान कैसे हो सकता है? और बन्ध आश्रवके बिना नहीं होता। अतः बन्धका ज्ञान करनेके लिए आश्रवके ज्ञान की भी आवश्यकता है। इसलिए एक आत्माका श्रद्धान करते समय शेष सातों तत्वोंका ही श्रद्धान करना पड़ता है। अतः जहाँ सम्यग्दर्शनके लिए केवल अपने परके श्रद्धान की बात कही गई हैं वहाँ सातों तत्वोंके श्रद्धान को अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह आत्मश्रद्धान और सप्ततत्वोंके श्रद्धानमें कोई अन्तर नहीं है। अतः ग्रन्थकारका यह कहना ठीक है कि अपने परका श्रद्धान और सप्ततत्वों के श्रद्धान का अविनाभाव संबंध है।

परिशिष्ट नं० २

(कथाभाग)

पृ० १७८ पं० २६

भ्रष्टाचारी समझ मुनियोंको दान न देनेकी कथा

प्रभापुर नगरके राजा श्रीनंदन और रानी धरणीके सुरमन्यु श्रीमन्यु निचय, सर्वसुंदर, जयवान, विनयलालस और जयमित्र ये सात पुत्र हुए। एक दिन प्रीतिकंर केवलीके दर्शनोंको जाते हुए देवोंको देखकर पिता पुत्र संसारसे विरक्त होगए। श्रीनंदन तो केवलज्ञान उपार्जितकर मोक्ष चले गए। और ये सातों पुत्र चारण आदि ऋद्धियां प्राप्तकर सप्तर्षिके नामसे विहार करने लगे। विहार करते हुए एक बार ये मथुरा पहुँचे। और चौमासा वितानेके खयालसे वहीं ठहर गए। उन दिनों मथुरामें बड़ी भयंकर बीमारी फैली हुई थी। मनुष्य नगर छोड़कर भाग गए थे। मुनिगण आकाश मार्गसे पोदनापुर विजयपुर आदि शहरोंमें आहार कर आते और पुनः मथुरामें अपने निश्चत स्थान पर आकर ठहर जाते थे। धीरे २ उनके चरणोंके प्रसादसे वहांकी बीमारी दूर हो गई। एक वार सप्तर्षि साधु आहार करने अयोध्या आए। जब वे चर्या करते हुए अर्हद्दत्त सेठके दरवाजे पर पहुँचे तो सेठ उन्हें देखकर आश्चर्य करने लगा। उसने सोचा कि जिनागममें चौमासोंमें मुनियोंके विहार करनेकी कहीं आज्ञा नहीं है। और ये मुनि विहार करते हुए अभी किसी दूसरे नगरसे आ रहे हैं। क्योंकि नगरके आसपास मठों, गुफाओं, वनों, नदीके किनारों और चैत्यालयोंमें ठहरे हुए मुनियोंको तो मैं जानता हूँ। उनमेंसे ये कोई दिखाई नही देते। ऐसा मालूम पड़ता है ये कोई आचारहीन जिनागमसे परान्मुख अविवेकी और साधुचर्यासे अपरिचित मुनि हैं। इनको आहारदेनेसे क्या लाभ? ऐसा सोचकर अर्हद्दास तो मुनियोंकी उपेक्षा कर वहाँसे चला गया। किन्तु उसकी पुत्रवधूने उन्हे बड़ी श्रद्धा और प्रेमसे पड़गाहा। नवधाभक्ति पूर्वक आहार दिया। आहार कर मुनिराज पृथ्वीसे ऊपर चार अंगुल अंतरिक्षमें गमन करते हुए जिनमन्दिर पहुँचे। वहाँ द्युति साधुने अभ्युत्थान आदि कर विनयपूर्वक उनकी पूजा स्तुति की। वे सातों ऋषि भगवान जिनेन्द्रकी वन्दना कर आकाशमार्गसे अपने स्थान चले गए। द्युति साधुने ये सब समाचार अर्हद्दास सेठसे कहे। अर्हद्दास यह जानकर कि वे सातों मुनिराज चारण ऋद्धिधारी थे और चारऋणधारी मुनियोंको चौमासोंमें विहार करनेका कोई निषेध नहीं है अपने आपको कोसता हुआ बड़ा पश्चात्ताप करने लगा। जब अष्टाह्निका आई तो अर्हद्दास सेठने मथुरा पहुँच कर मुनियों की पूजा स्तुतिकी और आहार देकर चित्तको शांत किया।

× × ×

पृ० २०७ पं० ८

कुत्तेके देव होनेकी कथा

एक वार कुछ ब्राह्मण मिलकर कहीं पर यज्ञ कर रहे थे कि एक कुत्तेने आकर उनकी हवन सामिग्री झूठी कर दी। ब्राह्मणोंने क्रुद्ध हो उस कुत्तेको इतना मारा कि वह कण्ठगत प्राण होगया। संयोगसे राजा सत्यंधरके पुत्र जीवंधरकुमार उधर आ निकले। उन्होंने कुत्तेको मरते हुए देखकर उसे नमस्कार मन्त्र सुनाया। मन्त्रके प्रभावसे कुत्ता मरकर यक्ष जातिका इन्द्र हुआ। अवधिज्ञानसे अपने उपकारीका स्मरण कर वह कुमार जीवंधरके पास आया और नाना प्रकारसे उनकी स्तुति प्रशंसा कर उन्हें इच्छित रूप बनानेकी और गानेकी विद्या देकर अपने स्थान चला गया।

× ×

पृ० २०९, पं० १९,

शिवभूति केवलीकी कथा

कोई शिवभूति नामका निकट भव्य संसारसे विरक्त होकर गुरुसे दीक्षा ले तपश्चरण करने लगा। शिवभूति कुछ पढ़ा लिखा नहीं था और न इतनी बुद्धि ही थी कि पढ़ना लिखना सीख जाता। गुरुमुखसे उसने यह सुन रक्खा था कि आत्मा और शरीर इस प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार तुप और मास भिन्न होते हैं। अपने इसी भावज्ञानके आधार पर वह साधु हुआ था और आंठ प्रवचन माताओं[१] का ज्ञान होनेसे साधु चर्याका पालन करता था। गुरुके इस दृष्टांतको कि आत्मा और शरीर तुप मासकी तरह भिन्न हैं वह सदा याद रखता था। परन्तु बुद्धिमान्द्यसे वह एक दिन इसे भी भूल गया और बहुत प्रयत्न करने पर भी वह उसे याद नहीं आया। एक दिन वह एकाकी कहीं विहार कर रहा था कि उसने किसी स्त्रीको दाल धोते हुए देखा। जब उसने पूंछकि तुम यह क्या कर रही हो? तो स्त्रीने कहा 'मैं दाल धोकर उसके तुप (छिलके) अलगकर रही हूं, बस झट उसे तुपमास भिन्न उदाहरण याद आगया। वह जाकर पर्यङ्कासनसे ध्यान करने लगा और केवल इतने ही द्रव्य और भावश्रुतके प्रभावसे अन्तर्मुहूर्तमें घातिया कर्मोंको नष्ट कर अरहंत केवली बन गया। अनेक देशोंमें विहार कर भव्य जीवोंको उपदेश दिया तथा आयुके अन्तमें शेष चार घातिया कर्मों को भी नष्टकर मोक्ष चला गया।

× × ×

पृ० २१९ पं० ७

द्रव्यलिङ्गी भव्यसेन की कथा

विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिणश्रेणी के मेघकूटपुर नगर में राजा चन्द्रप्रभ अपनी सुमति

१—पांच समिति तीन गुप्ति।

पट्टरानीके साथ राज्य करता था। एक दिन राजा अपने चन्द्रशेखर पुत्रको राज्य देकर कुछ विद्याएं साथ ले मुनि वन्दना करने दक्षिण मथुरा गया और और मुनिगुप्त आचार्य के पास श्रावकके व्रत ग्रहणकर क्षुल्लक वन गया। वहाँसे जव वह मुनियोंकी वन्दना करने उत्तर मथुराको चला तो उसने गुरुसे पूछा कि प्रभो किसीको कुछ कहना हो तो मुझे वता दीजिए मैं कह दूंगा। आचार्यने कहा कि सुव्रत मुनिको नमोऽस्तु कहना और वरुण महाराजकी पत्नी रेवतीको धर्मवृद्धि कहना। क्षुल्लकने फिर पूछा कि और किसीको तो कुछ नहीं कहना है? आचार्यने मना कर दिया। क्षुल्लकने फिर पूछा आचार्यने फिर वहीउत्तर दिया। क्षुल्लकने मनमें सोचाकि वहाँ भव्यसेन नामके आचार्यभी रहते है लेकिन गुरूने उनका नाम भी नहीं लिया, इसका क्या कारण है! चलो वहीं चलकर देखूंगा कि क्या वात है? इस तरह कहकर क्षुल्लक उत्तर मथुरा पहुंचा और सुव्रत मुनिको आचार्य का नमोस्तु कह भव्यसेन मुनिकी वसतिकामें गया। भव्यसेनने क्षुल्लकसे वातचीत भी नहींकी। जव भव्यसेन कमण्डलु लेकर वाहर जाने लगा तो क्षुल्लकभी उसके साथहो लिया और विद्या के प्रभावसे सारे मार्गमें घासही घास पैदा करदी। भव्यसेन मुनि घासको देखते हुएभी उपेक्षासे उसपर पैर रखकर चला गया। इसके वाद भव्यसेन जव शौचसे निवृत्त हुआ तो क्षुल्लकने विद्यासे कमण्डलुका पानी सुखा दिया और भव्यसेनसे कहाकि 'भगवन्! कमण्डलुमें पानी नहीं है और न कोई प्रासुक ईंट ही दिखाई देती है अतः मिट्टी लेकर इस तालावमें ही आप शौच करलें। भव्यसेनने इसको अनाचार समझकर भी आगम की उपेक्षाकर शुद्धि करली। क्षुल्लकने समझलिया कि ये मुनि द्रव्यलिङ्गी हैं। अंतः उनका नाम भव्यसेनकी जगह अभव्यसेन रखकर वह अपने स्थान चला गया।

× × ×

पृ० २२१ पं० ३

यमपाल चांडाल की कथा

पोदनापुर नगरके राजा महावलने अपने राज्यमें यह घोषणा करदी थी कि कोई भी मनुष्य अष्टान्हिका पर्वोंमें मेरे यहां जीव बध न करे। इस घोषणाके विपरीत एक दिन स्वयं राजकुमार ने जो मांसभक्षणका आदी था एकान्तमें एक मेढ़ेको मारा और उसे पकाकर खागया। राजाने जव अपराधीकी खोजकी तो स्वयं अपने पुत्रको ही अपराधी पाया। राजसिंहासन से तुरत उसके लिए प्राणदण्डकी आज्ञा हुई। और उक्त आज्ञाको पूरा करनेके लिए यमपाल चाण्डालको वुलाया गया। संयोगसे उस दिन चतुर्दशीका दिन था और यमपालके उस दिन हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा थी। उसने राजाज्ञाके उत्तरमें अपनी स्त्री द्वारा यह कहलवा दिया कि यमपाल आज कहीं वाहर गया है। किन्तु जव सिपाहियोंने यह कहाकि 'आज यदि यमपाल घरपर होता मालामाल हो जाता? स्त्री के मुँहमें पानी भर आया। उसने तुरन्त इशारेसे वतादिया कि यमपाल घरमें छिपा हुआ है। इशारा पातेही सिपाही उसे पकड़कर लेगए और राजकुमारको फांसी देनेके लिए कहा। यमपालने कहा कि आज चतुर्दशीके दिन मैं जीव हिंसा नहीं करूंगा। सिपाहियोंने यह वृतान्त राजासे कहा। राजाने यमपालको

बुलाकर पूंछातो यमपालने कहा 'महाराज ! एकबार मुझे सर्पने काट खाया था। लोग मुझे मरा हुआ समझकर स्मशानमें पटक आए। वहां किन्हीं सर्वौषध ऋद्धिधारी मुनिके शरीरकी हवाके स्पर्श से मैं पुनः जीवित हो उठा। यह देख मैंने उनके पास चतुर्दशीके दिन जीव हिंसा न करनेका नियम लिया। उस व्रतके कारणही मैं आज राजकुमारको फांसी नहीं दूंगा। राजा पर चाण्डालकी इस बात का कोई असर नहीं हुआ। उसने क्रोधमें आकर दोनोंको समुद्रमें फेंक देनेके लिए कहा। आज्ञानुसार दोनों समुद्रमें फेंक दिए गए। राजकुमारको मगर मच्छ खागए लेकिन चाण्डालके लिये देवोंने वहां सिंहासन बना दिया। राजाने यह देखकर चाण्डाल का खूब आदर सत्कार किया।

× × ×

पृ० २४९ पं० ३०

विष्णुकुमार मुनिकी कथा

उज्जैनमें किसी समय राजा श्रीवर्मा राज्य करता था। उसके चार मन्त्री थे। बलि बृहस्पति, प्रल्हाद और नमुचि। एक बार आचार्य अकंपन अपने संघके ७०० मुनियोंके साथ विहार करते हुए उज्जैन आए। प्रजाकी देखा देखी उक्त चारों मन्त्री और राजा भी मुनियोंके दर्शन करने गए। परन्तु आचार्यने अपने दिव्यज्ञानसे राज्याधिकारियोंको मिथ्यादृष्टि जानकर समस्त संघको उनसे वार्तालाप करनेकी मनाही करदी। मन्त्रियोंने पहुंचकर मुनियोंको नमस्कार कियो। किन्तु जब उन्होंने नमस्कार के बदले किसीको आशीर्वाद देते तक भी न देखा तो उन्होंने मुनियोंकी हंसीकी और कहा ये सब बैल हैं कुछ नहीं जानते। नगरको लौटते समय उन्हें आहार लेकर आते हुए श्रुतसागर मुनि दीख पड़े। वहां उन मुनिसे चारों ब्राह्मणों का विवाद हो गया। और वे पराजित होगए। मुनि अपने संघमें पहुँचे और मार्गका सब वृत्तान्त आचार्यसे निवेदन किया। आचार्यने उन्हें प्रायश्चितस्वरूप जहां विवाद हुआ था रात भर वहीं कायोत्सर्ग करनेके लिए कहा। मुनिने वैसाही किया। वे चारों मन्त्री पराजयके अपमानसे दुखी होकर रातमें संघको मारने चले। किन्तु मार्गमें उन्हीं मुनिको खड़ा देखकर पहले उन्हींको मारना चाहा। मुनिके वधके लिए जैसे ही उन्होंने तलवार उठाई कि नगर देवताने उन्हें उसी प्रकार कील दिया। प्रातः लोगोंने उन्हें उस प्रकार खड़ा देखकर बड़ा धिक्कारा, और राजाने उन्हें गधेपर चढ़ाकर नगरसे निकाल दिया। इधर हस्तिनागपुरका राजा महापद्म अपने बड़े पुत्र पद्मको राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमार सहित मुनि होगया। वे चारों मन्त्री वहांसे निकलकर हस्तिनागपुरमें उसी राजा पद्मके मन्त्री होगए। उन्होंने राजा पद्मके अजेय शत्रु राजा सिंहबलको किसी प्रकार पकड़ कर पद्मके सामने लादिया। पद्म इस पर प्रसन्न हो गया और उनसे वर मांगनेके लिए कहा। मन्त्रियोंने कहा समय आने दीजिए हम अपना वर माग लेंगे।

संयोगसे वेही आचार्य अकम्पन अपने संघके ७०० मुनियोंके साथ विहार करते हुए हस्तिनागपुर पहुंचे। उन्हें देखकर मन्त्रियोंने अपने पहले अपमान का बदला लेना चाहा। राजाको

मुनिभक्त जानकर उन्होंने इस समय अपना वर मांगना उचित समझा और उसे पूरा करनेके लिए राजासे सात दिनके लिए राज्यकी याचनाकी। राजाने उसे स्वीकार कर लिया। राज्य पाकर उन मन्त्रियोने कायोत्सर्गसे खड़े हुए उन मुनियोंको चारों ओरसे घेर कर एक यज्ञ मण्डप बनवाया और वह यज्ञ करने लगे। यज्ञमें पशुओंकी चर्वी और चर्म आदिके जलनेसे जो धूँआ उठा उससे मुनियों के गले रुंध गए। यहाँ तककि अपने कण्ठगत प्राण देखकर मुनियोंने सन्यास धारण कर लिया। इधर मिथला नगरीमें आधी रातको आचार्य श्रुतसागर ने श्रवण नक्षत्रको कम्पायमान देखा। अवधिज्ञानसे मुनियोंपर उपसर्ग जानकर उनके मुंहसे 'हा' निकल पड़ा। पास बैठे हुए एक पुष्पधर नामके क्षुल्लकने अचार्यसे इसका कारण पूछा। आचार्यने उपसर्गका सब वृत्तान्त कह दिया और उसके निवारणका उपाय बताया कि धरणिभूषण पर्वतपर विष्णुकुमार मुनिको विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हुई है। वे उपसर्ग दूर कर सकते हैं। क्षुल्लक विष्णुकुमार मुनिके पास गया और ७०० मुनियोंके उपसर्गकी बात कह कर उन्हें विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होनेकी बात कही। परीक्षाके लिए विष्णुकुमार ने ज्यों ही अपना हाथ पसारा कि वह पर्वतादिकमे विना रुके हुए बहुत दूर चला गया। इस तरह ऋद्धिकी परीक्षाकर अपना बावनका रूप बनाकर उन मन्त्रियोंके पास जो उस समय राजा थे पहुँचे वहां जाकर खूब वेदध्वनिकी और दक्षिणामें तीन पैंड़ पृथ्वी मांगी. राजाने स्वीकार कर लिया। मुनिने अपना एक पैर सुमेरु पर रक्खा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर,तीसरा देव गन्धर्वोंमें क्षोभ पैदा कर राजा बलिकी पीठपर रख दिया। इस तरह सारी पृथ्वी अपने अधिकारमें कर मुनियोंका उपसर्ग दूर किया। वे मन्त्री लज्जित होकर मुनि संघके पैरोंपर गिर गए और तबसे सम्यग्दृष्टि श्रावक हो गए।

× × ×

पृ० २५० पं०

वज्रकर्ण सिंहोदरकी कथा

दशाङ्गपुर नगरका राजा वज्रकर्ण बड़ा धर्मात्मा और साधुचरित पुरुष था। उसके यह प्रतिज्ञा थी कि मैं देव, शास्त्र, गुरुको छोड़कर अन्य किसीको नमस्कार नहीं करूँगा। अपनी प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए उसने अंगूठीमें एक छोटा सा अरहंतका प्रतिबिम्ब जड़वा लिया था। वह जब किसीको नमस्कार करता तब उसी अगूठीके प्रतिबिम्बको धोक देता लेकिन मालूम ऐसा पड़ता कि सामने वाले आदमीको नमस्कार कर रहा है। वह अपने स्वामी राजा सिंहोदरके साथ भी यही व्यवहार करता था। उसका यह भेद किसीने राजा सिंहोदरसे कह दिया। सिंहोदरने क्रोधमें आकर उसे पकड़ लानेके लिए सेनाभेजी लेकिन वह अपने दुर्गमें जाकर छिपकर बैठगया। सिंहोदार तब स्वयं युद्ध साधनोंसे सज्जित होकर दशपुर नगर आया और एक दूत द्वारा वज्रकर्णसे कहलवाया कि वह शीघ्र मुझे आकर नमस्कार करे अन्यथा उसे उसकी ढीठताका फल भोगना होगा। वज्र कर्णने ऐसा करनेसे इन्का

कर दिया। इसपर सिंहोदरने उसका सारा नगर उजाड़ दिया। संयोगसे उधर राम लक्ष्मण सीता घूमते हुए आ निकले और एक आदमीसे नगरके उजाड़का कारण जानकर वहीं ठहर गए। दूसरे दिन प्रातः कालही लक्ष्मण खाना लानेके लिए नगरमें गए और सीधे वज्रकर्णके यहाँ पहुंचे। वज्रकर्णने लक्ष्मणको आदर पूर्वक बड़ेही सुस्वादु व्यंजन दिए। लक्ष्मण उन्हें लेकर रामके पास आए। जब सब खाचुके तब रामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे वज्रकर्णकी सहायता करनेके लिए कहा। लक्ष्मण विना कुछ हथियार लिए सिंहोदरके कटकमें पहुंचे और वज्रकर्णको छोड़ देनेमें लिये कहा। जब सिंहोदाने इन्कार किया तब दोनों ओरसे युद्ध हुआ। युद्धमें लक्ष्मणने सिंहोदारको पकड़ लिया और वज्रकर्णसे क्षमायाचना कराकर उस का राज्य लौटा दिया।

ग्रंथगत पारिभाषिक शब्दकोष

अ

अकामनिर्जरा—इच्छा न होते हुए भी समता पूर्वक कर्मोंका फल भोगना।

अगुरुलघु—गोत्र कर्मके अभाव से होने वाला सिद्धों-का एक गुण।

अघातिया—आत्मगुणोंका घात न करने वाला कर्म।

अचक्षुदर्शन—चक्षुको छोड़कर अन्य इन्द्रियों से होने वाला दर्शन।

अछेरा—आश्चर्य जनक घटनाएँ।

अणुव्रती—स्थूल व्रत पालन करने वाला।

अधःकरण—जहां ऊपर और नीचेके समयवर्ती जीवों के परिणाम समान हों।

अन्यलिङ्गी—जैनेतर।

अनायतन—अयोग्य स्थान।

अनिवृत्तिकरण—जहां एक समयवर्ती जीवों के परि-णामोंकी विशुद्धता में कोई भेद न हो। नौवाँ गुणस्थान।

अनुप्रेक्षा—अनित्यादि बारह भावनाएँ।

अनुभाग—कर्मोंकी फलदान शक्ति।

अनुयोग—अधिकार।

अनत चतुष्टय—अनंत ज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य।

अनंतवीर्य—अनंत शक्ति।

अपकर्षण—कर्मोंकी स्थिति अनुभाग का घट जाना।

अपर्याप्तक—आहारादि छः पर्याप्तियों में से जिस जीव की एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हुई हो।

अपूर्वकरण—जहां भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम अपूर्व हो अपूर्व हों। आठवां गुण स्थान।

अप्रासुक—जीव जंतु रहित।

अब्रह्म—मैथुन, स्त्री प्रसङ्ग।

अभव्य—कभी न मुक्त न होने वाला जीव

अमूर्तिक—रूप, रस, गन्ध स्पर्श से रहित पदार्थ।

अर्थापत्ति—एक वाक्य से अन्य अर्थ का बोध होना। जैसे मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता। इस वाक्य से देव दत्त के रात में खाने का बोध होता है।

अवगाहनत्व—आयु कर्म के अभाव से पैदा होने वाला सिद्धों का एक गुण। परस्पर में बिना ही मिले अवगाहन करने की शक्ति।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय मन की सहायता के बिना मूर्तिक पदार्थों को जान लेने वाला ज्ञान।

अव्याबाधत्व—वेदनीय कर्म के अभाव से होने वाला सिद्धों का एक गुण। सब प्रकार की बाधाओं से रहित होना।

अविरति—व्रतहीनता। चतुर्थ गुणस्थान।

असंज्ञी—मनरहित जीव।

अहमिन्द्र—सोलह स्वर्गों से ऊपर के देव। जिनमें इन्द्र आदि का भेद नहीं होता।

आ

आगमद्रव्यनिक्षेप—आगम का ज्ञाता किन्तु आगम के उपयोग से रहित आत्मा।

आबाधाकाल—कर्मों का उदय या उदीरणा होने से पहले का समय।

आर्तध्यान—इष्टवियोग, अनिष्टसंयोगादि से चिन्तित रहना।

आवली—समय का एक परिमाण।

इ

इतरेतराश्रय दोष—दो चीजें जहां एक दूसरे के आश्रित बताई जांय। न्यायका एक दोष।

इतरनिगोद—त्रस राशि से निकल कर पुनः निगोद में जाना।

उ

उत्कर्षण—कर्मोंकी स्थिति अनुभाग का बढ़ना।

उदय—कर्मोंका फल देना।

उदीरणा—समयके पहले ही कर्मो का फल देना।

उद्वेलना—एक कर्मप्रकृतिका सजातीय कर्मप्रकृति रूप परिणमन करा कर नाश करना।

उपाधि—कर्म

उपमान—प्रमाणका एक भेद। एक की समानता से दूसरेका ज्ञान करना।

उपयोग—जानने देखने रूप चेतना का परिणाम विशेष।

उपशमकरण—करण विधान से कर्मों का उदय न होने देना।

(उ) पोसह—उपवास

ए

एकेन्द्रिय—स्पर्शन इन्द्रिय वाले जीव।

एकाशन—एक बार दिन में भोजन करना।

एकान्त पक्ष—वस्तु को सर्वथा एकरूप मानना।

एषणा समिति—निर्दोष विधि से आहार लेना।

औ

औदारिक शरीर—मनुष्य और तिर्यञ्चों का स्थूल शरीर।

औपाधिक भाव—कर्मजन्य भाव।

अं

अंतर्मुहूर्त,—आवलीसे ऊपर और मुहूर्त (४८ मिनिट) से नीचे का समय।

अंग—गौतम गणधरकृत जैनों का मूल साहित्य।

अंतरकरण—आगे उदय आने वाले कर्म के कुछ निषेकों को बीच से उठाकर आगे पीछे करना।

क

कषाय—आत्मा के क्रोध, मान, माया, लोभादि परिणाम।

करण—परिणाम। गणित सूत्र। इन्द्रिय।

कर्म—योग और कषायके निमित्तसे आत्मासे संबंध करने वाला एक प्रकार का पुद्गल द्रव्य।

कापोत लेश्या—परनिंदा, आत्मप्रशंसा, छिद्रान्वेषकता, विवेकहीनता आदि रूप परिणाम विशेष।

कुटीचर—हिन्दू सन्यासी का एक भेद।

कुलिङ्गी—मिथ्यावेशधारी, अजैन साधु

केवली—सर्वज्ञ।

केवलदर्शन—त्रिकाल और त्रिलोक को युगपत् देखना।

केवलज्ञान—त्रिकाल और त्रिलोक को युगपत् जानने-वाला ज्ञान।

कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि—मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय को नष्ट कर अन्तर्मुहूर्त में क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने वाला जीव।

कृष्णलेश्या—निर्दय, दुष्ट और अत्याचारी परिणाम विशेष।

ग

गणधर—तीर्थंकरों के साक्षात् शिष्य जो उनके उपदेशों को निबद्ध करते हैं।

गुणश्रेणी निर्जरा—असंख्यातगुणी २ निर्जरा।

गुणस्थान—मोह और योग के निमित्त से होनेवाले आत्मा के परिणाम विशेष।

गुप्ति—मन, वचन, काय का पूर्ण निग्रह करना।

ग्रैवेयक—सोलह स्वर्गों से ऊपर अहमिन्द्रों के रहने का स्थान विशेष।

गृहीतमिथ्यात्व—दूसरे के उपदेश आदि से ग्रहण किया गया मिथ्यात्व।

घ

घातियाकर्म—आत्मगुणों का घात करने वाले कर्म।

च

चक्षुदर्शन—चक्षुज्ञानसे पहले होने वाला दर्शन।

चौइन्द्रिय—चार (स्पर्शन रसना, घ्राण चक्षु) इन्द्रियों वाला जीव

चैत्य—प्रतिमा, मूर्ति।

छ

छद्मस्थ—अल्पज्ञानी

ज

जन्मकल्याणक—तीर्थकरोंके जन्म समय देवों द्वारा मनाया जानेवाला उत्सव

ज्योतिष्क—सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क जातिके देव।

जिनवाणी—तीर्थकरोंका उपदेश।

जुगुप्सा—ग्लानिभाव।

त

तादात्म्य—गुण गुणीका अभेद

तीनइन्द्रिय—तीन (स्पर्शन, रसना, घ्राण) इन्द्रिय वाले जीव।

तीर्थंकर—धर्मके प्रवर्तक आत्माविशेष।

तुषमासभिन्न—धान्य और उसके छिलके की तरह आत्मा और शरीर को अलग २ समझना।

त्रस—एकेन्द्रियको छोड़ कर शेष सब संसारी जीव।

द

दर्शन—ज्ञानसे पहले होने वाला उपयोग। उपयोग से उपयोगान्तर होने में आत्मा की अवस्था विशेष, ।

दशपूर्वधारी—उत्पादपूर्वसे लेकर विद्यानुवाद पूर्व तक दस पूर्वों के ज्ञाता

दर्शनमोह—सम्यग्दर्शनको घात करने वाला मोहनीय कर्म।

दशकरण—बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्व, उदय, उपशम, निधत्ति निकाचना, कर्मोंमें होने वाली ये दस क्रियाएं।

दिव्यध्वनि—तीर्थंकर सर्वज्ञ की वाणी।

द्वितीयोपशम—अनंतानुबंधीके विसंयोजन पूर्वक होने वाला उपशमसम्यक्त्व। उपशमश्रेणी चढ़नेके सन्मुख अवस्था में होने वाला सम्यक्त्व।

देशघाती—आत्मगुणोंका आंशिक घात करने वाला कर्म।

देशचारित्र—बारह व्रतरूप श्रावकोंका चरित्र।

दो इन्द्रिय—स्पर्शन और रसना इन्द्रिय वाले जीव।

द्रव्यकर्म—कर्म शक्तिको प्राप्त पुद्गल पिंड, ज्ञानावरणादि कर्म।

द्रव्यप्राण—पांच इन्द्रिय, तीन वल, आयु और श्वासोछ्वास।

द्रव्यलिङ्गी—मुनिवेशी किन्तु सम्यक्त्वहीन जैन मुनि।

द्रव्यदृष्टि—सामान्यको ग्रहण करनेवाली दृष्टि। द्रव्यार्थिकनय,

द्रव्यमन—हृदयमें कमलके आकार एक-प्रकारकी शारीरिक रचना जो सोचने विचारनेमें सहायक होता है।

द्रव्येन्द्रिय—स्पर्शन, रसना आदि बाह्य इन्द्रियां।

न

नय—वस्तुका आंशिक ज्ञान।

नामनिक्षेप—गुण न होने पर भी पदार्थको उस नाम से कहना। जैसे, जन्मांधका नाम सुलोचन रख लेना

नारकी—नरकके दुख भोगने वाला जीव

नित्यनिगोद—वह जीव जिसने कभी त्रस पर्याय नहीं पाई है।

निर्जरा—बंधे हुए कर्मोंका आत्मासे अलग होना।

निर्ग्रंथ—परिग्रह रहित, दिगम्बर भाव।

निषेक—एक समय में उदय आने वाले कर्मपरमाणुओं का समूह।

नील लेश्या—अधिक निद्रा, परवञ्चकता तीव्र विषयासक्ति आदि परिणाम।

नीहार—मलमूत्रादि।

नोकर्म—कर्मोदयमें सहायक द्रव्य।

नंदीश्वर—मध्यलोकका आठवां द्वीप। वह द्वीप जहां देव अष्टान्हिका पर्वोत्सव मनाते हैं।

प

पडिक्कमण—प्रतिक्रमण, 'मेरे पाप मिथ्या हों' इस प्रकारका भाव।

परमहंस—हिन्दुओंके नग्न साधु, नागा सम्प्रदायके साधु।

पर्याप्तक—आहार, शरीरादि छहों पर्याप्तियोंकी पूर्णता को प्राप्त जीव।

पर्याय—द्रव्यकी अवस्था विशेष।

पर्यायदृष्टि—विशेष को ग्रहण करने वाली दृष्टि। विशेषापेक्षा कथन।

पल्य—उपमा प्रमाणका एक भेद,

पांच इन्द्रिय—स्पर्शनादि पांच इन्द्रिय वाले जीव।

परीषह—कष्ट आ पड़ने पर उसको शान्त भाव से सहना

पारणामिक भाव—कर्मके निमित्त विना स्वभावतः होने वाले जीवके भाव।

पिंगला—नाड़ी विशेष।

पुद्गल—रूप, रसादि गुण वाला भौतिक पदार्थ।

पुद्गलपरावर्तन—कर्म, नोकर्म परमाणुओंको ग्रहण करनेकी अपेक्षा संसार परिभ्रमणका सूचक कालविशेष

प्रकृतिबंध—ज्ञानावरणादि कर्मोंका बंध।

प्रतिच्छेद—शक्तिके अविभागी अंश।

प्रथमोपशम—मोहनीय की सप्त प्रकृतियों के उपशम से होने वाला सम्यक्त्व।

प्रदेश—अणु के बराबर स्थान।

प्रदेशबंध—सूक्ष्म अनंतानंत कर्म परमाणुओंका आत्मासे संबंध होना।

प्रतिमाधारी—दर्शन, व्रत आदि प्रतिमाओंका धारण करनेवाला श्रावक।

प्रमादपरिणति—कषाय या इन्द्रियासक्ति रूप आचरण।

प्रशस्तराग—शुभराग,

पंचमकाल—कलिकाल। जैनोंकी मान्यतानुसार भगवान महावीरके निर्वाण के ३ वर्ष ८॥ महीने बादसे प्रारंभ होने वाला २१००० वर्ष का काल।

ब

बहूदक—हिन्दू सन्यासीका एक भेद

भ

भवनवासी—देवोंकी एक जाति।

भव्य—मुक्त होनेकी योग्यता रखने वाले जीव।

भावकर्म—आत्माके राग द्वेषादि भाव।

भावनिक्षेप—वर्तमान पर्यायसंयुक्त पदार्थ। जैसे राज्य करते हुए को ही राजा कहना।

भावलिङ्गी—सच्चा मुनि, सम्यक्त्व सहित जैन मुनि।

भेदविज्ञान—शरीर और आत्माका पृथक् अनुभवन।

म

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होने वाला ज्ञान।

मनःपर्यय—दूसरेके मनकी बातको जानने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान।

महाव्रत—हिंसादि पांच पापोंका पूर्ण त्याग।

मार्गणा—जीवोंको खोजनेके धर्म विशेष।

मिथ्यात्व—अतत्वश्रद्धान।

मिथ्याज्ञान—मिथ्या दर्शनके साथ होने वाला ज्ञान।

मिथ्याचारित्र—मिथ्यात्वके साथ होने वाला चारित्र

मिश्रगुणस्थान—जहां मिथ्यात्व और सम्यक्त्व रूप मिश्र भाव रहते हैं।

मिश्र मोहनीय—वह कर्म जिसके उदयसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिले हुए भाव रहते हैं।

मुहपट्टी—ढूंढक साधुओंके मुंह पर बांधनेका कपड़ा।

मूर्तिक—रूपादिमान पदार्थ,

मूलगुण—आरंभमें पालन करनेके नियम।

मूल प्रकृतियां—कर्मके मूल आठ भेद।

य

यथाख्यातचारित्र—स्वाभाविक चारित्र। संज्वालन कषाय के अभाव में होने वाला चारित्र।

र

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।

ल

लब्ध्यपर्याप्तक—जिस जीवकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती।

लेश्या—कषाय मिश्रित योगोंकी प्रवृत्ति।

व

व्यंतर—देवोंकी जाति विशेष,

वायुकाय—वायु शरीर धारी स्थावर जीव।

विक्रिया—शरीर को छोटा बड़ा करने की शक्ति।

विनय मिथ्यात्व—अविवेक पूर्वक सभी देवी देवताओंकी विनय करना।

विपरीताभिनिवेश—अतत्वमें तत्वबुद्धि रखना। उल्टा अभिप्राय।

विभाव—कर्म जन्य भाव।

विसंयोजन—अनंतानुबंधीका अन्य कषायरूप परिणमन।

वीतराग विज्ञान—शुद्धोपयोग रूप रागरहित ज्ञान।

वेदकसम्यग्दृष्टि—क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि। सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का वेदन करने वाला सम्यग्दृष्टि।

वैमानिक—विमानवासी देव। स्वर्गवासी देव।

वैयावृत्य—मुनि श्रावक की सेवा सुश्रूषा।

श

शुद्धोपयोग—स्वानुभूति। वीतराग विज्ञान।

शुभोपयोग—पुण्यानुराग। प्रशस्तराग।

श्वेताम्बर—श्वेत वस्त्रधारी मुनियों का पूजक एक जैन सम्प्रदाय।

स

सकल चारित्र—महाव्रत। पूर्णचारित्र।

स्कंध—पुद्गल परमाणुओं का समूह।

स्पर्द्धक—वर्गणाओंका समूह।

स्थावर—पृथ्वी आदि पांच प्रकार के जीव।

सप्त व्यसन—जुआ चोरी आदि सात प्रकार की बुरी आदतें।

सम्यक्त्व—तत्वश्रद्धान।

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दृष्टिका ज्ञान।

सम्यकचारित्र—सम्यग्दृष्टि का चारित्र।

समयप्रबद्ध—एक समय में बंधने वाले कर्म परमाणुओंका समूह।

सम्मूर्छन—बिना गर्भके उत्पन्न होने वाले जीव जन्तु।

समवशरण—तीर्थंकर सर्वज्ञके उपदेशका सभास्थल।

समिति—प्राणिपीड़ा न होने देनेके अभिप्रायसे मुनि का सावधान होकर प्रवृत्ति करना।

समय—कालका सबसे छोटा हिस्सा। क्षण।

सम्यग्दृष्टि—तत्वश्रद्धानी, देवशास्त्र गुरुका भक्त।

समुद्घात—मूल शरीरको बिना छोड़े आत्माके प्रदेशों का बाहर निकल जाना।

सर्वघाती—आत्मगुणों का पूर्ण घात करने वाला कर्म

सविपाक निर्जरा—समय पर फल देकर कर्मों का झड़ जाना।

स्वरूपाचरण—सम्यग्दर्शनके साथ होने वाला चारित्र। आत्मानुभव।

सामायिक—नियत काल तक सब पापों का पूर्णतः त्याग कर ध्यान करना।

सावद्ययोग—सदोष कार्य, आरम्भी प्रवृत्ति।

सासादन—सम्यक्त्व विराधनाका काल। सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त न होने तक के परिणाम। दूसरा गुणस्थान।

स्थितिबंध—कर्मका आत्माके साथ रहने का काल।

सुषुम्ना—नाड़ी विशेष।

सूक्ष्मत्व—नाम कर्मके अभावमें पैदा होने वाला सिद्धों का एक गुण।

संक्रमण—एक प्रकृतिका अन्य प्रकृतिरूप हो जाना।

संज्ञी—मन सहित जीव। वह जीव जिसमें सोचने विचारने की शक्ति है।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान पूर्वक होने वाला मानसिक ज्ञान-विशेष।

ह

हंस—सोऽहं मन्त्र। स्वासोछ्वाससे निकलने वाले हंस अक्षरों का मन्त्र।

हरितकाय—हरित बनस्पति।

स्याद्वाद—आपेक्षिक कथन। कथंचिद् उक्ति॥

अवतरण सूची